



अथर्ववेद -

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

[भाग २]



लेखक

म. म. ब्रह्मर्षि पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
विद्या-भारतण्ड, साहित्य-वाचस्पति, गीतालंकार



पा २ बी [वि. चक्राव]

प्रकाशक :

वसन्त धीपाद् सातवलेकर, बी. ए.,
स्वाध्याय मंडल,
पोस्ट- 'स्वाध्याय मंडल (पारडी)'
पारडी [जि. बलसाह]



*

संवत् २०२१, शक १८८३, सन् १९१४

†

मूल्य रु. १०.००

*

प्रथम बार

मुद्रक :

वसन्त धीपाद् सातवलेकर, बी. ए.,
भारत-मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडल,
पोस्ट- 'स्वाध्याय मंडल (पारडी)'
पारडी [जि. बलसाह]

अथर्ववेद—

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
भूमिका	१	रक्षित प्रजातम्	६३
मातृभूमिका वैदिक-गीत (कं. १३, पृ. १)	११	रक्षिष्य मया	६३
मातृभूमिका वैदिक-गीत	१७	राजाका कर्तव्य (कं. ७, पृ. ११)	६४
भूतका उपयोग	२०	राजाका कर्तव्य (कं. ७, पृ. १२)	६४
मातृभूमिसे कल्पना	२७	राजाका कर्तव्य (कं. ७, पृ. १३)	६५
संघातज्ञान और राष्ट्रभक्ति	३१	राजाका कर्तव्य (कं. ७, पृ. १४)	६५
(१) अध्यात्मज्ञान	३३	राजाका कर्तव्य	६६
(२) शरीरज्ञान	३३	राजा क्या कार्य करे ?	६६
देवी इन्द्रा मत्स्य रूप स्थान	३५	राजाका कर्तव्य (कं. ७, पृ. १५)	६७
अपि अथ	४०	राजाका कर्तव्य (कं. ७, पृ. १६)	६७
देव अथ	४१	राजाकी स्थिरता (कं. १, पृ. ८८)	६८
विद्यानोंका अथ	४२	स्थिरताके लिए	६८
मंत्रोंकी संपत्ति	४३	राष्ट्रके ऐश्वर्यकी वृद्धि (कं. १, पृ. ९४)	६९
विराट् (कं. ८, पृ. १०)	४७	राजाका राज्याभिषेक (कं. ५, पृ. ८)	७०
विराट्	५०	राजाका राज्याभिषेक	७२
कामधेनुका वृष	५०	राज्याभिषेक	७१
(१) विराट्, विष्णु कामधेनु	५१	समुदायक राज्यविस्तार	७३
(२) विराट्, दिव्य कामधेनु	५१	कौन राजा होता है ?	७३
(३) विराट् गो	५१	राजा और राजाके यमानेवाले (कं. ३, पृ. ५)	७३
राष्ट्रीय उपदेश	५१	राजा और राजाके यमानेवाले	७४
राष्ट्री देवी (कं. ४, पृ. १०)	५४	एवं-मति	७४
राष्ट्री देवी	५४	राष्ट्रका निज बनना	७५
राष्ट्री देवी	५५	राजाकी निर्माण करनेवाले	७५
आध्यात्मिक भावार्थ	५५	राजाका चुनाव (कं. १, पृ. १२८)	७६
आध्यात्मिकवर्णनका अर्थ	५६	प्रजा मपवा राजा भवे	७६
आधिभौतिक भावार्थ	५७	राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना (कं. ३, पृ. १)	७७
इस राष्ट्रीय क्षयका मन्त्र	५७	राजाका चुनाव (कं. ३, पृ. ४)	७७
राष्ट्रसमाजी अनुमति (कं. ७, पृ. १२)	६०	राजाका चुनाव	८०
राष्ट्रसमाजी अनुमति	६१	पूर्व संबंध	८०
राज्यशासनमें लोकसंमति— वाचस्पति	६१	कारणका	८१
राष्ट्रशासन	६१	सौभाग्यवि प्राप्त	८१
जनसभाका अधिकार	६२	विद्येकी अनुपम	८२
राजाके लिए	६२	सुखी प्राप्त	८२
राजाके शिक्षक	६३	राजाका चुनाव	८३
समाजद साधकको हों	६३	प्रजाका शासन	८४
देव प्रजाता और विद्वान्तराजा	६३	यनोंका विभाग	८४
राजाका भाष्य	६३		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
शुभसंकल्प	८५	केवल राष्ट्रके लिये	१०३
राजाका रहना-ग्रहणा	८५	' राष्ट्र ' का अर्थ	१०४
सूतका संचार	८५	संरक्षक कर (कां. ३, पृ. २९)	१०४
घघन	८६	संरक्षक कर	१०६
विजयी राजा (कां. ६, पृ. ९८)	८६	राज्यशासन चलानेके लिये कर	१०६
क्षत्रियका-धर्म (कां. २, पृ. ५)	८७	प्राप्तिका सोवहवाँ भाग	१०६
क्षत्रियका धर्म	८९	प्राप्तिके दो सापन	१०७
शाश्वधर्म	८९	राजा कैसा हो	१०७
क्षत्रियका गुण	८९	करका उपयोग	१०७
क्षत्रियका कर्तव्य	८९	स्वयं सवस राष्ट्र	१०९
राज्यशासन	९०	कामनाका प्रभाव	१०९
प्रजासे सम्मान	९०	कामकी मर्वासा	११०
श्रीग	९०	दुष्टोंका नाश (कां. ८, पृ. ३)	१११
श्रीम और मरु	९१	दुष्टोंका नाश	१११
जीवन संग्राम	९१	दुष्टोंके लक्षण	११२
प्रजा-पालक-सूक्त (कां. १, पृ. २१)	९२	दुष्टोंका नाश करनेवाला कैसा हो ?	११७
शाश्वधर्म	९२	दरका विधान	११८
आशा-पालक-सूक्त (कां. १, पृ. ३१)	९३	दुष्टनाशन सूक्त (कां. १, पृ. ९८)	११०
आशा-पालक-सूक्त	९४	दुष्टनाशन सूक्त	११०
विश्वाल	९४	दुष्टोंके लक्षण	१११
बेहमें चार विश्वाल	९४	दुष्टोंका मुबार	१११
आशा और विशा	९४	शत्रुदमन (कां. ८, पृ. ४)	११२
सूक्तका मनुष्यवाचक भाषा	९५	शत्रुदमन	११७
मनुष्यके चार द्वारोंकी चार आशाएँ	९५	दुष्टोंका दमन	११७
विद्वति द्वारसे प्रवेश	९६	दुष्टोंका लक्षण	११७
आरोग्यका धाधार	९७	सत्यका रक्षक ईश्वर	११८
ज्ञानदान	९७	व्यदं	११८
कामभोग	९७	देशसे निकाल देना	१११
अपेनका नाश	९७	दुष्टोंका तपाना	१११
अमर विश्वाल	९७	दुष्टोंके द्वेष	१११
हवनसे पूजन	९८	पापीकी व्यथोगति	१११
पापमोचन	९८	आत्मबंध	१११
शत्रुके देव	९९	शत्रुका निवारण (कां. ७, पृ. ११७)	१११
श्रीके आयुष्य	९९	शत्रुका नाश (कां. ७, पृ. ११०)	१११
विशेष वृष्टि	१००	शत्रुका नाश (कां. ५, पृ. ५०)	१११
राष्ट्र-संयर्धन-सूक्त (कां. १, पृ. २९)	१००	शत्रुका नाश	११५
राष्ट्र-संयर्धन-सूक्त	१०१	शत्रुका नाश	११५
अमीवर्तमणि	१०१	शत्रुका नाश	११५
दस शत्रुका संचार	१०१	शत्रु-नाशन-सूक्त (कां. १, १९)	११६
राजाके गुण	१०१	शत्रु-नाशन-सूक्त	११७
राजधिवृद्	१०१	आन्तरिक कवच	११७
शत्रुके लक्षण	१०३	सूक्तके दो विभाग	११७
सबकी सहायता	१०३	बैरिक धर्मका साधन-शास्त्रकवच	११७

विषय	पृष्ठ
अन्य कथन-साम कथन	१३७
हासिमायका वादा	१३७
शत्रुदमन (कां. ७, सू. ७०)	१३८
शत्रुका नाश (कां. ६, सू. १३४)	१३९
बन्ध्यादि शत्रुओंका उपशोय	१३९
शत्रुका नाश (कां. ६, सू. १३५)	१४०
शत्रुका नाश (कां. ६, सू. १०३)	१४०
शत्रुका दमन	१४१
शत्रुका पराजय (कां. ६, सू. १०४)	१४१
शत्रुको दफनना	१४२
शत्रुको तेजका नाश (कां. ७, सू. १३)	१४२
शत्रुका तेज धरना	१४६
शत्रुको दूर करना (कां. ६, सू. ९७)	१४३
शत्रुको दूर करना	१४४
विजयके साधन	१४८
यत्त कंसा हो	१४४
शत्रुको दूर करना (कां. ६, सू. ७५)	१४४
शत्रुको भगाना	१४५
शत्रुपर विजय (कां. ६, सू. ६५)	१४५
शत्रुपर विजय (कां. ६, सू. ६६)	१४६
शत्रुपर विजय (कां. ६, सू. ६७)	१४६
शत्रुको दवाना (कां. ५, सू. ८)	१४७
शत्रुको दवाना	१४७
शत्रुका नाश	१४९
ईश प्रार्थना	१४९
नास्तिकोंकी अक्षतता	१४९
शत्रुके नाशका उपाय	१५०
शत्रुओंको दूर करना (कां. ४, सू. ३)	१५०
शत्रुओंको दूर करना	१५१
दुष्टोंका दमन करनेका उपाय	१५१
अधर्मविधाला नियम	१५२
दुष्टोंका संहार (कां. ७, सू. १०८)	१५३
दुष्टका नियारण (कां. ७, सू. ९०)	१५४
यातुधान नाशन (कां. १, सू. ७)	१५४
यातुधान नाशन	१५५
अग्नि कौन है ?	१५५
कानो उपदेशक	१५६
बहु शत्रिय	१५६
ईश कौन है ?	१५६
धर्मोपदेशका श्रेष्ठ	१५६

विषय	पृष्ठ
दुष्टोंका सुपार	१५७
मित भोजन करो	१५८
दुष्ट जीवनका दमनात्मक	१५८
धर्मोपदेशक कार्य बनावे	१५८
दुष्टोंकी पराजयके सुखि	१५९
धर्मका दूत	१५९
शत्रुओंकी दूत	१५९
शास्त्र और अग्निर्विके प्रयत्नका प्रमाण	१५९
यातुधान-नाशनम् (कां. १, सू. ८)	१६०
यातुधान-नाशनम्	१६१
धर्मोपदेशका परिणाम	१६१
नव प्रविष्टका आचर	१६१
दुष्टोंकी मत्तलका सुपार	१६२
धर्मोपदेश	१६३
शत्रुसेनाका संमोहन (कां. ३, सू. १)	१६३
शत्रुसेनाका संमोहन (कां. ३, सू. २)	१६४
शत्रुसेनाका समोहन	१८५
सेनाका समोहन	१६५
इष्ट	१६६
मयवद्	१६६
बृहन्	१६६
पवत	१६६
पतत्र	१६७
मत्तलः	१६७
शत्रुमें पयराहट पैदा करनेकी रीति	१६८
मत्तलकी समावृत्ता	१६९
असत्य भाषणादि पापोंसे छुटकारा (कां. १, सू. १०)	१६९
असत्य भाषणादि पापोंसे छुटकारा	१७०
पापसे छुटकारा पानेका मार्ग	१७०
एक शत्रुक ईश्वर	१७०
शान और भक्ति	१७०
प्रापविषय	१७१
पापी मनुष्य	१७१
पापसे बचानेकी प्रार्थना (कां. ११, सू. ६)	१७१
पापसे बचानेकी प्रार्थना	१७४
इत सूक्तका विचार	१७४
पृथ्वी स्थानीय देवता	१७४
अन्तरिक्षस्थानीय देवता	१७४
सुस्थानीय देवता	१७४
पापी लक्ष्मणोंको दूर करना (कां. ७, सू. ११५)	१७५
पापसे बचना (कां. ६, सू. ११५)	१७६
दिव्याय बचनेकी तीव्र प्रकार	१७७

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
पाप नाशान (कां. ४, सू. २३)	१७८	दुःसमोचन और विजयप्राप्ति	
पापको दूर करना	१७८	(कां. १६, सू. १)	१००
पापी विचारका त्याग करो (कां. ६ सू. २६)	१७९	दुःखमोचन और विजयप्राप्ति	११०
पापी मन	१७९	विजयकी प्राप्ति	११०
पाप मोचन (कां. ४, सू. २६)	१८०	विजयके प्रकार	११०
पाप मोचन	१८१	साध्यात्मिक विजय	११०
धामापुष्पी	१८१	इन्द्रियगुण्डि	१११
पाप मोचन (कां. ४, सू. २६)	१८२	आधिभौतिक विजय	१११
पाप मोचन	१८३	स्वप्न	१११
पापसे मुक्ति	१८३	विजय	११५
पापक्षी नियंत्रित (कां. ३, सू. ३१)	१८४	अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना	
पापकी निवृत्ति	१८६	(कां. १७, सू. १)	११६
पापनिवृत्तिसे तिरोगता और दीर्घायु	१८६	अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना	११६
पाप और पुण्य	१८६	कोकविष बनना	११६
पापको दूर करना	१८७	वीरके गुण	११७
देवोंका उदाहरण	१८८	उपासकके गुण उपासकके	११७
अनिका आदर्श	१८८	सम्भुवय	११७
धर्मजजाका महारथ	१८८	पराक्रम	११७
स्वानुयायके बचाव	१८८	यथा सीमाय	११७
स्वभावसे दधीच	१८९	य बध जाता	११७
दान	१८९	सायका मार्ग	११७
अपनी गतिमें रहना	१८९	आत्मा और संसार	११८
देवकी पावन शक्ति	१८९	भूत, भविष्य, वर्तमान	११८
सूर्यका वीर्य	१९०	आत्मतेज	११५
दीर्घायु प्राप्त करनेवाले	१९०	अपना मन	११५
श्रीपथिरस	१९०	पराक्रमसे विजय (कां. ८, सू. ८)	११६
पापसे दयाय (कां. ७, सू. १५)	१९१	पराक्रमसे विजय	११७
पापसे मुक्तता (कां. ७, सू. ५२)	१९१	मुट्टकी नीति	११७
ज्ञानसे पापको दूर करना (कां. ६, सू. १११)	१९१	दुर्गन्धयुक्त धुंवा	११७
शापसे हानि (कां. ६, सू. १७)	१९३	विजय	११९
शापसे हानि	१९३	विजयकी प्रार्थना (कां. ७, सू. ११८)	११३
पापसे हानि	१९३	विजय सूक्त (कां. १, सू. २)	११३
पाप मोचन (कां. ४, सू. २७)	१९४	विजय सूक्त	११४
पाप मोचन	१९५	अनितक विजय	११४
मनू देवता	१९५	दित्तके गुण-दर्श-बर्ष	११४
पाप मोचन (कां. ४, सू. २८)	१९५	माताके गुण-दर्श-बर्ष	११५
मन और गर्व	१९७	पुत्रके गुण-दर्श-बर्ष	११५
पाप मोचन (कां. ४, सू. २९)	१९८	एक अभ्युदय आदर्शकार	११६
पाप मोचन	१९९	कुटुंबका विजय	११६
विज और वरण	१९९	पूर्वोपर-संबंध	११७
		कुटुंबका आदर्श	११७
		श्रीपथि प्रयोग	११७

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
ईश्वरके गुण	२९०	निर्भयताके लिये प्रार्थना (कां. ६, सू. ४०)	३०८
दुमारी रक्षा (कां. ६, सू. ७९)	२९१	कल्याणप्राप्तिकी प्रार्थना (कां. ६, सू. ४८)	३०९
ईश्वरके भक्त	२९१	कल्याणके लिये यत्न (कां. ६, सू. ९९)	३०९
यत्न प्राप्त करना (कां. ६, सू. १०१)	२९१	कृत्यागका मुख्य शापन	३१०
घार प्रकारका वस्त्र	२९२	अपनी पवित्रता (कां. ६, सू. ६२)	३१०
अपनी शक्तिका विस्तार (कां. ६, सू. ४१)	२९२	उत्तम मार्गसे जाना (कां. ६, सू. ५५)	३११
अपनी शक्तिका विस्तार	२ ३	अंतर्धीष्ट शुद्धता (कां. ६, सू. ५१)	३१२
अपनी शक्तिधा	२९३	धोवका महात्म्य	३१३
ऋषि	२९३	जलका महात्म्य	३१३
मात्मबल (कां. ५, सू. १६)	२९४	द्रोह न करना	३१३
सत्यका विजय (कां. ५, सू. १५)	२९४	पुष्टिकी प्रार्थना (कां. ७, सू. ४८)	३१३
हाथसे यत्न	२९५	सुखकी प्रार्थना (कां. ७, सू. ४९)	३१४
यत्नसंबंधन (कां. ५, सू. ४)	२९५	उत्तम ज्ञान (कां. ७, सू. ५२)	३१५
यत्नबंधन	२९७	बंधनसे छुटकारा (कां. ६, सू. १२१)	३१५
ज्ञानबल-संबंधन (कां. ५, सू. २२)	२९७	बंधनसे मुक्ति (कां. ७, सू. ७७)	३१५
ज्ञानबल-संबंधन	१९९	बंध-मुक्तता (कां. ७, सू. ७८)	३१७
स्पर्धा	२९९	तोन बंधन	३१८
सत्यका बल (कां. ५, सू. ३६)	२९९	क्रोधका शमन (कां. ६, सू. ४३)	३१८
सत्यका बल	३०१	धर्म	३१८
तापका धर्म	३०१	सिद्धिकी प्रार्थना (कां. ७, सू. ४६)	३१९
बुद्ध मनूष्य	३०१	शुद्धसाधन रथ (कां. ६, सू. १२५)	३१९
बंद्यावरकी बंद्या	३०२	हुंदुमि (कां. ६, सू. १२६)	३१०
मुधारके दो उपाय	३०२	हुंदुमिका घोष (कां. ५, सू. २०)	३११
मात्मशुद्धिके लिये प्रार्थना (कां. ६, सू. १९)	३०३	हुंदुमिका घोष (कां. ५, सू. २१)	३१४
मैं उत्तम बनूँगा (कां. ६, सू. १५)	३०३	गणना	३१५
मैं थोड़ा बनूँगा	३०४	राजाकी स्वयंरता (कां. ६, सू. ८७)	३१५
सबसे श्रेष्ठ हो ! (कां. ६, सू. ८६)	३०४	राजाकी स्वयंरता	३१६
सबसे थोड़ा बनना	३०५	दूर घोर (कां. ७, सू. ६२)	३१७
यशस्वी होना (कां. ६, सू. १९)	३०५	घोर पुण्य (कां. ३, सू. ६)	३१७
यशस्वी होना	३०६	घोर पुण्य	३१९
हजारों तापकी	३०६	असत्यकी अपरोक्ष	३१९
यशका स्वयं	३०६	आनुवंशिक संस्कार	३१९
प्रयुक्तो भक्ति	३०६	अनुशासन	३१९
यशकी इच्छा (कां. ६, सू. ५८)	३०६	निरास्यका मार्ग	३२२
यशके लिये प्रार्थना (कां. ६, सू. ६९)	३०७	विश्वकी तीव्रता	३२०



अथ केकेद-

भाग-दूसरा

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

भूमिका

मातृभूमि और सुयोग्य राज्यशासन

उत्तम राज्यशासनते प्रजाका सुख बढ़ता है, वह राज्य समृद्ध होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर उत्तम राज्यशासन कौनसा है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। आज इस पृथ्वीपर अनेक प्रकारके राज्यशासन हैं। हममें साम्यवादी राज्यशासन है, तो धर्मैतिकमें प्रजातन्त्रीय राज्यशासन है। इसीप्रकार अग्राप्य देशोंमें भी विभिन्न राज्यशासन हैं।

प्राचीन समयमें भी विभिन्न राज्यशासनकी प्रणालियाँ थीं, राज्य, महाराज्य, साम्राज्य, स्वराज्य, सामन्तपर्यायी राज्य, भौग्य, वैराज्य, आधिपत्यमय राज्य, जातिराज्य आदि अनेक तरहके राज्यशासन हमें वेदों और ब्राह्मण-धर्मोंमें देखनेको मिलते हैं। आज जिसप्रकार विभिन्न राज्यात्मक हे उसीप्रकार धैरिकशासकों भी हैं। ब्राह्मण-धर्मोंमें जिस दिशामें किस तरहका राज्यशासन था, इन सबका वर्णन है। इनके अलावा ब्राह्मणोंमें हमें सम्पूर्ण पृथ्वीके एक

राज्यकी कल्पना भी देखनेको मिलती है। ऐतरेय-ब्राह्मणका वचन है—

समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट् ॥ (ऐ. ब्रा.)
 “समुद्रपर्यन्त जितनी पृथ्वी है, उस सब पृथ्वीका राजा एक हो और राज्यशासन भी एक हो”। आज जिसप्रकार संयुक्त-राष्ट्र-संघ (यू. नो.) की कल्पना है, वैसे ही “पृथिव्याः एकराट्” की कल्पना है। अलग अलग राज्य हों और वे भी स्वतंत्र हों, तो उनमें परस्पर युद्धकी सम्भावना बनी रहती है। यह युद्ध होकर मानवजाका संहार न हो, इस हेतुसे अधिपतियों “पृथिव्याः एकराट्” की कल्पना लोगोंके सामने रखी। आजका “संयुक्त राष्ट्र-संघ” भी उसी प्राचीनकालकी कल्पनाका आधुनिक रूप है। इसे अपने जट्टुधर्म किानी लक्षणता प्राप्त हुई यह और बात है। पर पृथ्वीपर एक राज्य हो, उसका विधान एक हो, यह कल्पना आजकी ही है, प्राचीनकालमें यह कल्पना अत्रिदृष्टाओंके अतिरिक्तमें कभी आई ही नहीं थी, यह कल्पना सर्वथा अतर्पित है।

सबकालके शानी सज्जन संपूर्ण मानवजातिका हित हो, मानवोंका ध्येय संसार म हो, इसलिए उसीतरह विचार करते हैं और उससे संयुक्त राज्यशासनकी कल्पना उद्भूत होती है। जैसी कल्पना इस समय उत्पन्न हुई है वैसी ही प्राचीन नेताओंमें भी उत्पन्न हुई थी, जो हम "पृथिव्या एकराट्" में देखते हैं।

"पृथिवीपर एक राज्यशासन हो" यह कल्पना ब्राह्मण-ग्रंथोंमें तो हम देखते हैं, पर इतिहासमें बीता शासन कभी बना भी था, ऐसा हमें देखनेमें नहीं आता। अतः हम इसका ही कह सकते हैं कि यह कल्पना श्रुतियों वा इस समयके नेताओंके मस्तिष्कमें उत्पन्न हुई थी, पर यह कार्यक्रममें परिणत नहीं हो पाई।

अब "संयुक्त-राष्ट्र-संघ" (यू. नो.) का अस्तित्व है तो अतः, पर उसे संसारमें किसी तरहकी सफलता प्राप्त हुई यह कहना कठिन ही है। क्योंकि हर एक राष्ट्रका स्वार्थ धीचममें जाता है और उससे मूल उद्देश्य नष्ट हो जाता है। मानव स्वभावही ऐसा है। वह भूलके भी वंशा या और आज भी वंशा ही है।

यहां हमें इसका ही मताना है कि, प्राचीन समयों इस पृथिवीपर अनेक राज्य थे, जिनमें लड़ाई लड़े होते थे और उनमेंसे "पृथ्वीपर एक राज्य" की इस कल्पनाका भाविकर्मा हुआ; पर वंशा संपूर्ण पृथ्वीपर एक राज्य कभी गया नहीं। मानवोंकी बौद्धिक उत्पत्ति राज्य, साम्राज्य और स्वराज्य तक हो गई। इसके आगे संपूर्ण पृथिवीपर एक राज्यशासनके होनेतक उत्पत्ति नहीं हो पाई।

इस कारण हम केवल राज्य, साम्राज्य और स्वराज्यकी कल्पनाकी ही पृथिवीपर परिणत हुआ हुआ देखते हैं। स्वराज्यका अर्थ यद्यपि "यहुपाय्य स्वराज्य" है। एक राजाके अतिमंत्रित-राज्यशासनको "राज्य" और लोक-निर्णयित-राज्यशासनको "यहुपाय्य स्वराज्य" कहा जा सकता है। वेदमें ये सब प्रकारके शासन हैं, जिनमें "यहुपाय्य स्वराज्यशासन" की महिमा विशेष है।

मातृभूमिपर प्रेम

किसी प्रकारका भी राज्यशासन हो, पर हर राज्यशासनमें जनतामें मातृभूमिके विषयमें प्रेम होता आवश्यक है। वेदमें मातृभूमिका सूक्त इस वृत्तिके अन्तन करने योग्य है। किसी भी अन्य धर्मग्रंथमें मातृभूमिकी महत्त्वके विषयमें कुछ भी नहीं कहा है। केवल वेदोंमें ही यह सूक्त है और इसका

विस्तृत सूक्त है कि हर एक विचारकको इसके विषयमें आग्रहमें प्रतीत होगा।

वेदके मानवधर्मकी पूर्णता इससे स्पष्ट होती है। मानवके जीवन व्यवहारमें जितने पहलू हैं, जिनमें सब पहलुओंमें उत्तम उपदेश देव देता है। इस पुस्तकमें पाठक मातृभूमि और राज्यशासनके विषयमें साय संबंध रखनेवाले सब विषय देख सकते हैं।

प्रथम भागमें अंत "ब्रह्मविद्या" के सूक्त रिये हैं, वही तरह इस द्वितीय भागमें "मातृभूमि और राज्यशासन" विषयके साय संबंध रखनेवाले सब सूक्त रिये हैं—

१ "मातृभूमि"—सत्ता भूमि, विराट्, राष्ट्रवैशो, राष्ट्रसमाकी राजाके लिये अनुमति।

२ "राजा"—राजाका कर्तव्य, राजाकी स्थिरता, राष्ट्रके ऐश्वर्यकी वृद्धि, राजाका राष्ट्रप्रतिक, राजाके बनावेवाले, राजाका ध्यान, विजयी राजा, राजाकी राष्ट्रपर पुनः स्थापना।

३ "राजाका धर्म"—साधिका धर्म, प्रजाका पालन, विज्ञानोंके पाठक और रक्षक, राष्ट्रका संरक्षण तथा संरक्षण करना।

४ "दुष्टोंका नाश"—नुष्टनाश, सन्तुष्टन, दुष्टोंका संहार, सेना संपोहन, पापसे बचाव, दुःखविमोचन, विजय प्राप्ति।

५ "विजयकी प्राप्ति"—अभ्युदयकी प्राप्ति, परा-कमते विजय, विजयकी प्राप्ति, कर्म और विजय, बर्ध-प्राप्ति, ज्ञान और शौर्यकी अोजस्यता, तेजावतति से अभ्युदय, हिसविताकी प्राप्ति, अभ्युदयकी विज्ञा।

६ "संरक्षण"—सुरक्षा, बलप्राप्ति, आत्मवृद्धि, उत्तम और श्रेष्ठ बनना, यशस्वी होना, निर्भयता, कल्याण, परिव्रता, नृद्धता, उत्तम भावसे जाना।

७ "आनन्द"—वृष्टि, सुख, ज्ञान, अन्तर्गत मुक्ति, शोकका समन, सिद्धि।

८ "सुख-स्वाधन"—सुखके साधन, रय, सुख, राजाकी स्थिरता, सुरावर।

इतने धोषोंके अन्तर्गत करीब ११२ सूक्त और एक हजार मंत्र इस प्रकारमें हैं। इन मंत्रोंके विचार करनेसे वेदके राज्यशासन-प्रकरणका पूर्ण रीतिसे ज्ञान हो सकता है। उसाहरणके लिये कुछ मंत्र यहां बताते हैं—

मातृभूमिके धारक-गुण

मातृभूमिका धारण किं नृणोति होता है, इत विषयमें मातृभूमिके दूतके प्रथम मंत्रमें इस तरह कहा है—

सत्यं वृहद् अतं उग्रं वीर्या
तपो ब्रह्म यशः पृथिवीं धारयन्ति ॥ (अथर्व. १२।१।१)

“ सत्य, सख्यता, उग्रता, ब्रह्मता, धर्मनिष्पन्नके बालक करनेके समय होनेवाले कर्मोंको सहन करता, ज्ञान और प्रतापय मे गुण मातृभूमिका रखण करते हैं । मातृभूमिको स्वयंन रखनेके लिये प्रजाजनोंमें इन गुणोंका होना आवश्यक है । जहाँके प्रजातन इन गुणोंके संपन्न होने, वह मातृभूमि स्वर्ण, तेजस्विनी उज्वल तथा कीर्तिमयी हो सकती है । यह मातृभूमि पराक्रमी पुरुषोंकी “ जननी ” है—

यस्यां पूर्वं पूर्वजना विचरिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ॥ (अथर्व. १२।१।५)

“ जित मातृभूमिमें प्राचीन पूर्वज वधे वधे पराक्रम करते रहे, और जित मातृभूमिमें देवोंने असुरोंको दूद किया था । ” इस इतिहासकी यद्य यह मंत्र हमें बतला रहा है । इससे प्राचीन इतिहासका स्मरण होता है और इससे मातृभूमिके विषयमें श्रेय बढ़ता है और ऐसा भाव मनमें उत्पन्न होता है कि अपनी मातृभूमिके विषयमें हमें भी कुछ करना चाहिये, जो हमारे प्राचीन पूर्वजोंके अनुसार हो ।

भजतिोऽहतो वपयथां पृथिवीमहम् ॥
(अथर्व. १२।१।११)

“ अन्तेय होकर, युद्धमें म मरकर, वन आदि रहित होकर मे अपनी मातृभूमि पर कप्यस होकर विरामूं । ” इस तरह अपनी मातृभूमिमें क्षय होकर अन्धकार कायं कर्ण । ऐसे विचार मनुष्य मनमें धारण करें ।

स्वज्ञाताः स्वधि न्वरन्ति मर्त्याः
तपोमे पृथिवि पञ्च मानवाः ॥ (अथर्व. १२।१।१५)

“ हे मातृभूमि ! हम सब पाँचों मानव तुझसे उत्पन्न हुए और तेरे ही अन्धर धरमण करते हैं । ” इस मंत्रसे पञ्चजनोंके सगठनको उच्चभावना सूचित होती है । तथा—

यो नो द्वेषस श्रुधिधि यः पुनन्यात् योऽभिधा-
सात् मनसा यो पथेन । तं नो भूमे रंघय ॥
(अथर्व. १२।१।१४)

“ हे पृथिवि ! जो हमसे द्वेष करता है, जो रीत्य भेदकर

हमसे युद्ध करता है, जो हमसे हमें दास बनानेका इच्छुक है, उन लयगत नाम कर । ”

श्रवियोंका स्मरण

पूर्व समयमें अपनी मातृभूमिमें उत्पन्न हुए हुए ब्रह्मज्ञानी श्रवियोंका स्मरण भी इस दूतमें किया है—

यस्यां पूर्वं भूतकृत प्राययो गा उदानृचुः ।
(अथर्व. १२।१।२९)

“ जित मातृभूमिमें पूर्व समयमें भूतकालका इतिहास बतानेवाले बड़े श्रविय हुए थे । ” इस तरह प्राचीन कालके श्रवियोंके विषयमें उत्तम प्रकारसे स्मरण किया है ।

मातृभूमिके विषयमें उत्तमभाषण

अपनी मातृभूमिके विषयमें सदा उत्तम भाषण ही करना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

ये प्राणा यदरुण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संप्राणाः समितपस्तेषु चाह पदेम ते ॥
(अथर्व. १२।१।५६)

“ जो घाम, अरण्य, तथा, संशय और समिति हैं, उनमें हम तुम्हारे विषयमें अच्छा ही बोलें । ”

दीर्घे नः आयुः प्रतिशुष्यमाना
यदं तुभ्यं परिलिहृतः श्याम ॥ (अथर्व. १२।१।२२)

“ एवं दीर्घ आयु प्राप्त हो, हम उत्तम जानी घर्षे और मातृभूमिके लिये अपनी शक्ति दें । ”

इस तरह अपनी मातृभूमिके विषयमें कितने उच्च विचार केंद्रमें बताये हैं, पाठक इनका विचार करें और अपनी मातृभूमिके विषयमें ये ही विचार सदा मनमें धारण करें, तथा मातृभूमिको सेवा करने कृतकृत्य होकर अपने जीवनको सार्थक करें ।

वैदिककालमें जनेक शासन - पद्धतियां प्रचलित थीं । उनमें प्रथम “ पि-राट ” पद्धतिका शासन क्षामने जाता है । जा विषयमें वेद यह कहता है ।

वैराग्यकी व्यवस्था

विराट् पर इदम् अत्र आसीत् तस्य जातायाः
सर्वे अविमेद् इयमेवेदे मधिप्यन्ति इति ।

(अथर्व. ८।१।०१)

“ विराट् ही प्रथम था । उससे पहले भी भय हुआ कि यदि

सदा यही विराट् रहेगा तो कौन शासन चलेगा? इस विराट्का क्या अर्थ है और उससे प्रत्यायं भयभीत क्यों हुई, इसका समाधान निम्न है—

“ विराट् (वि-राज्) ” का अर्थ “ राजा नहीं ” । राजाको बिरोधी अथवा, राजाहीन स्थिति । प्रारंभमें राजा नहीं था । लोग ही अपना सब कारोबार करते थे । ग्रामकी शक्ति मिलकर अपने ग्रामको सब व्यवस्था करते थे । सब ग्राम ऐसे ही जनशासित थे । राजशक्ति नहीं थी, जो सबका शासन कर सके । यह राजबिहीन व्यवस्था देण कर सज्जनोंको भय होने लगा, कि ऐसी ही राजबिहीन स्थिति रहेगी, तो जनताको उससे किस तरह हो सकेगी । यह भय सज्जनोंके नाममें उत्पन्न हुआ और यह भय भोय्य भी था । जोको जोकोई शक्तिसे शक्तिहीन स्थापित करनेका विचार निरपत्त किया, जिससे—

सा उद्ग्रामत् सा सभायां न्यग्रामत्
सा उद्ग्रामत् सा समितौ न्यग्रामत्
सा उद्ग्रामत् साऽमन्त्रणे न्यग्रामत् ।

(अथर्व. ८।१०।८-११)

“ यह जनशक्ति उत्क्रान्त होकर-पामसभामें परिणत हुई । यह जनशक्ति और अधिक उत्क्रान्त होकर राष्ट्रसमितिकें परिणत हुई, अन्तमें यह जनशक्ति अत्यधिक उत्तम हुई और मन्त्रिमण्डलमें परिणत हो गई । ”

इस तरह पाममें पामसभा, राष्ट्रमें राष्ट्रसमिति और मन्त्रिमण्डल स्थापित हुए और राज्यशासन चलने लगा और इन सभा समितियोंका जो अन्वय था, उसीको राजा धर्मके नाम धर्ममें प्रान्त हुआ । इस तरह “ विराट् ” अथवासे “ राजा ” के शासन होनेके प्रजाशक्तिके उत्पत्तिके क्रम यह था । इसीका नाम “ राष्ट्र ” शक्ति है । यह राष्ट्रकी जनशक्ति है यह राजामें केन्द्रित रहती है । इस विषयमें कहा है—

राष्ट्री देवी

बह्वं राष्ट्री संगमनी यस्वनां
चिरिनुषी प्रथमा यक्षियाताम् ॥ १ ॥
यं पाण्ये तं तं उग्रं छुषोमि,
तं प्रहाणं तं क्रुषिं तं सुमेधाम् ॥ २ ॥
अमन्तयो मां त उपक्षिपन्ति
शुषि भूत धजेयं ते यदासि ॥ ४ ॥
महं सुये पितरमस्य मूर्ध्नि ॥ ५ ॥ (अथर्व. ४।१०)

“ मैं राष्ट्रशक्ति हूँ । मैं वनोंको एकत्रित करनेवाली हूँ । मैं पूजनीयोंमें पूजनीय हूँ । जिसको चाहती हूँ उसको मैं उग्र-भोर बना देती हूँ, उसको ब्रह्मा और उत्तम बुद्धिमान् शक्ति बनाती हूँ । मेरा अपमान करनेवाले नामको प्रान्त होते हैं, हे शत्रुवाण् मनुष्य ! तू यह सुन जो मैं स्वयं कहणी हूँ । मैं ही इस राष्ट्रपर शासन-कर्ताको नियुक्त करती हूँ । ”

यह राष्ट्रशक्तिका कथन है । राष्ट्रशक्ति कोई मनुष्य नहीं, जो मनुष्यके समान बोल सकती हो । पर यह शाल-कारिक रीतिसे राष्ट्रशक्तिको मनुष्यके रूपमें बोलता हुआ दिखाया गया है, जो मनुष्योंको बोधवश हो सकता है । राष्ट्रको शक्ति और वास्तव शक्तिके ये कार्य होते हैं । अतएव जो राष्ट्र जीवित और जाग्रत हैं, वे ही विशेष कार्य करते हुए नजर आते हैं । इसका कारण स्पष्ट है । अस्तु । यह राष्ट्र शक्तिका प्रभाव ऐसा महान् है ।

राष्ट्रसभाकी अनुमति

राष्ट्रशक्तिका कार्य है राष्ट्रकी जनताकी संघशक्ति । यह राष्ट्रकी सभामें एकत्रित हुई होती है । राष्ट्रके शासन-विशाल-संघर्ष होने पर यह शक्ति प्रभावित होती है, अथवा यह शक्ति प्रभावित नहीं होती । इन राष्ट्रसभाओंका प्रभाव जितना बड़ा होता है, वह वैलिये—

सभा च मा समितिष्यापदां
प्रजापतेर्दुहितरी संविदाने । (अथर्व. ७।१।१)

राजा कहता है— “ सभा और राष्ट्रकी समिति मिलकर मेरा संरक्षण करें, ये राजाकी आत्माके बनाई जाती हैं, इस लिए ये राजाको दुहितारि हैं, अर्थात् राजाकी आत्माके ये म रहकर अत्यन्तसे राजव्यवहार करती हैं । अतः राजाका भी ये रक्षण करती हैं । ” राष्ट्रसमिति और पामसभा इनका सामर्थ्य इतना है कि इनको अनुकूलता सम्पादन करके ही राजा राजपदी पर स्थिर रह सकता है, अन्यथा नहीं । इसीसे शक्ति राजसभाओंकी वैदिक समयमें थी ।

राजा कैसा हो

राष्ट्रका संरक्षण करनेके लिये कोई अक्षय शासक राज-पदी पर होना चाहिये । उस शासनमें गुण ये होने चाहिये—
ईद्रः सुश्रामा स्वजां अयोमिः
सुसृडीको भवतु धिम्भवेदाः ।
यापतां द्वेषो अमयं नः छुणोतु
सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ (अथर्व. ७।१।१)
“ राजा (सु-श्रामा) प्रजाका उत्तम संरक्षण करनेवाला

हो, (स्वर्वा) अपनी शक्ति का प्रयोग करनेवाला हो, (अयोध्या) सरक्षण शक्तियैति युक्त हो। (सुमृष्टीकः) प्रजाको उत्तम युक्त देनेवाला हो, (विश्वधेदाः) सब पदों और शक्तियों युक्त हो। यह शत्रुओंको बाधा पहुँचाने और हमारे विश्व विभवता करे। हम उत्तम पराक्रमके अपना पदके स्वामी बनकर रहें। ”

ये राजाके गुण हैं। राजा ऐसा हो। राजाकी मुख्यवस्था ऐसी हो कि प्रजा उत्तम निर्भर होकर सुखी और मनीबने।

विश्वधा अयोध्याः प्रमुञ्चन् मातृपीथिः
शिवामिः शय परि पादि नो गयम् । (अर्ष ७।८७।१)

“ सब रोगोंको दूर कर, मातृभूमिके कल्याण करनेके समर्थके हमारे धरती सुरक्षा हो। ”

राज्यकी सुखवस्थायें प्रजा रोगमुक्त होनी चाहिये और कर्षत्र सुरक्षितता रहनी चाहिये। उसका लक्षण यह है—

अपानुदो जलं अमिप्रयन्तम् । (अर्ष ७।८७।२)

“ शत्रुता करनेवाले लोगोंको दूर करे। ” समानमें शत्रु न रहें इसप्रकार सुरक्षाका प्रथम राजाको करना चाहिये, तथा—

भूयोऽच्युतः प्र सृणीहि शत्रून्
शत्रुयतोऽधरान् पादयस्य ।

सर्वा दिशः संमनसः सध्वीची
धुपाय ते समितिः कल्पतामिह । (अर्ष ६।८८।३)

“ राजा अपने कर्तव्यपर स्थिर रहे, कर्तव्यभ्रष्ट न हो, शत्रुओंका नाश करे, शत्रुता करनेवालोंको नीचे गिरा देवे। सब दिशाओंमें रहनेवाले लोग एक उत्तम विचारके हों। राजाकी स्थिरताके लिये राष्ट्रसमिति स्थापित हो। ”

राजाकी स्थिरता राष्ट्रसभ्यताके अनुकूलतामें ही होती है, यह यहाँ तात्पर्य है।

राजाके निर्माता

प्रजात्मक ही राजाके निर्माता हैं। प्रामके लोग प्रागतभाके सदस्य चुनते हैं, राष्ट्रके लोग राष्ट्रसमितिके सदस्य चुनकर देते हैं और ये सदस्य अपनेमेंसे सभिसदल बनाते हैं और यह सभिसदल एक क्षुरवीरको नियुक्त करके उसे राजपदी पर बिठलाता है।

ये राजानो राजकुतः सृताः भ्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन् पर्णं माहं एवं
सर्वान् कृषु अभितो जनान् ॥ (अर्ष ३।१।७)

“ जो शासक हैं, जो राजाको बनानेवाले लोग हैं, जो सृष्ट और प्रामके नेता हैं, इन सबको राजाके अनुकूल रचना चाहिए। ”

इसके अनुकूल रहने पर ही राजा यहाँपर सुरक्षित रह सकता है। राजाकी शक्ति प्रजाजनोंके अनुकूलता पर ही अवलम्बित रहती है। इसी विषयमें और देखिये—

त्वां विशो धृणतां राज्याय
त्वां इमाः प्रदिशाः पञ्च देवीः ।

वर्षन् राष्ट्रस्य ककुदि धयस्य
सतो न उग्रो धि भजा वसुति ॥ (अर्ष ३।१।२)

“ हे राजन । ये चारों दिशाओंमें रहनेवाले जो पञ्चजन हैं वे सब राज्यके शासनाधिकारके लिये तुझे चुनें। बलवान् बनकर तू राज्यके उच्च स्थान पर विराजमान हो और यहाँसे हमें धन विभक्त करके दे। ” एवं योम्य रीतिते धन प्राप्त हो ऐसी सुभवस्था कर। तथा और देखिये—

स्वस्तिदा विशां पतिर्ब्रह्मा विश्वधो यशी ॥ १ ॥
वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ्र पृतन्यत ॥२॥

(अर्ष १।२।१)

“ प्रजाका पालक राजा प्रजाजनोंका कल्याण करनेवाला हो, वह शत्रुका वध करे, ताकि ये शत्रु स्वतंत्र न रहे और वे कभी उन्नत न हों। तैन्से हम पर जो चलाई करते हैं उनको नीचे गिरा दे। हमारे शत्रुओंको राजा परास्त करे। ”

राजाकी कर

राज्यशासन चलायेंके लिये धन होता है। यह धन प्रजा अपनी आपदनीसे देती है। इसको ‘ कर ’ कहते हैं। इस विषयमें रहा है—

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य
योदशं यमस्यामी सभासदः ।

अधिः तस्मात् प्र मुञ्चति
दत्तः शितिपात् स्वधा ॥ (अर्ष ३।२।१।१)

“ राजा प्रजासे उनकी सामदानीका सोलहवां भाग कर के रूपमें लेते हैं। नियामक राजाके राष्ट्रसभाके जो सदस्य हैं, वे इस करका अनुमोदन करते हैं। यह (अधिः) सरभक कर है, यह प्रजाको किताबसे बचता है। ”

यहाँ आमजननीका सोलहवां भाग कर रूपमें लेनेका विधान है। स्मृतिधर्मोंमें प्रजाकी आमजननीका छठा भाग लेनेका विधान है। वेदके समयमें १५ वें भागरी राजाका कार्य चलता था, पर स्मृतिधर्मोंके समयमें उसी कार्यकी करनेके लिये छठे भागकी

आवश्यकता हुई। अर्थात् किसीकी प्राप्ति १००] र हुई तो वैदिक समयमें ६] र करके हथके लेते थे। और स्मृतिविक्रममें १६] र, लेने लगे। आज पनिर्कोते तीमें ८०] या ९०] र, तक लेनेकी आवश्यकता इस समयके राज्यशासकोंकी प्रतीत होती है। समयका यह परिवर्तन है।

दुष्टका नाश

‘ ब्रह्मादिषु ऋष्यादे घोरचक्षसे
द्वेषो घत्तग्नघायं किमीदिने ॥ (अथर्व ८।११२)

“ जो मानते द्वेष करता है, जो कच्चा मांस खाता है, जिसकी घृष्टिमें कुरता है, जो यह क्या है ? यह क्या है ? कहकर सब खा जाता है ऐसे क्रूरकर्मा लोगोंके साथ द्वेष करो। ” ये लोग समाजमें उपद्रव पैदा करनेवाले हैं। तथा—

उलूक्यातुं शुशुलूक्यातुं
जाहि श्वयातुमुत कोक्यातुम् ।
सुपर्णयातुमुत शृश्रयातुं उपदेव प्र मृष्य रक्ष इन्द्र ॥
(अथर्व ८।१२२)

“ उलूके समान जो गतानी हूँ, भैंडियेके समान जो कोधी हूँ, कुत्तेके समान जो आपसमें शगपती हूँ, जिडियेके समान जो अतिकामी हूँ, गरुडके समान जो घबंड़ी हूँ, गीघके समान जो लोभो हूँ, उन सबका नाश कर और हमें सुरक्षित रख । ” ये छे मनोविकार हैं, जिन्हें काम, क्रोध, लोभ, भोह, मद और मत्सर कहते हैं। मनुष्योंकी इन विकारोंके दूर रहना चाहिये। समाजमें भी ऐसे लोग कम होने चाहिये। राजाके विपन्नणों यह किया जा सकता है। राजदण्डके भयसे यह नियन्त्रण राज्यमें रखा जा सकता है। इन छे दुर्गुणोंके दूर रहते हैं, वे ही सज्जन हैं। समाज यही अच्छा है जिसमें ये छे प्रकारके दुर्गुणों सरपामें कम हों और सद्गुणों सख्यामें अधिक हों।

सघटदण्ड

राज्यशासन दण्डोंकी सयवण्ड से सकता है। इस विषयमें ये मनमाना देखने वीष्य हैं—

सामिणः हतं न्योपतं । अशसं तर्ह्य यधं यतंपतम् ।
दुहः भगुपपतः रदसः हतम् ।
पिनुनेभ्यो यधे शिशरिते । (अथर्व ८।४)

“ भोषी, पत्नी, डोही, बिनाशक, चुपटी करनेवाले, रासती कृतिवाले, इनको सघट दण्ड देना चाहिये। तथा—

यो नः स्वो यो अरणः सजात
उत निष्टयो यो अस्मां अभिदासति ।
द्वरः शरव्यैयतान् ममामिमान् वि विध्यतु ॥ १ ॥
यः सपत्नो योऽसपत्नो यच्च द्विपन् छपाति नः ।
देवाः तं सर्वे ध्वंस्तु मग्न घर्मे ममान्तरम् ॥ ४ ॥

(अथर्व १।१९)

“ जो अपना स्वजातीय है, जो परकीय या हीन है, जो नीच है, जो हमें दास बनाता है जो हमारा सीतेला है और सदा भाई है जो हमें शाप देता है और सदा हमसे द्वेष करता है, सब वेध उनका नाश करें। सत्यज्ञान मेरा कवच हो। ”
इस तरह शत्रुके नाश करनेके विषयमें वेदमें कहा है। शत्रुओंके नष्ट हो जाने पर ही राज्य सुखी हो सकता है, निर्भय हो सकता है और उन्नतिके कार्य करनेमें प्रसन्न रह सकता है।

शत्रुसेनाका समोहन

शत्रुकी सेनाको समोहित करके उसका नाश करना वैदिक युद्धनीतिके अनुसार योग्य है। देखिये—

स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्ताद्य वृष्यवत् ॥१४
इन्द्रः सेनां मोहयामिषायाम् ॥ ५ ॥
इन्द्रः सेनां मोहयतु मद्यतो इन्तु ओजसा ।
चक्षुष्यमिदा दक्षां पुनरेतु परामिता ॥ ६ ॥
(अथर्व १।१)

“ वह शत्रुकी सेनाको मोहित करे, शत्रुकी सेनाको हस्त-रहित करे, घोर शत्रुसेनाको मोहित करे और तैदिक उनका वध करे। उनकी आँखें अग्नि बिगारे और इस तरह शत्रुसेना परानत हो जाये ” और अपनी सिलस हो। और देखिये—

असौ या सेना गदतः परेषां
अस्मानैत्यभ्येजसा स्पर्धमाना ।
तां विध्यत तमसापमतेन
यधेषां शन्यो अन्धं न जानात् ॥ (अथर्व ३।२।६)

“ यह शत्रुकी सेना स्पर्धा करती हुई हमारे ऊपर आ रही है, उस सेनाको समासासने से धोषो, जिससे कि एक तैदिक युद्धके तैदिकको न पहुंचान सके, ऐसी पंचराह्ट उनमें पैदा हो। ताकि उनके नष्ट हो जानेपर अपनी विजय हो। यह युद्धकी नीति है।

पापीमावनाको दूर करो

राज्यमें अथवा ध्वनिकमें जो भी दोष होते हैं वे पाप-भावनासे ही होते हैं। इसलिये राज्यशासन द्वारा ऐसा प्रबंध

होना चाहिये कि जिससे राष्ट्रमें पापीभावना न्यून होती काम और पुण्यभावना अधिकताधिक बढ़े। इससे राष्ट्रकी उन्नति अवश्य होगी। इसलिये बेदमें पापभावको दूर करनेके लिये अनेक आदेश दिये हैं जो राष्ट्रहितके पोषक हैं, वैदिके-

यद् धिद्रासो यदधिहास पनासि चट्टमा वयम् ।
यूय नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवा सजोयसः ॥१॥
यदि जाग्रत यदि स्वपत्नेन एनस्योऽकरम् ।

भूत मा तस्माद् भव्य च व्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥२॥
(अथर्व ६।१।१५)

“ जागते हुए अथवा न जागते हुए हमने जो पाप किये हैं। हे देवो ! उन पापोंसे तुम मिलकर हमें मुक्त करो। यदि जागते हुए अथवा सोते हुए मैं पाप करूँ तो उस पाप प्रवृत्तिते मुझे जतीप्रकार मुक्त करो जिसप्रकार पशुको धवणसे।

अभ्युदयके लिये

अभ्युदयके लिये वेदके आदेश बड़े अच्छे हैं। वेद कहता है कि मानवोंको अभ्युदय अवश्य प्राप्त करना चाहिये। इस सधर्ममें वह मन्त्र मनन करने योग्य है—

विषासर्षि सहमान सासहान सद्दीशासम् ।
सहमान सहोजित स्वर्जित भोजिते सधनाजितम्
ईत्थ नाम ह्य इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् ।
(अथर्व १।७।११)

“ अत्यंत सामर्थ्यवान्, अत्यंत बलवान्, निरय विजयी, शत्रुको हटानेवाले, महाबलिष्ठ, यज्ञसे दिव्यद्वय करनेवाले, अपने निज सामर्थ्यसे शत्रुको जीतनेवाले, गीर्वाणों प्राप्त करने वाले धनको जीतकर प्राप्त करनेवाले, प्रसन्नतमीय वज्रवाले प्रभुकी से प्राप्तना करता हूँ जिससे मैं जापुष्मान् होऊँ । ”

यह प्रभुकी प्रार्थना है, इन्द्रकी प्रार्थना है। इसमें इन्द्रके उन्हीं गुणोंकी कहा है कि जो विजय और अभ्युदयके साथ साथ रखनेवाले हैं। इन गुणोंका सतत विचार करनेसे मनुष्य इन गुण गुणोंसे गुणवान् बन सकता है और अभ्युदय प्राप्त कर सकता है। इस प्रार्थनामें जो गुण कहे हैं, वे गुण साथकको अपने अन्दर पारण करने और बढ़ाने चाहिये। ऐसा करनेसे क्या होता है वह इसी सूक्तमें कहा है, वैदिके-

मियो देवाना भूयासम् ॥ २ ॥
मिय प्रजाना भूयासम् ॥ ३ ॥
मिय समानाना भूयासम् ॥ ५ ॥ (अथर्व १।७।१)

“ मैं देवोंका प्रिय बनूँ, मैं प्रजाओंको प्रिय होऊँ और मेरे समान जो लोग हैं उनका भी मैं प्रिय बनूँ। ” यही अभ्युदयका स्वभाव है। एक लोकोक्ति अन्तर जिसके विषयमें प्रेम हो यही अभ्युदयको प्राप्त हुआ हुआ मनुष्य है।

मनुष्य विजय चाहता है अत एव उसके पराक्रम करना चाहिये। पराक्रमके बिना विजय असम्भव है। अत कहा है—

पराक्रमसे विजय

‘वृहद्भि जाल बृहत् शक्रस्य वाजिनीयत* ।
तेन शशूनमि सर्वान् न्युञ्ज
यथा न मुच्यते कतमथनैयाम् ॥ ६ ॥
वृहत् ते जाल वृहत् इन्द्र शूर सहस्रार्थस्य शतार्थम् ।
तेन शत सहस्रमसुत न्युञ्जुद अधान
शमो दस्यूना अभिघाय सेनया ॥ ७ ॥

(अथर्व ८।८)

* सेनाके साथ रहनेवाले महान् इन्द्रका जाल भी महान् ही है। हे इन्द्र ! उससे शत्रुओंको सब औरसे अपने आधीन कर, जिससे इनमेंसे एक भी न छूट सके। हे शूर इन्द्र ! तुम्हें द्वारा सपूजित और संकष्टों साधनवाले तेरा जाल बड़ा है। उस जालसे घेर कर अपनी सेना द्वारा इन्द्र शत्रुओंके सङ्घों, हजारों और सारा करोड़ों सैनिकोंको मारता है।

यह है इन्द्रका पराक्रम। ऐसे पराक्रम करनेसे इन्द्र विजयी होता है। इससे सिद्ध होता है कि यदि हम भी वंसा पराक्रम करें, तो हमारी विजय हो सकती है। पराक्रम ही विजयका मूल है। अत मनुष्य पराक्रम करनेकी अभिताया पारण करें और विजयी हों।

समाप्ते चर्षो विधुधैष्वस्तु धय त्वे-धानास्तन्य पुपेम् ।
महा नमन्ता प्रविशश्चतश्च
त्वयाध्यक्षेण घृतना जयेम् ॥ (अथर्व ५।१।१)

“ घृतोंमें मेरा तेज प्रकाशित होता रहे। हम तुझे प्रदीप्त करके अपने शरीरको पुष्ट करें। चारों दिशाएँ मेरे मनुष्य नष्ट होकर रहें। तुम अध्यात्मके साथ रहकर हम संप्रायोंमें विजय प्राप्त करें। ”

बोरका तेज हरएक कार्यमें प्रकाशित हो, शरीर हृष्टपुष्ट और बलवान् हो, शक्तिसे शरीर संपन्न हो। चारों दिशाओंमें यह धीर पराक्रम करे और चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग इस बोरके सामने अपना तिर तुकाने ऐला इसका प्रभाव हो। हरएक घृष्टमें इसको विजय होती रहे। और वैदिके—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सद्य आहितः ।

गोजित् भूयात्सं श्वयजित् धर्मजयो हिरण्यजित् ॥

(अथर्व. ७।५।८)

“ पुरुषार्थ में मेरे दायें हाथमें है और मेरे बायें हाथमें जय है । मैं गीर्जों और घोंडोंको श्रोतनेवाला, सुवर्ण तथा धनदा विजय करनेवाला हूँक । ”

इस मन्त्रमें जो शापविन्यास बताया है, यह प्रायेण मनुष्य राजा मनमें धारण करे । “ मेरे एक हाथमें पुरुषार्थ है और दूसरे हाथमें विजय है । ” यह विचार राजा मनमें रहे । शापविन्यासना यह विचार है जो मनको उत्साहित करता है और कार्यकर्ताको विजयी यशस्वी और ले जाता है । इस विचारको मनमें स्थिर करनेके लिये मनुष्य अपनी भरपूर तैयारी करे और कहे कि मेरे एक हाथमें पुरुषार्थ है और दूसरे हाथमें विजय है ।

ज्ञान और शौर्य

यदि विजय प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो ज्ञान और शौर्य ये दो गुण जरूर चाहिये । इस विषयमें कहत है—

संशितं म इदं ब्राम संशितं वीर्यं यत्नम् ।

संशितं क्षयं अजरं अस्तु

जिष्णुर्वैषामसि पुरोहितः ॥ १ ॥

समहमेयां राष्ट्रं स्वामि समोजो वीर्यं यत्नम् ।

बुध्यामि शत्रूणां बाहून्नेन हविषाहम् ॥ २ ॥

नीचैः पथन्तां अथरे भदग्तु

ये नः स्मरि मघयानं पृतन्याम् ।

क्षिणाति ग्रहणाभिमानुद्रयामि स्तानहम् ॥ ३ ॥

(अथर्व. ३।१९)

“ मेरा यह ज्ञान तेजस्वी है, मेरा यह बौर्य और यत्न तेजस्वी है । मेरा तेजस्वी बन हुआ क्षात्रवत् कभी क्षीण न हो, जिनका मैं शिकी पुरोहित हूँ उनही विजय हो । मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी यदाता हूँ, मैं इन प्रजाजनोंका बल, बौर्य और भीम तेजस्वी बनाता हूँ । मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूँ । हमारे शत्रु नीचे गिरें, हमारे शत्रु भयभीत हो जायें । जो हमारे पथवानों और विशाखोंपर चडाई करके उनको कष्ट देते हैं उन शत्रुओंका मैं नाश करता हूँ । मैं क्षाणो शत्रुओंका नाश करता हूँ और अपने शत्रुओंको उदास

राष्ट्रहितवी मनुष्यको ऐसे विचार मनमें धारण करने चाहिये । जहाँ अपने लोगोंका उद्धार करने और शत्रुओंको नीचे गिरानेका यत्न करना चाहिये । अपने राष्ट्रके शोक वरु और शत्रुके सैनिक विनष्ट हो जायें । ऐसा यत्न करना चाहिये कि जिससे शत्रु बड़ न सके, शत्रुकी दक्षिण राय क्षीण होती रहे । अपनी हार प्रकाशकी दक्षिण बडे और शत्रुकी दक्षिण क्षीण हो । बीरका जो चातुर्य है उसका उपयोग इस प्रकारकी क्षाणोयज्ञाजैके लिये होना चाहिये ।

राष्ट्रकी प्रतिष्ठा ऐसे पराक्रमके कार्याते बढ़ती है । राष्ट्र अपनी शक्तिसे बढ़ता है । जनताकी उत्पत्तिपर राष्ट्रकी उत्पत्ति व्यवस्थित रहनी है । इसलिये वेदको द्रष्ट-योजना इस बातकी धुनना सामान्य या परंपरासे बाहरार बेतो है ।

उच्चत राजाका स्वरूप

राज्यशासन जो करता है यह राजा होता है, यह उत्पत्तिको प्राप्त होकर कित्त मर्यादातक प्रतिष्ठित होता है, उसका विचार जोचे विषे मन्त्रोंमें बिया है—

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म

इमं विशामेकवृषं ह्यु त्वम् ।

निरामिप्रानक्षुहास्य सचा-

स्तान् रण्यय अस्मा अहमुत्तरेषु ॥ १ ॥

वर्षं क्षत्राणामयमस्तु राजे-

न्द्र शत्रुं रण्यय सर्वमस्मै ॥ २ ॥

अयमस्तु धनपतिर्भनानां

अयं विशां विद्वपतिरस्तु राजा ।

अस्मिन् इन्द्र गार्हियसि घेरा-

वर्चस्तं ह्युदि शत्रुमस्य ॥ ३ ॥ (अथर्व. ४।२२)

“ हे इन्द्र ! इस क्षत्रियकी वडा । इसको प्रजाजनोंमें अद्वितीय धनवान् कर । इसके सब शत्रुओंको निर्बल कर और स्वर्गके समय इसके सब शत्रुओंको गच्छ भ्रष्ट कर । यह राजा क्षत्रियके शत्रुओंको साक्षात् मूर्ति हो । इसने सब शत्रुओंको गच्छ कर । यह राजा सब प्रकारके घनोंका स्वामी हो । यह राजा प्रजाजनोंका उत्तम पालक हो । हे इन्द्र ! इस राजाके सबे सबे तेज ये और इसके शत्रुकी विस्तेज कर । ”

राजामें नीजसे पुण विशेष शीतिले होने चाहिये इस बातका विश्रव बनन इन मन्त्रोंमें किया गया है । क्षात्रगुण प्राप्तो पहिले क्षत्रिय चाहिये । इसी ही शत्रुओंको डूर किया जा सकता है । वडा हुआ बल उसमें होता चाहिये । निर्बल, अज्ञान अथवा योगी मनुष्य उत्तम राजा नहीं हो सकता ।

दास्योंको यह अपने शान और क्षमके बलसे दूर करे और अपनी और सब प्रजाका प्रेम आकर्षित करे। शासुपूर्वकी यह मूर्ति हो। राज्यशासनके लिये सभी आवश्यक गुण उसमें भरपूर हों। यह सब पनोंका स्वामी हो। उसका कानका कभी खाली न हो, यह सब भरपूर भरा रहे। सब प्रजाजन उसको प्रेमपूर्वक धनना राजा मानें। प्रजाके उसके जिरोंपी बल न पाये हों। उसके प्रतिपक्षी निरतेज हों और वह ऐसे कर्म करे कि उसका तेज सब बढ़ता ही जाय।

राजाको ऐसे गुणोंसे युक्त होना चाहिये। राजा अपने गुण गुणोंसे सब प्रजाका मन अपनी ओर आकर्षित करे। क्योंकि प्रजाको अनुमतिसे ही तो उसे राजपदोपर रहना है। इसलिये बिनापर सब प्रजा प्रेम करे वही राजा राज्यपर स्थायी रहे सकता है।

आत्मशुद्धि

राजाको पवित्र आचरणवाला होना अत्यन्त आवश्यक है। पहले ही सब गुण हों पर आचरण शुद्ध न हो, तो सबके सब गुण दुर्गुण ही बन जाते हैं। अतः महत्त्व आत्मशुद्धिका है अतः कहा है—

पुनस्तु मा देवज्ञानाः पुनस्तु मनसो धिया ।
 पुनस्तु धिभ्या भूतानि पयमानः पुनातु मा ॥ १ ॥
 पयमानः पुनातु मा शक्ये दक्षाय जीषसे ।
 अधो अरिपतातये ॥ २ ॥

(अथर्व. ६।११)

“ विद्यमान मुझे पवित्र करें। अतःशील ज्ञानो लोग अपने मनसे और मुझसे मुझे पवित्र बनायें। सब भूत मुझे पवित्र करें। पवित्र आचरण करनेवाला मुझे पवित्र करे। कर्म, बल और शौर्य आपुके लिये पवित्र आचरण करनेवाला ज्ञानो मुझे पवित्र करे। इस कृत्यात्मका विगतार हो। ”

राजा ईश्वरिण होने, राजाके आचरण और कार्य व्यवहारके कितने तरहका शेष और पाप न रहे। सब विद्यमान इसप्रकार शुद्ध करनेमें राजाको सहायता करें। शानी लोगोंका यह कलंभ ही है कि वे पवित्रता, करनेमें सहायता करें। अहाँ शेष हो वह जानकर, उस शेषको दूर करनेमें सब शानी लोग सहायक बनें। शरीर, मन, इन्द्रियोंको शेष हों, तथा राज्यके व्यवहार करनेमें शेष शेष होता ही, यह दूर होना चाहिये। साधननिकुंआचरण परिशुद्ध होना चाहिये। जो राज्यके अधिकारी हों, वे तो परिशुद्ध आचरणवाले ही

२ [अथर्व. भा. २ भातु० हिन्दो]

होने चाहिये। क्योंकि उनका ही मर्दान जनताके सामने रहना है।

सपत्ते श्रेष्ठ बनना

निर तरह पवित्र बनना यह श्रेष्ठ है, उसी तरह सबके श्रेष्ठ भी बनना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

समुद्र ईशे स्रयतां आग्निः पूषिण्या यशी ।
 चन्द्रमा नक्षत्राणां ईशे त्यमेवकृपो भव ॥ २ ॥

(अथर्व. ६।८६)

“ नवियोंका स्वामी समुद्र है, पृथिवीको यशसे रखनेवाला अग्नि है, चन्द्रमा नक्षत्रोंका स्वामी है, इस तरह तुम भी बलवान् बनो। ”

अहमस्मि यशस्तमः । (अथर्व. ६।१५।३)

“ मैं अधिक यशस्वी होऊँ । ” शकते अधिक यश मेरा ही, यह महावाक्यता है। सर्वाधिक यश पवित्र आचरणसे मिल सकता है। हरएक इस तरहकी महावाक्यता अपने मनमें धारण करे और इसके अनुकूल बननेके लिए यह ध्यान-धीत भी हो। तथा—

यशसं मेन्द्रो मघवान् छणोतु
 यशसं धावापृथिवी उभे इमे ।
 यशसे मा देवः सविता छणोतु
 त्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्वाम् ॥ (अथर्व. ६।५।८।१)

“ पयवान् इन्द्र मुझे यशस्वी करे, शीरो तु और पृथिवी मुझे यशस्वी करें, सविता देव मुझे यशस्वी करे। दक्षिणा देनेवाला मे त्रिय होऊँ। ” सब देव मेरे यशस्वी होनेमें सहायक हों यह प्रार्थना है। और—

पया धिभ्येसु पर्य सर्वेषु यशसः स्वाम ।
 (अथर्व. ६।५।८।२)

“ हम सब देवोंमें यशस्वी हों। ” सर्वत्र हमारा यश बढ़े। जहाँ जाय वहाँ हमें यश मिले। सर्वत्र हम यशस्वी हों। परंपराको प्रार्थना यशकी प्रार्थनाके लिये इस तरह करने चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे यशस्वी होनेमें देव भी हमारे अनुकूल रहें।

निर्ययताकी इच्छा

सब राज्यव्यवस्था इसीलिये है कि सब प्रजाजन निर्यय होकर आनन्दित रहें। इस हेतुसे कहा है—

अशानुः इन्द्रो अभयं नः छणोतु
 मन्थथ राजानामि पातु मन्थुः ॥ २ ॥

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरम् ।

इन्द्रानमित्रं नः पश्चात् अनमित्रं पुरस्कृधि ॥ ३ ॥

(अथर्व. १।४०)

“ सत्ररहित इन्द्र हमें निर्भय करे । राजाओंका श्रोक दूसरे स्थानमें जाय । नीचेसे, ऊपरसे, पीछेसे और सामनेसे अपना सब कोरते हमें निर्भयता प्राप्त हो । ” कितोसे हमें भय प्राप्त न हो । हम सदा निर्भय हो कर रहें ।

राष्ट्रमें निर्भयता होनेपर ही सब प्रकारकी उपलक्षिके कार्यं किये जा सकते हैं । मनुष्य अपने निर्भय होकर विषयों ऐसी राष्ट्रमें स्थिति होने चाहिये ।

उत्तम मार्गका अवलंबन

सब लोग उत्तम मार्गका अवलंबन करें, जिससे सबको यश और निर्भयता प्राप्त हो, इस विषयमें यह प्रार्थना है—

ये पन्थानो यद्वचो देययाना

अन्तरा द्यावापृथिवीं संचरन्ति ।

तेयामग्निं यतमो यद्वति

तस्मै मा देयाः परि भस्तेह सव्ये ॥ १ ॥

(अथर्व ६।५५)

‘ जो मार्ग देवोंके जाने जानेके हैं, जो पृथ्वी और पृथिवीके बीचमें हैं, उनमें जो मार्ग उत्तम समृद्धि लाता है, उसपर सब देव भ्रमण चलाने ।’ यथात् वे उत्तम मार्गसे चलें और अधिक कल्याण प्राप्त करें । सामाजिक और पिशाचोंके मार्गसे न न जाऊं । देवोंके मार्गोंमें जो उत्तमसे उत्तम मार्ग है उससे वे जाऊं और उपलक्षिके प्राप्त करें और बुराचारमय व्यवहारोंमें न रहें ।

मनुष्यकी इच्छा यदि उन्नत होनेकी हो, तो उसे अन्तर और बाहरसे पूर्णरूपेण गूढ़ होना चाहिये, इसलिये कहा है—

यसु कि चेद्दं घटण दैव्ये जने-

ऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरन्ति ।

अचिरया चेत्तय धर्मा युषोपेम

मा नस्तस्मात् पनसो देय रीरिषः ॥

(अथर्व. १।५१।२)

“ साधारण मनुष्य जो कोई बुराचार दिव्यशक्तिके विषयमें करते हैं और पिना जाने तेरे धर्मको तोड़ते हैं, उस पापसे हम सबको मरुट न कर । ”

उन्नति करनेकी इच्छावासे मनुष्यको धर्मके उत्तम नियमोंका पालन करना ही चाहिये, अन्यथा उपलक्षिके क्षान्ना करना अनुचित है । राजशासनके द्वारा भी जनताके हितके लिये ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि जिसमें रहते हुए लोग घटा-धरणाकी ओर ही प्रवृत्त हों और प्रमुदाचरणकी ओर कभी न जायें ।

राज्यकी सुरक्षाने सिद्ध शान्त रचना ही पक्का है । तथा गूढ़ करनेकी हस्तारहो तैयारी रखनी पडती है । बिना

सैन्यके अन्तर्बाह्य शत्रुसे अपने राज्यका बचाव नहीं किया जा सकता । इसलिये युद्धका रथ, कुम्भो सादि साधन रखनेही पडते हैं—

विद्वद्वयं वैमनस्यं यद्गामिधेपु दुन्दुभे ।

धिद्वेषं फडमशं भयमामित्रेषु नि दध्मसि

अथैतान् दुन्दुभे जाहि ॥ (अथर्व. ५।२१।१)

‘ हे कुम्भे ! तू शत्रुओंमें तुझकी व्याकुलता और मनको उदासीनता उत्पन्न कर । डेय, शत्रुका, भय शत्रुओंमें डरे । इन शत्रुओंका पराभव कर । ’

दुन्दुभिके शत्रु सुनकर शत्रु पराभूत और भयभीत हो कर भाग जायें । ये युद्धभूमिमें शिवर न रह सकें । अपनी कुम्भुभीका शत्रु शत्रुके अन्त करणमें भय उत्पन्न करे अपना अपनी तैयारी ऐसी हो कि नितको देखकर शत्रु डर कर भाग जाय ।

सूर्यचिन्हका ध्वज

ध्वजिक सम्यक् ध्वज सूर्य चिन्हका वा । इस विषयमें नीचे लिखा मंत्र देखिये—

पता देवसोताः सूर्यैकतवा सचेतसः ।

अग्निप्राप्ते जयन्तु स्वाहा ॥ (अथर्व. ५।५१।१२)

“ वे देव सेनाएं सचेत रहती हैं और इनका ध्वज सूर्य चिन्हका है । वे सेनाएं शत्रुपर विजय प्राप्त करें । ”

राजाकी स्थिरता

राष्ट्रपर राजा स्थिर रहे, इसलिये जसमें शिवेय गुण चाहिये, वे गुण गुण ये हैं—

चिरास्तया सर्वा दाञ्छन्तु

मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रष्टम् ॥ १ ॥

इहैवेधि माय च्योष्टाः पर्यत इयायिवाचछत् ।

इन्द्र इयेह ध्रुवस्तिष्ठेष्ट राष्ट्रमु धारय ॥ २ ॥

(अथर्व. १।८७)

“ सब प्रजाजन ‘यही राजा रहे’ ऐसी इच्छा करें । राजाके शासनसे राष्ट्रकी गिरावट न हो । राजा पर्यतके समाप्त सुनिश्चर रहे, यह कभी भ्रष्ट न हो । राजपरीक्षर स्थिर रहे और राष्ट्रकी उन्नति करनेका प्रयत्न करें ।

राजाका राजशासन ऐसा हो कि जिससे राष्ट्रकी उन्नति ही होती रहे, कभी राष्ट्रकी गिरावट न हो । ऐसा राजा राष्ट्रपर सुनिश्चर रह सकता है और ऐसे राजाको राजपरीक्षर रक्षकोंके लिये प्रजाजन भी उत्तम कहते हैं ।

इसप्रकार “ मातृभूमि और स्वराज्यशासन ”

विषयक इस द्वारा भागका परिषय है । इस परिषयको देखकर वाचक समझ सकते हैं कि इस विषयका स्वकथना है ।

निवेदन

श्रीपाद दामोदर सातयलेकर
अध्यक्ष- स्वाभ्याय मण्डल (पारसी)



अथ के के द -

भाग-दूसरा

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

मातृभूमिका वैदिक-गीति

कांड १२, सूक्त १

(श्रुति- उपनिषद्-वेदा-भूमिः)

सत्यं बृहदृतमुग्रं द्वाघा तपो ब्रह्मं यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कुपोतु

॥ १ ॥

अर्थ — (बृहत् सत्यं) बडल सत्यनिष्ठा (यज्ञः) यज्ञार्थं ज्ञान, (उग्रं) क्षात्र तेज, (तपोः) धर्मनिष्ठा, या यज्ञका पालन, (द्वाघा) हरएक कामके करनेमें धनुरार्द्र, बलता, (ब्रह्मं) सदा ज्ञान, (यज्ञः) मज बल अपना त्याग ये गुण (पृथिवीं) भूमि, देश या राष्ट्रका (धारयन्ति) पालन पोषण और रक्षण करते हैं । (भूतस्य) प्राचीन और (भव्यस्य) भविष्यके तथा घोषमें मानेवाले बर्तमान समयके सब परार्थोंको [पत्नी] पालन करनेवासी ऐतौ (सा पृथिवी) यह हमारी मातृभूमि (नः) हमारे लिये (उग्रं) बडा भारी (लोकं) स्थान (कुपोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ— जो मनुष्य यह चाहता हो कि राष्ट्रपर अपनी सत्ता या अधिकार बना रहे, उसमें निम्नलिखित गुणोंका होना आवश्यक है- सत्यनिष्ठा, उद्योगशीलता, महत्वाकांक्षाके साथ काम आरम्भ करने और उसको निरट करनेका उत्साह, वस्तुस्थितिका उत्तम ज्ञान, धर्म, साहस और क्षेत्रस्थिता, धर्मनिष्ठा, इंद्रियोंका नियंत्रण, उत्तम धर्मोंका पत्रना और व्याख्या करना, शांत स्वभाव और अक्रान्धवृत्त, परीक्षारिता, ईश्वरभक्ति, अद्वेषीभाव किये हुए कार्यमें बलका, निरन्तरतापर धर्मोंका अभ्यास, सब धर्मसंबंध, सर्व साहायक समाधोषन विपुल संग्रह, आपसमें एक दूसरेका सत्कार करना, दृढतासे रहना, दुःख और आपत्तियोंमें बड़े हुए लोगोंकी सहायता करना, बस अर्थात् स्वार्थत्याग करना, मातृभूमिपर अटल निष्ठा रखना इत्यादि । जिन मनुष्योंमें ये गुण होते हैं, वे ही अपने राष्ट्रको संभाल सकते और नया राष्ट्र प्राप्त कर सकते हैं । इस पहिले मंत्रमें राष्ट्रसंरक्षक मनुष्योंके लिये आवश्यक गुणोंका स्पष्ट उल्लेख करके यह प्रार्थना की गयी है कि- हे मातृभूमि ! हम पूर्वोक्त संपूर्ण प्रिय गुणोंसे युक्त होकर तेरा संरक्षण करते हैं और सदा ऐसा करनेकी तैयार हैं; तू अपने आपपरसे भूत, बर्तमान और भविष्य तीनों कालोंके संपूर्ण परार्थोंका उत्तम प्रकारसे पोषण करनेमें समर्थ है । हम रात दिन तेरा संरक्षण करते हैं यथा तू भी हमारे कीर्ति बनायेबली हो ॥ १ ॥

असुधाघं बभूवतो मानवानां यस्यां उद्वताः प्रवताः सम बहु ।
 नानावीर्या ओषधीर्या विभक्तिं पृथिवी नः प्रघतां राध्वतां नः ॥ २ ॥
 यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामर्षं कृष्टयः संवभुवुः ।
 यस्यामिद जिन्वति प्राणदेजस्ता नो भूमिः पूर्वपथे दधातु ॥ ३ ॥
 यस्याश्वत्सः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामर्षं कृष्टयः संवभुवुः ।
 या विभक्तिं बहुधा प्राणदेजस्ता नो भूमिर्गोष्वप्यर्षे दधातु ॥ ४ ॥

अर्थ— (यस्या) जित हमारी मातृभूमि (मानवाना) मानवश्रेष्ठ मनुष्यों (व [-म-] ध्यत) सम्पन्न (प्रवत) नीचता उच्चता रहकर भी परस्पर (बहु) बहुत ही (सम) समता (असुधाघ) और ऐश्वर्य या मंत्रीभाव है, (या) जो (नः) हमारे (पृथिवी) मातृभूमि (नानावीर्या) लोगोंको दूर करनेवाली अनेक उत्तम गुणयुक्त (ओषधी) बनस्पति (विभक्तिं) धारण करती है वह मातृभूमि (नः) हमारी (प्रवता) कौति या घसको विस्तृत (राध्वता) करे ॥ २ ॥

(यस्या समुद्र) जित हमारी मातृभूमिमें महासागर (उत) और (सिन्धु) अनेक नद नदी, (आप) शरभे शील और ताल ताल्यां बहुत ह, (यस्या) जित मातृभूमिमें (अर्ष) सब भौतिके अन्न और फल तथा धान इत्यादि बहुतायतसे उपजते ह (यस्या इद प्राणत्) जितमें प सत्रोष (पजत् जिन्वति) प्राणी चलते फिरते ह, जितमें (कृष्टय) खेती करनेवाले मनुष्य, जितम्बमविज्ञानर वातोपर तथा उद्योगशील जन (संवभुवु) समकित होते ह, (सा) इस तरह की (भूमि) हमारी मातृभूमि (नो) हमको (पूर्वपथे) समस्त भोग ऐश्वर्य (दधातु) देवे ॥ ३ ॥

(यस्या) जित हमारी मातृभूमिमें (पृष्टय) उद्यमशील तथा शिल्पकारोंमें विपुल निज परिश्रमसे खेती करनेवाले (संवभुवु) हुए ह (यस्या पृथिव्या चतस्र प्रदिशाः) जित भूमिमें चार दिशाओं और चार विदिशायें (अर्ष) फल सब गह आदि उपजती ह (या बहुधा) जो अनेक प्रकारसे (प्राणत् पजत्) प्राण धारण करनेवालों और चलने फिरनेवालोंका (विभक्तिं) धारण-पोषण करती है (सा न भूमि) वह हमारी मातृभूमि हम सबका (गोषु अपि अश्वे दधातु) गोशों और अश्ववृत्तसे धारण-पोषण करे ॥ ४ ॥

भावार्थ— जित हमारे राष्ट्र या देशके मनुष्योंमें परस्पर श्रेष्ठता है प्रकृत जनमें पूरा ऐश्वर्यभाव है। विशेषकर हमारे नदा लोगोंमें अर्थात् हमारी सब प्रकारकी रक्षा करनेवाले लोकाधिपतियोंमें परस्पर एवम यत् है और ये एवम ही मिलकर सब काम करते ह। जित भूमिमें उत्तम प्रकार की बुद्धिचारक शोषविनाशक अनेक औद्योगिक और सब तरह की बनस्पतियां पैदा होती ह, वह हमारी प्रिय मातृभूमि हमारे कौति और धरणी विगन्तरमें फलाने ॥ २ ॥

जित हमारी मातृभूमिमें सागर, महासागर, नद, नदी, तालाब, कुएँ, बाग़ी, नहर शील इत्यादि खेतीकी सींचनके षट षट साधन ह और जित भूमिमें सब तरहके विपुल अन्न पैदा होकर हमारी धानकी मिलता है। जितसे सब प्राणीनाय सुखी ह तथा जितमें चारोंतरां लोग कलाकौशलमें कुशल ह, किमान लोग खेतीके काममें प्रयोग ह और अथ शोध नये खोजी ह वह हमारी मातृभूमि हमें सर्वत्र उत्तम उत्तम भोग्य परम और एवम देनवाती होने ॥ ३ ॥

जित हमारी मातृभूमिमें अत्यन्त उद्योगी तथा खेती-बाड़ीमें प्रबल और परिश्रमी लोग होते भाये ह और जित भूमिमें चारों दिशा और विदिशाओंमें उत्तम धन धान उत्पन्न होता है जितके कारण सम्पुल पशुपत्नी, बनस्पति और अन्य औद्योगिकोंका उत्तम प्रकारसे धारण, पोषण और सरक्षण होता है वह हमारी मातृभूमि हमें सर्वत्र धान, घोड़े और अन्न इत्यादि देनवाती हो ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वं पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यर्चयन् ।

गयामथानां वर्षसश्च विष्ठा भगं वर्षः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

विश्वंमरा वसुधानीं प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतां निवेशनी ।

वैश्वानरं विश्रंती भूमिरग्निमिन्द्ररूपभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।

सा नो मधुं प्रियं दुहामयो उश्रुतु वर्षेसा ॥ ७ ॥

अर्थ— (यस्यां) जिस हमारी मातृभूमिमें (पूर्वजनाः) बल, बुद्धि, शौर्य और ऐश्वर्यसे सम्पन्न पुरातन समयके भाग्य लोभ (विचक्रिरे) विक्रय, पराक्रमपूर्ण कर्तव्य अन्तरे तरह करते आए हैं, (यस्यां देवाः) जितने विद्वान् और शीर (असुरान्) हिंसानिरत शत्रु अर्थात् राक्षसों स्वभाववाले लोगोंकी (अभ्यर्चयन्) शीतते आए हैं । जो (गायं) अश्वानां ययसः च) शीघ्र, घोड़े और पशुपशियोंको (वि-ष्ठाः) विशेष सुख देनेका स्थान है, (सा नः पृथिवी) वह हमारी मातृभूमि हमको (भगं) ऐश्वर्य और (वर्षः) तेज, शौर्य, शीघ्र, वितान (दधातु) देवे ॥ ५ ॥

जो (विश्वंमरा) सबका पोषण करनेवाली भूमि (वसुधानी) लोहा, चांदी, हीरा, पद्मा आदि अनेक रत्नोंकी धाम है, (प्रतिष्ठा) सब वस्तुओंकी आधारभूत (हिरण्यवक्षा) सुवर्ण आदिकी धामें जितके बरतपरलभं है ऐसी (जगतः) सभी जगम, जोष या पदार्थोंको (निवेशनी) बाधनेवाली (वैश्वानरं) अग्नि भौतिकी मनुष्योंके सम्पूर्ण अंगे हुए राष्ट्र या देशको (विश्रंती) पारण करती हुई हमारी (भूमिः) मातृभूमि (अग्निं) अथवाग्नी, नेता (इन्द्र-रूपमी) मनुष्योंका नाम करनेवाले गुरदोर और शान्तिवर्तिकी तथा (न) हमारे लिए (द्रविणे) पन (दधातु) पारण करनेवाली हो ॥ ६ ॥

(अस्वप्नाः) निद्रा, तन्द्रा, आसम्पत्ते रहित (देवाः) विद्वान् और शीर कुशल जन (पृथिवीं) सब प्रकारके पदार्थोंकी देनेवाली और हमारे लिये (मधुप्रियं च दुहाम) मधुर शिव हितकर पदार्थोंकी बहनेवाली (यां पृथ्वीं भूमिं) पदमे या विस्तृत हमारी जित मातृभूमिकी (अप्रमादं) प्रमादरहित हो (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं, (सा) वह भूमि (नः) हमको (वर्षेसा) शूला, पीला, शान तथा ऐश्वर्यसे (उश्रुतु) पूर्ण करे ॥ ७ ॥

भाषार्थ— जिस हमारी मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने - बाह्यजोंने अपने शान्तराज, शत्रुघ्नोंने अपनी बौरता द्वारा, संशयोंने अपनी वास्तव्य-कुशलता द्वारा और कारीगरोंने अपनी कारीगरोंने अनेक बड़े बड़े पराक्रम किये थे; जित हमारे देशके विद्वान्, गुर, शीर, व्यापारी और कारीगर लोगोंने मिलकर सम्पूर्ण हिंसक, अज्ञतापी, धातकी और दुष्ट लोगोंकी मष्ट क्रिया या और जो सुन्दर भूमि सब पशुपशियोंकी भी उत्तम निवास-स्थान देतो है, वह हमारी मातृभूमि हमारा शान, विशान, शौर्य, तेज, शौर्य और ऐश्वर्य पूर्ण रूपसे बढ़ानेवाली होये ॥ ५ ॥

सबका पोषण करनेवाली, रत्नोंको पारण करनेवाली, सब पदार्थोंको साधन देनेवाली, सुवर्ण आदिकी धाम अपने अन्दर रखनेवाली, सभी प्रकारके जंगम जोषों या पदार्थोंकी स्थान देनेवाली, सब प्रकारके मनुष्योंके सुख राष्ट्र या देशकी उन्नतिले सहजता देनेवाली, मातृभूमि हमारे नेता, शान्तिवर्तिकी और शीर पुरधों तथा हमारी सब प्रकारके ऐश्वर्य देनेवाली हो ॥६॥

निद्रा, तन्द्रा, आसम्पत्, अज्ञान आदि बोध रहित सब बातोंमें अनुर और उद्यमों, परोरकमों, विद्वान्, गुर और धनिक लोग सब पदार्थोंकी देनेवाली जित विस्तृत भूमिकी प्रमादरहित होकर रक्षा करते हैं, वह हमारी मातृभूमि सब उत्तम और शिव तथा हितकारी पदार्थोंके देने पूर्ण सुवर्ण करे और हममें शान, शूला और धन उत्पन्न कर हमारी रक्षा करे ॥७॥

याण्येऽधि सलिलमग्र आस्रांवां मापाभिर्न्वचरन्मनीषिणः ।

यस्या हृदयं परमे व्योमिन्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः

सा नो भूमिस्त्रिषि बलं राष्ट्रे दंधातुभ्ये

॥ ८ ॥

यस्यामार्यः परिचराः समानीरहोरात्रे अग्रमादुं क्षरन्ति ।

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दृढामथो उक्षुतु वर्चसा

॥ ९ ॥

यामश्चिन्नावर्मिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।

इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां अचीपतिः ।

सा नो भूमिर्धि संजतां माता पुत्राय मे पयः

॥ १० ॥

अर्थ— (या) ओ भूमि (अग्ने) पहले (अर्धधे) समुद्रमें (सलिलं जधि) जलके भीतर (आसीत्) वो, (यस्याः पृथिव्याः हृदयं) जिस पृथ्वीका अन्तर्भाग (अमृतं इष) अमर स्वादके सपुत्र (सत्येन) सत्य संकल्पके बलसे (आवृतं) व्याप्त है, वो भूमि (परमे व्योमन्) महत् आकाशमें है, (मापाभिः) कुशलतापूर्वकः साय (मनीषिणः) मनमगोल विद्वान् (यां) जिसको (अम्यचरन्) अच्छी तरह सेवा करते आये हैं, (सा नः भूमिः) वह हमारी भूमि (उक्षुते राष्ट्रे) उच्छिद्य राक्षसों (त्रिषि) तेज या शक्ति, (बलं) शूरता, शौरता, शारीरिक बल अथवा सम्पन्न (दंधातु) स्थापित करे ॥ ८ ॥

(यस्यां) जिस भूमिमें (समानीः) समदृष्टिवाले (परिचराः) सम्भ्रं और जानेवाले परिचारक संघाती (आयाः) बलकी भांति (अहोरात्रे) रात दिन (अग्रमादुं) सावधान रहकर (क्षरन्ति) परिभ्रमण करते हैं, (अयो) और ओ (भूरि-धारा) अनेक तरहके (पयः) खाने तथा पीनेकी वस्तु-भोग्य या पंच, दूध, घी इत्यादि (दृढां) बेठी है, (सा नो भूमिः) वह हमारी मातृभूमि हमारे (वर्चसा) तेज, प्रताप, बल, शौर्य आदि (उक्षुतु) बचावे ॥ ९ ॥

(यां) जिस भूमिको (अश्विनो) अश्विनगण भती और हस्ताशुक्वीरने (अमिमातां) माता, (यस्यां विष्णुः) जिसमें पालकने (विचक्रमे) भांति भांतिका पटाक्रम दिक्गण, (इन्द्रः) दशरुविवाशक (अचीपतिः) शक्ति-पति कर्मकुशल ज्ञानवान् पुत्रने (यां आत्मने अनमित्रां) जिसको अपने लिए शत्रुदहित किया, (सा नः माता भूमिः) वह माताके समान हमारी मातृभूमि (पुत्राय पयः) जैसे माता पुत्रको दूध देती है उसीप्रकार (पुत्राय मे) हय सब पुत्रोंको (विरजतां) खानेपीनेकी वस्तु प्रदान करे ॥ १० ॥

भाषार्थ— ओ भूमि पहले समुद्रके गर्भमें थी । जिसके बाह्य, भीतर परमेश्वर व्याप्त है, ओ आकाशमें अमर है और जिसको सेवा विचारवान् लोग विशेष प्रसंगमें, गुप्त प्रदानते तथा कुशलतासे करते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेजस्विता, शिवता, शूरता, शक्तिमत्ता इत्यादि गुण सर्वे अवलंबनी ही ॥ ८ ॥

जैसे मैथीका जल प्राणितानको एक समान मिलता है, वैसे ही जिनका उपदेश सबके लिये एक सामान होता है ऐसे परोपकाररत संघाती जिस भूमिमें जल आचरण न छोड़ते हुए सर्वे एक समान संघार करते रहते हैं और जो भूमि हमें सब प्रकारके लक्ष-जल देती रहती है, वह हमारी मातृभूमि अपनी तेजस्विताके द्वारा हमारी रक्षा करे ॥ ९ ॥

मैथीका पोषण करनेवाले और शत्रुओंका हनन करनेवाले लोग जिसको सर्वे भलाई किया करते हैं, जिसमें पालन करनेवाले सबे बड़े पटाक्रम करते हैं और कानी मूर पुत्र जिसे अपना मित्र साफते हैं, वह हमारी भूमि, जिस प्रकार माता अपने बच्चोंको दूध पिलाती है, उसीप्रकार हमें सर्वत्र उपयोगके पदार्थ देवे ॥ १० ॥

गिर्यस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यां ते पृथिवि स्योनमस्तु ।

बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।

अज्ञीतोऽहंतो अधृतोऽर्ष्यष्टां पृथिवीमहम्

॥ ११ ॥

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं वास्तु ऊर्जस्तन्वुः संवभूतुः ।

तासु नो घेह्यमि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः । पृजन्म्यः पिता स तं नः विपत्तु ॥ १२ ॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।

यस्यां भोवन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् । सा नो भूमिर्वर्धयुद्धमाना ॥ १३ ॥

अर्थ— हे (पृथिवि ते गिरयः हिमवन्तः पर्वताः अरण्यां च ते) मातृभूमि ! तेरे पहाड़, बरफले ढके पर्वत और वन तुझे (स्योनं) तुझके देनेवाले (अस्तु) हों, उन पर्वतोंमें धनु न रहें, वे धनु रहित हों, इहलिये (बभ्रुं) सबके भरन पोषण करनेवाली (कृष्णां) कृषिकर्मके उपयुक्त, (रोहिणीं) बुलाविकोंको उपजानेवाली, (विश्वरूपां) सब तट्टुका रूप धारण करनेवाली, (ध्रुवां) स्थिर (पृथिवीं) बड़ी विस्तृत सन्धी बौद्धो (इन्द्र-गुप्तां) भीरवी रक्षित इस (भूमिं) मातृभूमिका (अजितः) जिसे धनुओंने नहीं जीता, (अहन्तः) मुझ आदिने जिसे हानि नहीं पहुंचे, (अर्ष्यः) कर्षीपर फिली जगमें जिसके पाव नहीं हुआ, (अष्टां अर्ष्यष्टाम्) ऐसा मैं अधिष्ठाता या स्वामी होंगा ॥ ११ ॥

हे (पृथिवि यत् ते मध्यं) भूमि ! जो तेरे मध्यमें है (यत् च नभ्यं) जो नाभियामें है, (ते वाः ऊर्जाः) जो तेरे बलवृत्त या शक्त आदि पोषणवृत्त पदायं हैं, उनकी रक्षाके लिए जो (तन्वुः) शरीरधारी अर्थात् मनुष्य (संवभूतुः) शायसनमें संगठित हुए हैं, (तासु) उनके समाजमें (नः) हमको (अमिघेदि) स्थापित कर और इस तरह (नः पवस्व) हमारी रक्षा कर, (भूमिः) भूमि हमारी (माता) माता है (अहं) हम उस (पृथिव्याः पुत्रः) पृथिवीके पुत्र हैं, [नरकले या दुःकले जो प्राण या रक्षा करे वह पुत्र है । भूमि ! हम तेरे दुःकले दूर करनेवाले होनेके कारण हम तेरे पुत्र हैं ।] (पृजन्म्यः) जलकी वृष्टिसे पोषण करनेवाला मेरा हमारा पिता अर्थात् अस्वसर्वांससे पालन करनेवाला है (स उ नः) यह हमारा निरभयसे (विपत्तुं) पालन करे ॥ १२ ॥

(यस्यां भूम्यां वेदिं परिगृह्णन्ति) जिस भूमिमें सब खोरते वेदिया रची जाती हैं । (यस्यां विश्वकर्माणः) जिसमें उन्नतिके काम करनेवाले सब लोग (यज्ञं तन्वते) ऐसा यज्ञकार्य करते हैं, जिसमें भले लोगोंका उत्कार हो या ऐसे लोगोंका सत्संग हो, (यस्यां च पृथिव्यां पुरस्तात्) जिस पृथ्वीमें पहले (ऊर्वाः) बड़े लम्बे, (शुक्राः) पोषणवृत्त (आहुत्याः) आहुतिके साथ (स्वरवः) पक्षीय वृष खड़े किए जाते हैं, जहाँ दसके अर्थसे उपदेश (भोवन्ते) बड़े जाते हैं, (सा नो भूमिः वर्धमाना) यह पृथ्वी हम लोगों द्वारा बढ़ाई जाकर, हम लोगोंकी (वर्धयतु) उन्नति करे ॥ १३ ॥

भाषार्थ— हे मातृभूमि ! तुझपर जो पहाड़ और बरफले ढके हुए पर्वत हैं तथा जो छोटें बड़े अंगल हैं, उनमें तेरे शक्त कमी न रहें, वे धनु रहित होकर सर्वत्र सबका पोषण करनेवाले उन्नत उन्नत पृथिवीसे युक्त, स्थिर और भीरवीं द्वारा रक्षित हों, ऐसी सर्वगुणसम्पन्न तुझपर हम धनुओं द्वारा पराजित न होते हुए तथा मृत शयनवा पावक न होते हुए अजितसे रहें और महान् पर्वतोंको प्राप्त हों, राक्षकों अपने अधिकारमें रखें ॥ ११ ॥

हे मातृभूमि ! तेरे भीतर और ऊपर जो भी पदायं हैं उन सबको और तेरी, धनुओंके हावसे रक्षा करनेके लिये जो विशान्, बलवान् और पनवान् मनुष्य एकत्र होकर पालन करते हैं, उनके उस संघमें हमें स्थान दे और हमारी रक्षा कर, क्योंकि तू हमारी माता और हम तेरे पुत्र दुःकले छुड़ानेवाले हैं, इस पर्वत (भेष) द्वारा साम्प्रतिक उत्पन्न होते हैं, इहलिये हम सबका बड़ा पिता (पालक) है, यथायथं वह नियमित समयमें वर्षा कर हमारी रक्षा करे ॥ १२ ॥

जिस भूमिके लोग पतली बेबीके पास जाकर हवन करनेके लिये तैयार रहते हैं, जिस भूमिमें लोग सर्वत्र परीपकार और उन्नतिके काम करते रहते हैं और जिसमें विनाश कर उन्नतिकारक तथा मत्कील्पक यज्ञ किये जाते हैं, इसी प्रकार उरसाह देनेवाली भावय और उपदेश सर्वत्र किये जाते हैं । हमारे द्वारा उन्नति पानेवाली यह हमारी मातृभूमि हमारे लिये सब प्रकारसे उन्नतिका कारण बने ॥ १३ ॥

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनस्ता यो वधेन । तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥
 त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं दिमपि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
 त्वेमे पृथिवि पञ्च मानुवा येभ्यो ज्योतिर्मृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरात्नोति ॥ १५ ॥
 ता नः प्रजाः सं दुहतां समग्रा चाचो मधु पृथिवि वेदि मदां ॥ १६ ॥
 विश्वस्वमातरमोपधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा घृताम् । शिवां स्योनामनुं चरेम विश्वा ॥ १७ ॥

अर्थ— हे (पृथिवि यः नः द्वेषत्) मातृभूमि ! जो हमसे द्वेष करता है, (यः पृतन्यात्) जो सेनासे हमारा पराभव करना चाहता है, (यः मनस्ता) जो मनसे हमारा अनिष्ट चाहता है (अभिदासात्) जो हमें दास या गुलाम बनाना चाहता है, (वधेन) जो थप या खल कर हमें काट पटवाना चाहता है, हे (पूर्वकृत्वरि) पहिलेसे ही शत्रुनाश करनेवाली मातृभूमि ! (तं रन्धय) उसका नाश कर ॥ १४ ॥

हे (पृथिवि) हमारी मातृभूमि ! जो (मर्त्याः) मनुष्य (त्वज्जाताः) तुझमें ही पैदा हुए हैं, (त्वयि चरन्ति) तुझपर ही चलते हैं, जिन (द्विपदः) दो पाँववाले अर्थात् मनुष्योंको (चतुष्पदः) चोपाँवोंको (त्वं दिमपि) पारण करती है (येभ्यः मर्त्येभ्यः) जिन मनुष्योंके लिये (अमृतं) जीवनयप हेतुमत् (ज्योतिः) तेज (उद्यन्त्सूर्यः रश्मिभिः) उदित हुआ सूर्य अपनी किरणोंसे (आत्नोति) कँलाता है, (इमे) ये हम लोग (पञ्च मानवाः) पाँच प्रकारके मनुष्य (तव) तेरी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे (नः पृथिवि ताः) हमारी मातृभूमि ! हम (समग्राः) सब लोग तेरी (प्रजाः) प्रजायें एकत्र ही (मधु दास्यः) मधुर प्रेमपूर्ण वाग्विषां (संदुहतां) बोधें, (मदां) देदि) हमको भी मधुरकणन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

(विश्वस्वम्) सब (मोपधीनां मातरं) बनस्पति, वृक्ष, लता आदियोंकी माता (ध्रुवां पृथिवीं) विश्वीर्ण, लम्बी, चौड़ी, स्थिर (धर्मणा) सत्य, जान, झूठा, बीरता भादि धर्मसे (घृतां) पालित भोजित (शिवां) कथापाठयौ (स्योनां) गुलकी देनेवाली इत (भूमिं) मातृभूमिकी हम (विश्वस्वम्) सवा (अनुचरेम) सेवा करें ॥ १७ ॥

भाषार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! जो हमसे शत्रुता द्वापा देव करते हैं, जो सेना से हमपर चढ़ाई कर हमें जीतना चाहते हैं, जो हमारा नाश करनेके लिये उद्यत हैं, जो हमें परतन्त्र और गुलाम बनाना चाहते हैं, जो मनसे हमारा अनिष्ट सोचते रहते हैं, हमारे उन सब शत्रुओंका पूर्णरूपसे नाशनाश कर ॥ १४ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! हम लोग तुझसे उत्पन्न होकर तेरे ही आधारसे अपने सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं; सम्पूर्ण पशु, पक्षी, मनुष्य और अन्य सम्पूर्ण प्राणिमात्रको तू आधार देकर पालती पोषती है; जिस हमारे जीवनके लिये यह वैद्वीप्य-मानु सूर्य अपनी अमृततप किरणोंकी चारों ओर कँलाता है; ये हम पाँच प्रकारके मनुष्य विद्वान्, सूरवीर, ग्यापारी, काटीगर और सेवाशीलवाले मनुष्य तेरी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! हम सब लोग आपसमें जो बातचीत करें, यह सत्य, हितकारी, मधुर और परस्परप्रेमपूर्ण हो; मूठ अहितकारी तथा कटु न हो; हम सब लोगोंको एकत्र होकर आपसमें प्रेमसे भीठे वचन बोलनेकी दासित दे ॥ १६ ॥

जिसमें सब तरहकी उत्तम औषधियाँ और कलापतिषाँ उपनती हैं; जो सबी लम्बी चौड़ी शीट स्थिर है; विघ्न, घृता, स्थप, स्नेह भादि सदाचार और सद्गुणयुक्त पुरुष जितकी रक्षा करती है; जो कथापाठयौ और सब प्रकारके मधुसाधन हमें देती है; उत मातृभूमिकी हम सदा सेवा करें ॥ १७ ॥

महत्सधस्य महती रंभूविध महान्वेग एजयुर्वेषयुटे । महास्तेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् ।

सा नो भूमे प्र रोचयु हिरण्यस्येव संदशि मा नो दिक्षत कश्चन

॥ १८ ॥

अग्निर्भूम्यामोर्षीष्युग्निमाषौ विश्रयग्निरश्मस्तु । अशिरन्तः पुरुषेषु गोप्वक्षेष्वप्रयः

॥ १९ ॥

अग्निद्विव आ तंपत्ययेदुवस्योर्वे । न्तरिक्षम् । अग्निं मतीत इग्धते हव्यवाहं घृतमिगम्

॥ २० ॥

अग्निवासाः पृथिव्यासित्तुज्जुस्त्विषांमन्तं संशितं मा कृणोतु

॥ २१ ॥

अर्थ— हे मातृभूमि । हम सबका (महत् सधस्य) एक साथ वितकर रहनेका स्वार्थ होनेके लू (महती रंभूविध) बड़ी होती रही है । (ते) तेरा (एजयुः वेषयुः) हिलकर डोलकर (महान्) बड़ा (वेपः) वेप या प्रतिपत्त होता है । इस प्रकारके (र्यां) तेरी (महान् इन्द्रः) दायुके नाश करनेवाले बड़ा मान, पत्त, जलाह, ऐश्वर्य, संपत्तियुक्त शूर शीर (अप्रमादं) निरलसभावसे (रक्षति) रक्षा करते हैं । (भूमे) हे मातृभूमि । (सा) वह लू (संदशि) घमकती हुई (हिरण्यस्य इव) सोनेके तरह (न. प्र रोचय) हमें तेजद्वय कर, हममें (कदचन) कोई भी आपसमें (मा दिक्षत) वंशभाव न रखे ॥ १८ ॥

(भूर्यां) पृथिवीके मध्यभागमें (अग्निः) अग्नि है; (ओषधीषु) ओषधियोंमें (अग्निः) अग्नि है, जिन ओषधियोंके सेकनेसे अन्न पचता है, वीच अर्थात् भूख लगती है, (आपः) जल (अपि) जब मेघरूपमें होता है तब वह (विश्रति) विप्लुके रूपमें अग्निके धारण करता है । (अदमस्तु) पत्तियोंमें अकमक इत्यादिमें (अग्निः) अग्नि है, (पुरुषेषु) मनुष्योंके (अस्तः) भीतर अदरानिके रूपमें (अग्निः) अग्नि है, (गोषु अश्वेषु अपि) गौ, घोड़े आदि पशुओंमें (अग्निः) अग्नि है जिससे उनका भोजन पचता है ॥ १९ ॥

(दिवः) आकाशमें (अग्निः) सूर्यके रूपमें अग्नि ही (आतपति) तब और प्रकाश देता हुआ तप रहा है । (देवस्य अग्नेः) प्रकाशमय उस अग्निके प्रकाशसे (उरु) विशाल (अग्निरिक्ष) अग्निरक्ष प्रकाशित होता है, इस तरह अनेक रूपमें अग्नि विद्यमान है । (हव्यवाहं) होम की हुई आहुतिके ले जानेवाले (घृत-मिगं) घीको प्यार करनेवाले (अग्निः) भौतिक अग्निके ऋजुयुक्तिके बलसेवर रोषोंके नाशके लिये (मतीतः) मनुष्य लोग (इग्धते) प्रशंसित करते हैं ॥ २० ॥

(अग्निवासाः) अग्निके व्याप्त होनेके कारण उनसे (असित्तुः) काले पुष्ये जाने जानेवाली वह (पृथिवी) पृथिवी है, वह (मां) मनुष्यो (दिवपीमन्तं) प्रकाशयुक्त (कृणोतु) कर ॥ २१ ॥

भाषार्थ— हे हमारी मातृभूमि । तू हम सबको एकत्र रहनेका स्वार्थ देती है; हम सब लोगोंके रहनेके लिए तेरा विस्तार पर्याप्त है; तू आकाशमें हिलते डोलते हुए पतिते जाती है वह पति बहुत ही तेज है; मानी शूर, शीर, जलाही शीर ऐश्वर्यवाली, दायुका नाश करनेवाले शीर मूढय ही शीरलोकके नाश तेरी रक्षा कर सकते हैं; मानी शीर भोग नहीं कर सकते; तू स्वयं सोनेके समान तेजस्वी है; उत्तीप्रकार हमें भी तेजस्वी कर और ऐसा कर कि हममेंसे कोई भी परस्पर द्वेष न करे, सब एक मातेसे व्यवहार करें ॥ १८ ॥

सब पदार्थ अग्निमय हैं । उस अग्निके कारण भूमि, क्षीरार्थ, धनरक्षित, जल (मेघादिश्च), लवण, मनुष्य, गाय, घोड़े इत्यादि प्राणियोंके शरीर जैसे तेजस्वी होसके हैं, उत्तीप्रकार हृष्य मनुष्य जो उन सब पदार्थोंके भोजका है, अपने बड़ा धर्मको रक्षा कर और शौर्यस्वी अग्निके शरीरमें प्रशंसित कर सबसे अधिक तेजस्वी हों ॥ १९ ॥

आकाशमें धारों और क्षयना प्रकाश फैलनेवाली सूर्य नामकी एक बड़ी भारी अग्नि है । उत्तर हृष्य इत्युक्तो हवनद्वारा धारों और फैलनेके लिये तथा पुष्यकी प्राप्ति और कुलकी निवृत्तिके लिये मनुष्य जिस अग्निके दूत आदिसे होम करते हैं । उसी अग्निके हम भी दिन रात हवन करते हैं ॥ २० ॥

जित हमारी मातृभूमिके धारों और अग्नि व्याप्त है और जिन भूमिका वर्ण बाढा है, वह भूमि हमारे ज्ञान कीर्ति शीर पत्तको बढ़ानेवाली हो ॥ २१ ॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति सुखं हव्यमरंकृतम् । भूम्यां मनुष्यां जीवन्ति स्वधयात्नेन मर्त्याः ॥
 सा नो भूमिः प्राणमार्दुर्दधातु जरदधि मा पृथिवी कृणोत ॥ २२ ॥
 यस्ते गन्धः पृथिवि संवभूय यं विभ्रस्वोपधपो यमार्धः ।
 यं गन्धर्वाः अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विषत कश्चन ॥ २३ ॥
 यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्यावा विवाहे ।
 अमर्त्याः पृथिवि गन्धमप्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विषत कश्चन ॥ २४ ॥
 यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भग्नो रुचिः । यो-अश्वेषु वीरिषु यो मृगेषु हस्तिषु ॥
 कन्यायां यच्चो यद्भ्रमे तेनास्मां अपि सं संज मा नो द्विषत कश्चन ॥ २५ ॥

अर्थ— मनुष्य-जित भूमिमें (भूम्यां अरंकृतं) बलकृत सुरांकृत (हव्यं) जातुतिपुत्र (यशं) यत् (देवेभ्यः) देवताओंको (ददति) देते हैं । इससे जित भूमिमें (स्वधया अत्नेन) उत्तम अन्न खानेपीनेकी यत्नसे (मर्त्याः मनुष्याः) मरणपर्यन्त मनुष्य (जीवन्ति) जीते हैं । (सा नो भूमिः प्राणं आयुः) यह भूमि हमें यत्न थापु (दधातु) देवे और वही भूमि (मा) मेरी (जरदधि) अच्छी बुद्धि या उन्नति (कृणोतु) करनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे (पृथिवि !) यस्ते गन्धः संवभूय) पृथिवी । जो तेरेमेंसे गन्ध पैदा होता है, (यं) जिस गन्धको (ओप-धयः विधायति) ओषधियां धारण करती है, (यं) जिते (आपः विभ्रति) बल धारण करता है, जिते (गन्धर्वाः) सूर्य और (अप्सरसः च) किरणें धारण करती है, (यं गन्धं) जिस गन्धको प्राणी (भेजिरे) भोगते हैं (तेन) जब सुगन्धिते (मा) मत्सको (सुरभिं) सुगन्धिपुत्र (कृणु) कर । (नः) हम लोगोंमें (कश्चन) कोई भी (मा द्विषत) किसीसे द्वेष न करे, सब लोग क्षामसभमें मित्रतासे रहें ॥ २३ ॥

हे (पृथिवि यः ते गन्धं पुष्करं) जो सुमहारी गन्ध कमलमें (आविवेश) प्रविष्ट हुई है, (अप्रे) पहिले (यं गन्धं अमर्त्याः) जिस गन्धको बापु आदि देवताओंने (सूर्यावाः) उसके (विशाहे) जिवाहके समय (संजभ्रुः) धारण किया था (तेन मां सुरभिं कृणु) जब सुगन्धिते हमें सुगन्धित करो । (कश्चन) कोई भी (नः) हम लोगोंसे (मा द्विषत) द्वेष न करे ॥ २४ ॥

हे (भूमे) भूमि ! (धीरेषु पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु यः ते गन्धः भग्नः) धीरपुरुषोंमें, स्त्रियोंमें, साधारण पुरुषोंमें जो तेरा गन्ध सुन्त तैतोमय कान्तिरूप है, (यः अश्वेषु उत मृगेषु हस्तिषु) जो घोड़ोंमें, भौषणोंमें, हाथियोंमें, (यत्तु यच्चः) जो स्त्रियों है, (कन्यायां) बिना व्याही कन्याओंमें जो स्त्रिय है, (सेन) उत रथ्य तेरसे (अस्मान् अपि) हमें भी (संजभ्रुः) संयुक्त कर । (कश्चन मा द्विषत) हममें कोई किसीसे द्वेष न करे ॥ २५ ॥

भाषाार्थ— जिस हजारी भूमिमें मनुष्य यत्न करते हैं और उसमें उत्तम उत्तम परापूर्वका हवन करनेके बापु और जल आदिको धुद करते हैं, जिस भूमिमें यत्नके कारण उत्तम वृष्टि होकर विभुल धान उपजता है, जितको साकर मनुष्य आनन्दसे निवास करते हैं वह मातृभूमि हमको उत्तम प्राण और पूर्ण आयुष्य देनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे मातृभूमि ! जो तुझमें उत्तम सुगन्धि है, वह बोधधि और पनस्पतियोंमें प्रगट होती है, उसी सुगन्धिको हमें अपने किरणोंसे लेन करते हैं । हमें उत उत्तम सुगन्धिते भूयित कर और हमारे दीध कोई क्षामसभमें किसीसे भी द्वेष न करे, सब लोग परस्पर मैत्रीभावसे रहें ॥ २३ ॥

हे मातृभूमि ! जो सुगन्धि सुमहारेकमलोंमें है, सूर्योदयके समय जिते बापु के जाती है, उस सुगन्धिते हमें सुगन्धित करो । हममें कोई किसीसे द्वेष न करे । हममें सबका एक ब्राह्मणके साथ स्नेहवश और सब समाजके लिये द्विहकारी हों ॥ २४ ॥

हे मातृभूमि ! धीर पुरुषों तथा साधारण स्त्री, पुरुषोंमें, हाथी, घोड़े, भौषणों आदिमें, कन्याचार्यों, ब्रह्मचारियों कन्याओंमें जो स्त्रिय है, वह हममें भी यत्नपत्ने ही हो । हममें कोई भी किसीसे द्वेष न करे ॥ २५ ॥

खिला भूमिरदमा पांसुः सा भूमिः संवृता घृता । तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥
 यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्विष्टंभिरिभ्रवा । पृथिवीं विश्वघायसं घृतानुच्छावदामसि ॥ २७ ॥
 उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः । पञ्चा दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यधिष्महि भूम्याम् ॥ २८ ॥
 विमृश्वरीं पृथिवीमा वंदामि क्षुमां भूमिं जज्ञणा वावृष्टानाम् ।
 ऊर्जं पुष्टं विभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि पीदम भूमे ॥ २९ ॥
 शुद्धा न आपस्तन्ने क्षरन्तु यो नुः सेवुरक्षिये तं नि दंमः । पृथिव्रेण पृथिवि मांस्वुनामि ॥ ३० ॥

अर्थ— जो (शिला अश्मा पांसुः) शिला, पत्थर, पत्थर और मूलिपुत्र (भूमिः) भूमि है (सा भूमिः) वह भूमि हम लोगसे विद्या, अनेक विद्या और दोरतले (घृता) भोजनार्थि रतित हुई, (संघृता) अन्धे तरह योग्यताके साथ धारण की हुई है, (तस्यै हिरण्यवक्षसे) सोनेकी क्षातीवाली उस भूमिको हम (नमः अकरं) नमस्कार करते हैं ॥ २६ ॥

(यस्यां) जिसमें (वानस्पत्याः) वनस्पति (घृताः) पेड़ और सत्ता भादि (विश्वहा) सत्ता (ध्रुवाः) शिखर (तिष्ठन्ति) रहते हैं, (विश्वघायसं) प्रशोकित गुणसे जो सबको धारण करनेवाली है, उस (घृतां) धारण की गई अर्थात् भलीभांति सुरक्षित रखी गई, (पृथिवीं अच्छ) पृथिवी को हम भूषणतया (आवदामसि) प्रशंसा करते हैं ॥ २७ ॥

(उदीराणाः) अन्धे फिरते (उता सीनाः) बँडे हुए (तिष्ठन्तः) लडे हुए (दक्षिणसव्याभ्यां पद्भ्यां) प्रक्रामन्तः) बाहिनै या बायें पांवले दहलते हुए हम (भूम्यां मा व्यधिष्महि) इस भूमि पर किसीको कुछ न बें ॥ २८ ॥

(विमृश्वरीं) विशेष सोचनेके योग्य (प्रज्ञाया) परमात्मने (वावृष्टानां) बरदाई गई (ऊर्जं) यत् बजाने-वाली (पुष्टं) पुष्टि करनेवाली (घृतं अन्नभागं च) पी और पीनेके पदार्थ मात्र भादि (रिभ्रतीं) धारण करनेवाली (पृथ्वीं) लम्बो चौडो (क्षुमां) प्राणिमात्रके निवास योग्य (भूमिं) मातृभूमिने (आवृष्टामि) प्रार्थना करते हैं । हे (भूमे) हमारी मातृभूमि ! (श्वं) तेरा (अभिनिपीदम) हम आसरा के ॥ २९ ॥

हे (पृथिवि ! नः तन्मे) नूनै । हमारे शरीरको शुद्धिके लिए (शुद्धा आपः) निर्मल जल (क्षरन्तु) बहा करें । (यः न) जो हमको (क्षमिये) क्षतिष्ट है या प्रिय नहीं है (सेतुः) उसे अलग कर । (पृथिव्रेण) पवित्र हमें (मा उरपुनामि) अपनेको मैं पवित्र करता हू ॥ ३० ॥

भाषार्थ— जिस हमारी मातृभूमिके ऊपर शिला, पत्थर और धूल है और जिसने भीतर सुवर्णरत्नादिक बहुतसे अमूल्य पदार्थ हैं, उस मातृभूमिको हम नमस्कार करते हैं । जबतक ज्ञान, दीर्घ आदि गुण हममें बने रहते हैं तभी तक हमारी मातृभूमिको रक्षा होती रहे ॥ २६ ॥

जिस हमारी मातृभूमिके घस और वनस्पति बहुतायतसे हैं और सब शिखर होकर रहते हैं जो अपने अनेक ऊपर कहे हुए गुणोंसे भरी पूरी है और सबका आधार है, इनसे अन्धे तरह सुरक्षित रखी गई उस पृथिवीको हम प्रशंसित स्तुति करते हैं ॥ २७ ॥

हम किसीके कुछका कारण न बनें ॥ २८ ॥

जिसके ऊपर की सतहकी सहाय करनेसे अनेक लाभ हो सकते हैं, जिसे अन्न सब दक्षिणपार्श्व परनेपरने अपनी क्षमिने धारण किया है, सब बजानेवाली पुष्ट और पुष्टिकारक अनेक भोजनके पदार्थ मात्र भादिरो जो उत्पन्न करती है, सबी सोरो और प्राणिमात्रों रहनेके योग्य है, उस भूमिके हम प्रार्थना करते हैं कि हे मातृभूमि ! तुम हमें सहारा दो ॥ २९ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम चारों ओरसे हमारी शुद्धिके लिये निर्मल जल बहाती हो । जो बीरों हमारा द्रव्य करनेकी इच्छा करे अपना क्षतिष्ट करे, उसके साथ हम भी बँसा ही बँसावें करें और जगृष्ट उद्योग करके हम अपनी हर प्रकारसे उन्नति करें ॥ ३० ॥

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्पास्तं भूमे अधराद्यार्थं पथात् ।

स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पंथं भुवने शिथियाणाः ॥ ३१ ॥

मा नः पश्चान्मा पुरस्ताद्भुदिष्टा मोत्तरादधरादुत् ।

स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन्परिपन्थिनो वरीषो यावया वृषम् ॥ ३२ ॥

यावत्तेऽभि विपद्यामि भूमे स्रपेण मेदिना । तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुचरां समाप् ॥ ३३ ॥

यच्छपानः पर्यावृत्ते दक्षिणं सव्यमाभि भूमे पार्श्वम् । उत्तानारस्ता प्रतीचीं यत्पृष्ठीमिभिधेमेहे ।

मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशौचरि ॥ ३४ ॥

अर्थ— हे (भूमे) मातृभूमि ! (याः ते प्राचीः) जो तुम्हारी पूर्व दिशा है, (याः उदीचीः) जो उत्तरकी दिशा है, (याः ते प्रदिशः) जो तेरी उपदिशा अर्थात् अग्नि, वैश्वदेव, वायव्य, ईशान ये चार कोनेकी दिशाएँ हैं, (याः ते अधरात्) जो तेरे नीचे है, (याः ते पथात्) जो तेरे पृष्ठभागमें या पीछे है (ताः) उन सब दिशाओंमें (चरते) चलने किन्तुवाले (मह्यं स्योनाः भवन्तु) मुझे लोग सुख देवें । (भुवने) इस देशमें (शिथियाणाः) रहनेवाले हम (मा निपंथं) कहीं भी नीचे न पड़ें ॥ ३१ ॥

हे (भूमे ! पथात् नः मा भुदिष्टाः) मातृभूमि ! जो तुम्हारे पृष्ठभाग हैं वे हमारा नाश न करें, (मा पुरस्तात् मा उत्तरात् उत अधरात् मा भुदिष्टाः) जो तुम्हारे पूर्व हैं, उत्तर हैं, या नीचे हैं, वे भी हमारा नाश न करें, (स्वस्ति) हमारा कल्याण हो । (परिपन्थिनः) शत्रु लोग हमें (मा विदन्) न जानें, (किञ्च) उन शत्रुओंके (वधं) वधके लिये (वरीषः) हम लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ धीर ही (यावया) जाय ॥ ३२ ॥

(भूमे मेदिना) हे हमारी मातृभूमि ! अपने प्रकाशसे आनंद देनेवाले (सूर्येण) सूर्यकी सह्यतसे (यावत् ते अभि विपद्यामि) जहातक सब ओर हम तुम्हारे विस्तारकी देखते हैं, (तावत् उत्तरां उत्तरां समां मे चक्षुः मा मेष्ट) जहातक मेरी उमर बढ़ने पर भी मेरी इन्द्रियां नेत्र आदि अपना अपना काम करनेमें जिरियल न हों, अर्थात् कहींसे उनमें कमी न हो, अपनी पुरी उमर तक हम सब उत्तम कर्म करते रहें ॥ ३३ ॥

हे (भूमे) हमारी मातृभूमि ! (यत्) जब (शयानः) सोते हुए (दक्षिणं सव्यं पार्श्वं) दाहिने और बायें (अभिपर्यावृत्ते) करवट ले (यत् रवा) जब सुनकर (प्रतीचीं) पश्चिमकी ओर पांव कर (उत्तानाः पृष्ठीभिः) पीठ नीचे कर (अधिशेमेहे) शपथ करें, उस स्थानमें (सर्वस्य प्रतिशौचरि) सब लोगोंकी सहारा देनेवाली (भूमे नः मा हिंसीः) हे हमारी मातृभूमि हमारा नाश न कर ॥ ३४ ॥

भाषार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! तुम्हारी जो जो दिशाएँ और उपदिशाएँ हैं, उनमें सब मनुष्य तुम्हारे हित करनेवाले होंगे, इसीप्रकार तेरे हितके लिए बल करते हुए हम भी उन सबका कल्याण करें, हम जहाँ कहीं रहें अपनी योग्यता बढ़ाते रहें, सुखसे रहें और हमारा जयपात कभी न हो ॥ ३१ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! हमें किसी प्रकारसे हानि न पहुँचे, सब तरहसे हमारी उन्नति ही हो । हमारी चालोंकी हमारे शत्रु न समझ सकें और हमारे नैऋत सदा हमारे शत्रुओंके नाश करनेका प्रयत्न करते रहें ॥ ३२ ॥

हे मातृभूमि ! जबतक हम प्रकाश और ज्ञानकी सह्यतसे तेरी बाहरी भोलरी स्थिति पूर्ण दुष्टिसे देखते रहें, तबतक हमारी बाहरी इन्द्रियां और भोलरी वृद्धि अपना अपना काम करनेमें समर्थ रहें ॥ ३३ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जिस समय हम तेरे भजन विधायन करनेके लिये बाएँ, बाएँ सपका सोपे तेरे ऊपर सोपे उस समय तुम हमें आशय दो, जिनसे कि हम बेतकके सोपे और कोई हमारा पात न कर सके ॥ ३४ ॥

यत्ने भूमे विउनामि खिप्रं तदापि रोहत् । मा ते मर्षं विमृश्वरी मा ते हृदयमपिषम् ॥ ३५ ॥

श्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्वैमन्तः शिशिरो वसन्तः ।

श्रुतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्

॥ ३६ ॥

याप स्रपं विजमाना विमृश्वरी यस्यामासन्नप्रयो ये अप्सर्वन्तः ।

परा दस्युन्दर्दती देवपीपुनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृषम् । शुक्राय दध्रे वृषमाप वृष्णे ॥ ३७ ॥

यस्यां सद्यो हविर्धाने यूयो यस्यां निमीयते । द्वाणां यस्यामर्षन्त्यृग्भिः सात्रां यजुर्विदः ।

युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातये

॥ ३८ ॥

अर्थ— हे (भूमे) हमारी मातृभूमि (ते) तुममें (यत् विउनामि) हलके जोतकर हृष की बोधि (तत् खिप्रं रोहत्) बह जल्द उगे और बढ़े । (विमृश्वरी) हे विशेष जोजनेके शोध मातृभूमे । (ते) तुम्हारे (मर्षं) नाश स्थानोंमें किन्तो तरहकी बात या चोट न पहुँचे और (ते अपिषं) तुम्हारा जपित (हृदयं) मन या पित (मा) बुलित न हो ॥ ३५ ॥

हे (पृथिवी भूमे) विस्तृत मातृभूमि । (ते श्रीष्म वर्षाणि शरद्वैमन्तः शिशिरा वसन्त) तुममें जो गर्मी, बरसात, शरद्व, हेमन्त, शिशिर, बसन्त (श्रुतवस्ते ते हायनी) ये छ श्रुत वर्षाभरवें (विहिता) स्थापित की गईं हैं ये और (अहोरात्रे) दिन तथा रात (नः दुहातां) हमको कुछ देनेवाले पदार्थ दें ॥ ३६ ॥

(या विमृश्वरी) जो विशेष जोजनेके शोध है, (विजमाना अपसर्वे) जो हिलती हुई चलती है, (ये अन्तु) जो मेघोंमें (अन्तः गच्छय) बिजलीके रूपमें शक्ति है ये (यस्यां आसन्) जिसमें हैं, ऐसी हमारी मातृभूमि (देवपीपुन्) वैश्वेति हितक (दस्युन्) शत्रुमानवें उन्हेदक अनापिके नाशकर्ता (शुक्राय) समर्थ (वृष्णेन) घोषघुकर और (वृषमाप) सिक्क करणवालेको (दध्रे) धारण करती है और (वृषम्) दूर बरसवालो वह मातृभूमि (इन्द्रं वृणाना) इन्द्र अर्थात् योरको वरती है स्वीकार करती है, (वृषं न) वृष या अनापिको नहीं ॥ ३७ ॥

(यस्यां सद्यो) जिस भूमिमें धर है (हविर्धाने) जिसमें हविष्य अर्पित हुवनके पदार्थ मुरजित रह करते हैं (यस्यां यूयः निमीयते) जिसमें यज्ञस्तन बनाये जाते हैं, (यस्यां यजुर्विदः ज्ञाविजः) जिसमें यजुर्वेदके ज्ञानवाले ब्राह्मण मत करने या करनेवाले (यस्यां प्रह्लाणः क्रतिविभिः साम्नाः च शर्वन्ति) जिसमें श्यावेद और सामवेदके ज्ञानवाले ब्राह्मण ब्रह्मा बल परनामाका पूजन करते हैं और (सोम पातये) सोमपानके लिये (इन्द्राय युज्यन्ते) इन्द्रका पूजन करते हैं ॥ ३८ ॥

भाषा— हे हमारी मातृभूमि ! जहाँ तुम ऊँची नीची हो जते सब ऊँचे की हम बोध वह जल्द उगे और बढ़े । तुम्हारे ऊँचा नीचा रहनेसे हमारे अप-पात और गिर जानेकी सम्भावना है, सो तुम्हारे लिये पाल भरते हुए वर्षास्थानमें घोष या शक्ति न पहुँचे और तुम्हारे उपरतिके लिये जो अपना तन, मन अर्पित किये हुए हैं ये सभी बु जित न हों, हृष तदा प्रपन्न वित्त रहें ॥ ३५ ॥

हे मातृभूमि ! छ श्रुत होनेके उत्तम गुण तुम्हारेमें ही हैं और किसी देशकी भूमिमें छ श्रुत नहीं होती । जो वर्षाकी ये छ श्रुतमें अपने अपने समयमें अपने फल फल आदिके हमें सुख देती रहें, उन उन श्रुतके रात और दिन सब मजि हमें पहावने हों ॥ ३६ ॥

जो हमारी भूमि ऐसी है कि इसे जितना ही खोजते रहो इतने साबरदायक सब वस्तु मिलती रहें, हिलते, डोमते, चलते मेघोंमें बिजलीके आकारमें शक्ति जिसमें है वह हमारी मातृभूमि शत्रुत्वोंको कुछ देनेवाले दुष्टोंका शत्रु की शरीरे हितके लिये साथ करती है, वह हमारी मातृभूमि शत्रुत्वोंकी ही अर्पण करती है ॥ ३७ ॥

जहाँ वेदके ज्ञानवाले ब्राह्मणोंमें बार बार मत किया है, इतने शिष्ट हुआ कि यह हमारी मातृभूमि पवित्र मत भूमि है ॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वं भूतकृत कर्षयो गा उदानुचुः । सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तर्पसा सह ॥ ३९ ॥

सा नो भूमिरा दिशतु यद्द्वनं कामयामहे । भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥

यस्यां गापन्ति नृत्पन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलिवाः । युष्यन्ते यस्यांमाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।

सा नो भूमिः प्र शुंदातां सपत्नानसपत्नं मां पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

यस्यामश्वं व्रीहियवी यस्यां इमाः पञ्च कृषयः । भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्यां विकुर्वते ।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशांमाशां रप्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥

अर्थ— (यस्यां पूर्वं भूतकृतः) जित भूमिमें पहिले जन्मूत काम करनेवाले (श्रावयः वेधसः) अतीन्द्रियार्थ-
रत्नी और ज्ञानी (सप्त सत्रेण) सात प्रकारके सत्र आदि (यज्ञेन) यज्ञके या संस्कार दान मान आदि उत्तम कर्षणके तथा
(तपसा) वनके (गाः उदानुचुः) उत्तम बाणिके द्वारा स्तुति करते रहे हैं ॥ ३९ ॥

(सा नो भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (यत् घनं) जो वन हम (कामयामहे) चाहते हैं वह हमें
(आदिशतु) दे, (भगः) ऐश्वर्यसंपन्न लोग अपने ऐश्वर्यके दूर और पुरोविके (अनुप्रयुक्तं) सहायक हों और
(इन्द्रः) इन्द्र शत्रुका नाश करनेवाले बीरोंका (पुरोगवः) नेता होकर (एतु) शत्रु पर चढ़ाई करे ॥ ४० ॥

(यस्यां भूम्यां मर्त्याः) जिस भूमिमें मनुष्य (गापन्ति) गाते हैं, (नृत्पन्ति) गाते हैं, (व्यैलिवाः)
विशेष प्रेरित और लोग अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिए (युष्यन्ते) युद्ध करते हैं, (यस्यां माक्रन्दः) जिसमें घोड़ोंके हिन-
हिनानेका शब्द होता है, (दुन्दुभिः च वदति) गलाडा बजता है (सा नो भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (सपत्नान्)
शत्रुओंको (प्रयुङ्क्तां) दूर भगा दे । वह (पृथिवी) भूमि (मा) हमें (असपत्नं) शत्रुवहित (कृणोतु) करे ॥ ४१ ॥

(यस्यां व्रीहियवी) जिसमें चावल, जौ, गेहू आदि अन्न बहुत उपजते हैं, (अश्वं) खानेके पदार्थ जहाँ अधिक-
तामे हैं, (यस्यां इमाः पञ्च कृषयः) जहाँ पाच प्रकारके लोग विद्वान्, गुरबीर, व्यापारी, कारीगर और शेरकर रहते हैं,
(वर्षमेदसे) वर्षकाल होनेसे जहाँ धान आदि अन्न उपजते हैं, (पर्जन्यपत्न्यै) पर्जन्य अर्थात् वर्षाके जित भूमिका
पालन होता है, उस (भूम्यै नमः अस्तु) मातृभूमिमें नमस्कार है ॥ ४२ ॥

(यस्याः देवकृतः पुरः) जिस मातृभूमिके तपरदेवोंके यथापे या बसने हैं, (यस्याः क्षेत्रे विकुर्वते) जिसके
प्रत्येक प्रांतमें मनुष्य अपने अपने काम अच्छी तरहसे करते हैं, (प्रजापतिः) प्रजाका पालक (विश्वगर्भा) सब पदार्थोंके
पदा करनेवाली (पृथिवीं) उस हमारी मातृभूमिकी (आशां आशां) प्रत्येक विज्ञानोंमें (रप्यां) रमणीय करे ॥ ४३ ॥

भावार्थ—हमारी मातृभूमि ऐसी है जिसमें अतीन्द्रियार्थरत्नी, सज्जनोंकी रक्षाके लिये बड़े बड़े काम करनेवाले,
धर्मगुरुजन और ज्ञानमण्डले सुशोभित शत्रुघ्न हुए हैं, उस मातृभूमिकी हय स्तुति करते हैं ॥ ३९ ॥

जितने सुखकी हम इच्छा करें उत्तम मातृभूमि हमें दे । ऐश्वर्य और धनसाम्पन्न लोग अपने ऐश्वर्य और वनके
वीरोंकी सहायता करें और और पृथग पुरोव होकर धर्मके साथ शत्रुओंका नाश करनेके लिये आगे बढ़ें ॥ ४० ॥

जित भूमिमें आनन्दके बाने भज रहे हैं, जहाँ लोग प्रसन्नतासे गाते हैं, गाते हैं और और लोग औरताके उत्साहमें
भरे अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिए युद्ध करते हैं, घोड़े जहाँ हिनहिनाने हैं, गलाडे बजते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे शत्रु
ओंका नाश करके हमें शत्रुवहित करे ॥ ४१ ॥

जहाँ चावल, जौ, गेहू आदि तथा और और खानेके पदार्थ बहुत होते हैं, जहाँ विद्वान्, गुर, व्यापारी, कारीगर
तथा शेरकर लोग यह पांच प्रकारके मनुष्य आनन्दसे बसते हैं, जित भूमिमें निर्धनता समर्थमें सुख होकर सम्पूर्ण धार्मिक
उत्सव होनेसे लोगोंका योग्य पालन होता है, उस मातृभूमिकी नमस्कार है ॥ ४२ ॥

जित मातृभूमिमें देवींद्वारा यथापे अनेक तप रहे हैं, जिसके प्रत्येक प्रांतमें मनुष्य अनेक प्रकारके अन्नके अन्न उद्योगोंमें
घरेब लगे रहते हैं, अर्थात् जो पानी बसी है, कोई भाग जिसका सूना और उग्रह नहीं है, जहाँ सब तरहके पदार्थ पैदा होते
हैं, उस भूमिकी प्रजाका पालक पूर्ण करे अर्थात् जहाँ विज्ञानका अधिक प्रचार करे और वह भूमि प्राकृतिक पदार्थों तथा
तौषथके सुसंपन्न रहे ॥ ४३ ॥

मत्स्यं पित्रंती गुरुभृद्भद्रपापस्यं निधनं तितिक्षुः ।

नराहेण पृथिवी संविदाना सुकुराय वि जिहृति मुगायं

॥ ४८ ॥

ये त आरण्याः पुराचो मृगा वने हिता सिंहा व्याघ्राः पुरुषादुत्थरन्ति ।

उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अर्ष बाधयन्सत्

॥ ४९ ॥

ये गन्धर्वा अंशुसरो ये चारावाः किमीदिनः । पिशाचान्त्सर्वा रक्षंसि तान्स्मद्भूमि यावय ॥ ५० ॥

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसा सुपर्णाः उकूना वयांसि ।

यस्यां वारो मातरिक्ष्वेतं रजांसि कृष्वंश्यावयथ वृक्षान् वारस्य प्रयासुपवामनु वात्याचिः ॥ ५१ ॥

अर्थ— (गुरुभृत्) भारी पदार्थको भवनी ओर लौचनेवाली ओर (मत्स्यं) धारण करनेकी शक्ति (विघ्नती) धारण करनेवाली (भद्रपापस्य) धर्मरक्षा और पापात्मा अनुष्णके (निधनं) मरगको (तितिक्षुः) सहती हुई वह (पृथिवी) भूमि (नराहेण) उत्तम जल देनेवालेको (संविदाना) अच्छी तरह पाकर धर्मवत् अच्छी बरसातवाली होकर (सुकुराय) अच्छी किरणवाले (मुगाय) अपने किरणोंसे भयविभ्रताको पवित्र करनेवाले सूर्यके चारों ओर (विजिहृति) घूमती है ॥ ४८ ॥

(पृथिवि ये ते घने हिताः) हे हमारी मातृभूमि ! जो तेरे घनमें रहनेवाले (सिंहाः व्याघ्राः पुरुषादः) सिंह, बाघ और दूसरे प्राणियोंकी हिता करनेवाले मांसाहारी शीघ्र (आरण्याः पुराचः मृगाः) उनके रहनेवाले शत्रुष्णद सुपर्णो मृगाधिक (चरन्ति) चरते करते हैं उनको और (उलं वृकं दुच्छुनां) वन्यपशु, पागल कुत्ते (ऋक्षीकां) मासू, भेड़िये आदि हिनक पशुओंको (इतः भस्मत् सपवाधय) यहाँ हमसे दूर रख ॥ ४९ ॥

हे (भूमि ये गन्धर्वाः) मातृभूमि ! जो हिनक आत्माओ हमारे घब करनेको उद्यत हैं (अंशु-सरसः) कमपराद्भूमत् आत्मा हैं, (ये चारावाः) जो निधन हैं (किमीदिनः) पर उनके हरनेवाले हैं, (पिशाचान्) मांस खानेवाले हैं, (रजांसि) राजसी स्वभाववाले हैं, उन (सर्वाण्य् वसन्त् यावय) सबको हमसे दूर हटा ॥ ५० ॥

हमारी वह मातृभूमि है (यां द्विपादः हंसाः सुपर्णाः शकुनाः चर्षांसि पक्षिणः संपतन्ति) जहाँ वे पांखवाले ओव हंस, गधक आदि पक्षी उड़ते हैं, (यस्यां मातरिश्वा घाता) जिसमें आत्मजमें रहनेवाली या संभार करनेवाली हवा (रजांसि कृष्यन्) पूल उड़ती हुई (पृक्षान् च्यावयन्) पेड़ोंको लकड़ो उखाडती हुई (ईयते) बहती है । (तस्य घातस्य प्रयां उपर्षा) उस मातृको पतिका (अचिः) तेज या प्रकाश (अनुधानि) अनुकरण करता हुआ चलता है ॥ ५१ ॥

भावार्थ— सुव पदार्थको भवनी ओर लौचने तथा धारण करनेकी शक्ति जिसमें है, नले और पुरे दोनोंको जो धारण किये है, दोनोंके मरणको जो सह लेती है । अच्छा जल बरसनेवाले मेघसे घुसत सूर्य जिसको भयविभ्रताको अपने किरणोंसे हटा देता है, ऐसी हमारी मातृभूमि विशेष प्रकारसे सूर्यके चारों ओर घूमती है ॥ ४८ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो तेरे हिन शीघ्र, शिकारी जानवर, चौपाये, भेड़िये, पागल कुत्ते, मासू इत्यादि हैं; उन सबको हमसे दूर रख ॥ ४९ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हिनक, आत्मा, निधन, परधन हरनेवाले, मांसाहारी, भस्मासवादी भास्तिक और आत्मतापो हैं, उनको दूर कर ॥ ५० ॥

जिस भूमिमें सर्वदा आकाशमें हंस आदि पक्षी आत्मजमें उड़ते हैं, जहाँ भूमिमें उड़ते हुए, पेड़ोंको उखाडते हुए-पशु घेरोबंदीक लपाटोने बहता है और जंगलकी धनि जहाँ जोरोंसे भयलती है, वह हमारी मिय मातृभूमि है ॥ ५१ ॥

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।

वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ॥ ५२ ॥

यौश्व म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः अग्निः सूर्य आपो मेधां विद्ये देवाश्च सं ददुः ॥ ५३ ॥

अहमस्मि सहमान उचरो नाम भूम्याम् । अमीपादंसि विश्वापाहायामाशां विषासुहिः ॥ ५४ ॥

अदो यद्वि प्रथमाना पुरस्ताद्विवेकता व्यसर्षो मद्वित्त्वम् ।

आ त्वां सुभूतमविश्रुतदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५५ ॥

ये ग्रामा यदरण्यं वाः सभा अधि भूम्याम् । ये संग्रामाः समित्यस्तेषु चारुं वदेम ते ॥ ५६ ॥

अर्थ— (यस्यां भूम्यां कृष्णं अरुणं च) जिस भूमिमें तमोमय अथकार और प्रकाशमय दिन (संहिते) अथवा होकर (अहोरात्रे) दिन और रात (अधिविहिते) बनते हैं, (सा पृथिवी भूमिः) वह विस्तृत भूमि (वर्षेण वृता-वृता) पृथिवी उन्नी हुई (भद्रया) कल्याणके साथ (प्रिये धामनि-धामनि) हितकारके स्थानोंमें (नः) हमको (वृथासु) ह्मणित करे ॥ ५२ ॥

(यौः) प्रकाशमय आकाश, पृथिवी भूमि (अन्तरिक्षं) आकाश और पृथ्वीके बीचका स्थान (अग्नि सूर्यः) अग्नि और सूर्य (विश्वे देवाः च) सब प्रकाश करनेवाले देव तथा विद्वान् लोग, विजयो या व्यवहाररूपतुर (इदं) ये सब (मे) मुझको (मेधां) धारणाप्रतिबन्धी बुद्धि और (व्यचः) तेज (संददुः) अन्नी तरह दें ॥ ५३ ॥

(अहं सहमानः) मैं शरणी, सररी, तुल, कुल, सह सेनेवाला (नाम) यश और प्रतिष्ठाके (उत्तरः) उत्कृष्टतर (भूम्यां) भूमिकी (अशां आशां) हरएक विभागोंमें (विषासुहिः) विशेष विजयो, अमीपाद) सब ओर पराक्रम करनेवाला (विश्वापाह) सब अन्तर्भाग साथ करनेवाला (अस्मि) हूँ ॥ ५४ ॥

हे (देवी) विष्व्व मातृभूमि । तू (यत्) जब (पुरस्तात्) पहिले (देवेः) देवों और विद्वान् विजयोप या व्यवहाररूपतुल लोको के द्वारा (प्रथमाना) प्रथम होकर (उजा) प्रकीर्णित हुई, तब (व्यसर्ष) विशेष उत्कर्षको वृद्धको (तदानीं) तब तुझे (चतस्रः प्रदिशः) चारों विभागोंमें (सुभूतं महित्यं) बड़ी प्रतिष्ठा (अकल्पयथाः) प्राप्त हो गई, हे भूमि वह तेरी प्रतिष्ठा (त्वा) तुझमें (आविश्रुत्) अब भी पहलेकी सी हो ॥ ५५ ॥

(ये ग्रामाः) जो गांव या शहर (यत् अरण्यं) जो वन (याः सभा) जो राजसभा व्याससभा, परमसभा आदि (ये संग्रामाः) जो युद्ध (याः च समितयः) जो बड़ी बड़ी परिचर (अधिभूम्यां) हमारी भूमिमें (सन्ति) हैं (तेषु) उन समयमें (ते) तुम्हारे बारेमें (चारु वदेम) बण्डा करें ॥ ५६ ॥

भाषार्थ— जिस भूमिमें ओर प्रकाशके रात और दिन होते हैं और उनकी तथा एकत्री व्यवस्था रहती है, वह हमारी विस्तृत मातृभूमि हूँ हितकर स्थानोंमें मुझसे रहते ॥ ५२ ॥

स्वापर व अणम, चैतन व अचैतन सब पदार्थोंकी सहायतासे हमारी बुद्धि बड़े और नीतिक्रमके चारों ओर व्यापक हो ॥ ५३ ॥

मे शरणी मानुषिये लिये तथा उसके कुल विजात्य करनेके लिये हर तरहके कष्ट सहन करनेको तयार हू । ओर प्रयासके सब अनुश्रुतियों परास्त बरुया । एक भी दास्यो रहने नहीं दूंगा ॥ ५४ ॥

हे मातृभूमि ! पहलेके लिय जब तुम्हारी स्तुति करते थे, उस समय तुम्हारी कीर्ति चारों विभागोंमें फैल जाती थी, बड़ी तुम्हारा यश अब भी घेला ही फँसे ॥ ५५ ॥

हे हमारी मानुषी ! तुम्हारेमें अहाँ अहाँ गण, मन, तम, चरित्य, संघाय बिना मनुष्य एकत्र हों, वहाँ वहाँ हम तुम्हारी प्रशंसा करें । अर्थात् अभी तुम्हारे अहितकी बात न करें ॥ ५६ ॥

४ [अथर्व. भा. २ मानु० हिन्दो]

असं इव रसो दुधुये वि तान् जनान्य आक्षियन्पृथिवीं यादृजायत ।

मन्द्राप्रैत्वंरी सुर्वनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरौषधीनाम्

॥ ५७ ॥

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीक्षे तद्वदन्ति मा । त्विर्षीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोषतः ॥ ५८ ॥

शन्तिपा सुर्भिः स्योना कीलालोष्नी पर्यस्वती । भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पर्यसा सह ॥ ५९ ॥

यामन्वैच्छद्विषां विश्वकर्मान्तरणीवे रजसि प्रविष्टाम् ।

भुजिष्ये पात्रं निहितं गुहा यद्राविमोगं अमवन्मातृमज्ञः

॥ ६० ॥

अर्थ— (यात्) जब (पृथिवी) भूमिमें कोई अन्यायो (आक्षिपन्) जाकार कहे, तब (तान् जनान्) उन रहनेवाले मनुष्योंको (अभ्यः रजः इव वि दुधुये) जिसप्रकार घोसा अपने शरीरको हिलाकर शरीरकी घुसफो झाड़ देता है, उसीप्रकार यह भूमि झाड़ दे अर्थात् नष्ट कर दे । यह भूमि (मन्द्रा) प्रसन्न, (अप्रेत्वंरी) सप्रभावमें अन्त जानेवाली, (भुधनस्य गोपा) संसारको रक्षा करनेवाली (वनस्पतीनां औषधीनां च गृभिः) काल्पित और औषधियोंको प्रहत करनेवाली है ॥ ५७ ॥

(यात्) मैं अपने राष्ट्र या देशके सम्बन्धमें जो (चदामि) कहूँ (तम् मधुमत्तं चदामि) वह हितकर और मधुर शब्दोंमें ही कहूँ (यद् ईक्षे) जो बोलता हूँ (तत्) वह सब (मा) मेरा सहयोग हो, (अहं त्विर्षीमान्) मैं प्रकाशमान, सेजस्वी, शोषिताम् और (जूतिमान्) शानवान् होकर (अन्यान्) दूसरे, जो हमारी भूमिमें कुछ भेते ह (अवहन्मि) उनका नाश करता हूँ ॥ ५८ ॥

(शन्तिपा) शान्तिकारक (सुर्भिः) मुग्धियुक्त (स्योना) गुप्त देनेवाली (कीलालोष्नी) अन्नकी देनेवाली (पर्यस्वता) बहुत जलवाली (मे पृथिवी भूमिः पर्यसा सह) हमारी भूमि भोग्य पराधीनताप हर्ष (अधी ब्रवीतु) कहे-हमारे सहयोग करे ॥ ५९ ॥

(यात्) जब (विश्वकर्मा) विश्वकर्माने (रजसि अर्थात्) अन्तरिक्षके (अन्तः प्रविष्टां यां) भीतर प्रविष्ट जित भूमिकी (हविषा) अन्नदि पराधीन (अन्वैच्छत्) ऊपर निकाला, तब (गुहा निहितं) गुप्तस्थानमें रखे हुए (भुजिष्ये पात्रं) भोजनके योग्य अन्न आदि (मातृमद्भ्यः) मातृभूमिके (भोगे) उपभोगके लिये (आविः अभवत्) प्रकट हुए ॥ ६० ॥

भावार्थ— यद्यपि विजयी होकर जहाँपर सेनाके घोड़ों के चलनेसे प्रति उठकर मनुष्योंके चित्तोंको प्रसन्न करती है । अपना जब किसी विशेष कारणके लिये मनुष्य अपना संघकर एकत्रित होते हैं, तब उस संघके जो फलस्वरूपमें एक दिशाजग शक्ति उत्पन्न होती है, वह शक्ति सबकी आनन्द देनेवाली, सब देशका संरक्षण करनेवाली और औषध आदि भक्ष्य पराधीन देनेवाली होती है । इसलिये उसे मातृभूमिके संपूर्ण भवत सर्वत्र स्वायत्त रखें ॥ ५७ ॥

हम जो कुछ भी भक्षण करें वह सब हमारी मातृभूमिके लिये हितकारी हो, जो कुछ हम खाँचते देखें वह भी मातृभूमि के लिये ही सहायक हो, इसी प्रकार हमारे सब काम मातृभूमि ही के धर्मण हैं, । हम तेजस्वी और बुद्धिमान् हैं, जो हमारे धनु हमारे मातृभूमिका दोहन करें उनका हृष नाश करें ॥ ५८ ॥

शान्ति, सुख, अन्न, पानी आदि की देनेवाली हमारे मातृभूमि हमें सब भोगके पराधीन और ऐश्वर्य देनेवाली हो, इस तरह हमारी रक्षा करती रहे ॥ ५९ ॥

यहाँ सब तरहके उद्योग करनेवाले कुशल पुष्ट्य मातृभूमिकी सेवा करनेके लिये कटिबद्ध होते हैं, यहाँ मातृभूमिके सुलक्षणमें रक्षा हुआ तथा परत हुआ चात (जो केवल भक्तों ही के लिये है) जाकर उनके सामने प्रकट होता है । अर्थात् उनके उपभोगके सारे पराधीन उन्हें सहज ही मिल सकते हैं ॥ ६० ॥

स्वर्गस्यावपती जनानामदितिः कामदुषा पप्रथाना ।

यत्तं उन्नं वत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा कृतस्य

॥ ६१ ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अंशुश्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसृताः ।

दीर्घं न आयुः प्रतिषुष्यमाना वयं तुभ्यं वलिहृतः स्याम

॥ ६२ ॥

भूमौ मातृनि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् । संविदाना दिवा कचे श्रिपां मां धेहि मृत्याम् ॥ ६३ ॥

अर्थ— हे मातृभूमि ! (त्वे जातानां अदितिः) तू लोगोंको दुख न देनेवाली (कामदुषा) इच्छित पदापोंकी देनेवाली (पप्रथाना) स्तुतिके योग (आवपनी) जिसमें अच्छी तरह धोनेसे बहुत कष्ट उपजता है (अस्ति) ऐसी है, (यात् ते उन्नं) जो तुझमें कपी है (तत् ते कृतस्य) यत्तमयी तेरे उस कपीकी (प्रथमजा) सृष्टिसे आदिमें प्रसूत हुआ हुआ (प्रजापति) परमेश्वर (आपूरयाति) पूर्ण कर देता है ॥ ६१ ॥

हे (पृथेधवि ते प्रसृताः) भूमि ! तुझमें उत्पन्न हुए सब लोग (अनमीवाः) रोगरहित (अशुभाः) क्षयरोगरहित (अस्मभ्यं उपस्थाः) हमारे पास रहनेवाले (सन्तु) हों, (न आयुः दीर्घं मनु) हमारे उमर बढो हो, हम बहुत दिन जीवें (वयं प्रतिषुष्यमानाः) हम सब बितानपुस्त होकर (तुभ्यं वलिहृतः स्याम) तुमो बलि, कर्मार, देनेवाले हों ॥ ६२ ॥

हे (मातः भूमे) मातृभूमि ! (भद्रया) कल्याणको बढ़ानेवाली बुद्धिसे (मा) हमें (सुप्रतिष्ठितं निषेहि) सुविचार कर, (दिवा) प्रतिदिन (संविदाना) सब बालको जाननेवाली (कचे मां) हे ज्ञानरहिनी भूमे ! हमें (भूलां क्षियं धेहि) पृथिवीमें सफल प्राप्त हो ॥ ६३ ॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! तू हम सबको सुख देनेवाली है, इच्छित पदापोंकी देनेवाली है, इसलिये जो तेरे में कपी हो उसे परमेश्वर पूरा करे ॥ ६१ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हम लोग तुझमें उत्पन्न हुये हैं वे निरोग, बुद्धिमान, दीर्घायु, सुप्रतिष्ठित रहें और मातृभूमिके हितके लिये अपने निजके स्वार्थ को बलि देनेमें उद्यत रहें, सब भीति तेरा हित करनेमें सारर रहें ॥ ६२ ॥

हे मातृभूमि ! मुझे बुद्धिमान् कर और तेरे विषयमें प्रतिदिन चिन्ता करनेवाले मूल्य विचारों और दूरदर्शी मनुष्यों तथा भूते अपनी भूमिगत सम्पत्ति प्राप्त करानेवाली हो ॥ ६३ ॥

मातृभूमिका वैदिक-गीत

जिस देशमें जो लोग रहते हैं वह उनको मातृभूमि कहना है। जैसे भारतीयोंको भारतभूमि, चीनी लोगोंको चीनभूमि, अंग्रेजोंको इंग्लैण्डभूमि और इत्यादि तरह दूसरे दूसरे लोगोंको अलग अलग मातृभूमि है। जिना तरह ज्ञानाके रत्न-मांस आदिते बचनेकी बेह बनती है, जसी तरह मातृभूमिमें पालन होनेवाले अनाज, पानी, दवाही हवा और अरार-

तिथिमें उस देशके मनुष्योंके दरीर बनते हैं। इसलिये उस देशको अपनी मातृभूमि समझना उस देशके निवासियोंका रत्नम् होता है।

परमेश्वरका यह नियम है कि मानासे हुएपर बचनेका ही अधिकार रहता है, क्योंकि माताके लक्ष्मीमें जो बूच परमेश्वर उत्पन्न करता है, वह उस माताके पालन होनेवाली बचने-

लिये ही होता है। बच्चेका पालन उसकी माताके रूपसे ही होना चाहिये। माताका दूध पीना बच्चेका जन्मसिद्ध अधिकार है और यह उसका धर्म भी है। यदि कोई अवदत्त बालक अपने माताका दूध पीकर दूसरे बालककी माताका भी दूध लवरदताते पियेगा और दूसरे बच्चेको भूखा रखेगा, तो उसका यह कार्य परमेश्वरके नियमोंके विरुद्ध होगा और वह अवदत्त बच्चा ईश्वरके नियमोंके अनुसार अपराधी समझा जावेगा। इसी तरह एक देशके बालक दूसरे देशके बाळकोंको परतन बनायें और उस देशमें उत्पन्न होनेवाले उपभोगके पदार्थ उस देशके निवासियोंको न देकर अपने ही मुखके लिये उपयोग करें, तो यह उनका बहुत बड़ा अपराध होगा। किन्तुको भी भूलना नहीं चाहिये, कि जो व्यक्ति माता और बच्चेकी है वही मातृभूमि और उसके बच्चोंकी भी है।

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जिस घरमें वह रहता है उस घरपर उसका कितना प्रेम होता है। राजिके शासन यदि कोई चौर शाकर उस घरमेंसे कोई वस्तु अपने भोगके लिये ले जाये, तो म्वाले सरपार ऐसे चोरकी पकड़कर सजा देती है, क्योंकि अपने खपने पूर्ववर्ति चली खाई परकी वस्तु पर सबका अधिकार स्थिर रहना ही न्यायका उद्देश्य होता है। चोरका उस पर अधिकार नहीं है, इसलिये वह सजा पानेके योग्य होता है। जिस तरह एक छोटासा घर किसी एक कुटुम्बका रहता है, उसी तरह देश यह एक बड़ा घर है और यह घर सब वैज्यासियोंका है। यदि उस राष्ट्रस्वरूप घर पर दूसरे देशोंके बलवान् लोग मिलकर हमला करें और वहाँकी वस्तुओंपर अपना अधिकार बताने, तो वास्तवमें एक घर पर हमला करनेवाले डाकूके समान ही यह अपराध है। अर्थात् यह कहना चाहिए कि यह एक साधारण डाकूके अपराध की अपेक्षा यहाँ भयंकर अपराध है। यह सिद्ध करनेकी क्याश जरूरत नहीं है। इस संसारके बड़े बड़े तत्त्व-शास्त्री लोग यही कहते हैं। लेकिन सद्धारका राजकारण तत्त्वशास्त्रियोंके हाममें न होनेसे बलवान् लोग इस तरहकी राष्ट्रीय सन्तानकी अपराध नहीं समझते और इस बड़े अपराधीकी इसी कारण सजा नहीं होती। परंतु ईश्वरके नियमोंमें इस तरहका वक्षपात नहीं हो सकता।

हमें यहाँ यह बिलाला नहीं है कि अपराधीकी अप्रतिनिधता आवश्यक है या नहीं। यहाँ तो हमें सिर्फ यही दिखलाना है कि माताके रूपपर उतारे बच्चेका, घरपर उस घरके मातृत्वका, राष्ट्रपर उस राष्ट्रके लोगोंका और मातृभूमिकी उपभोगी वस्तुओंपर उस मातृभूमिके बच्चोंका

बच्चा अपनी माताका दूध पीता है। इसलिये उसका अपनी मातापर बहुत प्रेम रहता है। मनुष्य अपनी मातृभूमिमें पैदा होनेवाले खनाब, फल, फेंद, मूल इत्यादि खाते हैं और मुष्ट बनते हैं, इसलिये उनका अपनी मातृभूमि पर प्रेम रहता है। इसलिये यदि जिस तरह मातृभूमि पर गाने बनाते हैं, उसी तरह लोग मरता पर भी गाने गाते हैं और दूसरोंको उसाहित करते हैं।

यह अनुभूत है कि माता और मातृभूमिके विषयमें दिले हुए काव्य नैतिक प्रेम उत्पनाते हैं। काव्यके भिन्न भिन्न रसोंमें प्रेमरस श्रेष्ठ है। मातृदेवताके काव्यमें वीरता प्रेमरस भरा रहता है, वंश अन्य किसी काव्यमें नहीं। माता क्या है? एक वसीय प्रेमकी मूर्ति। उसके प्रेमके लिए अन्य कोई उपमा ही नहीं बी जा सकती, उसका प्रेम वास्तवमें अनुपम है। यदि माताके प्रेमको कोई उपमा देने की हो, तो यह मातृ-प्रेमकी ही हो सकती है, दूसरी नहीं।

यह मनुष्य विरता ही होता है जिते माताके प्रति आदर न हो। माताके प्रेमसे ही प्रत्येक मनुष्यका पालन होता है। मातृभूमि पर भी मनुष्यका प्रेम होता है। यह वैश्वेय भी असीम होता है। कंसो भी आपत्ति, कंसो भी संकट क्यों न हो, मनुष्य मातृभूमिका त्याग करनेकी तैयार नहीं होता। माताको वा मातृभूमिकी रक्षामें शरीर निजावर करनेतक की मनुष्य तैयार रहता है।

यह असीम प्रेमही है जिससे प्रेरित होकर सब देशके लोगोंने अपनी जन्मभूमिके गीत बडे भक्तिभावसे गायए हैं। मातृभूमिके लिये लोगोंने काव्य बनाये हैं। सभी देशोंमें यह प्रथा है कि आरंभोत्सवमें, विजयोत्सवमें देशवासी अपने अपने राष्ट्रगीतका गान करते हैं।

इस प्रकारका कोई राष्ट्रगीत वा मातृभूमिगीत भारत-वासियोंमें ही या नहीं, इसके विषयमें कई विद्वानोंके भिन्न भिन्न मत हैं। कई विद्वान् यह मत रखते हैं कि "भारतवासियोंका एक राष्ट्र काली भी नहीं था, इसलिये उनमें राष्ट्रगीत होना असंभव है। मध्यकालमें इस विस्तृत देशके बहुते छोटें छोटें राज्य बन गये थे। इसलिये यदि कहा जाय कि उस कालमें एक राष्ट्रमन्त्रकी कल्पना भी न थी तो यह मय ही सकता है।" परन्तु उन विद्वानोंका यह मत सर्वथा निराधार एवं तर्कहीन है, क्योंकि हममें धारभसे ही राष्ट्रीयताकी कल्पना थी, यह श्रुतियोंके कालसे मान्यतक चली आयी है और उसका निराधार राष्ट्रगीत भी हमारे पास है। इसीका समर्थन करनेके लिये इस देशमें मातृभूमिके बहिरक मूलतक विचार किया है। यह मूलक अपवैदिक १२ वें काण्डका पहला सूक्त है।

सूक्तका उपयोग

जिस सूक्तके विषयमें हम यहाँ लिख रहे हैं, उसका महत्व राष्ट्रीय है या नहीं, यह हम उसके उपयोगसे जान सकते हैं। इसलिये इसका उपयोग कहा किया जाता है, देखिए—

१. प्रानपस्तनादिरक्षणार्थम् । (साम्यनाथ)
(अर्थ १२।१।१)

“ ग्राम, पत्तन, नगर आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये । ” अर्थात् ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, स्वदेश आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये । स्वदेशकी रक्षाके लिये जब कोई काम करना हो, तब इस सूक्तका पाठ करना चाहिये । इससे यह सिद्ध है कि स्वराष्ट्र रक्षासे इस सूक्तका निकट सम्बन्ध है। सब देशोंमें राष्ट्रप्रीतका उपयोग इसी कामके लिये अर्थात् राष्ट्रकी रक्षाके निमित्त ही किया जाता है। इसका विचार और अधिक करनेके लिये नीचे और प्रमाण देते हैं।

२. पार्थिवीं भूमिकामस्य । (नवप्रकल्प १७)

“ पृथ्वीको इच्छा करनेवाला और पार्थिवी महाप्रातिके करनेके समय इसका उपयोग करे । ” देशमें या राष्ट्रमें अनातिके उत्पन्न होनेपर उस अवस्थाको दूर करनेके लिये जो प्रयत्न किया जाता है, उसे वेदमें “ पार्थिवी महा-प्राति ” कहा गया है। इसमें कई महत्वपूर्ण बातें कही पड़ती हैं। ऐसे समयमें इस सूक्तका पाठ करना चाहिये। यह नक्षत्र-व्यवस्थाका रहना है। “ भूमिकामः अर्थात् भूमिकी इच्छा करनेवाला या अपनी मातृभूमिमें शांति स्थापन करनेको इच्छा करनेवाला जो मनुष्य है, उसे वह काम करते समय इस सूक्तका पाठ करना चाहिये। इस सूक्तके पाठसे मातृभूमिके हितका काय करनेमें उत्साह मिलता है। इसी प्रकार—

भौमस्य दतिकर्मणि । (कौशीतको सूत्र ५२)

“ (भौम) प्रदेशके या राष्ट्रके (दतिकर्म) आदरके लिये जो काम करना है, उस काममें इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये । ” “ दति ” का अर्थ है “ आदर ”। “ दतिकर्म ” का अर्थ है आदरके लिये किया हुआ काम । राष्ट्रीयमहोत्सव या विभूतिदिनके समय इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये। साम्यनाथजीने अपने भाष्यमें यह भी बतलाया है कि इस सूक्तका उपयोग कौन कौन कर सकते हैं—

१. पुष्टिधामः ।

२. अष्टाधिक्यवाग्रकामः ।

३. अतिद्विरवकामः । (साम्यनाथ अर्थ ० १२।१)

“ पुष्टिकी इच्छा करनेवालेको, धनकी इच्छा करनेवालेको और दान, मुष्ण आदिकी इच्छा करनेवालेको इस सूक्तका पाठ करना चाहिये । ” तात्पर्य यह है कि इस सूक्तका पाठ उस समय करना चाहिये, जब हम राष्ट्रीय उन्नतिके काम करते हैं। अतः राष्ट्रप्रीतके समान इस सूक्तका भी उपयोग ऐसे ही अन्तरों पर किया जाना चाहिये, यह उपरोक्त सूक्तकार एक भाष्यकारोंने कथनका तात्पर्य है।

इस सूक्तका विचार करते समय हमें बेलना चाहिये कि यह सूक्त किस गणमें है। पूर्वके ऋषियोंने अथर्ववेदके कुछ गण बना दिये हैं। उनमेंसे “ वास्तोष्पति ” नामका जो गण है उसमें यह सूक्त है। “ वस्तु ” पर पतिवत्ता या मतविपत्तका हक बतलाने का सिद्ध करनेवाले सूक्त “ वास्तोष्पति ” गणमें है। ऊपर बतलाया गया है कि पूर्वोक्त सूक्तका पाठ उस समय करना चाहिये कि जब कितो देशके निवासी मातृभूमिपर अपना हक बतलाते हों। इसलिये यह सूक्त “ वास्तोष्पति ” गणमें शामिल किया गया है।

यदि हम उच्च वर्गोंपर ध्यान दें, तो हमें उक्त सूक्तारी गृहता दिखाई देगी और विशेषरूपसे चिन्तित होगा कि मातृभूमिका वट् पंक्ति गीत एक प्रकारका राष्ट्रीय गीत ही है, जिसे राष्ट्रीय अवसरपर ही गाना चाहिये।

मातृभूमिकी कल्पना

इन मातृरी प्रमाणोंका विचार करने अत्यन्त हमने मातृभूमिके ध्यानका स्वरूप देया। अब भीतरी प्रमाणका विचार करके देखेंगे कि इस सूक्तके विचारकहातक राष्ट्रीयमहत्त्वके हैं। अतएव पहले यह देखेंगे कि इस सूक्तमें जो मातृभूमिकी कल्पना है, वह कितना प्रचारकी है। जो लोग समझते हैं कि हमारे पूर्वजों में “ मातृभूमि ” की कल्पनातक नहीं थी, वे इन बचनोंका विचार अच्छी तरह करें और प्रत्यक्ष देन में कि हमारे अति प्राचीन साहित्यमें मातृभूमिके विचार विद्यमान हैं। उससे यह भी सिद्ध हो जाएगा कि मातृभूमिकी कल्पना सर्वप्रथम ऋषियोंने ही है।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः । (अर्थ १२।१।२)

“ भूमि मेरो माता है और मैं मानुषमिरा पुत्र हूँ । ” हमारी देशभूमि ही हमारी माता है और हम सब उस मातृभूमिके पुत्र हैं। अर्थात् हम सब देशवासी एक ही मातृभूमि के पुत्र हैं, अतएव हम सब सर्वे भेदमय हैं। मातृभूमिके निवासीको यही प्रायः मतमें माना चाहिये। मातृभूमिके अर्थमें हीतके विषयमें ऋषियोंने यह मन् इच्छा है—

ते अज्येष्ठा अफनिष्ठास उद्भिदोऽ-

मध्यमासो महसा वि वावृधुः ।

सुजातासो जनुया पृश्निमातरौ

दिवो मर्त्या आ नो अच्छा जिगातन ॥ ६ ॥

(ऋग्वेद ५।५।१६)

अज्येष्ठासो अफनिष्ठास पते

सं भ्रातरौ वावृधुः सौभगाय । (ऋग्वेद, ५।५।१५)

“ (पृश्नि-मातरः) मातृभूमिको माता माननेवाले सब (मर्त्याः) मनुष्य सत्त्वे कुलीन हैं । उनमें न कोई (ज्येष्ठः) श्रेष्ठ है, न कोई कनिष्ठ है और न कोई मध्यम है । उन सबका दर्जा समान है । वे सब (उत्-भिद्ः) अपने ऊपर आई हुई आपत्तिघोषी भेदकर ऊपर उठनेवाले हैं । सबका विचार एकसा है अर्थात् वे (भ्रातरः) बन्धु हैं । अपने (सौभगाय) धनको बढ़ानेके लिये (सं-वावृधुः) वे सब मिलकर प्रयत्न करते हैं । ”

इस मंत्रमें “ पृश्नि-मातरः ” अर्थात् भूमिको माता माननेवाले सत्युत्पत्तिका वर्णन देलवे घोष्य है । मातृभूमिके भक्त एकही विचारवाले होते हैं । उनमें उच्चनीच भाव नहीं रहता । उन सब लोगोंका दर्जा एकसा रहता है और वे सब मिलकर एक विचारसे मातृभूमिके उदारतामें कार्य करते हैं । वे आपसमें बंधुप्रेम रखते हैं और अपनी उन्नति करते हैं । मातृभूमिको अपनी माता माननेसे लोगोंके आचरणमें भी समानता का जलौ है, यह इस मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे बताया गया है । मातृभूमिको अपने व्यवहारका केन्द्र माननेवाले और न माननेवाले लोगोंके व्यवहारमें यह भेद होता है । दोनोंमें यह बात इतने साफ तौरसे बतलाई है । इसका कारण यह है कि वैदिक ऋषियोंको यह अलाना है कि इससे आपे माननेवाले लोगोंमें मातृभूमिकी भक्ति बड़े और वे अपनी उन्नति करें । उसी तरह—

इळा सरस्वती मही तिष्ठो देवीर्मयोभुवः ।

वहिः सीदन्वसिधः । (ऋग्वेद १।१।१९)

“ (मही) मातृभूमि, (सरस्वती) मातृसृष्टि और (इळा) मातृभागा ये तीन सुप्त देनेवाले देवता हैं । वे हर-समय अन्न करणमें रहें । ”

इस मंत्रकी तीन देवताओंमें मातृभूमिको भी स्थान दिया है । तीन देवताओंका सबय इच्छ करके अन्नदानकी पहा आचरणरुता नहीं है । क्योंकि यह इतना स्पष्ट है कि वह एकवचन समझमें आ सकता है । इन सब मंत्रोंका विचार

करनेसे पता चलता होगा कि हमारे धर्मग्रंथोंमें मातृभूमिके महत्त्व और श्रेष्ठत्वका कितना वर्णन किया हुआ है, इसीके बारेमें और बताने देखनेके पहिले यह मंत्र इच्छ्य है—

भूमे मातर्निधेदि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्ववेद १।१।१६३)

“ हे (मातः भूमे) मातृभूमि ! मुझे कल्याणमय अर्थ-स्थानमें स्थापित कर ” अर्थात् मेरा सब प्रकारसे कल्याण कर । इसमें “ भूमे मातः ” आदि पदोंसे मातृभूमिकी योग्यता जली आ सकती है । इसी तरह—

सा नो भूमिः पृथिवीये दधातु ॥ ३ ॥

सा नो भूमिर्नोऽप्यप्यथे वधातु ॥ ४ ॥

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहाम् ॥ ५ ॥

सा नो भूमिर्बोधयद्दर्शमाना ॥ १२ ॥

सा नो भूमिर्मादिशतु यस्तनं चाभयामहे ॥ ४० ॥

सा नो भूमिः प्रणुदतां स्रपता-

नसपत्नं मा पृथिवीं कृणोतु ॥ ४१ ॥

(अथर्ववेद १।१।१)

“ वह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व पय पदार्थ देवे । वह हमारी भूमि हमें गाँव और अन्न देवे । वह हमारी भूमि हमें बहुत दूध देवे । वह हमारी भूमि हमारा सवर्ण करे । वह हमारी भूमि हमारी दृष्टानुसार पन देवे । वह हमारी भूमि हमारे शत्रुओंको दूर करे और मुझे शत्रुरहित बनावे । ”

पहिले सबका ध्यान रखनेसे विदित होता कि इन सब मंत्रोंमें ‘ भूमि ’ शब्द ‘ मातृभूमि ’ के अर्थमें आया है । “ मातृभूमि हमारे लिये यह करे, वह करे ” आदि रचना काव्यमय अलंकार है । इसका अर्थ प्राप्त करने यह है कि “ मातृभूमिकी कृपासे हमारे हाथसे यह कार्य होवे या यह कार्य होकर वह फल मिले । ” क्योंकि मंत्रके काव्यमें इस तरह की आत्मकारिक पाषणा रहती है । उन सब धार्मिकोंका आत्मिक अर्थ मित्र रहता है और अदरक भाव मित्र रहता है । इस विषयमें यह मंत्र मननीय है—

सा नो भूमिर्विजृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

(अथर्ववेद १।१।१)

“ वह हमारी मातृभूमि मुझे अर्थात् अपने पुत्रको अन्न दूध देवे । ” यह मंत्र कितना अलंकार और आत्मकारिक है । माता और पुत्रका सम्यक् रूप पानेसे ही शुरु होता है । माताका दूध पुत्र पीता है, यह सब जानते हैं । पात्रक दूध हम सब पीते हैं, इसलिये माय हमारी माता है । भूमिका अन्नाल रत

आदि रूप हमें मिलता है, इसलिये यह हमारी माता है। यह सर्वसाधारण और सौधा ध्यवहार है। उपरोक्त मंत्र भाग्य के 'मेरी माता मुझे ही रूप देके, मानुभूमिमें उत्पन्न होने-वाले पदार्थ हमें हो मिले, कोई दूसरा उन्हें हमसे छीन न ले,' आदि वर्णन जगत् एव योपशब्द हे उक्त विचारणीय भी है।

अब कोई यह भी कह सकता है कि "भूमि या हमारी भूमि" आदि शब्दोंसे "हमारे राष्ट्रभूमि" यह भावार्थ नहीं निकल सकता और इस बातको बिना सिद्ध किये हम यह भी नहीं कह सकते कि मानुभूमिके बारेमें हमारे धर्म-धर्मोंमें पूर्णरूपसे वर्णन दिया हुआ है। यह सदैव योष्य है, उसके निशानके लिये हम यह मंत्र पाठकोंके सम्मुख रखते हैं—

सा नो भूमिस्त्रिवर्षि यत्नं राष्ट्रं दधात्सुत्तमे।

(उपनिषद् १२।१।८)

"यह हमारी मानुभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें (उत्तम राष्ट्रमें) तेज और बल बढ़ाने।"

इसमें "उत्तम राष्ट्रमें" का अर्थ और "हमारी भूमि" का अर्थ एकही है। "हमारे उत्तम राष्ट्रमें अर्थात् हमारी मानुभूमिमें" तेज और बल की वृद्धि होये। "हमारी मानुभूमिमें" या "हमारे राष्ट्रमें" आदि शब्दोंका अर्थ यही है कि "हम लोगोंमें" या "हमारे देशवासीयों" में। यह उक्त साधारण विचार करनेवाला भी जान सकता है। परन्तु "हम लोगोंमें" या "देशवासीयोंमें" तेज और बल बढ़े" यह कहनेसे यह कहना कि "हमारे राष्ट्रमें या हमारे मानुभूमिमें तेज और बल बढ़े" उच्च भावना प्रदर्शित करता है।

इसी मन्त्रके "उत्तम राष्ट्रमें" (हमारे जगत् राष्ट्रमें) शब्द और भी एक उच्च भाव प्रदर्शित करते हैं। राष्ट्रभक्तियोंके दृष्टिये राष्ट्र किस दशामें होना चाहिये, यह इन शब्दोंसे स्पष्ट है। इन शब्दोंसे सूचित होता है कि राष्ट्रभक्तियोंकी यह धार्मिकता होनी चाहिये कि "हमारा राष्ट्र सत्य राष्ट्रमें उत्तम हो।" "तर, तम 'सुखानन्दक उच्चता यज्ञानेदाले प्रत्यक्ष है। ' उत्तु ' उत्तर और उत्तम " उच्चता को तीन सीढ़ियाँ बतलाते हैं। " उत्तम " से सर्वोत्कृष्ट अथवा मानुम होती है। राष्ट्रभक्तियोंकी प्रबल इच्छा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सत्य राष्ट्रमें अति उत्तम हो। इस इच्छासे प्रेरित हो उन्हें चाहिये कि वे अपने राष्ट्रको अत्युच्च कोटिवा बनानेमें प्रयत्न भर प्रयत्न करें। उक्त मन्त्रका यही भाव है कि राष्ट्रकी स्वतन्त्रता या परतन्त्रता में ही देशवासियोंको सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, अत्युच्च देशवासियोंका सत्य होना चाहिये कि वे त्रिती

तिरिक्त उच्चतम कोटिपर पहुँचे और वे उस लक्ष्य की पूर्ति करनेमें भरतक प्रयत्न करें।

इस मन्त्रका विचार करनेसे मानुम हो सकता है कि इस वैदिक सूक्तमें केवल मानुभूमिमें ही कल्पना नहीं है, बल्कि राष्ट्रमें बारेमें भी स्पष्ट भाव है और अपना राष्ट्र सत्य राष्ट्रोंके आगे रखे, यह उच्च महत्वाकांक्षा इसमें व्यक्त है। इस प्रकार अपना वैदिक धर्म इसकी उच्च राष्ट्रिय भावना जागृत करने वाला है और यह इस आदर्शको स्पष्ट शब्दोंमें जनताके सम्मुख रखता है।

इतना स्पष्ट उपदेश हमारे धर्मग्रन्थोंमें होते हुए भी हमारे राष्ट्रमें राष्ट्रीय भावना यथोचित रीतिसे जागृत नहीं है। पर इसका कारण हमारे धर्मका अयोग्य होना नहीं है, अतिसु धर्मको और ध्यान न देना और दूसरी अयोग्य बातोंकी ओर ध्यान देना ही है। जिस वेदमें ये उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाले बचन हैं, उसके प्रति लोगोंमें जो श्रद्धा या विश्वास है, वह केवल विश्वासी ही है। लोग धार्मिक धर्मोंपर ही अधिक विश्वास करते हैं। इसलिये सच्चा तोना दूर रह गया और मिथ्या हाथ लगी है।

अपनी मानुभूमि और अपने राष्ट्रके बारेमें इस तथ्यके स्पष्ट विधान अथर्ववेदीय मानुभूमिके गीतोंमें है। उन गीतोंको देखनेसे सिद्ध होगा कि हमारा धर्म मूलमें ही राष्ट्रीय भावना जागृत रखनेवाला और उसकी वृद्धि करनेवाला है। यह मूलना नहीं चाहिये कि राष्ट्रके सवधमें जो बतन्त्य है, यह अपने धर्मका एक मुख्य भाग है।

अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति

हम लोगोंमें धार्मिक धर्मोंकी और चितला दुर्मध्य हो रहा है, यह अनेक उदाहरणोंसे स्पष्ट हो सकता। अध्यात्म ज्ञानका और मानुभूमिकी भक्तिका एक दूसरेसे संबन्ध है, ऐसा यदि स्वर सत्य तो जले कोई सत्य नहीं समझेंगे। अध्यात्मिकता करनेवाले बेवानी सब ससारको छोड़कर किसी मुकाम पर जाकर वेदोंका प्रयत्न करते हैं और जिनकी सब लोग राष्ट्रभक्त कहते हैं वे लोग साक कहते हैं कि धर्मका राजकारणसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस विरोधके देखते यदि कोई बड़े कि ' अध्यात्मिकता और राष्ट्रीय भक्तिका निकट सम्बन्ध है, ' तो उसे कौन सच कह सकता है ? हम इस बातकी विद्विक्के लिये इतिहासमें एक दो उदाहरण देते हैं।

धर्मन्युष्ट भूमिमें उत्तरा या और समुको भीतने की महत्वाकांक्षा रखकर उत्तम युद्ध की तैयारी की। पर एतने

प्रारम्भ होनेके समय ही यह मोहमें पड़ गया और जगलमें जाकर सपथदर्श करनेके लिये तैयार हो गया। यह सोचने लगा कि मुझ कारणे स्वराज्य लीनेसे तपश्चर्या करके उष्व अवस्था प्राप्त कर लेना कहीं अधिक उच्च है। तब भगवान् श्रीकृष्णने जर्जनोंके वैदिक सम्प्रादायविद्याका उपदेश दिया। यह भगवद्गीताका उपदेश सुनकर जर्जनोंका मोह दूर हो गया, उसे उसकी शक्तिका ज्ञान प्राप्त हो गया और वह शत्रुगो मारनेके लिए तैयार हो गया। इसके बाद उसने यज्ञ किया और निष्कण्टक स्वराज्य पूर्णतासे प्राप्त कर लिया।

दूसरा उदाहरण श्रीरामचन्द्रजीका है। रामचन्द्रजीको विद्याभ्यास पूर्ण होनेपर यह भ्रम हुआ कि " सब बातें देवापीन हैं और पुण्यार्थसे कुछ नहीं हो सकता। " इस भ्रमके कारण उन्होंने पुण्यार्थके काम करने छोड़ दिये। तब सतिष्ठत् ऋषिने उन्हें वेदान्तशास्त्रका-अध्यात्मशास्त्रका-उपदेश दिया। इस उपदेशके बाद उनका भ्रम दूर हो गया और वे प्रयत्न पुण्यार्थों बन गये। इसके बाद उन्होंने लवनादीपके राजसोंका नाश किया, संपूर्ण भरतखण्डके ३३ कीटी देवोंको प्रविवरतसे मुक्त कर पूर्ण स्वतंत्र कर दिया और इस प्रकार आर्य धर्मियोंका दम् उज्वल किया।

इन दोनों उदाहरणोंमें यह बतलाया है कि अध्यात्मतावके बाद प्रयत्न पुण्यार्थ करने स्वराज्यके शत्रुओंका पूर्णतासे नाश करके राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिये।

श्रीलक्ष्मणो महाराजको भी एक बड़े समय उबारनेताने का घेरा था और वह रामवत्सल्यगो गौर तत् तुकारामके उपदेशसे दूर हुई। ये जाते महाराजके इतिहासमें हैं। इन सब बातोंका विचार करनेपर हमें यह कहना पड़ता है कि अध्यात्मज्ञान या वेदान्तज्ञान राष्ट्रीय इच्छाके विरोधी नहीं हैं। इसके अलावा जित्त मातृभूमिमें वैदिक धर्मके बारेमें हम विचार कर रहे हैं, उसके आगे और सोचके सूत्रोंमें श्री अध्यात्म विषयका प्रतिपादन है—

यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रीय अर्थवेदके १२ वे काण्डका प्रथम सूक्त है। इसके पूर्व जो सूक्त हैं, वे सूक्त और उनके विषय हमने आगे दिये हुए हैं—

दशम काण्ड—

- सूक्त दूसरा केनसूक्त १ केन उपनिषद्का विषय) ब्रह्मविद्या।
- सूक्त ३ से ६ तक शत्रुका नाश करना।
- सूक्त ७ और ८ अर्थात् ब्रह्मसूक्त (ब्रह्मज्ञान)।

- सूक्त ९ शत्रुपर शस्त्रप्रहार करना।
- सूक्त १० गी मातृका रक्षण। गीको दूध देनेवाले शत्रुका नाश करना।

एकादश काण्ड—

- सूक्त १ ब्रह्मोजन सूक्त (अन्नसूक्त)।
- सूक्त २ रत्नसूक्त (पशुपतिसूक्त)।
- सूक्त ३ ओदनसूक्त (भात, अन्न)।
- सूक्त ४ प्राणसूक्त (प्राणशक्तिका वर्णन)।
- सूक्त ५ ब्रह्मधर्म (ब्रह्मधर्म पालन करना)।
- सूक्त ६ कासकवचणन।
- सूक्त ७ उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त (संपूर्ण अन्न धारण करनेवाले ब्रह्मका सूक्त)।
- सूक्त ८ ब्रह्मसूक्त (शरीरमें प्रविष्ट होनेवाले ब्रह्मका सूक्त)।
- सूक्त ९ और १० यज्ञकी तैयारीका सूक्त।

द्वादश काण्ड— सूक्त १ मातृभूमिका वैदिक गीत।

इन सूक्तोंके प्रथम यज्ञ, शत्रुनाश आदि विषयोंके पहले ब्रह्मज्ञानके सूक्त आये हुए हैं। ब्रह्मज्ञानके बाद शत्रुका नाश करनेका विषय आया है। अथर्ववेदके दशमकाण्डमें ऐसा बड़े बड़े निर्देश है। अगरहमें काण्डमें अन्न, प्राण, ब्रह्मधर्म, अन्न आदिके बाद ब्रह्मज्ञान है, उसके बाद यज्ञकी तैयारी का वर्णन है और उसके बाद मातृभूमिका वैदिक गीत है। सूक्तोंका यह क्रम देखनेसे स्पष्टरूपसे मालूम होता है कि पूर्वकाण्डमें " ब्रह्मज्ञानके बाद ही रक्षाधर्मके लिये यज्ञ होता होगा। " आचर्यकों यह कथन कदाचित् आश्चर्यकारक मालूम होगा। इसलिये ऊपर दिये हुए सूक्तोंका अर्थ समझनेके लिये और यह जाननेके लिये कि हमारा कथन ठीक है या नहीं, प्रत्येक सूक्तमेंसे नमूनेके लिये एक एक मंत्र यहाँ देते हैं।

अटचक्रा नपद्मारा देवानां पूर्योध्या ।
 सस्यां हिरण्यमयः कोशः स्वर्गां ज्योतिषामृतः ॥३१॥
 तस्मिन्निहरण्यये कोशे श्यरे थिप्रतिष्ठिते ।
 तस्मिन्मघधूमतामग्यस्रद्धै प्रह्लाविदेः रिधुः ॥३२॥
 (अथर्ववेद काण्ड १० सू २)

" अष्ट चक्र और भी इतने सूक्त देवोंकी अयोध्या नगरी है। उस नगरीमें तैजसूक्त स्वर्गकोश है। उस कोशमें जो पूर्यो धर्म है, उसे ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं। " इस दृश्यस्थानीय ब्रह्मधर्म वर्णनके बाद अगले सूक्तमें शत्रुको विघ्नमित्त करनेके मंत्र हैं—

तेनारभस्व त्वं शत्रून् प्रसृणाहि दुरस्यतः ।

(अथर्व० १०।३।१)

भरतीयोभ्रातृव्यस्य दुर्हादौ द्विभतः शिरः ।

अपि वृश्चाभ्योजसा ॥ (अथर्व० १०।६।१)

“ बुध्द शत्रुओंका वात करना शुरू करो । बुध्द शत्रुका सिर में तोड़ता है । ” इस सूक्तके बाद ७ और ८ में सूक्तोंमें फिर वेचालका वर्णन है—

यस्य सूर्यश्चन्द्रमाश्च पुनर्धवः ।

भस्मि यश्चभः श्वांस्यं

तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

(अथर्व० १०।७)

पुडरीक मध्वदार त्रिभिर्गुणैर्मिरावृतम्

तस्मिन् यद्यक्षमात्मम्यत्तद्भि ब्रह्मचिदो विदुः ॥३३॥

(अथर्व १०।८)

“ ब्रह्मा और सूर्य जिसकी शक्ति हैं, शक्ति जिसका मूल है, उस षडेष्ट ऋषिको नमन करता है । नौ षडके कमलमें जो देव है, उसे ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं । ” इस ब्रह्म-वर्णनके बाद अभीके आगेके सूक्तका पहला मंत्र इस प्रकार है—

भद्रापतामपि नद्या मुखानि

सपत्नेषु ध्वजसर्वयतम् ॥ (अथर्व० ११।१।१)

“ पापी लोगोंका मूढ़ बंध करो और यही वाच अनुपम केंको । ” इसी तरह तीसरे प्रकारके सूक्तोंका मंत्र है । उन सूक्तोंका विषय यहाँ नहीं बतलाते । केवल ११ में काँधमेंके आठवें सूक्तका एक मंत्र यहाँ देते हैं और बाकीके शाल और महाशयके सूक्तोंमेंका वर्णन विस्तार भवते छोड़ देते हैं ।

तसाद्धिं विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मोति मन्यते ।

सर्वा ह्यस्मिन्देवता गायो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥

(अथर्व० ११।८)

“ इसलिये इस (पुरुष) पुरुषको बड़ा कहते हैं । क्योंकि जिस तरह गायें अपने आदेशमें रहती हैं, उसी तरह सब देवता इसीके आधीमें रहते हैं । ” इस ब्रह्मज्ञानके सूक्तके आगेका मंत्र इस तरह है—

तेषां सर्वेषामीडानां उत्तिष्ठत

संनक्षत्रं मिथा देवजना द्युयम् ।

इमं संप्रामं संजित्य यथा लोकं वित्तिष्टिष्यम् ॥२६॥

(अथर्व० ११।११)

“ मित्रो ! तैवारी करो, उठो । इस युद्धमें शीतनेके बाद अपने अपने देशको जाओ । ” उसी तरह—

सहस्राकुण्पा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम् ।

विचिन्ता ककजाकृता ॥ २५ ॥ (अथर्व० ११।१०)

“ शत्रुकी सेनामेंसे हलारों में बुद्धमूर्तिमें पड़े । ” इस तरहका वर्णन अष्टात्मज्ञानके बाद कई बार आया है ।

इसे अचानक काबतालीय-न्यायने आया हुआ नहीं कह सकते, क्योंकि यह तीन जगह इसी तरह आया है । राम और अर्जुनके उपदेशके समय भी यही हुआ है । इसलिये “ अष्टात्मज्ञानके बाद स्वातन्त्र्यके लिये युद्ध ” होना स्वाभाविक है । इन सब सूक्तोंके बाद वैदिक राष्ट्रीयता आया हुआ है । इससे यह समझ सकते हैं कि जिस सूक्तके बारेमें यह कहा लिखा गया है, वह सूक्त वास्तवमें राष्ट्रीय महत्त्वका है क्योंकि वह युद्धके समय आया हुआ है ।

इस सूक्तके बारेमें विचार करनेके पहिले हमें यही योजना चाहिये कि अष्टात्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान आदि विषयोंका मुद्दादि राष्ट्रीय बलोंमें क्या सम्बन्ध है ।

[१] अष्टात्मज्ञान

बुद्धि, मन, अहंकार, प्राण, इन्द्रिय और शरीरके सब अंगोंको शास्त्रका आधार है । ये सब बड़ी शक्तियां हैं, इन शक्तियोंका ज्ञान होना अष्टात्मज्ञान कहलाता है ।

ये सब शक्तियां हममें हैं । हम बिल्कुल शून्य नहीं हैं । हमारे आधीन ये बड़ी बड़ी शक्तियां हैं । उनको चलानेवाले हम हैं । यह अरुनी शक्ति अष्टात्मज्ञानसे प्राप्त होती है । अष्टात्मज्ञान प्राप्त करनेके पूर्व जो मनुष्य अपनेको शून्य और निर्बल समझता है, वह यदि अष्टात्मज्ञान प्राप्त करने पर स्वतः ही सुदृढ़ और समर्थ समझने लगे तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है । इसलिये रामचन्द्रजी को अपनेको ईश्वरीय और परतंत्र समझते थे, वे ही अष्टात्मज्ञान प्राप्त होने पर देवको भी अपने आधीन समझने लगे और अपने पुरुषाचसे विचरीत देवको भी अपने मनके अनुसार बनानेमें समर्थ समझने लगे । यह शक्ति अष्टात्मज्ञानसे प्राप्त ही सकती है ।

[२] ब्रह्मज्ञान

दिव्यव्यापी शक्तिवानन्द शक्तिका अस्तित्व स्थिर और चर सबमें एकता है । इस ज्ञानके सब संसारकी तरह देवतोंको बुद्धि बरस जाती है ।

प्रायः मनुष्यको चाहिये कि वह ऐसी जाकांशा धारण करे कि " मेरे राष्ट्रमें मुझे विलुप्त कार्यक्षेत्र प्राप्त हो। " यदि अनकूल परिस्थिति न हो तो उसे प्राप्त करनेमें यह कठिन परिश्रम करे। मनुष्यको अपने धरमें व्यवहार करनेमें जैसी पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, उसीप्रकार स्वदेशमें भी स्वतन्त्र न हो। लोगोंको अपने अपने देशमें पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। दूसरे हस्तक्षेप कदापि न करें और देशवासियोंको उत्पत्तिमें विघ्न नपाए न डाले। अपने अपने धरमें हर एक पालिक हो। अपने देशमें हमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिलनाही चाहिये। दूसरोंकी तो हमारे देशमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिले, पर हमारा कार्यक्षेत्र प्रतिदिन घटता जाय, ऐसी परिस्थिति कभी नहीं आने देनी चाहिये। यह ही हमारा प्रथम आवश्यक कर्तव्य है।

राष्ट्रकी उत्पत्तिके लिए राष्ट्रनशतोमें एकता अत्यावश्यक है। बिना ऐश्वर्यके सामुदायिक कार्यका सिद्ध होना असंभव है। सब लोग इस जाकांशी मानते तो हैं किन्तु यह नहीं जानते कि यह राष्ट्रीय एकता अपने देशमें किसप्रकार साध्य होगी ? लोगोंका कथन है कि हमारे देशमें भिन्न भिन्न धर्मके लोग हैं, अनेक भाषाएँ और विविध जातियाँ हैं। रीति-रिवाजोंमें भी अनेक भेद हैं। ऐसी दशामें एकता ही की कैसे संभव है ? यह कहकर लोग निराशा होकर चुप बंद जाते हैं। ऐश्वर्यके लिये ज्यों ज्यों प्रयत्न करते हैं, उधोत्यों फूट ही बढती जाती है। एकताके लिये प्रयत्न या उपाय किया जाता है, वह उप-कार्यिक फूटका ही फल देता है। इसी कारण राष्ट्रनशत घमघम गये हैं। ऐसे समय निरन्तरिखित धार्मिक राष्ट्रगीतका मन्त्र बहुत ही विचारगोचर एक बोधप्रद होगा।

जनें विभ्रति बहुधा विचाचसं

नानाधर्माणं पृथिवी यथैकसम्।

सदृशं चारा इधिणस्य मे दुहां

ध्रुवेष धेनुरनप्रक्षुरन्ती ॥ (अथर्वं १३।१।४५)

" (वि-वाचस) अनेक भाषा पोलनेवाली और (नानाधर्माणं) नाना धर्मोंके युक्त जो जगत् ही उसे (यथा ओकरसं) एकही धरके समान धारण करनेवाली मातृभूमि धरकी हजारी धारणों उसीप्रकार भूले दे; निःप्रशार उल्लसक न करनेवाली यथा दूध देती है, । "

राष्ट्रकी प्रगति उसी ही समती है जब कि विविध भाषा बोलनेवाले, विविध धर्मोंकी माननेवाले एक विविध रीति रसमोंपर चलनेवाले लोग एक ही कुटुंबके एकही धरमें रहनेवाले भाइयोंके समान एकही देशमें रहें। (वि-वाचसं

जनें) अनेक भाषा-भाषी लोगोंके रहते हुए भी और (नानाधर्माणं जनें) विविध धर्मके अनुयायी होते हुए भी उन सबकी एक माता-सबकी आदि माता यही मातृभूमि है, इससे सबको चाहिये कि आपसी भेदभाव भूलकर ही उसके सम्मिल खड़े हों। मातृभूमिकी उपासना करनेमें भाषाका भेद, प्रांतका भेद, धर्मका भेद या जातिकी भेद आदि नहीं आना चाहिये। सब लोगोंको चाहिये कि वे सब मिलकर यही समझें कि वे सब (यथा ओकरसं) एक ही धरमें रहनेवाले एक ही कुटुंबके लोग हैं।

एक ही धरके लोगोंमें कुछ बड़े, कुछ छोटे, कुछ मध्यम, कुछ मोरे, कुछ साबके, कुछ न मोरे न साबके, कुछ बूड़े, कुछ युवा, कुछ पुरुष और कुछ स्त्रियाँ रहती हैं। एक ही धरके लोगोंमें इतने भेद रहते हैं !!! इनमेंसे प्रत्येक पवि बड़े कि " मे अय सबसे भिन्न हूँ " तथा अपनी निग्रताके कारण उसने कुटुंबके हितको और वृष्टि न दी, तो उस धरका, उस कुटुंबका नाम होनेमें ढेर ही क्या ? इसके विरुद्ध यदि उस धरके निवासी उस कुटुंबके घटक क्षुद्र भेदोंकी भूल जायें और अपने धर्ममें यही मुख्य विचार रखें कि सारे कुटुंबका हित हो, तो वही धर नदनधरके समान जानकर भरा हुआ बीजोग। जहाँ कहीं मनुष्य है वहाँ भेद अत्यन्त ही होते हैं। किन्तु मनुष्यका धर्म यही है कि क्षुद्र भेदोंकी गीण समझकर सब मिलकर अपने धरका, अपने देशका, अपने राष्ट्रका हित करें। राष्ट्रयोलतमें यही बात बतलाई गई है। राष्ट्रके घटक जिस समय आपसी क्षुद्र भेदोंकी प्रधानता देकर आपसमें लड़ते जागड़ते हैं, उस समय राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। परन्तु जब भेदभावोंकी मिटाकर वे सब मिलकर देशहितका कार्य करनेमें लग जाते हैं, तब उनकी शक्ति बढ़ती है और उनकी उत्पत्ति होती है।

किसी भी देशमें या राष्ट्रमें भाषा, जाति, धर्म, धर्म आदि अनेक कारणोंसे अनेक भेद ही होते हैं। आग सत्कारमें एक भी राष्ट्र ऐसा नहीं, जिसमें उपमूर्त भेदोंका नाम-निर्माण न हो। परन्तु विचारशील राष्ट्रके लोग इन भेद-भावोंकी ओर ध्यान नहीं देते। वे यही समझते हैं कि राष्ट्र-हित ही उनका सध है। धर्म, अपने सक्षयप वृष्टि रखकर वे एकतासे उसीकी प्राप्तिमें लग जाते हैं। आपसमें लड़ाई शब्द धरनेवाली शक्तियाँ भी जब देखती हैं कि सारे राष्ट्र-पर आपत्ति आई है, तो वे आपसी जागड़े छोड़ देती हैं, आपसमें मिल जाती हैं और राष्ट्रिय आपत्ति का सामना करती हैं। परिणाम यही होता है कि उस आपत्तिसे वे बच जाती

हैं। परन्तु इसके विपरीत जो लोग अपने भेदभावोंकी ओर ही मुष्टि रखते हैं, जो राष्ट्रिय हितकी ओर नहीं देखते, विल्हे राष्ट्रकी जेबसा अपने भेद ही अधिक महत्वके मात्सूम होते हैं, वे शूद्र भेदभावोंमें ही फँसे रहते हैं और अपनी उन्नति कभी भी नहीं कर पाते। भेदोंकि रहते भी जो अभेदका अनुभव करते हैं, वे ही कुछ राष्ट्रहित साधन कर सकते हैं।

केवल हमारे भारतमें ही सद् मनुष्य भेदभावोंके शिकार हैं, यह बात नहीं, अन्धान्य देशोंका भी यही हाल है। तब क्या इस देशके निवासियोंको उचित है कि वे ही अपने भेदोंकी रास बजाते रहे और इसने अपने लक्ष्मको भयद दें? क्या भारतवासी इस महत्वकी बातका विचार न करेंगे? जो लोग सर्वद यही चिन्तिते रहते हैं कि " प्रथम आपसी भेद भावोंकी मिटा दो " उन्हे स्मरण रखना चाहिये, कि ऐतत् समान जिसमें भेदभावोंका बिलकुल अभाव हो, न कभी इस पृथ्वीतल पर था, न अब विश्वमाल है और न भविष्यत्तमें भी इसके होनेकी सम्भावना है। कितनी भी देशमें कितनी भी रासय जो बात कभी न हुई, यह इत वेशमें इस समय कैसे हो सकती है? सब देशोंमें एक बात साम्य हुई है और वह है आपसी भेदोंकी मर्यादाका उल्लंघन न करने देना। वस, यही बात हमारे देशमें भी साम्य हो सकती है। अतएव उचित नहीं है कि लोग असाध्यकी साधनोंके प्रयत्नमें न लगे, अपितु साम्य बातोंकी ही कर और अपनी उन्नति करें।

भारतवर्षमें तीन धर्म बिद्यमान हैं, (आर्य) हिन्दु, मुसलमानों और ईसाई। इन तीन मित्र धर्मोंके रहते हुए भी सबको मिलकर मातृभूमिजी उपासनाके लिए तैयार होना चाहिये। यह तो सर्वथा असम्भव है कि लोगों धर्म सबके लिये नष्ट हो जाय। इन मित्र धर्मोंके रहते भी सबको चाहिए कि अपना " अमित्र राष्ट्रधर्म " देखें। जातिभेद, भाषाभेद, धर्मभेद आदि अनेकानेक भेद अवश्य ही रहेंगे। इन भेदोंका सबके लिए नष्ट होनाना यदि सम्भव भी माना जाय, तो भी उत्तम इतना अधिक समझ लगेगा कि इसका कोई सम्भावना भी नहीं सदावा जा सकता। अतएव हरएक मनुष्यको, हरएक व्यक्तिको यही सीखाना चाहिए कि अनेक भेदोंके रहते भी उन्हें मूलकर एक धरके, एक कुटुम्बके भाइयोंके समान एकजाने रहे। इस धर्मका यही उपदेश है और हरएक राष्ट्रभक्त जागर ध्यान है। सब आयेका मंत्र देखिए—

असंवाधं यथ्यतो मानवानां
यस्यां उहता प्रवतः समे षड्।

नानावीर्या औपधीर्या विमर्ति।

पृथिवी न प्रथतां राष्यतां तः ॥ (सयर्ब० १२।१।२)

" जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें उच्चता, नीचता और समताके सयर्बमें (यहु अ-सवाध) बहुत ही निर्वरता है अर्थात् समझे नहीं हैं और जो माना सुनते मुक्त औपधी उत्पन्न करती है, यह हमारी मातृभूमि हमारे (प्रयत्नां) नीति या स्थापि ब्यादे। "

विषमता होते हुए भी राष्ट्रिय हित कैसे करना चाहिये यह ब्रह्म यह मन्त्र ब्याताता है। मनुष्यका भेदभाव पूर्णतया मिटानेकी चेष्टा भले ही की जाय, पर शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आत्माके न्यूनताविक विकासके कारण तथा उनकी व्यवहार कुशलताकी न्यूनताविकतासे उनमें ऊच, मध्यम आदि भेदोंका रहना स्वाभाविक है। अतएव सम्भव नहीं कि सब मनुष्य समान भोग्यताके ब बिलकुल एकसे बनें। ऐसी असमानता रहनेपर भी प्रयत्न यह होना चाहिए कि उनका ध्यान अभेदकी ओर ही हो।

मन्त्रमें ' अ-सं-वाध ' शब्द है। यह अतीव महत्वका है। लोग भेदोंकी पक्षि प्रधानता की जाय तो एक समाजमें मनुष्योंका बुराई समानसे विरोध होने लगेगा। एक समाज दूसरेकी बिटाकर स्वय ही लोपित रहनेका प्रयास करने लगेगा। ऐसा होनेसे जातिधर्मों ' संवाध ' उत्पन्न होता है। परस्पर विरोध करने की का नाम ' सवाध ' है। समाजका अर्थ है आपसी मुष्ट। जब मुष्ट होने लगते हैं, तब राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। जब तक समाज बुराई समानकी भाषा पटुबाता है, एक जाति जब दूसरी जातिके शब्द पटुबाने लगती है, तब राष्ट्र क्षीण होता है। इसीलिये राष्ट्रहितकी दृष्टिसे जाति-जातिमें, समाज-समाजमें एकताका होना परम आवश्यक है। यही बात अतलजनेके हेतु मन्त्रमें कहा है—

' यस्याः मानवानां यथ्यतः बहु असंवाधायम् । '

' जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें बहुत निर्वर भाव है। ' यही मातृभूमि अपने सुपुत्रोंकी उत्तम धन दे सकती है। परन्तु जिस भूमिके नीच वापसमें बंद भाव रखते हैं, बहानीक वनता धाधा पेट रहती है। कोई ऊचा हो, कोई सानो हो, कोई अज्ञानी हो पर शरीरतो वह सुष्टुष्ट हो। सबको समझिए कि वे जो कुछ करें मातृभूमिके लिये करें। अपने दुष्काविययके घणघडते उन्हें गुणहीनोंकी वा गुण गुणवालोंकी न दबाना चाहिये। कुछ लोग शून्ये ही और कुछ बाबाज हों, तो दोनों मिलकर, आपसमें न छरकर दोनोंकी मरनी क्षतिपूर्तीका नेत्र करतः

चाहिये और एवम् मातृभूमि की बेतोर बड़ा देना चाहिए। तभी राष्ट्रकी उन्नति होगी। मनुष्यमें जो (उद्भूतः) उच्छता, (समं) समता और (प्रवृत्तः) नीबलता रहती है, वह एक दूसरेका प्रसन्न करनेके लिए नहीं रहती। एक मनुष्य यदि किसी एक बातमें ऊंचा है, तो वह दूसरी बातोंमें नीचा होगा। एक विद्वान् यदि ज्ञानमें ऊंचा होगा, तो शक्तिमें उतका दर्जा कम भी हो सकता है। यदि कोई शक्तिशाली पहलवान् हो, तो ज्ञानमें उतका हलका होना संभव है। किन्तु मातृभूमिको दोनों प्रकारके मनुष्योंकी आवश्यकता है। शान्ति मनुष्य ज्ञानके धर्मग्रन्थों और बलवान् शक्तिके धर्मग्रन्थों एक दूसरेके लिए भ्रमण, शक्ति दोनोंकी चाहिए कि वे मिलकर देशके सन्तुष्टियोंको दूर करें और अपनी उन्नति करें।

मानवोंका कार्यक्षेत्र यहाँ है कि सर्वक भेदरहित रहते भी अग्रदोषावली अपना मार्ग निकाले। जो मनुष्य करनेमें समर्थ है उसीको मानव कहते हैं। मनुष्य करनेवाला सगड़े उत्पन्न नहीं करता, यह सोच विचार कर सगड़े कम करता है और उन्नतिके मार्गमें जाने जाता है। जो अपनी परिस्थितिका विचार नहीं करते, अपनी उन्नतिके लिए प्रयत्न नहीं करते, किन्तु आपसके सगड़े ही बढ़ाते हैं, वे जो परवासे होनेपर भी मानव या मनुष्य नहीं बने जा सकते।

इस संज्ञका उपदेश हम लोगोंकी वर्तमान दशामें अच्छी तरह उपयोगी हो सकता है। उपर्युक्त मंत्रोंके पढ़नेसे ज्ञात होगा कि इस बर्षिक राष्ट्रनीतिके द्वारा देशवासियोंमें एकता बढ़ानेके लिए जो कुछ कहा जा सकता है, कह दिया गया है। यदि हम उससे लाभ न उठावें तो उतमें धर्मप्रवृत्तिका क्या बोध ? बोध है अनुयायियोंका। ऐश्वर्यका उपदेश पुन लेनेपर प्रार्थनाको जान लेना चाहिए कि अपने देशके प्रति हमारा पुत्रवृत्तिका नाता किस प्रकार है। इस संबंधको जानकर उसे सर्वेभ्यः कर्णमै मन्त्रं जागृत भी रक्षया होगा। वह मातृभूमि सयका योग्य करती है—

त्वद्गतास्तवपि श्रान्ति मर्त्या-
 रणं विभारिं द्विपदस्तं चतुष्पदम् ।
 तेषामे वृषिषि पंच मानवा
 येभ्यो श्योतिरमृतं मर्येभ्य उधन् सूर्यो-
 रक्षिभिः रातनोति ॥ १५ ॥

“ हे मातृभूमि ! तेरेसे उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य हुए पर ही घूम रहे हैं। तू ही द्विपद और चतुष्पदका पोषण करती है। हम पाँचों प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं। हम

मानवोंको प्रतिदिन जगनेवाला सूर्यअपनी किरणोंसे तेज और अमृत देता है। ”

इस मन्त्रमें सर्वप्रथम यही बतलाया गया है कि ‘ हम सब मनुष्य मनुष्यतासे (स्वप्न-आगतः) ही उत्पन्न हुए हैं और उस पर ही घूमते फिरते हैं। ’ यह भाव स्पष्ट एवं अर्थरहित है। प्रत्येक राष्ट्रभक्त अपने मरने यहाँ भाव रखता है। तभी वह राष्ट्रकी उन्नतिके योग्य कार्य करनेमें समर्थ होता है। मातृभूमि हमारी आधिकारिक वा कल्पनिक माता नहीं, अतितु वास्तविक माता है। यह विचार जितना तीव्र होना, उतनी ही दृढ़ भावनासे वह मनुष्य मातृभूमिकी सेवा कर सकेगा।

हमारे देशमें जो भारतीय सगड़े होते हैं उनका कारण यह है कि इस देशके निवासी नहीं समझते कि मनुष्य हम सब मातृभूमिके पुत्र हैं। लोग अपने अपने पंचके हितकी दृष्टि रखते हैं। सबका जो एक राष्ट्रधर्म है उसका पालन कोई नहीं करता। इससे सबको एक राष्ट्रधर्मका बंधन नहीं रहता। प्रत्येकको अपना पंच ही अधिक प्रिय होता है। शान्ति-राष्ट्रीय धर्मके पालनकी कोई चिन्ता ही नहीं करता। ऐसे घातक विचार किसी भी देशके निवातियोंमें किसी भी जातिके लोग न रहें, इसी मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि ‘ हम सब मातृभूमिके बातक हैं। ’ आसानी फूटकी यह एक अक्षरीर दया है। मनुष्य किसी भी धर्मके या पंचके रहें, या उनमें जाति और धर्मके कारण कंती भी भिन्नता क्यों न हो; यदि वे एक राष्ट्रधर्मसे बंध लायेंगे, तो परस्पर वैरभाव उत्पन्न ही न होगा।

हमारी मातृभूमि हम द्विपदोंका और अथ चतुष्पदोंका उत्तम प्रकारसे पोषण करती है। इस स्वार्थी वृत्तिके भी यदि देशें तब भी हरएक मनुष्यके लिए उत्तम घात यही होगी कि यह हृदयमें मातृभूमिकी भक्ति रखे और उसकी रक्षाके लिए सर्वे संघार रहे। हम अपने मकानकी रक्षा करते हैं, अपनी पत्नीकी रक्षा करते हैं, यह तब हम इसीलिये करते हैं कि उससे हमारा हित होता है। हमारा हित मातृभूमिके भी होता है। धर्मोंके यही मातृभूमि मनुष्योंके और पशुपक्षियोंको अन्न, उदक आदि देती है और उनकी रक्षा करती है। यदि हम मातृभूमिकी रक्षा न करेंगे, तो यह किनो दूसरेके आधीन हो जायेगी और तब हमारी आशुत होगी, हमारे मूलों मरनेकी नोमत आ जायेगी।

इस समय भारतीयोंका यही हाल है। उन्होंने योग्य समयमें मातृभूमिकी रक्षा नहीं की, अतएव अथ मनुष्य सगड़े पद रहे हैं।

इस भाषितके समय भी हम आपसी झगड़ोंको नहीं भूलते, वीर एकतासे मातृभूमिकी सेवा करनेकी तैयारी नहीं होती । परत कालमें हम लोगोंने जो गलतियाँ कीं सो तो ही चुकीं । उनके बारेमें जब कोई चिन्ता ही क्यों न करे, वे सब नहीं सकतीं । परंतु उन गलतियोंका फल भोगते समय भी उनसे उचित शिक्षा न लेकर पुनः पुनः वेही भूलें करना और प्रति-दिन आपसी भेदभावोंको घडाना धक्कर भावी आपत्तिसब निम्ह है ।

सर्वप्रथम हम अपने राष्ट्रके हैं, तत्पश्चात् अपने पंचके हैं । यही धारणा हरएक मनुष्यमें होनी चाहिए । हमारी वर्तमान गिरी बसामें सचबैबके ये अन्तोल उपदेश रल-ही हमारा उद्धान कर सकते हैं । इतना ही नहीं वे हमारा सभ चारों विद्याओंमें कृता सकते हैं ।

यहां तकके लेखमें बतलाया गया कि मातृभूमिके वैदिक गीतकी स्थापना कालें क्या है, तथा यह भी बिलगाया गया कि जनतामें विभ्रता रहते हुए भी एकताका स्थापन कैसे किया जा सकता है और मातृभूमिकी सेवाके लिये सब मिलकर किस प्रकार तैयारी करें । पिछले पृष्ठोंमें यह स्पष्ट होया था होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतमें राष्ट्रकी उन्नतिके उच्च तत्त्वोंका जसा समावेश है, वैसे तत्त्व अन्य किसी देशके राष्ट्र-गीतमें नहीं है । तथापि आवश्यक यह है कि इस राष्ट्रगीत-पर और भी कई दृष्टियोंमें विचार किया जाय ।

जनतामें मातृभूमिके लिये प्रेम उत्पन्न होना चाहिए । यह प्रेम सभी हो सकता है जब कि देशके नगरों, पहलों एवं अल्पान्य स्थानोंके प्रति आवर हो । आवर किसी विशेष महत्त्वके कारणसे ही हो सकता है । यदि हम कहें कि इसका आवर करो, तो हमारे कहनेसे कोई आवर न करेगा । किसी महत्त्वकी पुण्ययमी धरनासे संबंध हो, या उसका किसी महामासे संबंध हो, या अन्य किसी विशेष धरनासे उसका संबंध हो । अतएव हमें यह देखना है कि वैदिक राष्ट्रगीत इसकी सूचना किस प्रकार देता है—

देवींद्वारा वसाए हुए स्थान

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेप्रे यस्या विजुषेते ।

द्रजापतिः पृथिवीं विभ्रगर्भम्—

मरुतामाशां रण्यां नः कृष्योतु ॥ (अथर्व. १२।१।४४)

“ हमारी जित मातृभूमिके नगर देवों द्वारा बनाए गए हैं और जिसके क्षेत्रोंमें सब मनुष्य विविध काम करते हैं, उन सब पदार्थोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाली मातृभूमिकी परमेश्वर सब विद्याओंमें हमारे लिये रणगीय बनावे । ”

(यस्याः देवकृतः पुरा) “ जितके नगर देवों द्वारा बनाये गए हैं ” वाले भाषते जनताको विश्वास होता चाहिये कि हमारी मातृभूमिके नगर देवोंने बनाए हैं, हमारे नगरोंमें देवोंका संबंध है, देवोंका देवत्व हमारे नगरोंमें है । इसप्रकारका प्रतिबिंबित विश्वास यदि जनताके मनमें स्थापन बना ले, तो निश्चय ही है कि अपने देशके बारेमें भी मनमें प्रेम जामुत होगा ।

इतिहासमें ऐसा उल्लेख है कि हमारी भारतभूमिके विविध नगरोंका संबंध देवोंसे हुआ है । भगवान् श्री रामचंद्रजीका संबंध अयोध्या और रामेश्वरसे है । श्री कृष्णजीका संबंध गोकुल, मृदावन तथा द्वारकासे है । इसका संबंध इदप्रत्यसे है । हमारे देशके आवालयक जगते है कि इसप्रकार अनेक नगरोंमें देवोंका संबंध है । नदिपार, ताताय, तरावर, पर्वत शृंग, गुफाएं आदि स्थानोंमें देव देवताओंका या पुण्य दुर्गोंका संबंध रहा है । इसका वनंत प्रबंधों में भी पाया जाता है और श्व स्त्रीपुरुषोंको भी कथा—पुराण आदिके अध्ययनसे मातृभूमि ही सकता है । गौरीशंकर और कंठासके पर्वत शिखरोंका संबंध साक्षात् भगवान् शंकरके साथ है । बड़ोईश्वरके आध्यात्मिक संबंध नर—नारायण नामक ऋषिमुनिपोंसे है । मातृभूमिकी वृद्ध भवितके लिए परम आवश्यक है कि यह संबंध देशके सब स्त्रीपुरुषोंको विदित होवे ।

कुछ शिक्षित लोग कहेंगे कि “ यह संघर्षिदास किंतु भिन्न ? बिल्कुल व्यावहारिक दृष्टिको दृष्टिके भी मातृभूमिके प्रति भवित हो सकती है । ” बात बिल्कुल ठीक है । पर व्यावहारिक कामके साथ ही यदि लोगोंके हृदयमें प्रेम बनाए गए संबंधोंका भी विचार हो तो भी नुकसान कुछ न होगा । बालक अपनी मातापर प्रेम करता है । पर इतकिए नहीं कि माता सुंदर है, या माता दूध देती है । यह प्रेम करता है क्योंकि “ मातृदेवी भव ” के अनुसार माता एक देवता है । बालकका माताके प्रति प्रेम इसी दिव्य मातृगाके कारण रहता है । बालकका माताके प्रति और माताका बालकके प्रति अहृदय प्रेम रहता है । बालककी आशा न कर जो प्रेम किया जाता है, वही दिव्य प्रेम है, वही निरपेक्ष अहृदय प्रेम है । इसीलिए मातृप्रेम व्यावहारिक प्रेम नहीं है । मातृभूमिका प्रेम भी इसीप्रकार अहृदय, निःसीम, अत्यधिक और दिव्य होना चाहिए । सोचोंमें अहृदय प्रेम उत्पन्न हो इसलिए उत्पन्न प्रेममें लिता है कि अपने देशके नगरोंका संबंध देवोंसे है ।

जो आशोलोग आधिक या व्यावहारिक दृष्टिको दृष्टिके मातृभूमिकी भवित करते हैं, वे भी ही वीता करें । जनमें

किस्मोको व्यापति नहीं। परन्तु सब जनता उस कोटिकी ज़ांभी नहीं हो सकती। अतएव साधारण लोगोंमें भी मातृभूमिके प्रति विशेष प्रेम उत्पन्न हो, इसी परजने सबको मातृभूमि होना आवश्यक है कि हमारे देशके स्वानोंका सवध देखोति था श्रुतिव्योति है।

प्रतापगढ तथा सिंहगढसे शियाजी महाराजका सवध, चित्तौडगढसे महाराणा प्रतापसिंहका सवध, झांसीसे रानी लक्ष्मीबाईका सवध, गढ मडलासे रानी दुर्गावतीका सवध, परजीसे रवाजी रामदासका सवध और इसीप्रकार भिन्न भिन्न इतिहासप्रसिद्ध स्वानोंसे ऐतिहासिक व्यक्तियोंका संवध मन्त्र होना परम आवश्यक है। सिंहगढका या अन्य किसी उस स्वानका जिससे शियाजी महाराजका सवध रहा है, यदि कोई भग बरे या अन्य इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तिके स्वानका कोई अपमान करे तो उस दुष्ट कार्यसे संपूर्ण भारतके हृदयमें मोट पड़ुचती है। संपूर्ण भारत उस दुष्टकृत्यका जवाब पूजनेकी तैयार हो जाता है। इसीमें राष्ट्रीय उन्नतिकी मौज है।

इसीलिए जब विदेशी सरकार दूसरे देशपर अपना अधिकार प्रमाती है, तब उस देशके ऐसे इतिहासप्रसिद्ध स्वानोंको भुलाते हैं वस रहते है। वह तदपर रहती है कि ऐसे स्वानोंका लोगोंको पता भी न रहे। इसका भी मर्म यही है। मुसलमानोंने प्रयागका नाम मलाहाबाद रखा, सहजतीयका नाम इस्लामाबाद रखा, भारतभरकी मठन बहा, भावा मूर्धियका माप गोड्डिर्निस कर डाला, श्री सरकाराबायके स्वानको तस्त-ए-शुतेमान कहा और इसीप्रकार हजारों शहरोंके और स्वानोंके नाम बदल दिये। इसका रहस्य हम ऊपर बतला चुके हैं।

अपनेजोका राज्य हुआ, तब उन्होंने पदालगिरीके गीरी-शकरका नाम मौट एम्पेस्ट रख दिया और सिमला, महानबलेश्वर आदि पर्वतराजोके अपनेजो नाम बना दिये। इसी प्रकार अन्य कई स्वानोंका अप्रोजीकरण हुआ।

मुसलमानोंने मदिरों और मूर्तियोंका विध्वंस किया और बलशकारते लोगोंको अपने धर्ममें गिलाया। अब ईसाई लोग धर्मानुद करा रहे है। वे प्रायः प्रत्येक देवस्थान और तीर्थ-स्थानमें जाकर उसको निदा करते हैं। इसका भी कारण यही है कि जिससे अपने देशके स्वानोंका हमारा अभिमान नष्ट हो जाय।

विद्योता मुसलमान हैं, अप्रैज हों या शरपाती हों उनका सपका स्वभाव पृकहीठा होता है। जिन लोगोंके हृदयसे मातृ-

भूमिकी भक्ति नष्ट करनेके लिए वे जो कुछ कर सकते हैं वह करनेमें चूकते नहीं। मातृभूमिके विषयमें प्रेम और भक्ति रखनेके लिए अपने देशके तीर्थस्थानोंका प्रेमपूर्व इतिहास जनताके हृदयमें सर्वव जागृत रहना चाहिये। जबतक जनतामें मातृभूमिका प्रेम जागृत रहेगा, तबतक विदेशी जेतानोंके पैर जम नहीं सकते। यही सार्वभौमिक नियम होनेसे सब जेतानोंकी हुई पादाक्षत जनताको मातृभूमिके प्रेमके सब सिन्हा गलरी निदानका प्रयत्न करते हैं। सत्कारके इतिहाससे वाचक इसको पुष्टिके उदाहरण स्पष्टतया देख सकते हैं।

ऊपरके मन्त्रमें और दो बल्लें ध्यान देने योग्य हैं—
(१) लोप नपने अपने क्षेत्रमें ध्यानसे काम करें। और
(२) देशके निवासियोंको चारों दिशाएँ रमणीय मालूम हों। अपने ही देशको चारों दिशाएँ हृदयकी रमणीय नहीं मालूम होतीं, इसका कारण हमारे अन्तर अपनी मातृभूमिके प्रति स्वाभिमानकी कमी है। स्वाभिमानकी लोमोंको सब दिशाएँ रमणीय मालूम होती है। यह कहना कि ' सब दिशाएँ हमें रमणीय दिखें ' ' हम स्वभिमानी हों ' कहनेके बराबर है।

देशके मयरेके प्रति अपनेपनका भाव बहुत महत्वका है, इतर धर्मावलम्बियोंमें प्रचारात, रामेश्वर आदि पवित्र तीर्थ-स्थानोंके प्रति अपनेपनके भाव नहीं है। इससे उन्हें भारतदेश अपनी मातृभूमि नहीं मालूम होता। इससे राष्ट्रकी उन्नतिकी दृष्टिसे इस देशका घटा भारी नुकसान हुआ है।

श्रुति-मन्त्र

यस्यां पूर्वे भूतलत श्रपयो गा उदात्तुषु ।

सप्त सश्रेण घेषसो यसेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

“ जिस मातृभूमिमें पूर्वके मानियोंके, देशका भूतकाल बनायेदाले श्रुतियोंके श्रम और यह करने तथा तप करने लक्ष (गा) भूमियोंका उद्धार किया ” यह हमारी श्रेष्ठ मातृभूमि है।

(भूतलतः श्रुतयः) हमारे देशका भूतकाल इतिहास बनायेदाले तपसी श्रुति ये। देशवासी यदि इस मातृका विश्वास करें तो उन्हें प्राचीन कालके विषय सम्यक् विवरण होगा। पूर्वकालके शिवायका एक उतमताका निदचय हो जानेपर उन्हें इच्छा होगी कि भविष्यकाल में ऐसा ही उज्ज्वल हो और इस इच्छासे प्रयत्न भी करेंगे। जिनका भूतकाल तेजस्वी है, उनका भविष्यकालभी तेजस्वी हो सकता है, यदि उसके लिए प्रयत्न किया जाय तो।

हमारे प्राचीन पूर्वज जिन्होंने हमारे प्राचीन इतिहासमें बड़े बड़े मूल्य कार्य किये, वायव्यतपस्वी और बड़े थे। हमारा इतिहास संयुक्त सोपानों का नहीं है, किन्तु महान् तपस्वी ऋषि भूमिपति के प्रसन्नतपस्वी रूपों के उज्ज्वल गुण गुण हैं। हमारी राष्ट्रभूमि के तपस्वी लोगों ने राष्ट्रभूमि के प्रति प्रेमभाव उत्पन्न ही। इसके लिए वायव्यतपस्वी है कि ऊपरकी भावना मग्न में स्थिर हो।

ऊपरके विवेचनसे विदित होता है कि यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत अनेकानेक दृष्टियोंसे वाचकोषि मनमें अपनी मातृभूमि के प्रति अत्यन्त यत्नाता है। इस अति प्राचीन राष्ट्रगीतके प्रति वाचकोषि मनमें नि सवेह आदर उत्पन्न होगा।

ऋषि लोग सत्र और यज्ञसे राष्ट्रकी उन्नति और राष्ट्रकी स्थापना करते थे। वर्तमान सशस्त्र यज्ञयज्ञसिद्धि कोई भी प्राचीन सत्र और यज्ञकी कल्पना नहीं कर सकता। पहलेके वैदिककालके सत्र और सत्र आशुतकके समान छोटेसे बड़ेमें नहीं होते थे। उनके बड़ेको विस्तार कई कोतों तक रहा करता था। प्राचीनकालके यज्ञोंका स्वरूप आजके यज्ञसिद्धि विलक्षण भिन्न था। राष्ट्रीयताका विचार ऋषियोंके अथवा परिभक्तसे जनतामें जारी हुआ। इसीलिए ऊपरके मंत्रोंमें " भूतकाल बनानेवाले ऋषि " कहकर उभयका सम्मान किया है। इसीके सर्वप्रथम निम्नलिखित अथर्ववेदका मंत्र देवसिद्धि-भद्रमिच्छन्त आशुतकः स्वर्ध्विस्तपोव्रीह्यामुपनिषेदुरामे। ततो राष्ट्रं पलमोजम्ब जात तदसौ देव्या उपसन्नमन्तु (अथर्ववेद ११/४११)

" लोगोंका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले आशुतकाने ऋषियोंके मार्गमें तप किया, उससे राष्ट्र, सत्र और ओज उत्पन्न हुआ। अतएव देवोंकी आर्ति कि इसे मनन करें। "

इसमें यह बातलाया है कि राष्ट्रीयताकी कल्पना ऋषियोंके प्रयत्नसे कैसे उत्पन्न हुई? वाचक देत से कि ऋषि ' भूतकाल बनानेवाले ' किस प्रकार थे। राष्ट्रीय भाव ऋषिभ्रमण है। उसे बुझानेका प्रयत्न हरएकको करना चाहिए। ऋषियोंने राष्ट्रनिर्माणमें कैसे प्रयत्न किये होते ही अन्य पूर्वजोंने भी किये उसका स्मरण करना भी आवश्यक है। आजके मंत्रमें उन पूर्वजोंका स्मरण है—

देव-भ्रमण

यस्यां पूर्वं पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देव्या मसुरानभ्ययतं वरु ।
गयामभ्यानां ययसस्य विष्ठा मर्गं
वर्षां। पृथिवी गो वृषासु ४. ५

६ [अथर्व भा २ मातृ भूमि]

" हमारी जिस मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने वरु क्रम किया और जिसमें देवोंने असुरोंकी भयाया, जो गोव, घोड़े और पक्षियोंकी अगुआ स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे। "

हमारे प्राचीन कालके पूर्वजों इत भूमिमें बड़े बड़े प्रयत्न किये, अनेक सत्रायाँ कीं, अनेक सत्रायाँ कीं और लोके संशानमें सत्रायाँ कीं, इतना तप काम करके अपना मातृभूमिका यज्ञ उत्पन्न किया। हमारे पूर्वजोंका यह प्राचीन और उज्ज्वल इतिहास हमारी दृष्टिके सामने है। क्या हम सोपानों का यत्न उस इतिहासके योग्य है? उन सपरविजयी पूर्वजोंके बराबर होनेवाले हमें कुछ तो सम्मान चाहिए। उनको कीर्तिको दोना देने योग्य हमें कुछ भी तो काम करना चाहिए।

जिस देशमें प्राचीन समयमें देवोंने असुरोंको युद्धमें पराजित कर भयाया और हम स्पष्टीकें लिये यह देश स्वर्णय रत्ना, बड़ी वैश्व इतने प्रबलतक पराधीनताके प्रयत्नोंमें लक्ष्मी रक्षा कियेने सोचके आन है। प्राचीन पूर्वजोंने यों किया और यों किया। ये बातें बेजल पत्ते सम्मान और शक्तके लिए नहीं बड़ी जातीं। उनके कल्पना उद्देश्य यह होता है कि उन पूर्वजोंके उज्ज्वल कालोंके हमें शक्ति मिले और हम भी वैश्व हो कार्य करें। हम सोचते हैं कि उन उद्देश्यकी पूर्ति हम लोगोंसे कहाँ तक हो सकी है।

हमारा यह वैदिक राष्ट्रगीत हमारे सर्वपथोंमें किया हुआ है। इसके अलावा राष्ट्रगीत द्वारा देवोंके सर्वपथोंमें तो है ही नहीं, पर उन लोगोंके अथर्व विनी पथमें भी नहीं है। ऐसा होते हुए भी हमारे देशमें लोग राष्ट्रकी उन्नतिसे विचलने लापरवाह हैं और अन्य बहुतसे देवोंके लोग राष्ट्रके हितके लिये तत्पर हैं। इस दशाकी देवदर रक्षा भारी आवश्यक होगा है!! हमारा राष्ट्रगीत इतना विस्तृत है। उसमें उच्चत विचारोंसे सवालक भरे हुए विषय मन्त्र हैं। ऐसा होने हुए भी हमारे साहित्यमें राष्ट्रीयताका भाव ही नहीं और यह भाव हमारे लिए परकीय है इस प्रकारकी सत्ता रखनेवाले हममें है। अतः। बलुपिपति श्रीती है यही हमने अन्तगोके सम्पन्न रत करे है। " कहाँ उपजना है वहाँ विष्ठा नहीं और कहाँ विष्ठा है वहाँ उपजना नहीं " की श्रवणन वर्तनीयता होगी है। और देवसिद्धि—

यामभित्तायामिमातां विष्णुयन्त्यां विचयमे ।
इन्द्रो यां चक्र मामनेऽनामिषां शर्वापतिः ॥
सा नो भूमिर्विभृजतां माता पुत्राण्य मे पयः ११/०१
" जिस भूमिकी वायु अग्निपितृपारोने की, जिस भूमिमें

अथवा विष्णुने पराक्रम किया, अक्षिताली इग्नने जिसे अपने लिए अर्पित किया, वही हमारी मातृभूमि, वही माता अपने बालकको ब्रूय देती है वैसे ही, मैंने उपभोगके पदार्थ देये। ”

इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें बताया है कि देवोंने इस मातृभूमिके लिये क्या क्या किया। अश्विनीकुमारोंने देवदेवतां तरोंके शोत्रोंकी प्रायणी, देशोंकी सीमाएँ निश्चित कीं, जमीन प्राणी और इन्द्रप्रकार मातृभूमिकी सेवा की। अथवा विष्णुने जो पराक्रम किये थे सबको विदित ही है। इग्नने हजारों युद्ध किये और इस मातृभूमिकी शत्रुके कण्ठमें छुड़ाया। इन्द्रप्रकार अथवा देवताओंने भी इस मातृभूमिके लिए जो कुछ मन सकता था किया। उसमें कुछ कसर न रही। वेप और अतुरोंके युद्धमें हजारों देवदेवोंने इस मातृभूमिके उद्धारके लिए युद्धक्षेत्रमें अपना बलि-दान किया और इस भूमिकी स्वतंत्रताका सौभाग्य प्रदान किया। वही देवोंका व्रत हमें भी चलाना चाहिए। देवोंके द्वारा निश्चित किए मार्गपर ही हम लोग भी चलें। यह जानकर कि हम लोगके लिये देवोंने तथा उस ऋषिके पुरुषोंने क्या क्या किया, हमें उनके श्रमके छुटकारा पानेका प्रयत्न करना चाहिए।

अधिष्ठान कौनसा है तो बतला दिया गया, देवद्वेष कौनसा है तो भी बतला दिया गया। इन श्रमोंके मूल होनेके लिए हमें प्रयत्नशील बनना चाहिए। प्रत्येकको सोचना चाहिए कि हम श्रममुक्त होनेकी चेष्टा कर रहे हैं या नहीं। इस देवद्वेषके बारेमें एक और मंत्र देखने योग्य है—

यां रक्षन्त्यस्यपना विभ्यद्दानिं देया
भूमिं पृथिवीमममवाद्म् ।

सा नो मधुमियं हुहामथो उक्षतु धर्चसा ॥ ७ ॥

“ देव जिस मातृभूमिकी रक्षा गलती और अलस न करने करते जाएं, वह मातृभूमि हम लोगोंको तेज और मोठा शहव आवि कानेके पदार्थ देये। ”

(अ-स्वप्नाः देयाः) लौकिक न करते हुए देव इस भूमिकी रक्षा करते जाएं हैं। अलस न करते सबके काम करनेवाले उन देवोंके सम्मुख लड़नेहोनेमें अक्षता लोगोंकी शरम जानी चाहिए। न बचते हुए, विध्वंसित न होते हुए हम लोगोंके लिए जिन देवोंने ऐसा भारो परिश्रम किए, उनके उस पवित्र कार्यके यत्नेमें हम लोगोंने क्या किया ? उनका स्वातन्त्र्यरक्षाका कार्य क्या हम लोगोंने चलाया है ? और कुछ नहीं तो क्या हम लोगोंने राष्ट्रीयताका कार्य सर्वेकरी रक्षनेका भी निश्चय किया है ?

अपने मनमें यह भी कहा है कि (देवा अग्रमाद् रक्षन्ति) देव गलती न करते हुए रक्षा करते हैं। देवोंने गलती न करते हुए मातृभूमिका रक्षण किया, इसीसे तो वे वक्षते छुटकारा पा सके। अतुरोंने अनेक बार देवोंकी चिरबातकी पराधीनताकी बंदोबं गड़बड़ देना चाहा। रावण, वली और इनके सन्त अथ राजाओंने इस प्रयत्नमें कुछ भी कसर न रखी। किंतु ऐसे सब अवसरोंपर देवोंने पुरुषार्थकी पराजयवादी, अपनी स्वाधीनता बनाए रखी और अतुरोंको भगा दिया। गलती न कर दलदलसे कर्तव्य करनेकी जो योजना देवोंने हमें दी, क्या हमें उसका अन्वय सावधानीसे न करना चाहिए ? स्वदेशके कार्यमें हम लोगोंकी बसता क्या बंती है, जंती होनी चाहिए ? हम लोग निरदेहके कारण पय पय पर क्या भारो भूले नहीं कर रहे हैं ? वास्तवमें राष्ट्रकार्यके लिए आत्मसमर्पण करनेकी हमें सदैव तैयार रहना चाहिए। किंतु आत्मसमर्पणका समय आनेपर उसकी और ध्यान न देनेवाले कितने ही लोग हममें हैं।

विद्वानोंका श्रम

ऋषियोंका राष्ट्रकार्य हम देख चुके। देवोंने क्या किया तो भी देख लिया। हमें अब देखना है कि मनमगोल मुनिमान् पुरुषोंने कौनसा काम करके राष्ट्रको सेवा की—

याऽर्णवेऽधि सलिलमम आसीद्यां

मापभिर-वचरन्मनीषिणाः ।

सा नो भूमिस्त्वर्षिं यलं राष्ट्रे दधावृत्तमे ॥ ८ ॥

“ हमारा जो मातृभूमि वारधमें संप्रदके गोथे घी और जिसकी सेवा मनमगोल विद्वानोंने अनेक प्रकारके काम करके की, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें सेवा और बल धारण कराने। ”

इस मंत्रका “ यां मापभिर-वचरन् मनीषिणाः ” यह भाग प्रस्तुत लेखके प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिके अतिशय महत्व रखता है। इसका “ माया ” शब्द अतीव महत्वका है। इस माया शब्दका अर्थ अद्वैतमतका मायावाद नहीं है। माया शब्दके कई अर्थ हैं— (१) कुशलता, कापकी कुशलता, कौशलके लिये हुआ कारोपरीका काम, धनुर्वे, (२) कष्ट ब्राह्मण जिनकी आवश्यकता राजनीतिमें है, शत्रुकी चकमा देनेकी विद्या। ” ये सब अर्थ माया शब्दके ही हैं। इन दोनों अर्थोंमें माया शब्द मंत्रमें आया है। (मनीषी) मनमगोल लोग समयकी देखकर कुशलतासे, चतुराईसे, कपटसे या राजनीतिके विधेयसे मातृभूमिकी सेवा करते हैं। यही इस मंत्रका आशय है।

इस प्रकार वेव, श्रमि और अन्य विद्वानोंने हमारी मातृ-भूमि की सेवा की है। जो पानं श्रमि, वेव और अन्य बड़े बड़े नामों लोगोंने विद्या विद्या, उसी रास्तेसे हमें जाना चाहिए। सभी हमारी भलाई होगी। हमपर शीघ्र श्रमि है; श्रमि-श्रमि, देव-श्रमि और अन्य जानियोंका श्रमि। हमें इन श्रमियोंको बेलना चाहिये और उनसे मुक्त होनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

इस लेखके वैदिक राष्ट्रगीतके मंत्र हमारे राष्ट्रीय वर्तमानका संबंध श्रमि-काशकी बड़ी विभूतिपोंसे मिलाते हैं। हमारा अष्टाष्ट राष्ट्रीय कर्तव्य श्रमियोंने धारण किया, देवोंने उसको पुष्टि की और अन्य विद्वानोंने उसे बढ़ाया। इस त्रिवेणी-संगममेंसे यह हमारे पास आया है। इसीसे हमें उसे आप्य बलाना चाहिये। उसे खताना हमारा आठवक कर्तव्य ही है। यदि हम उस कार्यकी नहीं चलते तो श्रमि और देव हमसे नवाप्य लूठेंगे। हरएकको यह बात अच्छी तरह स्मरण रखनी चाहिये।

सोच इस मंत्रके उपदेशपर अगुड़ी तरह ध्यान दें और देखें कि हमारा धर्म कैसे बिलयाय और उच्च राष्ट्रीय धर्मका उपदेश करता है; और ये उसके अनुसार आचरणके लिए तैयार हों। हमारे राष्ट्रको संभारके राष्ट्रोंमें उच्चसे उच्च स्थानपर पहुंचानेकी जबाबदेही हमपर ही है। उसे निभानेके लिए हमें संवेच संवार रहना चाहिए।

मंत्रीकी संगति

यहां इस विषयको समाप्त करते हुए हम इस सूक्तके मंत्रीकी संगति पर धीरता विचार करते हैं। इस सूक्तमें कुल ६३ मंत्र हैं। इनमें सबसे प्रथमके मंत्रमें मातृभूमिका पारण किन् गुणोंसे होता है यह बात कही है, इसलिये यह मंत्र सबसे अधिक महत्वका है। प्रायःक राष्ट्रमन्त्रको उचित है कि वह इस मंत्रकी देखे, विचारें, मनन करें और इन गुणोंकी अपने अंदर बसाकर अपने आपकी मातृभूमि की सेवा करनेके लिये सुयोग्य बनवें।

द्वितीय मंत्रमें जो राष्ट्रके लोगोंके अन्तर आपसकी एकता चाहिये, तथा आपसी शपथें नहीं चाहिए इत्यादि महत्वपूर्ण उपदेश बड़े हैं, उन्हें तथा स्मरण रखना चाहिए। तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें सामाज्यताय भूचंचन है, परंतु उनमें (छष्टयः स्वयंभूयः) जिसमेंकी गण्यताया जो वर्णन है वह जनजन महत्वका विषय है।

पंचम मंत्रमें पूर्वजोंके पराधर्मों (पूर्व पूर्वजना विच्यभित्ते) जो स्मरण करनेकी जो सूचना दी है वह आशान्वयुक्ति द्वारा कभी भूलना-भोग्य नहीं है। जो अपने पूर्वजोंका भू-द्वयुक्त इतिहास नहीं जानते वे निःसंदेह आगे बढ़ नहीं सकते। इस कारण यहाँ यह उपदेश दिया है। सातवें मंत्रमें भी (अस्तपन्न भूमिं अग्रमादं रक्षन्ति) आलस्यरहित होकर मातृभूमि की रक्षा करनेका महत्वपूर्ण उपदेश है। इसका पंचम मंत्रके साथ संबंध बेलकर पाठक बहुत धीम प्राप्त कर सकते हैं।

मंत्र ६ और ७ में मातृभूमिका सलोहर वर्णन है। नवम मंत्रमें उदारधरिता संव्यसिधियोंके संभारसे सर्वत्र शान्तप्रसार होकर सब प्रजाजनके भन्त करण ज्ञानविमानके द्वारा साहिते परपुर होनेका बोधपर वर्णन है। दसम मंत्रमें इन्द्र और विष्णुके पराधर्मोंका जो बर्णन है, वह ५ वें और ७ वें मंत्रके साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए, तब उसकी संपूर्ण गभीरता ध्यानमें आ सकती है। ११ वें मंत्रमें (अग्नीतो अग्निधियो अग्रमग्नी) ' के अर्थमें होकर मातृभूमिका अविच्छाता बन् ' यह उक्तपूर्वमें महत्वाकांक्षा राष्ट्रके प्रायःक मनुष्योंमें उत्पन्न होती चाहिये, ऐसा जो सुचित किया है वह विशेष ही उत्तम संदेश है।

१२ वें मंत्रमें ' माता भूमि और उसका भं पुत्र हूं ' यह मातृभूमि और दत्तका मेम सुचित करनेकाता वाच्य पदकर प्रायःक पाठक मेमसे सदाप्रति होंगे इसमें संदेह नहीं है। १३ वें मंत्रमें यज्ञका संदेश पाठक देखें। १४ वें मंत्रमें धीरोचित भावा बड़ी क्षात्रतेज ब्रह्मदेवाती है। ' जो हमारा नाम करेगा, उसका नाम हम करेंगे और धाने बड़ेंगे ' इसे पढ़कर जिसमें धीरता न बड़ेगी ? १५ वें मंत्रमें एवही मातासे आपस हुए पांच मानवजातियोंकी अनेक एवताया सुवर वर्णन है। १६ से १८ तकके मंत्रोंमें (भूमिं विभ्यदा अनु-क्रेदुः) ' हृद्य मातृभूमि की प्रतिदिश सेवा करें ' यह प्रतिज्ञा करने अर्थात् मंत्रमें धारण करने योग्य है। क्या कभी ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले मातृभूमि की उपेक्षा करेंगे ?

१९ वें मंत्रमें ११ वें मंत्रके मातृभूमिका सुवर वर्णन धर्मधारिता परपुर भरा हुआ है। अर्थात्, मंत्रमें हृद्य, पूर्वोक्त मनुष्य, जनस्यसिधियोंकी उत्तमता, प्रसन्नो वर्तता आदि वर्णन देखनेसे लक्ष्युक्त हृद्यका ध्यान बढता है। मंत्र २० वेंमें (परिधीयतो यद्यं) दाहकुरेशोरा यद्यं करके शासन करनेकी सूचना है। मंत्र २१ वेंमें पूर्वजनासे सेवादि इतिमि उक्तम कालक बरोना महत्वपूर्ण श्रमि दिया है।

३४ वें मंत्रमें 'अहिता' और ३५ वे मंत्रमें समंजसेवन व करनेका उपदेश मिलाना मुक्तिके साथ दिया है।

३६ वे मंत्रमें छ श्रुतियों, दो व्युत्पत्तियों और अहोरात्रका उल्लेख सत्यस्वरचक्रकी परिपूर्ण कल्पना बता रहा है। ३७ वें मंत्रमें इन्द्रवज्रपुच्छके विषसे अपनी मातृभूमिके सब शत्रुओंको दूर करनेकी सूचना बड़ी मननीय है। ३८ वें मंत्रमें सोमजल का बड़ा ही मनोरंजक वर्णन है। सब ओर वज्रसंस्थाके चलाने-वाले श्रुतियोंके अर्थात् सत्कर्ममार्गका प्रस्तावपूर्ण उल्लेख ३९ वे मंत्रमें है।

४० वे और ४४ वे मंत्रमें धनकी कामना प्रमुख स्थान रखती है। ४१ वे मंत्रमें जनताका गायन, गर्तन और आनन्दके साथ नगरकीर्तनका उल्लेख है। यह राष्ट्रीय जीवनकी तेजस्विता बता रहा है। ४२ वें मंत्रमें मातृभूमिको नमन किया है।

४३ वें मंत्रमें अपने राष्ट्रमें देवोंद्वारा बनाये और ब्रह्माये नगरोंके विषयमें पूज्यभाव धारण करनेका उपदेश है। अपने लिये जयतकी सब शिक्षाएँ रमणीय होनेका महत्त्वपूर्ण भाव इसीमें पाठक मननपूर्वक देख सकते हैं।

४५ वां मंत्र 'नानाधर्मोवासे सोऽनानाभाषावासे विविध जनोंको एकता राष्ट्रभक्तिते होगी' यह महत्त्वपूर्ण उपदेश देता है, इसलिये यह मंत्र अनेक भेदोंसे विभक्त रहनेवाले और कारकके बिना आपसी शापके बढानेवाले लोगोंकी बचाही

शोधप्रद है। ४६ वे मंत्रमें सहरोसे जीवोंके भाव मानकोंमें आये, ऐसा बहूकर सदभाव बढानेका उपदेश अपूर्व रीतिसे किया है।

४७ वें मंत्रमें तावंचनिक स्थानपर सबका समान अधिकार होनेकी घोषणा की है। दुराचारी और सबाचारी मार्गपर समान अधिकारसे चलते हैं। इस सार्वजनिक स्थापनमें हृत्पुत्र मनुष्य जा सकता है। यहाँ एककी भासा और दूसरेकी प्रति-बन्ध नहीं हो सकता।

मातृभूमिको पत्नी और सबाचारी पुत्ररूपमें समान है, यह भाव मंत्र ४८ में देखने योग्य है। ४९ से ५१ के तीन मंत्रोंमें पुत्रुओं, पिशाचादिको जोर पक्षियोंका वर्धन है। मंत्र ५२ और ५३ में प्रिय वाम और मेधाकी प्राप्तिका कथन है।

५४ वें मंत्रमें अपने विम्बिजयकी महारवाकाशा है। ५५ वे मंत्रमें चारों दिशाओंमें उत्कर्ष फलानेका संदेश है। और ५६ वें मंत्रोंमें सर्वशक्ति सभाओंमें मातृभूमिके विषयमें शुभ भावसे भाषण करनेका उपदेश है। ५७ वें मंत्रमें सेनाकी तैयारीका वर्णन है। मंत्र ५९ से ६१ तक सर्वसाधारण उप-वेश है। ६२ वे मंत्रमें मातृभूमिके हितके लिये आत्मसमर्पण करनेका आवेग है और ६३ वें मंत्रमें सब प्रजाओंकी सुप्रतिष्ठा स्थिर करनेका संदेश देकर सूक्तकी पूर्णता की है।

इसप्रकार इस सूक्तगत मंत्रोंकी संगति है।

चिराट्

कांड ८, सूक्त १०

(श्रुति - अथर्वानाम् । देवता - चिराट् ।)

- (१) चिराट् वा इदमग्र आसीत् तस्या ज्ञातायाः सर्वमविभेदियमेवेदं भविष्यति ॥ १ ॥
 सोऽदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥
 गृहमेधी गृहपतिर्मवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अर्थ— [१] (चिराट् वै) चिराट् ही निवसते (अग्रे इदं आसीत्) प्रारम्भमें यह सज्जु पा। (तस्या ज्ञाताया) उसके उत्पन्न होनेपर (इय एष इदं भविष्यति इति) यही ऐसा [सदा] रहेगा, इस कारण (सर्वं अविभेदम्) सब भयभीत होगये ॥ १ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उत्थान हुई और (सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्) वह गृहपतिवत्त्वासे परिणत होगई, (य एष वेद) जो ऐसा जानता है वह (गृहमेधी) गृहगत करनेवाला होकर (गृहपतिः भवति) गृहगत होगा है ॥ २-३ ॥

सोदकामत् माहवनीये न्यक्रामत्	॥ ४ ॥
यन्त्यस्य देवा देवहृति प्रियो देवानां भवति य एवं वेद	॥ ५ ॥
सोदकामत् सा दक्षिणाग्री न्यक्रामत्	॥ ६ ॥
यज्ञतो दक्षिणीयो वासतेपो भवति य एवं वेद	॥ ७ ॥
सोदकामत् सा सुभायां न्यक्रामत्	॥ ८ ॥
यन्त्यस्य सुभां सम्यो भवति य एवं वेद	॥ ९ ॥
सोदकामत् सा समितौ न्यक्रामत्	॥ १० ॥
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद	॥ ११ ॥
सोदकामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत्	॥ १२ ॥
यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद	॥ १३ ॥
(२) सोदकामत् सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत्	॥ १ ॥
तां देवमनुष्यां अन्नवश्रियमेव तद् वेदु यद्भुभयं उपजीवेमामुषं ह्यगामहा इति	॥ २ ॥
तामुपाह्वयन्त	॥ ३ ॥

अर्थ— (सा उद् अक्रामत्) वह उरकान्त हुई और (सा माहवनीये न्यक्रामत्) वह माहवनीय भूमिसेत्यागे परिणत होगई । (यः एवं वेद) जो इसप्रकार जानता है वह (देवानां प्रियः भवति) वह देवोंका प्रिय बनता है और (देवाः अस्य देवहृतिं यन्ति) सब देव इसके देवोंके बुलाए जानेके स्थानपर जाते हैं ॥ ४-५ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उरकान्त हुई और (सा दक्षिणाग्री न्यक्रामत्) वह दक्षिणाग्री संस्थानमें परिणत हुई । (या एवं वेद) जो इसप्रकार जानता है वह (यज्ञतो दक्षिणीयो वासतेयः भवति) योग्य रीतिसे यज्ञ करनेवाला संवागयोग्य और यज्ञरहित रहनेका स्थान देनेवाला होता है ॥ ६-७ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उरकान्त हुई और (सा सुभायां न्यक्रामत्) वह सुभामें परिणत होगई । (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (सम्य भवति) सम्यके योग्य होता है और लोग (अस्य समां यन्ति) इसकी समामें जाते हैं ॥ ८-९ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उरकान्त हुई और (सा समितौ न्यक्रामत्) वह समितिमें परिणत होगई । (या एव वेद) जो यह जानता है वह (सामित्य भवति) समितिके योग्य होता है और लोग (अस्य समितिं यन्ति) इसकी समितिमें जाते हैं ॥ १०-११ ॥

(सा उद् अक्रामत्) वह उरकान्त हुई और (सा सामन्त्रणे न्यक्रामत्) वह सामन्त्रणमें परिणत होगई । (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (आमन्त्रणीयः भवति) आमन्त्रण करने योग्य होता है और लोग (यस्य आमन्त्रणं यन्ति) इसकी सलाह देनेके लिए जाते हैं ॥ १२-१३ ॥

[२] (सा उद् अक्रामत्) वह विराट् उरकान्त हुई और (सा सान्तरिक्षे चतुर्धा) वह सान्तरिक्षमें चार प्रकारसे (विक्रान्ता अतिष्ठत्) विभक्त होकर स्थिर हुई ॥ १ ॥

(देवमनुष्याः तां अमुषद्) देव और मनुष्य उसके विषयमें सोते कि, (इयं एव तां येद) यही वह जाननी है, (यत् उभये उपजीवेम) जिससे हम दोनों जीवित रहते हैं । मतः । इमां उप ह्यगामहे इति) इसकी हम बुलाते हैं ॥ २ ॥ (तां उपाह्वयन्त) इसकी उन्होंने बुलाया, पुकारा ॥ ३ ॥

ऊर्जे एहि स्वध एहि स्रुतु एहीरेवृत्त्येहीनि ॥ ४ ॥

तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्यभिधान्वध्रमूषः ॥ ५ ॥

बृहध रथन्तरे च द्वौ स्तनावास्ता यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ ॥ ६ ॥

ओषधीरेव रथन्तरेण देवा अदुहन् व्यचो बृहता ॥ ७ ॥

अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

ओषधीरेवास्यै रथन्तरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥

अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥ १० ॥

(३) सोदक्रामत् सा वनस्पतीनामच्छत् तां वनस्पतयोऽधत् सा संवत्सरे समभवत् ॥ १ ॥

तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृषणमपि रोहत् वृथ्वेऽस्यामिधो आहृद्यो य एवं वेद ॥ २ ॥

सोदक्रामत् सा पितृनामच्छत् तां पितरोऽधत् सा मासि समभवत् ॥ ३ ॥

तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृपार्णं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ— (ऊर्जे एहि) हे बल ! आ । (स्वधे एहि) हे धारण शक्ति ! आ । (स्रुते एहि) हे सत्व ! आ । (द्रावति एहि) हे अमवाली, आ ॥ ४ ॥

(तस्याः वत्सा इन्द्रः आसीत्) उसका बछड़ा इन्द्र था, (गायत्री अभिधानी) गायत्री रसो पी और (अध्रं उधः) मेघ शुभस्थान था ॥ ५ ॥

(बृहत् च रथन्तरं च) बृहत् और रथन्तर (द्वौ स्तनी वास्ता) ये दो स्तन ये और (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य ये भी दो स्तन ये ॥ ६ ॥

(देवाः रथन्तरेण ओषधाः अदुहन्) देवोंने रथन्तरे ओषधि रोहन करने निकाली और (बृहता व्यचः) बृहत्के पितारवृक्ष आकाशको निकाला ॥ ७ ॥

(अपो वामदेव्येन यज्ञः) वामदेव्ये जल निकाला और (यज्ञायज्ञियेन यज्ञं) पत्तापत्तिये वृषणो निकाला ॥ ८ ॥

(यः एवं वेद) जो यह जानता है (अस्यै रथन्तरं पत्य ओषधीः दुहे) उसके लिये रथन्तर ओषधियां रोता है, (बृहत् व्यचः) बृहत् अमवाली देता है, (वामदेव्यं यज्ञः) वामदेव्य जल देता है और (यज्ञायज्ञियं यज्ञं) यज्ञायज्ञिय यज्ञ देता है ॥ ९-१० ॥

(सा उदक्रामत्) वह उठान्त हुई और (सा वनस्पतीनां आमच्छत्) वह वनस्पतियोंके पास आ गई । (तां वनस्पतयः अग्रत्) उसको वनस्पतियोंके मारा, परंतु (सा संवत्सरे समभवत्) वह अगले वर्ष पुनः होमयी । (तस्माद् वनस्पतीनां वृषणं अपि रोहति) इसलिये वनस्पतियोंके वन भर जाने हें । (यः एवं वेद) जो यह जानता है (अस्य अमिधः आहृद्यः वृथ्वे) उसका अमिध अहृष्टा जाता है ॥ १-२ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उठान्त हुई और (सा पितृनां आमच्छत्) वह पितरोंके पास आई, (तां पितरः अग्रत्) उसको पितरोंके मारा, परंतु (सा मासि समभवत्) वह प्रतिमास उत्पन्न होने लगी । (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (पितृपार्णं पन्थां प्रजानाति) पितृपार्ण मार्ग जानता है और (तस्मात्) इसलिये (पितृभ्यः मासि उपमास्यं ददति) पितरोंको प्रतिमास दान दिया जाता है ॥ १-४ ॥

सोदक्रामत् सा देवानामञ्छत् तां देवा अघ्नन् सर्धमासे समभवत्	॥ ५ ॥
तस्माद् देवेभ्योऽर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद	॥ ६ ॥
सोदक्रामत् सा मनुष्याश्चैनामञ्छत् तां मनुष्या अघ्नन् सा सद्यः समभवत्	॥ ७ ॥
तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्वयुषं हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद	॥ ८ ॥
(४) सोदक्रामत् सासुरानामञ्छत् तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति	॥ १ ॥
तस्यां विरोचनः प्राहादिवत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम्	॥ २ ॥
तां द्विसूर्धाभ्योघोक् तां मायामेवाधोक्	॥ ३ ॥
तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद	॥ ४ ॥
सोदक्रामत् सा पितृनामञ्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति	॥ ५ ॥
तस्यां यमो राजा वत्स आसीद् रजतपात्रं पात्रम्	॥ ६ ॥
तामन्तको मार्त्यवोऽधोक् तां स्वधामेवाधोक्	॥ ७ ॥
तां स्वधां पितर उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद	॥ ८ ॥

अर्थ— (सा उदक्रामत्) वह उरकाल हुई और (सा देवान् आगच्छत्) वह देवोंके पास आई । (तां देवा अघ्नत्) उसके देवोंने मारा, (सा अर्धमासे समभवत्) वह आधे मासमें होने लगी । (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (देवयानं पन्थां प्रजानाति) देवयान मार्गको जानता है और (तस्मात्) इसीलिये (देवेभ्यः अर्धमासे वषट् कुर्वन्ति) देवोंके लिये अर्ध मासमें वषट् कर्म करते हैं ॥ ५-६ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उरकाल हुई और (सा मनुष्यान् अगच्छत्) वह मनुष्योंके पास आई । (तां मनुष्याः अघ्नत्) उसके मनुष्योंने मारा, (सा सद्यः समभवत्) वह तत्काल उपन्न होगई । (यः एवं वेद) जो यह जानता है (अस्य गृहे उपहरन्ति) उसके घरमें लोग उपहार लाते हैं और (तस्मात्) इस कारण (मनुष्येभ्यः उभययुः उपहरन्ति,) मनुष्योंके लिये दोनों ओर उप्र करते हैं ॥ ७-८ ॥

(४) (सा उदक्रामत्) वह उरकाल हुई और (सा असुरान् आगच्छत्) वह असुरोंके पास आई, (तां असुराः उपाह्वयन्त) उसे असुरोंने पुकारा कि (माये एहि इति) ' हे माये ! आ ' इत्यन्वार । (तस्याः प्राहादिवः विरोचनः पत्सः आसीत्) उसका प्रहार पुत्र विरोचन बच्चा था । उनका (अयस्पात्रं पात्रं) सोहीका पात्र था (तां द्विसूर्धा भ्योघोक्) उसका शत्रु पुत्र द्विसूर्धने बोहन किया, (तां मायां एव अधोक्) उसने उसने मायाको ही बुझा । (तां मायां असुराः उपजीवन्ति) उस मानवर असुरोंका जीवन चला है । (यः एवं वेद) जो यह जानता है (उपजीवनीयः भवति) वह औचिकका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १-४ ॥

(सा उदक्रामत्) वह उरकाल हुई और (सा पितृन् आगच्छत्) वह पितरोंके पास आई । (तां पितरः उपाह्वयन्त) उसे पितरोंने इत्यन्वार बुलाया कि (स्वधे एहि इति) ' हे धरनी पारकपाल ! वहाँ आ ' (तस्याः यमः राजा वत्सः आसीत्) उसका यम राजा बड्डा था और उसका (रजतपात्रं पात्रं) सोहीका पात्र था । (तां मन्तकः मार्त्यवः अधोक्) उसका मनुष्यसंबंधी मन्तकने बोहन किया । (तां स्वधां एव अधोक्) उसने धरनी पारक दलिनका ही बोहन उसने किया इसलिये । (तां स्वधां पितरः उपजीवन्ति) उस धरनी पारक दलिनने पितरोंका जीवन चला है । (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) औचिकका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ५-८ ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्यादेर्नागच्छत् तां मनुष्याइ उपाह्वयन्तेरावृत्तेहीति ॥ ९ ॥

तस्या मनुष्यैस्वतः वृत्स आसीत् पृथिवी पार्श्वम् ॥ १० ॥

तां पृथी वैन्पोऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ॥ ११ ॥

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्यादे उर्ष जीवन्ति

कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

सोदक्रामत् सा सप्तक्षपीनामच्छत् तां सप्तक्षपव उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वृत्तेहीति ॥ १३ ॥

तस्याः सोमो राजा वृत्स आसीच्छन्दः पार्श्वम् ॥ १४ ॥

तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक् तां ब्रह्मं च तपथाधोक् ॥ १५ ॥

तद् ब्रह्मं च तपथं सप्तक्षपव उर्ष जीवन्ति

ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

(५) सोदक्रामत् सा देवानामच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्जे एहीति ॥ १ ॥

तस्या इन्द्रो वृत्स आसीच्चमसः पार्श्वम् ॥ २ ॥

तां देवाः सविताधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥

तामूर्जां देवा उर्ष जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ — (सा उदक्रामत्) यह उक्तान्त हुई और (सा मनुष्याम् आगच्छत्) यह मनुष्योंके पास आई, (तां मनुष्याः उपाह्वयन्त) उसको मनुष्योंके इस प्रकार बुलाया कि (इरावति पति इति) 'हे अग्रवाती ! यहाँ आ' । (तस्याः मनुः वैवस्वतः आसीत्) उसका विवस्वतका पुत्र मनु बछटा था । उसका (पृथिवी पार्श्वं) पृथिवी पार्श्व था । (तां पृथी वैन्ध्यः अधोक्) उसका वेन पुत्र पृथिवीके बोहन किया । (तां कृषिं च सस्यं च अधोक्) उस बोहनके कृषि और सस्य उत्पन्न हुआ । इस कारण (ते मनुष्याः कृषिं च सस्यं च उपजीवन्ति) मनुष्य कृषि और सस्यपर ही जीवन बिताते हैं । (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (कृष्ट-राधिः) कृषिके सिद्धि प्राप्त करनेवाला होकर (उपजीवनीयः भवति) ब्रह्मरक्षी भौतिकका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ९-१२ ॥

(सा उदक्रामत्) यह उक्तान्त हुई और (सा सप्तक्षपीनां आगच्छत्) यह सप्तक्षपियोंके पास आई । (तां सप्त क्षपयः उपाह्वयन्त) उसको सप्त क्षपियोंके इस प्रकार बुलाया कि (ब्रह्मण्वति पति इति) 'हे ब्रह्मणाववाती ! यहाँ आ' । (तस्याः सोमो राजा वृत्सः आसीत्) उसका सोम राजा बछटा था और (छन्दः पार्श्वं) छन्द पार्श्व था । (तां बृहस्पतिः आंगिरसः अधोक्) उसका आंगिरसकुलोत्पन्न बृहस्पतिके बोहन किया, (तां ब्रह्मं च तपथां च अधोक्) उसको उभे ब्रह्म और तप मिला । (तद् ब्रह्मं च तपः च) इसलिये ब्रह्म और तप पर (सप्त क्षपयाः उपजीवन्ति) सप्त क्षपि अपनी जीवने पारण करते हैं, (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्मवर्च होकर (उपजीवनीयः भवति) भौतिकका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १३-१६ ॥

[५] (सा उदक्रामत्) यह उक्तान्त हुई और (सा देवान् आगच्छत्) यह देवोंके पास आई । (तां देवा उपाह्वयन्त) उसको देवोंके इस प्रकार बुलाया कि (ऊर्जे पति इति) 'हे बभ्रवति ! यहाँ आ' । (तस्याः इन्द्रः वृत्सः आसीत्) उसका बछटा इन्द्र था और (चमसः पार्श्वं) चमस पार्श्व था । (तां देवाः सविता अधोक्) उसका बोहन सविता देवने किया । (तां ऊर्जां पय अधोक्) उसको पय प्राप्त हुआ । अतः (तां ऊर्जां देवाः उपजीवन्ति) उस बभ्रवर देवोंका जीवने होता है, (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) भौतिकका निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १-४ ॥

सोदकामत् सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत्	
ता गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति	॥ ५ ॥
तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वृत्स आसीत् पुष्करपर्णं पात्रम्	॥ ६ ॥
तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धर्मधोक्	॥ ७ ॥
त पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति	
पुण्यगन्धिरूपजीवनीयो भवति य एवं वेदं	॥ ८ ॥
सोदकामत् सेतैरज्जनानागच्छत् तामितरज्जना उपाह्वयन्ति तिरोधु एहीति	॥ ९ ॥
तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वृत्स आसीदामपात्र पात्रम्	॥ १० ॥
तां रज्जतनाभिः कायेरकोऽधोक् तां तिरोधामेवाधोक्	॥ ११ ॥
तां तिरोधामितरज्जना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सव	
पाप्मानमपजीवनीयो भवति य एवं वेदं	॥ १२ ॥
सोदकामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विष्वक्स्वेहीति	॥ १३ ॥
तस्यास्तक्षको वैश्रलियो वृत्स आसीदलावुपात्र पात्रम्	॥ १४ ॥
तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् तां विषमेवाधोक्	॥ १५ ॥
तद् विष सर्पा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेदं	॥ १६ ॥

अर्थ— (सा उदकामत्) वह उदकान्त हुई और (सा गन्धर्वाप्सरसः आगच्छत्) वह गन्धर्व और अप्सरा भेके पास आई । (ता गन्धर्वाप्सरसः उपाह्वयन्त) उसको गन्धर्व लोग अप्सराओंने इस प्रकार बुलाया कि (पुण्यगन्धे पट्टि इति) ' हे उत्तम सुवातवाली ! यहां आ । ' (तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चस वृत्सः आसीत्) उसका सूर्यवचन पुत्र चित्ररथ ऋषदा था और (पुष्करपर्णं पात्रं) कमलका पत्रा पात्र था । (ता वसुरुचिः सौर्यवर्चस अधोक्) उसका सूर्यवचनपुत्र वसुरुचिन बोहन किया । (ता पुण्यं गन्धं एव अधोक्) दूसरे उत्तम सुवात ही उसे प्राल हुआ । इसलिये (त पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उपजीवन्ति) उस सुवातपर गन्धर्व और अप्सराएँ जीवित रहती हैं । (य एवं वेदं) जो यह जानता है वह (पुण्यगन्धि) उत्तम सुर्षभमुक्त होकर (उपजीवनीय भवति) लौकिकता निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ५-८ ॥

(सा उदकामत्) वह उदकान्त हुई और (सा इतरज्जनात् आगच्छत्) यह इतर जनके पास आई, (ता इतरज्जना उपाह्वयन्त) उसने इतर जनोंने इस प्रकार बुलाया कि (तिरोधे पट्टि इति) ' हे संतर्पण गति ! यहां आ । ' (तस्याः कुबेरो वैश्रवण वृत्स आसीत्) उसका विश्रवाका पुत्र कुबेर पुत्र था और (आमपात्र पात्रं) कण्ठपात्र पात्र था । (ता रज्जतनाभिः कायेरको अधोक्) उसका कायेरक पुत्र रज्जतनाभिने बोहन किया । (ता तिरोधा एव अधोक्) उसने अन्तर्धान गति प्राल की । इसलिये (इतरज्जना ता तिरोधा उपजीवन्ति) इतर जन उस तिरोधान गतिपर जीवित रहते हैं । (य एवं वेदं) जो यह जानता है वह (एवं पाप्मानं तिर धत्ते) सब पापको इतर रज्जता है और (उपजीवनीय भवति) लौकिकता निर्वाह करनेवाला होता है ॥ ९-१७ ॥

(६) तद् यस्मा एवं विदुषेऽलातुनामिपिञ्चेत् प्रत्याह्न्यात्	॥ १ ॥
न च प्रत्याह्न्यान्मनसा त्वा प्रत्याह्न्यतीति प्रत्याह्न्यात्	॥ २ ॥
यत् प्रत्याह्नितं विपमेव तत् प्रत्याह्नितं	॥ ३ ॥
विपमेवास्यामिष्यं आर्त्तुष्यमनुविषिष्यते य एवं वेदं	॥ ४ ॥

अर्थ— [६] (तद् एवं विदुषे यस्मै) इसलिये ऐसा जाननेवाले विप विद्वान्के क्रिये (अलातुना ममिपिञ्चेत्) अलातुसे ममिष्ये किया जाए, वह सका (प्रत्याह्न्यात्) प्रतिकार करे (न च प्रत्याह्न्यात्) और यदि न प्रतिकार करे तो (मनसा त्वा प्रति-आह्निसि) मनसे ' तेरा प्रतिधात करता हूँ ' (इति प्रत्याह्न्यात्) ऐसा प्रतिकार करे । (यत् प्रत्याह्नितं) जो प्रतिकार होता है (तत् विपं एव प्रत्याह्नितं) वह विपका ही प्रत्याधात करता है । (यः एवं वेदं) जो यह जानता है (विपं एव अस्य अमिष्यं आर्त्तुष्यं) विप ही इसके अमिष्य भ्रातृष्य पर (अनुविषिष्यते) ला विरता है ॥ १-४ ॥



वि रा द्

कामधेनुका दूध

इस सूक्तमें जगन्माता विराट् वैश्वरूपी कामधेनुका दूध किन लोपोंमें किसप्रकार निकाला इसका उत्तम वर्णन है । कामधेनु जो सबको एक लैसी माता है, उसमें कोई भेद नहीं है, परंतु उसके पास जानेवाले किमिन्न हैं, उनका मत भिन्न प्रकारका है, उनकी कामनायें भिन्न होती हैं, उनके पुत्रपार्यें भिन्न होते हैं, इस कारण परिणाम भी भिन्न हुआ करते हैं । गायके दूधके सांचके पेटमें जानेपर शक्षो उसका विष बनता है और उसी दूधको उसम आनके मूत्रमें सींचा जाए तो उसीसे उत्तम श्यावुरस तैयार होता है । इसी प्रकार एक ही समृद्धका जल मेघोंमें जाकर वृष्टिरूपसे नीचे आता है और सपूर्ण बृष बनरपतियोंपर पड़ता है, इसी एक ही जलसे छः

प्रकारके रस छः प्रकारके वृक्षोंमें उत्पन्न होते हैं, इसमें गण्डू, इमलीमें छट्टा, पिरणमें कटु इस प्रकार विभिन्न रस हो जाते हैं । मेघोंसे जानेवाला पानी एकसा होता है, परंतु बनरपतियोंके भेदसे रसमें भिन्नता उत्पन्न होती है । भूमि भी एक ही परंतु उसीमें उपजे गुलाब की सुगंध और प्रकारकी हैं, घनेली की शय्य प्रकारकी और पारिजातक की और प्रकारकी होती है । एक ही भूमिमें रसोत्पादक वनितियां भिन्न भिन्न होनेके कारण विभिन्न रसोंकी उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार विराट् रूपी दिव्य कामधेनु एक ही है, परंतु उसीसे वेब, ऋषि, पितर, अनुद, मातृष्य, सर्प, वनर्षभ धादि भिन्नभिन्न गुण प्राप्त करते हैं, इसका वर्णन इस सूक्तमें बेलने योग्य है, यही बात निम्न तात्पर्यमें विज्ञाते हैं—

१ विराट्, दिव्य कामधेनु

लोकः	दोहनकर्ता	असः	दोहन	सुलानेका	दूध	जीवन साधन	पया करता है
			पात्र	नाम			अथवा फैला होता है
मत्स्यः	द्विगूर्धा आर्भ्यः	विरोचनः प्राहादिः	मयूरपात्रं	माया	माया	माया	
पितरः	अतकोमार्यः	मम. राजा	रजतपात्र	स्वधा	स्वधा	स्वधा	
मनुष्यः	पृथी वैष्यः	मनुः	पुष्यी	इरावती	हृदि, सत्य	कृष्टि सत्य	कृष्टि - राधि
		वैवस्वतः	(मिट्टी)				
सप्तार्षि	बृहस्पतिः आपिरसः	सोमोरराजा	उन्मः	अहोष्यती	अस्य, तपः	अह, तपः	अहोष्यती

लोक	दोहनकर्ता	घटसः	दोहन पात्र	युक्तानेका नाम	दूध	जीवन साधन	क्या करता है मथवा कैसा होता है
देव	सवितादेवः	इन्द्रः	घमसः	ऊर्जा	ऊर्जा	ऊर्जा	
माध्यं	वसुदेविः	धिप्ररयः	पुष्करपर्ण	पुष्पगन्धा	पुष्पगन्धः	पुष्पगन्धः	सुगन्धित होता है
मफराः	सौर्यचंभः	सौर्यचंभः	(कमलपत्र)		(मुग्गं)		
इतरभव	रजतवाग्निः	कुबेरः	आमपात्रं	तिरोषा	तिरोषा	तिरोषा	पात्र दूर करता है
	काशेरकः	वैश्वदेवः					
सर्प	भुतराष्ट्रः	तक्षकः	अलापुपात्र	विषयती	विष	विष	
	ऐरावतः	वैशाखेयः					

२ विराट्, दिव्य कामधेनु

दोहनकर्ता	दुग्धाशय ऊघस्	घटस	रसमा गौ	गौके नाम	स्तन	दूध
देव मनुष्य	अश्व	इन्द्र	मापत्रो	ऊर्जा स्वधा सूनुता इरावती	बृहत् रघन्तर प्रतापतिथं वामदेभ्य	ध्वजः (आधान) भोयविः यत्त माय

३ विराट् गौ

किसके पास गई	पुनः धननेका समय	क्या होता है	ज्ञान
यनस्पती	संवाचर	यत्तं वग भरता है।	
भितर	मास	मासिक दान देते हैं	विदुषामहात्म्य
बेध	पक्ष	अर्धमासमें बचट करते हैं।	देवपामताम
मनुष्य	सद्यः	प्रतिवित्त मात्र ग्रहण करते हैं	
	तत्काल		

इन साहित्यग्रंथों में पता लगता है कि इस विराट्-रूपी कामधेनुके कितने कितने प्रकारका दूध प्राप्त किया। कामधेनुके पास जो मांसा जाता है, वही उसको प्राप्त होता है। मास चाहते अमृत मांगे अथवा विष। एक ही कामधेनु अमृत मांगनेवालेको अमृत देगी और विष मांगनेवालेको विष देगी। कामधेनु तो घर मांगनेवालेको इच्छा सुन कर उत्सर्जती है। यहाँ भर मांगनेवालेकी घोष्य वृद्धि होती पाहिये। तहाँ तो विराट् देवताके प्रसाद होनेपर जो अर्घ्या कर मांगकर अपना ही भाग कर लेगा।

पूर्वजन्त साहित्यकारों देवतानेते पता लगेगा कि अमुरोंने उस विराट् देवीको 'माया' नामसे पुकारा है, मायाका अर्थ है—'छात, बचट, धोला, अंता बीलता है बीता वास्तविक

न होना, भ्रम, कौशल्य।" अमुरोंने विराट् देवीमें ये गुण देखे और उनसे बेसी गुण मांगे और उनको ये ही गुण मिले। जो अमुरोंने मांगा वही उनको मिला। आश्विन और मर्गशिरा मासके अमुरोंने बचट और धोला ही विनाई देता है। इन ही धोलाशत्रुके कृतघ्नोति अमुर पहचाने जाने हैं। अमुरोंका सब इतिहास धोलेबाजीका ही इतिहास है।

उसो विराट् कामधेनुके देवोंने बल और अमरपी प्राप्यंत को और उनको अन्न और बल प्राप्त हुआ। इस पल्ले देवोंने अमुरोंका पराभव किया और देवोंका राज्य इत सुखीमें हुआ।

मनुष्योंने विराट् देवीसे दूध और काम मांगी की प्राप्यंत को और वह दूध विद्या उन्होंने प्राप्त की, आत्मनक मनुष्य इन्दिने अपना बीरिबाका निर्बाह कर रहे हैं।

सर्पोंने उत्तम देवताकी उपासना करके जो कुछ मागा, वह न उनके लिए लाभकारी ही और न दूसरोंका हित कर सकता है। ऐसे बड़े देवता आदिमाताकी प्रसन्नताके बाद उससे सर्प ऐसी चीज मांगते हैं कि जो जगत्का नाश कर सकती है। उससे सर्पोंने 'बिच' मांगा, जो प्राणिमात्रका नाश कर सकता है। यदि सर्प उस देवतासे विशेष महती शक्ति मांगते, तो वह भी उनकी मिल सकती थी, परन्तु उसके लिये भी कुछ बुद्धि चाहिये। उसके धमाममें ऐसाही होगा। इसका तात्पर्य यह है कि बड़ीसे बड़ी शक्ति भी हाथमें आनाए, तो भी मनुष्यका कोई लाभ नहीं हो सकता, बसो कि उस शक्तिके उत्तम उपयोग करनेका बाल उसमें चाहिये। उस ज्ञानके धमाममें यदि प्राण्य हुई हुई बड़ी शक्ति नि संदेह इसकी हानि ही करेगी। जैसे सर्प और समुद्र दस देवताकी कृपासे साम न उठा सके। परन्तु अग्नि, वेध और भानुर्षोंने उससे उधा लाभ प्राप्त किया। विशेषकर अग्निर्षोंने उस देवतासे 'ब्रह्म और तप' प्राप्त किया, जो सब मानवजातिकी उन्नतिकी एकमात्र साधन है।

इस सूक्तकी अन्य बातें इस पूर्वोक्त उपदेशका मोरध मंत्रानके लिये हैं, जत उनके विशेष विवरणकी कोई आवश्यकता नहीं है।

यह विराट् देवता केवल असुर, गितर, देव, मनुष्य, इतरजन, सर्प आदिकोंपर ही प्रवृत्त हुआ और हम सब मनुष्योंको यह कर देनेकी तैयार नहीं ऐसी बात नहीं है। यह आदिमाता जगन्माता हम सबकी जो चाहे सो देनेकी तैयार है, हम सब जो चाहें सो लेते भी हैं, परन्तु जो लेना चाहिये वह नहीं लेते। अयोग्य पदाधि लेकर हम अपनी अधनति कर रहे हैं, इसलिये वेदने हमें इस सूक्तद्वारा यह उपदेश देकर कहा कि उससे भन्खी शक्ति ही मांगनी चाहिये और कोई हानिकारक वर नहीं मागना चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य मनमें सकल्प करता है, इच्छा करता है, कामना करता है यह सब पूर्वोक्त कामधेनुसे मांग ही होती है। प्रत्येक मनुष्य कामधेनुके सामीप्य है। यह सब 'विराट्' कामधेनु ही है और उसके सामने बैठकर मनुष्य इच्छा करता है। कल्पवृक्षके मोचे अधवा कामधेनुके सामने बैठकर मनमें भली या बुरी जो भी कामना की जायगी, वह तत्काल सिद्ध होगी। भली कामना यदि भवने उत्पन्न हुई तो कोई दोष नहीं होगा, परन्तु बुरी कामना उठी तो हानि होनेमें कोई भी संदेह नहीं। शत जो हानि बुरा सफल करनेसे होती है, उस हानिकी निम्नोवारी मरनेपर ही है। इस प्रकार विचार

करनेपर पता लगेगा कि मनुष्य स्वयं अपना नाश कर रहा है। इसने बुरी कामना की और कामधेनुसे धंसा फल मिला, तो उसमें कामधेनुका क्या दोष है? दोष सब कामना करनेवालेका ही है।

राष्ट्रीय उपदेश

इस सूक्तका जो पहिला भाग है वह राष्ट्रीय उन्नति विषयक है। उसमें जनताकी उन्नति कैसे हुई, राष्ट्रीय संपत्ता कैसे हुई और लोगोंकी प्रातिनिधिक सभा कैसे बनी, सब विषयोंका उपदेश इस सूक्तमें है। यहाँ 'वि-राट् या धि-राज्' शब्दका अर्थ 'राजहीन स्थिति' है। जिस समय राजा बना नहीं था, राजा बनानेकी कल्पना अथवा राजाकी बहना भी जिस समय जनतामें नहीं थी, उस समयकी जनताकी व्यवस्था 'वि-राज्' उन्म द्वारा यहाँ बताया है। राजसभ्यके शुरु होनेके पूर्वकी स्थिति इस शब्दने यहाँ प्रकट की है। यह शब्द 'अ-राज-क' शब्दका पर्यायशब्द नहीं है। अराजक तोय राजाकी उत्पत्तिके परचात् होते हैं। पहिले राजाकी उत्पत्ति हुई, पश्चात् राजा और राजपुत्र्य प्रकारर जात्याचार करने लगे, उनके आचारारसे प्रसन्न होकर राजाके नाश करनेकी इच्छासे 'अराजक' लोगोंका जन्म हुआ है। अर्थात् राजाके उत्तरकालमें 'अराजक' की उत्पत्ति और पूर्वकालमें 'विराज्' की स्थिति होती है। इस प्रकार विचार करनेसे विराज्का अर्थ स्पष्ट हो सकता है। जनता विराज् स्थितिमें थी, इसका अर्थ यही है कि उस समयमें लोग विचरे हुए थे, उनमें कोई संपत्ता नहीं थी।

तापश्चात् सबसे प्रथम जो सङ्गठनकार प्रारम्भ हुआ वह 'स्त्रीपुरुषोंके मेल' से ही प्रारम्भ हुआ। यादा और नर तो पशुओंमें तो मिलते हैं, परन्तु वे अपना गृहस्थ संसार नहीं बनाते। उनका मेल तो केवल कामुकताके समयमें ही होता है। मनुष्यमें बुद्धि है, मन है और प्रेम भी है। प्रारम्भिक मनुष्योंमें पशुवत् स्त्रीपुरुष मेल ही होते थे, जब उनका प्रेम अधिक बृद्ध होने लगा, तब वे एकत्र रहने लगे। इस एकत्र निवास पर धर्मका नियन्त्रण होनेसे 'गृहपति' सम्प्रदायी उत्पत्ति हुई। धर्मके नियन्त्रणके साथ प्रतिबिन्दके अतिहीन तथा अत्याच्य गृहस्थधर्म मनुष्यके साथ स्थापित होगे। तबसे यह मनुष्य घर बनाकर रहने लगा। धर्ममें रहनेसे धर्मके स्वामी, स्वामीकी सहचारिणी स्त्री और उसके सहचार्य भाई और पुत्र इन सबकी कल्पना मनुष्यमें उत्पन्न हुई और यही कल्पना बड़ते बड़ते साम्राज्यधर्म परिणत हुई। इसी उन्नतिरा क्रम इस सूक्तमें उद्घाटित है।

गृहपति, आह्वयनीय और दक्षिणाग्नि ये तीनों सत्वाएँ गृहस्थस्यस्यार्थं ही अधिप्राधिकः संगठनको और तबेत कर रही हैं। गृहपति सत्त्वार्थं या भी छोटे होते हैं। आह्वयनीय और दक्षिणाग्निमें मत बढ जाते हैं और उसके कारण मानव संगठन भी बढ जाता है। परंतु अभीतक ग्रामसत्त्वार्थाका अस्तित्व नहीं हुआ था। अनेक कुटुंब एक स्थानपर रहते थे, परंतु ग्रामसत्त्वार्थाके अस्तित्वमें ये बढ नहीं थे। एक स्थानपर अनेक कुटुंबोंके रहनेके कारण लोगोंमें ग्रामसत्त्वार्थाके रूपना उत्पन्न हुई। उससे अनेक कुटुंबोंका संगठन हुआ और इस प्रकार ग्रामसत्त्वार्था अस्तित्वमें आई। गृहपति सत्त्वार्थाके पश्चात् ग्रामको और ग्रामसत्त्वार्थाके रूपना स्वभावतः ही उत्पन्न हुई। वही कि गृहपति सत्त्वार्थमें जो धरके नियताकी भावना और संघटनासे मुखका अनुभव हुआ उसी अनुभवसे अनेक गृहस्थियोंकी मिल कर एक कुटुंब बनाने और उससे अपना समबल बढ़ानेकी कल्पनाका अनुषंगोंमें उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

इससे ही 'सभा' की उत्पत्ति हुई है। यहाँ सभाका अर्थ 'ग्राम-सभा' है। 'ग्राम' शब्दका ही अर्थ 'संघटित समाज' है, अनेक कुटुंब एक नियमसे बंधकर एकत्र रहते हैं उसका नाम 'ग्राम' है। इस ग्रामकी जो सभा उत्पन्न नाह ग्रामसभा है। यह 'सभा' उस ग्रामके धुने हुए प्रतिनिधियोंकी ही होती है। कोई बाहरका मनुष्य इस सभाका सदस्य नहीं हो सकता। जो उस ग्रामका रहनेवाला है, जिसका घरबार ग्राममें है और जो उस ग्रामके कुटुंबियोंका पुत्रा हुआ प्रतिनिधि है, वह उस सभाका सदस्य ही बनता है। इस प्रकारके जो लोगिके प्रतिनिधि थे उन्हींको यह ग्रामसभा बनी। और यह सभा ग्रामकी रक्षा, आरोग्य प्रबन्ध, शिक्षाव्यवस्था आदि कार्य करले लगी। इस ग्रामसभामें उस ग्रामका नियंत्रण धारू हुआ।

इस प्रकार जब अनेक ग्राम धने, उनकी व्यवस्थापिका सभाएँ बनीं, तो उनमें आपसमें 'संग्राम' भी होने लगे। ऐसे 'सं-ग्राम' के पश्चात् ही संग्रामोंसे होनेवाले बट्टे परिणामोंका भान हुआ और अनेक ग्रामोंकी एक संघटित सभा बनानेकी कल्पना तबको प्रिय लगी।

इसी कारण 'समिति' को निर्मित हुई ऐसा आगे इस श्रुतमें कहा है। पूर्वोक्त ग्रामसभाओंके द्वारा धुने हुए प्रतिनिधियोंकी ही यह राष्ट्रसमिति अथवा राष्ट्रीय सभा बनी और इसके द्वारा राष्ट्रका शासन धारू हुआ। इसके बीचमें प्रांत सभाएँ छोटी अथवा बड़ी होनेवाली मनुष्यान् पाठक

कर सकते हैं और इससे बढकर साधारणमहासभाका होना भी पाठकोंकी कल्पनामें आ सकता है।

महासभा अथवा समिति राष्ट्रकी होती है और इसमें सब ग्रामोंके प्रतिनिधि आनेसे प्रतिनिधियोंकी संख्या भी बड़ी होती है। जब बहुत किया संख्या प्रतिनिधि होते हैं, तब उनका उपस्थित होना और एक सत्ते का प्रबन्धन अत्यंत कठिन होता है, इसलिये उनमेंसे कुछ छोड़ते धुने हुए अधिकांश कार्यकर्ताओंका 'मनिमंडल' बनाना आवश्यक हुआ करता है। कार्य करनेके समय इसकी अत्यंत आवश्यकता होती है। अतः इसी प्रकार अन्तिम भागमें 'आ-मंत्रणा' परिवर्तन करनेका उल्लेख है। आमंत्रणा अथवा मंत्रणा करनेवाला ही मनिमंडल होता है। यह सब राष्ट्रके शासन व्यवहारका विचार करता है और तदनुसार तप जोहूँबेवारी द्वारा राष्ट्रका तथा तदनुगत ग्रामोंका शासन व्यवहार करता है। इस अर्थसे, वेदने लोकेन्द्रागत सत्त्वार्थाकी उत्पत्तिका प्रम बताया है।

मनुष्यमें जो आत्मशक्ति है वह बड़ी प्रभावशालिनी है। उस आत्मशक्तिके ज्ञान, कोरता, सङ्ग और कर्म ये चार भेद हैं। जहाँ आत्मा है वहाँ ये चार शक्तिविभाग म्यून्यापित होती हैं। मनुष्यमें ये ही ब्रह्म, क्षत्र, विद, मूर्ध नामसे प्रसिद्ध हैं। ज्ञानसंग्रह, राष्ट्रशासन, धनसंग्रह और धर्म-कोशक ये इनके कार्य अथवा मूर्धसिद्ध हैं।

जब अनेक कुटुंब एक स्थानपर आ जाते हैं, तब उनमें कई लोग शासक सङ्ग करनेवाले, विचारसंग्रह, भेषक व्यापारालासमें रहते हैं, ये जगत्के व्यवहारके जालमें नहीं आते।

इससे कई लोग ऐसे होते हैं कि जो अपने बाहुबलसे ग्रामकी रक्षा करनेमें तत्पर होते हैं। इनके अर्थसे होनेवाली रक्षासे अन्य लोग अपने आपकी सुरक्षा समाप्त है। इससे जो रक्षार्थे लिये आत्मसंग्रह करनेमें ही इनका ध्य होना है। ये धाम या राष्ट्रकी रक्षार्थे लिये अपने जीवनकी भी-समर्पित कर देते हैं। परीपत्ताके लिये ये क्षत्रिय लोग बड़ी बड़ी आघातियाँ सहन करते हैं, और अपने जीवनकी सत्त्वार्थोंमें और सत्त्वार्थोंके कार्योंमें सोक देने हैं और संतुर्ण बनाने प्रेरणे योग्य बनते हैं।

वैश्य लोग सेने और व्यापारका व्यवहार करते हैं, धन कमाने ह और जनताके हितके कार्य करनेके लिये उन धनका समर्थन भी करते हैं। ये वैश्य लोग संतुर्ण भी बनुर होते हैं और धनमें भी गूर होते हैं। इसीमें इनका ध्य हुआ जाता है।

चोपे कर्मधार हं, इनको झूठ कहते हैं- अनेक हुनर या कारीगरीके कर्म करना इनका कर्तव्य है। विविध प्रकारके कुशलताके कर्म करके ये अनेकानेक मुक्तके साधन निर्माण करते हैं। सब अन्य लोग इनकी कारीगरीके सुखके साधन प्राप्त करते हैं। जो लोग इन चारों वर्गोंमें नहीं सम्मिलित होते, उनको अवर्गीकृत पञ्चम वर्गमें सम्मिलित किया जाता है। ये पांच प्रकारके 'पंच-जन' हैं। इन पञ्चजनोंकी ही ग्राम, नगर, पत्तन और राष्ट्र होता है। इन वर्गोंके प्रतिनिधि यहाँ इकट्ठे होते हैं, उस सभाका नाम 'पंचायत' है, यही ग्रामसभा, नगरसमिति, राष्ट्रसभा और आमप्रम-परिषद् है।

यहाँ सभा होती है यहाँ उसके अध्यक्ष, मंत्री आदि

अधिकारी होते हैं, इस कारण प्रायःसर्वत्र ग्रामसभाअध्यक्ष, राष्ट्रसमितिके उसके अध्यक्ष और मन्त्रिमंडलमें उसके मुख्य मंत्रियोंका होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार घरमें घरका स्वामी होता है, उसी प्रकार सभामें सभाके नियामकका होना आवश्यक है। आगे चलकर गुह्यादि प्रसंगके छिन्नजानेपर युद्धनायक सेनाका विशेष बल हाथमें आनेसे अध्यक्ष ही स्वयं शासक राजा या महाराजा बनता है। अथवा जिसकी प्रत्यागत राज्यका अध्यक्ष चुनते हैं वही अपना बल बढ़ाकर स्वयंशासक राजा बनता है। यह राजाका विषय यहाँ नहीं है, यहाँ केवल ग्रामसभा, राष्ट्रसमिति और मन्त्रिमंडल प्रजाजनोंद्वारा चुने हुए प्रतिनिधियोंके कर्तव्य होते हैं, इसीका वर्णन है।



राष्ट्री देवी

कडां ४, सूक्त ३०

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - सर्वध्या सर्वांगिका सर्वदेवमयी वाक् ।)

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।

अहं मिश्रावरुणोमा बिभर्म्यहमिन्द्रासो अहमशिनोमा ॥ १ ॥

अहं राष्ट्रीं संगमनीं वसुनां चिकितुषीं प्रथमा युधिवानाम् ।

तां मा देवा व्यदधुः पुरुषा भूरिस्थात्रां भूर्यविश्वयन्तः ॥ २ ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामृत मातृपाणाम्

यं कामये संवमुग्रं रुषोमि तं ब्रह्माणं तमृपिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (अहं) मैं परमात्मशक्ति (रुद्रोमिः धमुमिः आदित्यैः विश्वदेवैः चरामि) देवों, वसुनों, आदित्यों और विश्वदेवोंके साथ चलती हूँ। (अहं उमा मिश्रावरुणा बिभर्मि) मैं वीरों मित्र और वज्रकी धारण करती हूँ और (अहं इन्द्रास्री, अहं उमा अश्विना) मैं इन्द्र और अश्विन तथा मैं दोनों अश्विनोंको धारण करती हूँ ॥ १ ॥

(अहं राष्ट्रीं) मैं प्रकाशक शक्ति (वसुनां संगमनीं) वसुनोंके प्राप्त करानेवाली और (चिकितुषीं) ज्ञान देनेवाली हूँ इसलिये (युधिवानां प्रथमा) सब पूजनीयोंमें पहिली पुजने योग्य हूँ। (तां भूरिस्थात्रां मां) उस विश्विय प्रकारसे स्थित मुझको (भूरि आवेदायन्तः देवाः) बहुत प्रकारके भाषेदको प्राप्त होनेवाले देव (व्यदधुः) विज्ञान प्रकारसे धारण करती हैं ॥ २ ॥

(देवानां उत मातृपाणां जुष्टं) देवों और मनुष्योंके द्वारा स्वीकार करने योग्य (इदं) यह भाषण (अहं स्वय एव वदामि) मैं स्वयं ही बोलती हूँ। (यं कामये) जिस निश्चय मैं योग्य लगती हूँ, (तं तं उग्रं रुषोमि) उस उसको मैं उग्र और बनाती हूँ तथा (तं ब्रह्माणं, तं ऋषि, तं सुमेधां) उसीको ब्रह्मा, ऋषि अथवा उसीको उत्तम बुद्धिमान् करती हूँ ॥ ३ ॥

मया सोऽन्नमसि यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम् ।

अमन्तवो मां त उर्ष क्षियन्ति श्रुषि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥ ४ ॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विपे शरंवे हन्तवा उ ।

अहं जनाय समदं कृणोम्यहं चावापृथिवी आ विवेश ॥ ५ ॥

अहं सोममाहनसं पिभर्म्यहं स्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।

अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राध्याशु यजमानाय सुन्वते ॥ ६ ॥

अहं सुबि वितरंमस्य मूर्धन्मम योनिरुस्वन्तः संमुद्रे ।

तद्यो वि विष्टि भुव्नानि विश्वोतामं धां वर्ष्मणोषं स्पृशामि ॥ ७ ॥

अहमेव वातं ह्य प्र चाम्यारममाणा भुव्नानि विश्वा ।

पुरो दिवा पर एना पृथिव्यैतावेती महिम्ना सं चभूय ॥ ८ ॥

अर्थ— (यः विपश्यति) जो यह विशेष रीतिते देखता है (सः मया अन्नं असि) वह मेरी कृपासे अन्न खाता है । (यः प्राणति) जो प्राण लेता है और (यः ईं उक्तं शृणोति) जो भाषण सुनता है वह सब मेरी शक्तिते हो है । जो (मां अमन्तवः) मुझे न माननेवाले हैं, (ते उर्षक्षयन्ति) वे मिलासको प्राप्त होते हैं । हे (श्रुत) सुननेवाले ! (श्रुषि) श्रवण कर । (ते श्रद्धेयं वदामि) तेरे लिये यथा रखने योग्य यह उपदेश मैं करता हूँ ॥ ४ ॥

(ब्रह्म-द्विपे शरंवे हन्तव्ये उ) शत्रुके द्वेषी घात करनेवालेका नाम करनेके लिये (अहं रुद्राय धनुरा तनोमि) मैं रुद्रके लिये धनुषको तावती हूँ, (अहं जनाय समदं कृणोमि) मैं जनके लिये हर्ष देनेवाले पराजित करती हूँ, (अहं चावापृथिवी आविशेत्) मैंने आवापृथिवीमें प्रवेश किया है ॥ ५ ॥

(अहं सोममाहनसं स्वोमं पिभर्मि) मैं प्राप्त करने योग्य सोम राजाको पारण करती हूँ । (अहं स्वष्टारं उत पूषणं भगं) मैं स्वष्टार और पूषाको पारण करती हूँ । (अहं दधामि द्रविणा दधामि) उत्तम रत्ता करने योग्य बन देती हूँ ॥ ६ ॥

मं (अस्य मूर्धन् पितरं सुये) इसके तिरकर रसाकको निपुला करता हूँ । (मम योनिः संमुद्रे अमृत) मेरा मूलस्थान प्रकृतिके समुद्रके जलके मध्यमें है । (तद्यो विश्वा भुवनानि वितिष्ठे) वहलते सब भुवनोमें विशेष रीतिते स्थित होती हूँ (उत वर्ष्मणा अमं धां उपस्पृशामि) और अपनी महिमासे उत पृथिवीको स्पर्श करता हूँ ॥ ७ ॥

(विश्वा भुवनानि आरममाणा) सब भुवनोका आरंभ करनेवाली (अहं पश्य वातः ह्यप्रयामि) मैं ही अकेली वायुके तामन संतती हूँ और (दिवा परः) पृथिवीके परे और (एना पृथिव्यै परः) इन पृथिवीके भी परे (महिम्ना पृतापती संचभूय) अपने महत्त्वसे इतनी विभाव होती हूँ ॥ ८ ॥

राष्ट्रीय देवी

राष्ट्रीय देवी

'राष्ट्रीय देवी' या परमात्मा की प्रकृतितेजस्वी शक्तिका नाम है। यह शक्ति स्वयं अपनी महिमाका वर्णन कर रही है, ऐसा काव्यमय वर्णन इस सूक्तमें है। तृतीय मन्त्रमें कहा ही है कि " (अह एव स्वयं इदं वदामि) मैं ही यह स्वयं कहती हूँ ' इसलिये यह वर्णन अन्य सूक्तोंके वर्णनोंकी अपेक्षा विशेष महत्त्वका है यह बात स्वयं स्पष्ट हो रही है। इस सूक्तमें परमात्म-शक्तिका वर्णन होनेके कारण इस सूक्तके अध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थ भी ही सकते हैं। आधिदैविक अर्थ अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके सम्बन्धमें होता है, यह अर्थ हमने मन्त्रोंके अर्थ करते हुए दिया है। परमात्माकी शक्ति अग्नि, इन्द्र, अश्विनी देव आदि मुख्यदेवताओंके महाशक्तियोंमें प्रकाशित हो रही है, यह भाग आधिदैविक अर्थमें प्रधान रहता है। अब यहाँ आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थ देते हैं। अध्यात्मिक अर्थ अपने शरीरमें देखा जाता है और आधिदैविक अर्थमें जहाँ परमात्माकी शक्तिका सम्बन्ध जानना होता है, वहाँ अध्यात्मिक अर्थमें जीवामात्माकी शक्तिका सम्बन्ध भी देखा जाता है। यद्यपि यहाँ आध्यात्मिक अर्थ देलिये—

आध्यात्मिक भावार्थ

" मैं जीवामात्माकी शक्ति हूँ और मैं (स्त्रीभिः) प्राणोंके साथ (घञ्जुभिः) निवासक जलादि शारीरिक पात्रुत्तोंके साथ (आदित्यैः) आत्मान शक्तियोंके साथ तथा (त्रिध्रुव-देवैः) सब इन्द्रियोंके साथ रहकर बहोका व्यवहार चलती हूँ। मैं शरीरके (मिश्रा-वर्णौ) और और तीन शक्तियोंके अर्थात् आत्माके और रसात्मक शक्तियोंके धारण करती हूँ। मैं (इन्द्र-अग्नी) जीवन, विद्युत् और शरीरकी उष्णताको काममें रखती हूँ और मैं ही (अश्विनौ) दोनों प्राण और अपानको चलती हूँ ॥ १ ॥

मैं शरीरकी (स्त्री) प्रकाशक शक्ति हूँ अर्थात् मेरे प्रकाशके कारण ही इस देहमें तेजस्वित्ता सिद्ध रहती है, मैं ही यहाँ (घञ्जुनां संगमती) रस रक्तदि विविध पात्रुत्तोंको उत्पन्न करके शरीरकी सुरक्षित रखती हूँ। मैं ही (चिकित्सीणी) जल देनेवाली हूँ। इसलिये मैं यहाँ अथवा स्वयंमें (यक्षिष्यातां) प्रथमा) पृथ्वीमें सबसे प्रथम पृष्ठाके योग्य हूँ। मैं (भूरि-स्वा-जां) विविध अवयवों

और इन्द्रियोंमें रहकर शरीरकी रक्षा करती हूँ और (आ-धेश्यन्तः देवाः) मेरे प्रवेशके कारण ही सब इन्द्रियोंमानों (मां व्यदधुः) मुझे ही विविध प्रकारसे धारण करती हूँ और मेरी शक्तिते ही अपना अपना कार्य करनेमें समर्थ होती हूँ ॥ २ ॥

देव क्या और मनुष्य क्या, सभी मुझ आत्मशक्तिका ही महत्त्व पाते हैं, मैं स्वयं भी अपना यह वर्णन करती हूँ, जितपर मैं प्रसन्न होती हूँ वह मनुष्य उग्रवीर, ब्राह्मण, श्रुति और ज्ञानी महात्मा बन जाता है ॥ ३ ॥

मनुष्य खाता है, देवता है, स्वास करता है, प्राण्य सुनता है वह सब (मया) मुझ आत्मशक्तिकी सहायतासे ही करता है। सो लोग मुझे नहीं मानते वे नाशको प्राप्त होते हैं। सब लोग मेरा यह भाषण ध्यान करें और मुझ आत्म-शक्तिपर श्रद्धा रखें, भद्रतासे ही मुझ शक्तिते उनको लाभ होगा ॥ ४ ॥

इन्द्रविरोधी घातक दिवारोंको दूर करनेके लिये मैं आत्मशक्ति ही इस शरीरमें (सद्भाय) प्राणको प्रेरणा देती हूँ, मैं ही मनुष्यको जन्म और हर्ष देती हूँ, तात्पर्य कि इस शरीरमें (धौः) तिरस्के सेकर (गृथिरी) वैरलक मैं ही शक्तिरूपसे फैली हुई हूँ ॥ ५ ॥

मैं श्रद्धा करने योग्य (सोमं) अन्नको यहाँ धारण करती हूँ, मैं ही (स्वधा) मेरक और (पूषा) पोषक शक्तियोंको शरीरमें धारण करती हूँ। मैं (हृषि) उत्तम अन्न और रस स्वीकारनेवाली और इस शरीरकी घातकतामें शत सां-सारिक तन्त्र करनेवालीको उत्तम पशु देती हूँ ॥ ६ ॥

मैं इस शरीरके ऊपर रखक शक्तिकी नियुक्त करती हूँ, मैं यहाँ हृदयके अन्दरके हृदयगत्यके जीवनरस में रहती हूँ, यहाँसे ही एक अवयवमें कार्य करती हूँ और ऊपर तिरस्क फैलती हूँ ॥ ७ ॥

तब इन्द्रियों और अवयवोंको उत्पन्न करती हुई मैं वायुके समान फैलती हूँ और इस शरीरमें तिरस्के सेकर वैरलक अपनी महिमासे फैली हूँ ॥ ८ ॥

आध्यात्मवर्णनका मनन

पूर्वोक्त मन्त्रोंका यह आध्यात्मिक आशय है। जो आशय अपने अन्दरकी शक्तियोंका होता है वह आध्यात्मिक कहलाता है। मन्त्रोंमें जो शक्तियोंके प्राण्य होते हैं वे ही मनुष्यके शरीर

विषय दक्षिणोंके श्रावक होते हैं, उनको अन्न इक्षितयोंका वाषक जाननेसे आध्यात्मिक अर्थ प्राप्त जाता है। अब इसी सूक्तका आधिभौतिक आशय देखिये । मानव सत्य या प्राणि-सत्यके विषयका जो अर्थ होता है वह आधिभौतिक अर्थ होता है—

आधिभौतिक मानार्थ

‘ मं राष्ट्रशक्ति (राष्ट्रमि) धीरों (धृष्टिमि) धनिकों (आदिभ्यैः) विद्याप्रकाशक विद्वानों और (विभ्येदेवै) सब जानियोंके साथ रहती है । मं धोने (मित्रावरणो) मित्र जनों और वरिष्ठ लोगोंके, (इन्द्र-अग्नि) सूरवीरों और जानियोंके तथा (अग्निमौ) दोनों प्रकारके अधिराजों कुमारोंके अर्थात् यज्ञोक्त राष्ट्रमं धारण करती है ॥ १ ॥

मं राष्ट्रशक्ति है, मं ही सब धर्मों और धनिकोंको एकत्रित करती है, मं राष्ट्रशक्ति (चिकित्सुषी) ज्ञान यज्ञानेवाली है, मं पूजनोपयोगं सत्ये मुख्य है, मं राष्ट्रके अनेक स्वार्थोंमें (भूरि-स्था-धां) रहकर राष्ट्रको रक्षा करता है, इस मूल राष्ट्रशक्ति द्वारा (आवेदायन्त-देव्याः) आवेद अर्थात् स्वरूपको प्राप्त हुए सब विद्वान् लोग, मानो, मुझे ही विशेष प्रकार धारण करते हैं ॥ २ ॥

मं देवजनों तथा तापारण मनुष्योंके द्वारा भी सेवनीय है अर्थात् सब मूल राष्ट्रशक्तिको धारण करें । मं स्वयं कहती है कि जितपर मं प्रसन्न होती है वह उपवीर, मानी, ऋषि अथवा बृद्धिमान् मनुष्य बनता है ॥ ३ ॥

राष्ट्रमें जो सुख अन्न भोजने हैं, जो देखते हैं सुनते हैं प्रवसा जो श्वासीश्वास करते हैं वह सब मेरी ही शक्तिये सत्य है । (सां अमन्तवाः) मूल राष्ट्रशक्तिका अग्रमान करनेवाले अथवा मूलो मान न देनेवाले लोग माराको प्राप्त होते हैं । हे लोगो ! यह बात सुम धडाते सुनी इतमें सुम्हाराहित है ॥ ४ ॥

(ब्रह्मविद्ये शरत्वे ह्यतवै) ज्ञान प्रचारके द्वेषी और प्राप्त करनेवाले कुष्ठोक्त नाम धारणके लिये मं ही (राष्ट्राय धनु आतमोमि) धीर पुष्टियोंके पास सब इच्छासत्य संपाद रखती है । मेरी कृपासे ही राष्ट्रके लोग आनन्द रहते हैं, मानो मं राष्ट्रशक्ति पृथ्वीसे लेकर शरीरकलाक अर्थात् सर्वत्र फैली है ॥ ५ ॥

मं राष्ट्रशक्ति ही प्राप्त करने योग्य (सोमं) सोमधादि व्यवस्थियोंको अन्न धारण करती है । (अह त्वष्टारं) मं शरीररत्नोंके और (पूषण भृग) योग्यकर्ता धनजनोंको राष्ट्रमें धारण करते हैं । जो (हृषिधमते यजमानाव) अन्नादि द्वारा यज्ञ करनेवाले सत्जन होते हैं, उनको मं उचित प्रमाणमें पग देती है ॥ ६ ॥

मं ही राष्ट्रशक्ति (अस्य मूर्धन् पितर सुये) इस राष्ट्रके तिरधर तथा करनेवाले राजाको उत्पन्न करती है, मेरी उत्पत्ति (सं+उत्+प्रे) एक होकर राष्ट्रीय उत्पत्तिके लिये किए जानेवाले प्रयत्न होते हैं, उन प्रयत्नोंमें होती है । यहां मं उत्पन्न होकर राष्ट्रके हरएक कोनेमें फैल जाती है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मं पृथ्वीसे स्वर्गगत होती हुई है ॥ ७ ॥

राष्ट्रमें मं सब तरफोंको आरज करती है और फैलती है । मानो, मं प्रचंड बाढ़के समान संवार करती है, यहाँतक कि ऊपरसे भीतेक मेरा अग्रज समार होता है, यह मेरी महिमा है ॥ ८ ॥

इस राष्ट्रीय अर्थका मनन

इस सूक्तके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीनों भावार्थ यहां दिने हैं । भौतिक और राष्ट्रीय इन धर्मोंके विषयमें विषय उपदेश प्राप्त करना चाहिये, यद्यो कि मनुष्यका कर्मयोग ही यह है । इन धर्मोंके साथ तीनों भूमिकाओंमें कितना प्रकार अर्थ बताते हैं, यह निम्नलिखित मोट्टरके शत हो सकता है—

मंत्रके शब्द	आधिदैविक भाग	आधिभौतिक भाग	आध्यात्मिक भाग
रा	मेघरूपानीय विष्टुत्	धीर	प्राण
धनु	पुष्टिध्यादि आठ वस्तु	धन और धनिक	शरीररथ धानु
भारित्य	सूर्य	ज्ञानप्रकाशक	मस्तिष्क
विश्वेदेवा	सब प्रकाशमान् अथवादि देव	सब धर्मधारी गण	सब इंसिये
मित्र	सूर्य	प्रकाशक विद्वान्	मन
वचन	वाङ्	ज्ञानज्ञानी	धन
इन्द्र	विष्टुत्	सूर	आपत मन
अग्नि	अग्नि	वक्ता	बाणी

मंत्रके शब्द	आधिदैविक भाष	आधिभौतिक भाष	आध्यात्मिक भाष
अग्निमी	अग्निमी	पंच	इषातउष्णवार
ऋष्या	ऋषिशिवी	कारीवर	विभ्राजकशक्ति
पूषा	पोषक रंभीताला	पोषकबर्ता	पोषकशक्ति
समुद्र	प्रकृति	लोकैकी हृत्कल	हृत्प
घी	दुलीक	जानो	सिर
पृथिवी	भूलीक	लेखक	पार

मंत्रके शब्द इस रीतिसे अन्वय्य भूमिकाओंमें अन्वय्य अर्थके अरथक होते हैं। इन अर्थोंको जाननेसे ही मंत्रका सपूर्ण अर्थ जानना संभव है। अर्थितमें गुणोंके रूपसे अर्थ देना है, राष्ट्रमें गुणी जनोका भाष लेना है और विचरमें उन्नत देवोंको देखना होता है। अर्थात्- अर्थितमें शीर्ष गुण है, इससे शत्रु दूर किये जाते हैं; इसी गुणसे गुणी जने हुए और अत्रिय और राष्ट्रमें होते हैं, इनमें शीर्ष गुणका प्राप्यत्व होता है, इनका ही रूप विचरमें इन्द्रशक्ति है जो विदुद्रूपमें बोलती है। अर्थितमें शीर्ष; राष्ट्रमें शूर और विचरमें विदुत् ये सब र्थविक इन्द्र देवताकी विभूतियां हैं। इसी प्रकार देवताओंकी विभूतियोंका ज्ञान हो सकता है।

इस सूक्तमें " राष्ट्र्यी " शब्द है। राष्ट्र जिसके कारण रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र उत्तम धवस्वामें रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र बलता है और अभ्युदयसे युक्त होता है उस शक्तिका नाम राष्ट्र्यी है। यह राष्ट्र्यशक्ति " आदित्य, रुद्र, यमु और विश्वेदेव " इनके साथ रहती है, यह प्रथम मन्त्रका कथन है। ये देवतावाचक चारधाव कमश " ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और द्रुद्र " अर्थात् करीगरोंके वाचक हैं। यहचतुस पूर्य आश्रिय शब्द ब्राह्मणवर्गके बोधक हैं, र, धोरभ आदि नाम शीर्षविके लिये मुमसिद्ध होनेसे ये क्षत्रियवर्गके वाचक हैं, यमु शब्द जनजाओं और घनोंका प्रसिद्ध है अतः यह वैश्योंका सूचक है और विश्वेदेव शब्द अथय श्वयहार कर्ताओंका वाचक होनेसे श्वयलिय करी-ररोंका वाचक है। देवताओंमें इन्दी अर्यों द्वारा शत्रुवर्ष्य घोषित होता है और इन देवताओंके मंत्रोंसे चातुर्वर्गके धर्म कर्मोंका घोष हो सकता है। यह राष्ट्र्यशक्ति इन लोगोंके अवर रहती है, इनमें कार्य करती है और इनके द्वारा प्रकट होती है।

यह राष्ट्र्य शक्ति (अग्निः=वश) ब्राह्मणों, (इन्द्र=धव) अर्थियों, (मिश्र) सहायकों, (वरुणो राजा)

राजपुत्रों और (अग्निमी=अग्निमी कुमारों) अपूर्वके विद्वानोंको भाषय देकर इनका धारण पोषण करती है। राष्ट्र्यमें इनका पोषण करते इनके द्वारा अन्य साधारण जनोकी तुल्य पदुचरती है। यह इस राष्ट्र्य शक्तिकी महिमा देखने योग्य है।

यह राष्ट्र्य शक्ति (अस्मां संसमनी) सब प्रकारके घनधामोंको प्राप्त कराती है। राष्ट्र्य शक्तिकर जिस देशमें उत्पन्न होने लगता है, वहाँ उस शक्तिके विकासके कारण सब प्रकारके घन इकट्ठे होने लगते हैं, तथा जिस देशमें राष्ट्र्यशक्तिकर विकास धर होता है, उस देशमें वरिष्ठता बढती है। पतित राष्ट्र और उन्नत राष्ट्रका यह विपत्ता और सपत्तासे सब देखने योग्य है।

यह राष्ट्र्यशक्ति मनुष्योंमें निहित होती है, अर्थात् जिस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, द्रुद्र और निषाद अपनी राष्ट्र्यशक्तिके एक होकर बडे राष्ट्र्य पुढवायेंमें प्रवृत्त होते हैं, उस समय इस राष्ट्र्यदेवीका सचार उन मनुष्योंमें होता है, (भूरि+आवेशयन्तः) विविध प्रकारका वैश्वी भावेन मनुष्योंमें उस समय होता है और ऐसे वैश्वी स्वरूपसे युक्त हुए लोग सत्यामें पीडे भी क्यों न हों, शक्तिका यथा कार्य करके बिला बेटे हैं। यह राष्ट्र्यदेवीके आधिकारका चमत्कार है। इसीलिये उसको सब (यक्षिपातां प्रथमा) प्रजनीषीमें सर्वप्रथम बताया है। धारों वर्ग इसकी पुजा अपने हृत्पमें करते हैं और राष्ट्र्यशक्तिके अपने हृत्प परिपूर्ण करते हैं। देवमें अन्वय भी कहा है कि—

इथा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोमुयः।

वर्षिः सौदन्वस्त्रियः। (अन्वय. १।११।२)

" मातृभाषा, मातृसभ्यता और (मही) मातृभूमि ये तीन देवियां कल्पान करलेवली है। इसलिये ये अन्त करणमें बिना निस्सरण हुए स्वात प्राप्त करें। " अर्थात् हृत्पक मनुष्यके मनमें इन तीन देवियोंको घोष्य और सन्तानका

स्वयं प्राप्त हो और कभी ऐसा न हो कि लोग इन तीन देवियोंका योग्य आदर न करें। इस मन्त्रके उपदेशानुसार मातृभूमिकी भक्ति हरएकको करनी चाहिये और यही उपदेश इस सूत्रके द्वितीय मन्त्रमें " (प्रथमा यज्ञिणानां राष्ट्री) यह राष्ट्रशक्ति पूजनोपयोगी सबसे प्रथम पूजा करने योग्य है, " इन शब्दों द्वारा कहा है। यदि इस जनममें सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करनेकी इच्छा है तो इस राष्ट्रदेवताकी पूजा करनी चाहिये और उस देवीके लिये अपनी बलि देनेके लिये सदा तैयार रहना चाहिये।

राष्ट्र देवी तब प्रसन्न होती है, जब लोग उसकी भोतिके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण करनेकी तैयार होते हैं। मानो अब सदा ही राष्ट्र देवीके लिये अपने सर्वस्वका अर्पण करनेकी तैयार होते हैं। इसीलिये ऐसा स्वर्गीय पुण्य (स अघा अत्ति) अथ भोग प्राप्त करता है, ऐसा धनुर्धर मन्त्रमें कहा है।

यदि उस मातृभूमि अथवा राष्ट्रशक्तिकी योग्य उपासना न कर उसका अपमान करनेवाले, इसका योग्य सत्कार न करनेवाले (अ-मन्त्रवः उपद्रव्यमिति) लोग सत्वर मातृकी प्राप्ति होने हैं; यह बात (अ-द्वेयं च्छामि) विस्वास रखने योग्य है अर्थात् ऐसा होता ही है। राष्ट्रशक्तिके महत्त्वको जानकर लोग कभी राष्ट्रशोहण कार्य न करें और सदा राष्ट्रभक्ति करते हुए और राष्ट्रके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करते और अपने जीवनका सर्वभेषज करके विजयी और यशस्वी हों।

राष्ट्रके अंदर भी जो कुछ लोग होते हैं, वे सज्जनोंकी क्लेश देते हैं, तथा राष्ट्रके बाहर भी जो दुश्मन होते हैं, वे भी राष्ट्रपर हमला करके घातपात और लूटपाट करवाते हैं। इनका नाश करनेके लिये राष्ट्रके (छायाय) बोरपुत्रोंके पास (धनुः) विविध प्रकारके धनुषादि शस्त्रास्त्र तैयार रखनेका कार्य राष्ट्रशक्तिकी ही है। जो राष्ट्र भोक्ति और आगत होता है, वह अपने धनुके निपातके लिये आश्रयक आश्रय तैयार रखता ही है और योग्य प्रसंगमें योग्य रीतिसे उनका उपयोग करने विद्यमान हो प्राप्त करता है। अन्धुरय प्राप्त करनेवाले राष्ट्रको अपनी रक्षाके लिये आगत रहना अर्थात् आश्रयक है।

यह राष्ट्रशक्ति (स्वधारं) काशीगरोंका योग्य करती है, इसी प्रकार जो मनुष्य जनोका पातक योग्य करते हैं उन

(पुण्यां) योग्य जनोका अथवा उन (धर्म) भाग्य-दानोंको उचित प्रकार धारण योग्य करती है। ऐसे पुत्रोंको कभी अवनतिमें नहीं रखते, प्राप्त उपग्रह करती हैं। इसी प्रकार जो लोग अपने धनधान्यका (यत्तमान) व्यय करते हैं अर्थात् अवताकी भ्रष्टाईके लिये अपने धनधान्यका समर्पण करते हैं, उनको कभी धनकी मूल्यता नहीं रहती अर्थात् जितना वे दान करते हैं उगते भौतिक (द्रविणान् दद्यामि) धन उनको प्राप्त होता है, फिर वे अधिक दान करते हैं और फिर उनका धन बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार यज्ञो बृद्धि होती है और जनताका सुख बढ़ता ही जाता है।

राष्ट्रके ऊपर नियामक और शासककी उत्पत्ति करना और राजगद्दीपर उसकी स्थापना करना, (अस्य मूर्धन्य पितरं सुये) यह राष्ट्रशक्ति ही करती है अर्थात् भोक्ति और जाग्रत राष्ट्रके लोग अपने राज्यशासनकी व्यवस्थाके लिये सुयोग्य राजशासकका स्वयं निर्वाचन करते हैं और उसकी राज्यके उत्तर निपुण करते हैं। इस राष्ट्रशक्तिकी जाग्रत-स्थान (समुद्रे अन्तः) राष्ट्रीय हस्तकले महाशासनके अन्तर्गत है। " (सं०) एक होकर (उत्) उक्तके लिये (द्र) पति करना अथवा प्रयत्न करना राष्ट्रीय हस्त-कलाकर्मक है। " इसका ही नाम 'समुद्र' (सं०+उत्+द्र) है। इस हस्तकले यह राष्ट्रशक्ति प्रकट होती है और हरएकके अन्त करचममें फैलती है, मानो इस प्रकार यह (विभवा भुवनानि त्रिविष्टे) संपूर्ण भुवनोंमें फैलती है अर्थात् भूमिसे स्वर्ग तक बिस्तृत होती है, हरएक कार्यमें यह प्रकट होती है, हरएक हस्तकले तहयें यह रहती है। इस प्रकार इसकी महिमा है।

जित समय जनतामें राष्ट्रशक्तिकी संभार होता है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रशक्तिरूप (घात इय प्रयामि) क्षायावाताक ओरसे प्रवाह चल रहा है और इसका वेग रोकना अब असंभव है। इस शक्तिकी वेग गृहीत प्रकट होता है कि (दियः परः) लुप्तकी ओर बरे और (यना पृथिव्याः परः) इस पृथ्वीके भी पर बह वेग कार्य कर रहा है। अतः पातक इस शक्तिके भरे हुए हैं और कोई स्थान शायी नहीं है।

राष्ट्रशक्तिकी यह महिमा है। जो इसके उपासक होने हैं वे अपने राष्ट्रको अन्धुरयके उच्च शिखरपर स्थापित करते हैं।



राष्ट्रसभाकी अनुमति

कांड ७, सूक्त १२

(ऋषि - शौनक । श्रेयता - तमा, पितर, इन्द्र, मन ।)

सभा च मा समितिश्चावर्ता प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।

येनां संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चार्क वदानि पितरः संगतेषु ॥ १ ॥

विद्य तं सभे नार्म नरिष्ठा नाम वा अस्ति । ये ते के च सभासदुस्ते मे सन्तु सर्वाचसः ॥ २ ॥

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।

अस्याः सर्वस्याः संसदो मारिन्द्र भगिर्न कृणु ॥ ३ ॥

यदो मनः परागतं यद्ब्रह्मिह वेद वा । तद् आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

अर्थ— [सभा च समिति, च] प्रामत्तमि और राष्ट्रसभा वे दोनों (प्रजापतेर्दुहितरौ) प्रजाका पालन करनेवाले राजाके द्वारा पुत्रीवत् पालने योग्य हैं और वे दोनों (संविदाने) नरवर ऐकमत्य करती हुई (मा अवतां) मुझ राजाकी रक्षा करें। (येन संगच्छे) जितने मे मित्तू (सः मा उपदिक्षान्) वह मुझे शिक्षा देवे। हे (पितरः) रक्षको ! (सगतेषु चार वदानि) सभाओंमें मैं उत्तम रीतिसे बोल् ॥ १ ॥

हे सभे ! (ते नाम विद्य) तेरा नाम हूँ विदित है। (नरिष्ठा नाम वै अस्ति) ' नरिष्ठा ' अर्थात् अहितक यह तेरा नाम वा यश है। (ये ये च ते सभासदः) जो कोई तेरे समागत है (ते मे सर्वाचस सन्तु) वे मुझ राजाके समताका भावण करनेवाले हों ॥ २ ॥

(एषां समासीनानां) इन बैठे हुए सभासदोंके (विज्ञानमर्चं अहं द्यादे) विशेष ज्ञानरूपी देय मे-राना-स्वीकार करता हूँ। हे इन्द्र ! (अस्याः सर्वस्या संसदः) इस सब सभाका (मा भगिर्न कृणु) मुझे भंगी बना ॥ ३ ॥

हे सभासदो ! (यः यत् मनः परागतं) तुम्हारा जो मन दूर हट गया है, (यत् वा इह वा इह वा यत्) जो इसमें अबचा इस विषयमें गया हुआ है, (यः तत् आवर्तयामसि) तुम्हारे उन चित्तको मैं पुन लौटा लाता हूँ, अब तुम्हारा (मनः मयि-रमता) मन मेरे उपर रममाण होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— प्रामत्तमि और राष्ट्रसभा राष्ट्रमें होती चाहिये और राजाको जनता पुत्रीवत् पालन करना चाहिये। ये दोनों सभाएं एकत्रितसे राष्ट्रका कार्य करें और प्रसारजन करनेवाले राजाका पालन करें। राजा जिस सभासदसे राज्य-शासनविषयक समति पूछे, वह सभासद योग्य समति राजाको देवे। राजा तथा अन्य सभासद् सभाओंमें सम्भ्रताके धार-विचार करें ॥ १ ॥

इन लोकसभाओंका नाम ' नरिष्ठा ' है, क्योंकि इनके होनेसे राजाका भी नाम नहीं होता और प्रजाका भी गाय नहीं होता। हूँ सभाओंके जो सभासद् हों, वे राजाके अपनी समति विषयसंघातरूपी स्पष्ट शब्दोंमें कहे ॥ २ ॥

लोकसभाओंके सम्भ्रतासे राज्यशासनविषयक विशेष ज्ञान राजा प्राप्त करता है और तेजस्वी बनता है। यह राजा ऐसी सभाओंके राज्यशासनविषयक विज्ञानका भाग अवश्य प्राप्त करे और भाग्यवान् धने ॥ ३ ॥

लोकसभाके कार्य करनेके समय किसी सभासद्का मन इधर उधरके कार्योंमें रमने लगे, तो उसको उचित है कि मनको वापस लाकर राज्यशासनके कार्योंमें ही लगा देवे। सब सभासद् और राजा अपने राज्यशासनके कार्योंमें ही अपना मन लगायें ॥ ४ ॥

कारक होगा, इतना महत्व लोकसभाको सर्वसम्मतिवा है तथा यह निर्णय प्रजाके लिये भी प्रधानकारक होगा ।

राजाके पितर

राष्ट्रसमितिके सभासद् वे राजाके पितर हैं । इस मुक्तमे राजाने उनको, ' पितरः ' करके ही सम्बोधन किया है—

चाव वदानि पितर समतेषु । (म १)

" हे पितरो ! अर्थात् हे राष्ट्रमहासभाके सब सदस्यो ! सभाओंमें मैं योग्य भाषण करना " अर्थात् सम्प्रतिमे युक्त भाषण करना । कभी नियमबालु मेरा भाषण न होगा । हे सभासदो ! सब सदस्य भी सदा इसी प्रकार सम्प्रतिमे निपमोनि धनुकुल भाषण किया करें । इस मंत्रभाषणमें राजाने लोकसभाके सभासदोंके लिये ' पितरः ' शब्दका प्रयोग किया है । यह शब्द यहा देखने योग्य है ।

लोकसभा धमका राष्ट्रसमिति राजाको पुत्रियां हं यह ऊपर कहा है । अब यहाँ कहा जाता है कि इन सभाओंके सदस्य राजाके ' पितरः ' हं, यह कैसे हं ? तबका है ? इस प्रश्नका उत्तर इतना ही है कि यहाँ केवल वाच्य अर्थ लेना उचित नहीं है, यहाँ भाव और शब्दका मूल्याय लेना चाहिये । पितर शब्दका अर्थ रक्षक है और उपादेक भी है । दोनों अर्थ यहाँ सत्ये हं । राजसभाके सभासद राजाको धुनते और उसको राजगद्दीपर विठलाते हैं, इसलिये वे उसके उत्पादक, जनक और पितरके समान भी हैं, इसी प्रकार राजाके उचित व्यवहार करते रहनेके वे उसको राजगद्दीपर रखते हं पर राजा जब अनुचित व्यवहार करने लगता है तो उसको हटाकर उसके स्थानपर सुयोग्य वृत्तरा राजा नियुक्त करते हैं, इसलिये वे राष्ट्रसभाके सदस्य राजाके रक्षक भी हैं अर्थात् सब प्रकारसे वे सशय राजाके पितर हं ।

' पितृदेवो भव ' पितरको देवताके समान मानकर उसका सम्मान कर, यह आज्ञा देवगुरुत्स है । इसलिये राजाको उचित है कि, वह राष्ट्रसभाके सदस्योंका सम्मान करे, उनका गौरव करे और कभी उनका अपमान न करे । राष्ट्रसभाका यह अधिकार है ।

राजाके शिक्षक

राष्ट्रसभाके सदस्य राजाके गुरु भी हैं । इस विषयमें प्रथम मंत्रका भाव देखने योग्य है—

येन संगच्छै सः मा उपशिक्षात् । (मं. १)

" हे गुरुजनों ! हे राष्ट्रसभाके सदस्यो ! मुझसे मैं राष्ट्रशासनके कार्योंमें समति प्राप्त, यह उस विषयमें अपनी समति देकर मुझे उत्तम योग्य शिक्षा देवे । " अर्थात् राजाको योग्य शिक्षा देनेवाले उत्तम गुरु राष्ट्रसभाके सदस्य हैं । ये राजाके गुरुमान्यो हं । ' अचार्यदेवो भव ' अर्थात् गुरुजनोंका सम्मान करना चाहिये, यह आज्ञा वैदिकधर्मको है । इसके अनुसार वैदिकधर्मों राजाको उचित है कि वह राष्ट्रसभाके सदस्योंका गौरव करे और उनसे पूर्ण आदरके साथ वार्त्ताय करे । राष्ट्रसभाके सदस्योंका यह अधिकार है ।

सभासद् मर्यादादी हं

राजसभा अथवा किसी अन्य सभाके सभासद् (सदाचर) सम्मान भाषण करनेवाले अर्थात् जैसा देशा, जाना और अनुभव किया हो वंसा हो सत्य सत्य श्रोतनेवाले हों । वंसा सत्य एकबार कहा हो, वंसा ही सत्य प्रकृत ध्यानेपर कहेनेवाले हों जन्में अरुल बदल करके ' हां ' को ' हाँ ' मिलावेवाले ' हाँजी ' यहमुर न हों । निर्भय होकर जो सत्य हो, वही राजाको कहें । राष्ट्रका हित किस क्षणमें है, इसका विचार करके जो अपना मत्व ही, वह योग्य रीतिसे कहें वेमें किसीसे न करें । यह सभासदोंका कर्तव्य है । (मं. २)

तेजप्रदाता और विज्ञानदाता

राजाका तेज राष्ट्रसभाके सदस्योंसे प्राप्त होता है । इस विषयमें तृतीय मंत्रका अर्थ देखने योग्य है—

पयां समासीनानां पयः विज्ञानं अहं आदिदे ।

(मं. १)

" राष्ट्रसभाके इन सभासदोंमें मैं राजा (पयः) तेज प्राप्त करता हूँ और (विज्ञानं) विज्ञान ज्ञान भी प्राप्त करता हूँ । " यहाँका विज्ञान राज्यशासन सभाओंके विषयका विशेष ज्ञान ही है । राजाका हित, पितरोंके हित, तबका हित है, इस समय उनके प्रथम कीर्तनी बात करने की चाहिये, इस समय प्रजाको रीतिसे बच्य है और उन बच्चोंको कित्तइतने बुर करना चाहिये ; इत्यादि विषयमें प्रजाके प्रतिनिधियोंकी योग्य समति योग्य समयपर राजाकी मिली और तदनुसार राजाने राष्ट्रशासनका कार्य किया, तो सबका हित ही सकता है । यह विज्ञान राष्ट्रसभाके सत्य राजाकी देवे और राजा भी उनसे समति प्राप्त कर उचित शासनप्रबंध द्वारा सबका कल्याण करें ।

इस प्रकार प्रजाकी संमतिसे राज्यशासन करनेवाला राजा विरहास्तक राज्यपर रह सकता है और यहा तेजसी ही

सकता है। इसके विरुद्ध जो राजा प्रजाके प्रतिनिधियोंकी समिति न मानकर, मन माने अत्याचार प्रजापर करता है, वह राजगद्दीसे हटा दिया जाता है। येरकी समिति राज्य-शासनके विषयमें यह है।

राजाका भाग्य ।

राजाका सपूर्ण भाग्य, ऐश्वर्य, अधिकार और वर्चस्व राष्ट्रसभाकी अनुमतिसे ही होता है। अथवा राजा किसी कारण भी ' राजा ' नहीं रह सकता। यह बात स्वयं राजा ही कहता है, देखिये—

अस्याः संसदः मां भगिनं कृणु ॥ (म ३)

" हुत राजाका मुझे भागी कर । ' अर्थात् इस सभाकी अनुमतिसे रहनेके कारण मैं भाग्यवान् बनू । मैं इस सभाकी अनुमतिका भागी बनू, अर्थात् जो निश्चय सभा करेगी, वह मैं मानूया और मेरा कार्य करूया । मैं उसके विरुद्ध आचरण कदापि न करूया । इस प्रकार जो राजा आचरण करेया, वह भाग्यवान् बन जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है, अर्थात् राजाका भाग्य प्रजाका रजन करनेसे ही बढ़ता है ।

दत्तचित्त सभासद्

राष्ट्रसभाके, नगरसमितिके अथवा किसी सभाके सभासद् अपनी अपनी सभाके कार्योंमें दत्तचित्त रहें। जितोका मन इधर उधर न हो। सब अपना धर सभाके कार्योंमें स्थिर रहकर सभाके कार्य अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर जहाँतक हो सके बहुशक्त निर्वाह बनायें। इसका उपदेश इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकार है—

यद् यो मनः परागतं यद् यदामिह धेह धा ।

तद् आवर्तयामसि ॥ (म ४)

" हे राजासहो ! यदि भुङ्गारा मन दूर भाग गया हो अथवा वहाँ ही इधर उधरके अत्याय्य बालोंमें लग गया हो, उसको मैं वापस लाता हूँ । " अर्थात् मन चञ्चल है, वह

इधर उधर बीडता ही रहेगा। परन्तु दृढनिश्चय करके उसको कर्तव्यकर्ममें स्थिर रखना चाहिये। और अपनी संपूर्ण शक्ति लगा कर अपना कर्तव्य जहाँतक हो सके बहुशक्त निर्वाह शक्तिसे करनेका यत्न करना चाहिये। हरएक सभासद् यदि अपने मनको कहीं धीर हो कार्योंमें लगावेया, तो सभा करनेका प्रयोजन कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये हरएक सभासद्का कर्तव्य है कि वह अपना मन सभाके कार्योंमें लगावे और अपनी पूरी शक्ति लगाकर सभाके कार्य निर्वाह करनेके लिये भरसक कोशिश करे। इस पत्रभाषणमें सभासदोंका कर्तव्य कहा है।

नरिष्टा सभा

इस सूक्तके द्वितीय पत्रमें सभाका नाम ' नरिष्टा ' कहा है। ' नरिष्टा ' के दो अर्थ हैं। एक (नरः इष्टा) नर अर्थात् नेता सन्तुष्टोंको जो इष्ट है, त्रिप है अथवा नेता जिसको चाहते हैं। सभाको सन्तुष्ट चाहते हैं क्योंकि इस सभाद्वारा ही जनताके कष्ट राजाको दूरित हो जाते हैं और तापसधान् राजा जनको दूर कर सकता है। इस प्रकार ही सभाके होनेसे जनताका सुख बढ़ सकता है, इसलिये जनता सभाओंको पसंद करती है।

' नरिष्टा ' शब्दका दूसरा अर्थ है (न रिष्टा) अर्थात् अर्थात् जो किसीका नाश नहीं करती और जिसका नाश कोई नहीं कर सकता। सभाके कारण प्रणयन नाश नहीं होता और जनमतके अनुसार चलनेवाले राजाकी भी रक्षा हो जाती है, इसलिये राजाका भी नाश नहीं होता। इसी प्रकार जनता स्वयं राष्ट्रसभाका नाश नहीं करना चाहती और राजाका अधिकार हो नहीं है कि जो इस राष्ट्र-सभाका नाश कर सके। इस दृष्टिकोसे सब प्रकार यह सभा ' अविनाशक ' है।

इस प्रकार इस सूक्तमें वैदिक राजसत्तासनके कुछ सिद्धांत कहे हैं।



राज्याका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ९१

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - चण्डमाः ।)

इन्द्रः सुत्रामा स्वर्वाँ अर्वाभिः सुमूर्त्तीको भवतु विश्वेदेवाः ।

वार्धतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुर्वीर्यस्य पतयः स्वाम

॥ १ ॥

अर्थ— (सुत्रामा स्ववान्) उत्तम रक्षक आत्मविश्वासे युक्त तथा (विश्वेदेवाः इन्द्रः अर्वाभिः सुमूर्त्तीको भवतु) सब धर्मेति युक्त राजा अपनी रक्षाके लिए उत्तम मुक्तकारो होवे । (द्वेषः वार्धतां) शत्रुओंको प्रतिघ्न करे (नः अभयं कृणोतु) हमारे लिये निर्भयता उत्पन्न करे (सुर्वीर्यस्य पतयः स्वाम) और हम उत्तम धर्मके स्वामी बनें ॥ १ ॥

भावार्थ— राजा उत्तम रक्षक, अपने सामर्थ्यपर विश्वास रखनेवाला, धनवान्, प्रजाको रक्षा करने उनको मुक्त देनेवाला होवे । शत्रुओंको दूर करे और उनको रोक रखे । प्रजाको अभय देवे और प्रजाको धनसंपन्न करे ॥ १ ॥

यहा इन्द्रके धर्मके विषये राजाके गुण वर्णन किये हैं । इसी प्रकार आगेका सूक्त भी इसी विषयका है—

राज्याका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ९२

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - चण्डमाः ।)

स सुत्रामा स्वर्वाँ इन्द्रो अस्मद्वाराचिद् द्वेषः सनुतर्धुषोतु ।

तस्य वृषं सुमूर्त्ती यज्ञियस्याविं भ्रे सौमिनसे स्वाम

॥ १ ॥

अर्थ— (सः सु-त्रामा स्ववान् इन्द्रः) वह उत्तम रक्षक आत्मविश्वासे विद्वान् तथा धर्मिताको राजा (द्वेषः) शत्रुओंको (अस्मद् द्वारा चिद् सनुतः सुयोतु) हमारे धर्मके निश्चयपूर्वक दूर करे । (वृषं तस्य यज्ञियस्य सुमूर्त्ती स्वाम) हम उस प्रजापतिको सुधर्ममें रहें, (अवि सौमिनसे स्वाम) और उनके उत्तम मनोभावमें रहें ॥ १ ॥

भावार्थ— वह उत्तम रक्षक आत्मविश्वासे युक्त राजा शत्रुओंको प्रजापतिमें दूर करे । प्रजा भी उस प्रजापति राजाके विषयमें उत्तम बुद्धि धारण करे और राजा भी प्रजा विषयमें सुधर्ममें धारण करे ॥ १ ॥

राजा प्रजाको रक्षा करे, प्रजा भी राजनियम रहे और दोनों एक दूसरेके विषयमें सुबुद्धि धारण करें । यह सूक्त भी प्रभुका धर्मन करते हुए राजाके गुण बता रहा है ।

राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ९३

(ऋषि - भृगुगिरा । देवता - इन्द्र ।)

इन्द्रेण मनुषुनां वयममि त्वां पृतन्यतः । मनन्तो ब्रूणाप्यप्रति

॥ १ ॥

अर्थ— (मनुषुना इन्द्रेण वयं) उस्ताहयुध्व इन्द्रके साथ रहकर हम सब (ब्रूणाणि अप्रति मन्तः) मनुष्योंकी वरी तरह मारते हुए (पृतन्यतः अभि-स्याम) सेना लेकर चढाई करनेवालोंको जीते ॥ १ ॥

इस सूक्तमें भी इन्द्रके वर्षाके नियमों राजाका ही वर्णन किया है । उस्ताही वीर राजाके अतिवशमें रहनेवाले प्रजाजन (ब्रूण) आयरक मनुका नाम करनेमें समर्थ होते हैं और सैन्यके साथ चढाई करनेवाले वीरोंको भी हरानेमें समर्थ होते हैं ।

राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ८४

(ऋषि - भृगु । देवता - जातवेदा अग्नि ; इन्द्र ।)

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्षो विराट्ते क्षत्रभृदीदिदिह ।

विश्वामर्षीवाः प्रमुञ्चन्मानुषीभिः शिवाभिर्य परि पाहि नो गर्षम्

॥ १ ॥

इन्द्रे क्षत्रममि वाममोजोऽजायथा वृषम चर्षणीनाम् ।

॥ २ ॥

अपानुदो जनममिन्नायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोह लोकम्

अर्थ— हे जाने ! तू (जात-वेदाः अनाधृष्यः) जातवान्, अतिवश (अमर्षः विराट्) समर, विशेष प्रकारका सहाय्य और (क्षत्र-भृत् इह दीदिदिह) क्षत्रियोंका भरण पोषण करनेवाला होकर यहाँ प्रकाशित हो । और (विश्वामर्षीवाः प्रमुञ्चन्) सब लोगोंको दूर करता हुआ (मानुषीभिः शिवाभिः) मनुष्य सारथी कल्याणोंके साथ (अद्य नः गर्षं परि पाहि) आज हमारे घरकी रक्षा कर ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (चर्षणीनां वृषम) मनुष्योंमें धेठ । तू (वामं क्षत्रं ओजः अमि जायथा) उत्तम साधनके लिये प्रसिद्ध हुआ है । तू (अमिन्नायन्तं जनं अय नुदः) मनुष्य करनेवाले मनुष्योंको दूर कर । और (देवेभ्यः उरुं लोकं उ व्यकृणोः) विषय जनोंके लिये स्थान विस्तृत कर ॥ २ ॥

भावार्थ— तू जानी, अज्ञेय, योर्धातु, सायबलका पोषणकर्ता, विशेष धेठ राजा होकर यहाँ प्रकाशित हो । अपने राज्यके सब लोग दूर कर और मनुष्योंके कल्याण करनेवाले साथियोंके हृदये वरोंकी उत्तम रक्षा कर ॥ १ ॥

मनुष्योंमें धेठ जन, उत्तम क्षत्र बलकी वृद्धि कर । मनुष्य करनेवालोंको दूर कर और जो धेठ लोग हों उनके लिये विस्तृत कार्यक्षेत्र बना ॥ २ ॥

मृगो न भीमः कुंचरो गिरिच्छाः परावत आ जगम्यात्परस्याः ।

सुकं संशायं पृथिमिन्द्र तिमं वि शत्रून्ताडि वि मृधो नुदस्व

॥ ३ ॥

अर्थ— (गिरिस्थ्याः भीमाः मृगः न) पर्वतपर रहनेवाले भयंकर सिंह, व्याघ्र आदि पशुके समान तू शत्रुके ऊपर (परस्याः परावतः आ जगम्यात्) दूरसे दूरके स्थानसे भी हमला करता है । हे इन्द्र ! तू अपने (सुकं पृथि संशाय) माण और पशुको तोषण करके (शत्रून् वित्ताडि) शत्रुओंको नष्ट कर और (मृधः वि नुदस्व) हिरण्य सोनोंको दूर हटा दे ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार पहाड़ोंपर रहनेवाला व्याघ्र अपने शत्रुपर हमला करता है, उसी प्रकार तू अपने दूरके शत्रु-पर भी पडाई कर । अपने शत्रु तोषण कर, शत्रुको सूख मार, और हिरण्योंको दूर भगा दे ॥ ३ ॥

राजा क्या कार्य करे ?

इस सूक्तमें जग्नि और इन्द्रके भियसे राजाका कार्य बताया है । अपने राष्ट्रके प्रति राजाके कर्तव्योंका वर्णन इसमें है—

- १ जास्तवेदाः— ज्ञान प्राप्त करे और अपने राष्ट्रमें ज्ञानका प्रसार करे ।
- २ अनाधृष्यः— राजा ऐसा सामर्थवान् बने कि वह शत्रुके भयंकर हमलेका भी साम्हने मुकाबला करे ।
- ३ वि-राट्— विशेष प्रकारका श्रेष्ठ राजा बने ।
- ४ शत्रुभृत्— क्षत्रियोंका और क्षत्रियोंका भरणपोषण और संवर्धन करे ।
- ५ अमर्त्यः अग्निः इह दीदिदि— अमर जगिके समान इस राष्ट्रमें प्रकटित होता रहे ।
- ६ विभ्वाः अमीयाः प्रमुञ्चन्— अपने राष्ट्रसे सब रोग दूर करे, राष्ट्रके सब लोग वीरोग हों ऐसा प्रथ्य करे ।
- ७ मानुषीभिः शिवाभिः— उत्तम कल्याणपूर्ण मनुष्योंसे युक्त होवे ।
- ८ गर्षं परिपाहि— राष्ट्रके हरएक घरकी रक्षा करे ।
- ९ अर्षणीनां धृषभा— राजा मनुष्योंमें श्रेष्ठ बने ।
- १० चाम क्षर्षं भोजः— उत्तम साधनसे युक्त राजा होवे ।
- ११ अग्निप्रायन्ते जने अपनुद— शत्रुता करनेवाले मनुष्योंको अपने देशसे दूर करे ।
- १२ देचेभ्य उरुं लोकं सृष्टयोः— शत्रुत्वके लिये विस्तृत स्थान पलावे ।
- १३ परस्याः परावतः आजगम्यात्— दूर दूरसे भी शत्रुके ऊपर प्रचण्ड हमला करे ।
- १४ सुकं पृथि संशाय— अपने शत्रुशत्रु उत्तम प्रकार तोषण करके तैवार रखे ।
- १५ शत्रून् वित्ताडि— शत्रुओंको नष्ट करे ।
- १६ मृधः विनुदस्व— हिरण्य जवनोंको अपने राष्ट्रसे दूर करे । राष्ट्रसे बाहर निकाल देवे ।

इस प्रकार इस सूक्तसे बोध प्राप्त होता है । इस सूक्तमें अंसे राजाके कर्तव्य बड़े हैं, उसी प्रकार हरएक मनुष्योंको भी भाग्यरक्षाका उपदेश इसी सूक्तसे मिल सकता है ।

राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ८५

(ऋषि: - अथर्व [स्वस्त्ययननाम.] । देवता - तापदे.)

स्यम् पु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तस्तारं रथानाम् ।

अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हवेम

॥ १ ॥

अर्थ— (त्वं वाजिनं) उस बलवान्, (देवजूतं सहोवानं) दिव्य पुरवैद्वारा सेवित, शक्तिमान् (रथानां तस्तारं) रथोंको शीघ्रगतिसे चलानेवाले, (अरिष्ट-नेमिं) सुदृढ़ हथियारवाले और (पृतना-जिं) शत्रुसेनाको पराजय करनेवाले (आशुं तार्क्ष्यं) शीघ्रकारी महारथीको (स्वस्तये आहुयेम) कल्याणके लिये यहाँ हम बुलाते हैं ॥ १ ॥

इस सूक्तमें भी तार्क्ष्य अर्थात् परशुके बहानेते राजाके कर्तव्य बताये हैं—

१ वाजिनं- राजा बलवान्, जलवाला, पनधान्यका संपह करनेवाला हो ।

२ देवजूतं- देवों अर्थात् दिग्गजनोंके द्वारा सेवित अर्थात् जिसके ओहवेदार, बानो और दिव्य होते हैं ।

३ सहोवानं- बलवान् राजा हो ।

४ रथानां तस्तारः- रथोंको शीघ्रगतिसे चलानेवाला राजा हो । अर्थात् राजाके पास शीघ्रगामी रथ हों ।

५ अ-रिष्ट-नेमिः- जिसके हथियार दृढ़ हुए न हों । अदृढ़ शस्त्रोंवाला राजा हो । अपका (अरिष्ट-नेमि) अरिष्ट अर्थात् संकटोंको बचानेवाला राजा हो ।

६ पृतनाजिः- शत्रुसेनाको जीतनेवाला राजा हो ।

७ आशु- शीघ्रकारी राजा हो, हायमें लिया हुआ शर्य शीघ्रगति करनेवाला राजा हो ।

८ तार्क्ष्यः- ' तार्क्ष्यं ' का अर्थ ' रथ ' है । रथ जिसके पास होते हैं उसकी तार्क्ष्य कहते हैं । राजा उत्तम रथी हो ।

९ स्वस्तये- प्रजाजनोंका कल्याण करनेके लिये राजा प्रयत्न करे ।

ये शत्रु भी हृदय मनुष्योंको साधारण आत्मरक्षाका उपदेश दे रहे हैं ।



राजाका कर्तव्य

कांड ७, सूक्त ८६

(ऋषि: - अथर्व [स्वस्त्ययननाम.] । देवता - इन्द्रः ।)

आतारमिन्द्रं अघितारमिन्द्रं हवेहवे सुदृवं धूरमिन्द्रम् ।

द्वे नु शुकं पुरुद्वतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवांकृणोत

॥ १ ॥

अर्थ— मं (आतारं इन्द्रं) रथक प्रभुको (अघितारं इन्द्रं) संरथक इन्द्रको, (हवेहवे सुदृवं धूरं इन्द्रं) प्रत्येक कार्यमें बुझाने योग्य, उत्तम प्रकारसे बुझाने योग्य, धूर प्रभुको और (पुरुद्वतं शुकं इन्द्रं द्वे) बहनों द्वारा प्रापित शक्तिमान् प्रभुको बुलाता हूँ । यह (मघवान् इन्द्रः न स्वस्तिः कृणोत) ऐश्वर्यवान् प्रभु हमारा कल्याण करे ॥ १ ॥

यह मंत्र परमेश्वरका वर्णन करता हुआ भी राजाके कर्तव्योंका उपदेश करता है—

- १ आता, अघिता- राजा प्रजाको उत्तम रक्षा करे ।
 - २ शूरः राजा शूर हो, डरनेवाला न होवे ।
 - ३ शक्रः- राजा शक्तिमान् हो, अघातन न हो ।
 - ४ मघवान्- राजा अपने पास घनसंग्रह करे, राजा कभी घनहीन न घने ।
 - ५ स्वस्तिः कृणोतु- राजा प्रजाका कल्याण करे ।
- इस प्रकार राजाकरणमें इन मन्त्रों बोध प्राप्त होता है।



राजाकी स्थिरता

कांड ६, सूक्त ८८

(ऋषिः - ऋषवां । देवता - भ्रुकः ।)

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् । ध्रुवास्तुः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विश्वाम्यम् ॥ १ ॥
 ध्रुवं ते राजा धरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः । ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ २ ॥
 ध्रुवोऽभ्युत्तः प्र भृणीहि श्रून्लघ्वयतोऽघरान्पादयस्व ।
 सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवायं ते समितिः फल्पतामिह ॥ ३ ॥

अर्थ— जित प्रकार (द्यौः ध्रुवा) एकिक स्थिर है, (पृथिवी ध्रुवा) पृथ्वी स्थिर है, (इदं विश्वं जगत् ध्रुवं) यह सब जगत् स्थिर है, तथा (इमे पर्वताः ध्रुवास्तुः) ये पर्वत स्थिर हैं, उत्तोरकार (अयं विश्वां राजा ध्रुवं) यह प्रजापति का रक्षण करनेवाला राजा स्थिर हो ॥ १ ॥

(राजा धरुणः ते ध्रुवं) राजा धरुण (द्येयः बृहस्पतिः ध्रुवं) बृहस्पतिदेव (इन्द्रः च अग्निः च ते ध्रुवं) इन्द्र और अग्नि तेरे लिये (राष्ट्रं धारयतां) राष्ट्रको स्थिर बनायें ॥ २ ॥

(अभ्युत्तः ध्रुवः शत्रून् प्रमृणीहि) अपने स्थानसे च्युत न होता हुआ और स्थिर होकर शत्रुओंका नाश कर । (शत्रुयतोऽघरान् पादयस्व) शत्रुवत् आचरण करनेवालोंको नीचे गिरा । (सर्वाः दिशः) सब दिशाओंमें नियत करनेवाली प्रजाएँ (सध्रीचीः संमनसः) एक कार्यमें रत और एक विचारते युक्त हों, उन लोगोंकी (समितिः इह ते ध्रुवाय कल्पतां) तथा यहाँ तेरी स्थिरताके लिये समर्थ होंगे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— ध्रुवोक्त, मूलोक्त, पर्वत और यह सब जगत् जित प्रकार स्थिर है उस प्रकार राजा स्थिर होवे ॥ १ ॥

राजा धरुण, इन्द्र, अग्नि और देव बृहस्पति ये इस राजाके लिये स्थिर राष्ट्र धारण करें ॥ २ ॥

राजा स्थिर और सुदृढ़ होकर शत्रुका नाश करे, शत्रुके समान आचरण करनेवालोंकी नीचे गिराये । सब प्रजाजन एक विचारते युक्त होकर अपनी राष्ट्रसमाहारा दलमें राजाकी राजगद्दीपर स्थिर रहें ॥ ३ ॥

स्थिरताके लिये ।

राजा जिन गुणोंको धारण करनेके अपनी राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है इतना विचार इस सुक्तमें किया है । यह सुक्त कहता है कि " द्यौः, पृथिवी, पर्वत, जगत् " में किस रीतिसे स्थिर हुए हैं इतना विचार राजा करे और उनके गुणोंको धारण करके स्थिर होवे—

१ धौः- आकाश तथा सूर्य । इनमें तेज है, सूर्य तो स्वयंप्रकाशी है । इस प्रकार उत्तम तेजस्वी राजा स्थिर हो सकता है ।

२ वृथवी- वृथवी सबका उत्तम प्रकार धारण और भोग्य करती है । जो राजा सब प्रजाजनोंका इस प्रकार धारणभोग्य करता है वह स्थिर हो सकता है ।

३ पृथत- अपने स्वाममें स्थिर रहते हैं कभी रोछे नहीं हटते । इस प्रकार युद्धमें जो अपने स्वाममें स्थिर रहता है, भागता नहीं, वह राजा राष्ट्रमें स्थिर रह सकता है ।

४ जगत्- चलता है, परन्तु अपनी मर्पादामें प्रमत्ता है । इस प्रकार जो अपनी मर्पादामें प्रवृत्ति करता है, यही स्थिर हो सकता है ।

इस प्रकारके गुण धारण करनेवाला राजा राजगद्दीपर स्थिर रहता है । इन गुणोंसे भी और अधिक एक गुण है-

५ विशा राजा ध्रुव- प्रजाओंका रक्षण करनेवाला राजा स्थिर रहता है ।

यह गुण सब गुणोंसे श्रेष्ठ और इसके रहनेसेही अन्य गुण कार्य करनेमें समर्थ होते हैं । ' राजा ' शब्दका ही अर्थ (प्रजासंरक्षक) प्रजाको प्रसाद करनेवाला है । इस प्रकारके प्रजाको प्रसन्नता लाने करनेवाले राजाको ही इन्द्रादि देव राजगद्दीपर स्थिर रहनेको सहायता करे । इन देवताओंसे बोधित होनेवाले राष्ट्रके लोग राजाको सहायता करें, इन देवतापाशक शब्दोंसे बोधित होनेवाले ये लोग हैं-

१ वृहस्पतिः, अग्निः- ज्ञानो, विद्वान् आदि पाण्डित्य ।

२ इन्द्रः- धूर, धीर, सैनिक आदि क्षत्रिय बल ।

३ चरुणः- परिष्क लोग ।

ये सब लोग उत्तम राजाको सहायता करें और उसको स्थिरताके लिये प्रयत्न करें । इनकी सहायता प्राप्त करके राजा संपूर्ण शत्रुओंको दूर करे, सब प्रजाजनोंमें एकता स्थापित करे और राष्ट्रीय महात्मताकी सहायतासे अपनी स्थिरता करे । राष्ट्रमहात्मता भी योग्य राजाको ही अपनी सहानुभूति प्रदान करे और अयोग्य राजाको कभी सहायता न दे ।

राष्ट्रके ऐश्वर्यकी वृद्धि

कांड ६, सूक्त ५४

(ऋषि. - ब्रह्मा । देवता - अग्निवामी ।)

इदं सद्युज उच्चरमिन्द्रं शुभ्राम्पद्ये । अस्व क्षपं अिषं मूर्ध्नि वृष्टिरिव वर्षया तृणम् ॥ १ ॥

अस्मै सत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं र्षिम् । इमं राष्ट्रस्याभीवृग्ं कृणुतं युज उच्चरम् ॥ २ ॥

अर्थ- (इदं सद्युज उच्चरं युजे) मैं इससे साथ उस श्रेष्ठको समुक्त करता हूँ । (अद्यये इन्द्रं शुभ्रामि) कल-भोगके लिये शुभ्रकी प्रायणा करता हूँ । हे देव । (वृष्टिः वर्ष इव) जैसे वृष्टि घासकी बढाती है, उसी प्रकार (अस्व क्षपं मूर्ध्नि अिष वर्षेय) इस राजाके राष्ट्रको तथा मूर्ध्नी संवत्सरो बढा ॥ १ ॥

हे अग्निवामी । (अस्मै क्षपं धारयतं) इसके लिये राष्ट्रको धारण कराओ, (अस्मै र्षिं) हमनेवन धारण कराओ (इमं राष्ट्रस्य अभीवृग्ं कृणुतं) इसकी राष्ट्रकी सुध सँवलीमें स्थिर करो । (उच्चरं युजे) मैं भी इसकी अधिक उच्च अय्यादामें निपुस्त करता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ- मैं श्रेष्ठके साथ संबंध करता हूँ, अपनी उन्नतिसे लिये परमेश्वरकी प्रायणा करता हूँ । हे ईश्वर । हमारे राजाका राष्ट्र बढे और वन भी ऐसा बढे कि जैसे वृष्टिसे घास ॥ १ ॥

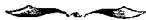
हमारे राजाका राष्ट्र स्थिर होवे, वन भी स्थिर रहे । राष्ट्रके स्थिर करनेवाले लोगोंमें यह प्रमुख होवे और श्रेष्ठतासे साथ बढता रहे ॥ २ ॥

सर्वं-पुधासर्वन्धुधु यो अस्मां अभिदासति । सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

अर्थ— (सवन्धुः च असवन्धुः च) भाइनोंसमेत या नाइयोंसे रहित (यः वस्रान् अभिदासति) जो शत्रु हमको विनष्ट करना चाहता है, (मे सुन्वते यजमानाय) मृत याजक मनवानके लिये (तं सर्वं रन्धयासि) उस शत्रुका नाश कर ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हे भगिन ! कोई शत्रु जो अकेला या अपने भाइनोंसमेत हथारा नाश करना चाहे, तु उसीका नाश कर ॥ ३ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है । राष्ट्रीय उपप्रतिकी प्रार्थना है । अपना श्रेष्ठोक्ति संबंध जोड़ना और (यजमान) यज्ञमय जीवन बनाना यह मनव्यका कर्तव्य यही यज्ञाया है । इसके अर्न्तर परमेश्वरकी प्रार्थना की जाय, तो वह निहंसेह सफल होगी । अपना राज्य बड़े, धन बड़े, स्वराज्य प्राप्त हो, शत्रु दूर हो पावे और सब प्रकारकी उत्पत्ति नो होवे । यह इस प्रार्थनाका आशय है ।



राजाका राज्याभिषेक

कांड ४, सूक्त ८

(ऋषिः - अमर्षाद्विराः । देवता - वरुणा, आपः, राज्याभिषेकः ।)

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।
 तस्य मृत्युर्धरति राज्ञर्धुं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥ १ ॥
 अभि प्रेहि मापं धेन उग्रधेता संप्रज्ञा । आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि हुवन ॥ २ ॥

अर्थ— जो (भूताः) स्वयं प्रभावशाली बनकर (भूतेषु पयः आदधाति) सब प्रधानोंकी दुनियाधि उपभोगके पदार्य देता है (सः भूतानां अधिपतिः बभूव) वह ही सब प्रजाओंका अधिपति हो सकता है । (तस्य राज्ञ-स्युं मृत्युः धरति) उसके राज्यशासनके उत्पन्न होजानेपर स्वयं मृत्यु ही बन्ध लेकर उसकी सहायतायें राज्यमें भ्रमण करती है । (सः राजा इदं राज्यं अनुमन्यताम्) वह राजा इस राज्यको अनुमतिसे बंधे ॥ १ ॥

हे (मित्रवर्धन) मित्रोंको बढ़ानेवाले राजन् ! तू (उग्रः धेता संप्रज्ञा-हा अभि प्रेहि) प्रतापी, चेतना देनेवाला, शत्रुओंका विनाशक होकर आगे बढ । (मा अप धेनः) पीछे मत हट, (आ तिष्ठ) अपने स्थानपर बहर जा । (तुभ्यं देवाः अधि हुवन) तुझे विद्वान् शीत योग्य संभ्रणा देते रहें ॥ २ ॥

भाषार्थ— जो विशेष प्रभावशाली होता है और स्वयं जनताकी विशेष सुख देनेके कार्य करता है, वही लोगोंका अधिपति हो सकता है । जो मृत्यु सब प्राणियोंका अन्त करनेवाला है, वह उस राजाकी शासक बन्धधारिणी होकर उसको सहायता करती है । इस प्रकारका जो प्रतापी प्रुप्त हो वही प्रजाकी अनुमतिसे राज्यशासन चलाने ॥ १ ॥

राजा अपने मित्र बढ़ाये । वह राजा प्रतापी प्रजामें चेतना बढ़ानेवाला और शत्रुओंका नाशक होकर आगे बढे । अपने स्थानमें स्थिर रहे और कभी पीछे न हटे । ऐसे राजाको विद्वान् योग्य समय समयपर योग्य संभ्रणा देते रहें ॥ २ ॥

आतिष्ठन्तं परि विधे अमृतं छिद्यं वसानधरति स्वरोचिः ।
 महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ ३ ॥
 व्याघ्रो अधि धैर्याग्ने वि क्रमस्व दिशो महीः ।
 विशस्ता सर्वा वाञ्छन्स्तापो दिव्याः पर्यस्वतीः ॥ ४ ॥
 या आपो दिव्याः पर्यसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम् ।
 तासां त्वा सर्वासास्रपासभि पिञ्चामि वर्चसा ॥ ५ ॥
 अभि त्वा वर्चसासिचन्नापो दिव्याः पर्यस्वतीः ।
 यथासौ मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता फलत् ॥ ६ ॥

अर्थ— (आतिष्ठन्तं विधे परिभूयन्) राजगद्दीपर बंधनेवाले राजाको सब लोग अर्जकृत करें । यह राजा (धियं पसामः स्व-रोचि धरति) लक्ष्मीको पारण करता हुआ अपने तेजने युक्त होकर राज्यमें विचरता है । इस (छुष्णः असु-रस्य तन् महत् नाम) मलयान् और प्रजाओंके प्राण रक्षक राजाका वही बडा षण है, यह (विश्वरूपः अमृतानि वा तस्थौ) सब रूपोंमें युक्त होकर विविध सुखोंको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

(धैर्याग्ने अधि व्याघ्रः) व्याघ्र स्वभाववाले मनुष्योंपर बाध बनकर हुक्म कर, (मही दिशः धिकमस्य) और विशाल दिशाओंमें पराक्रम कर । (पर्यस्वतीः आपः) दुष्पावि प्राप्त करनेवाली (सधौ विद्याः) सब प्रकार (त्या वाञ्छन्तु) तुम पाहें ॥ ४ ॥

(अन्तरिक्षे उत वा पृथिव्यां) अन्तरिक्ष और इस पृथ्वीपर (या दिव्याः आपः) जो दिव्य जल अपने (पर्यसा मदन्ति) सत्व रससे लोगोंको दुक्त करते हैं (तासां सर्वासां अपां वर्चसा) उन सब जलके तेजो (त्या अभिपिञ्चामि , तेरा अभिषेक करता हूँ ॥ ५ ॥

(दिव्याः पर्यस्वतीः आपः) दिव्य रसपूजन करने (वर्चसा त्या अभि सविचन्) अपने तेजसे तुम अभिलिखत किया है (यथा मित्रवर्धनः असः) जिससे तू मित्रोंको वृद्धि करनेवाला हो और (सविता त्या तथा फलत्) सबका प्रेरक देव भी तुमो उसके योग्य बनावे ॥ ६ ॥

भावार्थ— राजगद्दीपर बिराजमान होनेवाले राजाको प्रजाजन अर्जकृत करते हैं । यह राजा ऐश्वर्यको प्राप्तमें रक्षता हुआ तेजस्वी बनकर राज्यमें विचरता है । प्रजाजनोंके प्राणोंको रक्षा करनेवाले बलवान् राजाका वही बडा षण है । यह राजा विविध अविचारियोंके रूप पारण करके विविध सुखोंको प्राप्त हुआ अपने स्वानुपर रहता है ॥ ३ ॥

राजा बुद्धिके दमनके लिये योग्य प्रथम उपानोंको योजना करते सब दिशाओंमें पराक्रम करने विचरती होते । हुए जल आदि उपयोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले प्रजाजन ऐसे राजाको पाहें ॥ ४ ॥

पृथ्वी और अंतरिक्षमें जो दिव्य जल है । उन सबके तेजसे यह राज्याभिषेक राजाके ऊपर किया जाता है ॥ ५ ॥
 इस दिव्य जलसे अभिलिखन हुआ राजा अपने मित्रोंकी संख्या बडावे । और परमेश्वर उत राजाको ईश्वरी प्रेरणा दे ॥ ६ ॥

एना व्याघ्रं परिपस्वजानाः सिद्धं हिन्वन्ति मङ्घ्रे सौमगाय ।

समुद्रं न सुभ्रुवंस्तस्थिवांसं मर्मज्यन्ते द्वीपिनैस्त्वन्तः

॥ ७ ॥

अर्थ— (व्याघ्रं सिद्धं परिपस्वजानाः एनाः) व्याघ्र और सिंहके समान पराक्रमी राजाको चारों ओरसे अभिप्रेत करनेवाली ये जलपाराएँ (मङ्घ्रे सौमगाय हिन्वन्ति) बड़े सौभाग्यके लिये प्रेरित करती हैं । (सु-भ्रुवः समुद्रं न) जैसे उत्तम भूमि भाग समुद्रको छोड़ित करते हैं, उसी प्रकार (अप्सु अन्तः तास्थिवांसं द्वीपिनं) जलोंके अन्दर रहनेवाले, द्वीपिके अधिपति राजाको सब प्रजाएँ (मर्मज्यन्ते) हर्षित करती हैं ॥ ७ ॥

भाषार्थ— यह राजा नरस्यध्रा अपना नरसिंह अर्थात् नरभेष्ट है। इस राज्याभिषेकके इसके भाग्यकी वृद्धि होती है। जिस प्रकार अपनी मर्त्यादामें रहनेवाला समुद्र चारों ओरके भूभागके सम्भ्रित होता है, उसी प्रकार चारों ओरसे गलने घेदित राष्ट्रका अधिपति राजा सब प्रजाओंके सुप्रसन्न होता है ॥ ७ ॥

राजाका राज्याभिषेक

राज्याभिषेक ।

राजाके राज्याभिषेकके समयके धर्मविधिमें बहनेका यह सूत्र है। इस सूत्रके मतमें राज्याभिषेक विधिका ज्ञान हो सकता है। राजगद्दीपर राजाका अभिषेक करनेके लिये विविध जलसामग्रियोंका जल साया जाता है। समुद्र, पवित्र महानदिवा, शय्य पवित्र स्रोत और साकाशाते प्राप्त होनेवाला दिव्य जल से तय तामे जाते हैं। इस मंत्रपूत जलसे राज्याभिषेक किया जाता है। इसका तात्पर्य यथा संशय है। राजाका राज्य समुद्रतक फैला हुआ होना चाहिये। यह पहिला धोष यहाँ मिलता है। जो राज्य समुद्रतक नहीं फैले हुए होते, उनका धारदार ध्वजहार ठीक प्रकार नहीं चल सकता, इसलिये समुद्रके किनारेके राज्यका विस्तार होकर देशोन्नतिके लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसी विचारकी स्फूर्ति देनेके लिये सप्तम मंत्रके 'समुद्र, अप्सु-अन्तः, द्वीपि' ये शब्द हैं। पंचम मंत्रमें कहा है कि 'तासां स्वर्चासां धर्मा यत्सुवा अभिपिञ्चामि।' अर्थात् इन सब जलोंके तेजसे मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ, ताकि तुम इस तेजसे युक्त हो।

समुद्रतक राज्यविस्तार ।

पूजारे राजाके पाससे भिक्षा माँगकर साया हुआ समुद्रका और महानदिवाँज जल राज्याभिषेकके कामका नहीं है। अपने राज्यमें समुद्र जोना चाहिये और महानदिवाँजी अपने

राज्यमें होना चाहिये। और उनसे जल प्राप्त करना चाहिये। इसका विचार करतेते सत्कारकी चीजें किस प्रकार राज्य-विस्तारके लिये कारणीभूत हो सकती हैं इसपर पता लग सकता है।

कौन राजा होता है ?

जो घोर विरोध प्रमाशगाली और पराक्रमी होता है और जो जनताको (पयः अद्मति) दुःख यदि उपभोगके पदार्थ विपुल देता हैसबा बेचारी कम करता है, वही (अधिपतिः यभूय) राजा हो सकता है। इस राजका सहायक यह मृत्यु हो होती है, मृत्यु देव सब जगत्की दण्ड देनेवाला होता है, मानो इस मृत्युका अंशही राजाके रूपमें आकर निवास करता है। इसीकी सहायतासे राजा सपरा-गियोंको दण्ड देता है। इस प्रकारका प्रभाववाली राजा प्रजाया शासन करे। [मंत्र १] यह राजा समुद्रतक और मिश्रवर्षक तथा धूर बनकर अपना राज्य सत्ताये और बसावे। [मंत्र २] राज्यशासन करनेवाले जनेक ओहोदेशर राजाके ही रूप हैं, इस प्रकारसे मानो राजा (रिश्वरूपः) अनेक रूपवाला होकर राज्य करता है, और (स्वः रोचि) अपने तेजसे तेजस्वी बनकर राज्य करता है। वही राजाकी महिमा है। [मंत्र ३] यह राजा वाय और सिंह जैसा पराक्रमी बनकर समुद्रोंका धन करे और सब प्रकारकी उपजि करके धनका भागी बने।

राजा और राजाके बन्धनेवाले

कांड ३, सूक्त ५

(ऋषिः - ऋषी । देवता - सोमः ।)

आयमगन्पर्णमग्निर्वली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।

ओषो देवानां पथ ओषधीनां वर्चसा मा जिवन्त्वप्रपावन्

॥ १ ॥

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताम्रियम् । अहं राष्ट्रस्वामीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः

॥ २ ॥

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मग्निम् । तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु मर्तवे

॥ ३ ॥

सोमस्य पर्णाः सह उग्रमाग्निर्द्रेण दुक्तो वरुणेन शिष्टः ।

तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुस्वायं शतशारदाय

॥ ४ ॥

वा मरुक्ष्वर्णमग्निर्महा अरिष्टतातये । यथाहमुत्तरोऽस्तान्पर्यम्य उव संधिदः

॥ ५ ॥

अर्थ — (अर्थ बली पर्णमणिः) यह बलवान् पर्णमणि ! बलेन सपत्नान् प्रमृणन् । बलसे शत्रुओंका नाश करती हुई (वा अगन्) आई है । यह (देवानां ओजः) देवोंका बल और (ओषधीनां वयः) औषधियोंका रस है । यह (अग्रपावन् वर्चसा मा जिवन्तु) विरोध न करती हुई तेजसे मुझे संयुक्त करे ॥ १ ॥

हे परमने ! (मयि क्षत्रं) मुझमें क्षात्रबल और (मयि रथिं धारयताम्) युद्धमें भर धारण करा । (अहं राष्ट्रस्य अमीवर्गे) मैं राष्ट्रके आत्मपुरुषोंमें (उत्तमः निजः भूयासं) उत्तम और उनका अपना बनकर रहूँ ॥ २ ॥

(यं गुह्यं प्रियं मग्निं देवाः वनस्पतौ निदधुः) जिस युद्ध और प्रिय मणिको देवोंने वनस्पतिमें तपाया किया था, (तं देवाः अस्मभ्यं आयुषा सह भर्तये ददतु) उस मणिको देव हर्षे आयुके साथ पोषणके लिये देवें ॥ ३ ॥

(इन्द्रेण दत्तः) इन्द्रके द्वारा दी हुई, (वरुणेन शिष्टः) वरुण द्वारा उत्तम बनाई गई (सोमस्य पर्णाः) सोम देवताकी यह पर्णमणि (उग्रं सहः वा अगन्) उग्र बलसे युक्त होकर मुझे प्राप्त हुई है । (बहु रोचमानः) बहुत तेजस्वी मैं (दीर्घायुस्वायं शतशारदाय) दीर्घ आयुके लिये और सौ वर्षके जीवनके लिये (तं प्रियासं) उस प्रिय मणिको धारण करूँ ॥ ४ ॥

(पर्णमणिः मह्ये अरिष्टतातये) यह पर्णमणि बड़े बलवानको फँसानेके लिये (मा वा अरुक्ष्वत्) मुझपर आछड़ हुई है । (यथा अहं अर्थम्याः) जिससे मैं श्रेष्ठ मनवाले (उव संधिदः) और जानीसेभी (उत्तरोऽस्तानि) अधिक श्रेष्ठ हो जाऊँ ॥ ५ ॥

भावार्थ — यह पर्णमणि बल बढ़ानेवाली, अपने बलसे शत्रुओंका नाश करनेवाली, देवोंकी शक्तिरूप और औषधियोंके रससे बननेवाली है, यह मुझे अपने तेजसे युक्त करे ॥ १ ॥

इससे मुझमें क्षात्रबल और तेजस्वी बड़े और मैं राष्ट्रका हित साधन करनेवाला, अर्थात् राष्ट्रका निज संबंधी बन कर रहूँ ॥ २ ॥

जिस मणिको देवोंने वनस्पतिमें बनाकर धारण किया था, उस मणिको देव हर्षे आयु और पुष्टिरी वृद्धिके लिये देवे ॥ ३ ॥

यह वनस्पतिमें बनी हुई, वरुणके द्वारा सुसंस्कारयुक्त की हुई और इन्द्रके द्वारा हर्षे पहले प्राप्त हुई, दीर्घ और बलकी वृद्धि करनेवाला मणि है । उस मणिको मैं सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये दैन्यपूर्वक धारण करता हूँ ॥ ४ ॥

यह मणि अपने शरीरपर धारण करनेसे मेरा गुण बढ़ाये और इसे पहनकर मैं श्रेष्ठ मनवाले और जानीसे अधिक श्रेष्ठ हो जाऊँ ॥ ५ ॥

ये धीवानो रथकाराः कुर्मासा ये मनीषिणः । उपस्तीर्णं मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ६ ॥
 ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये । उपस्तीर्णं मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ७ ॥
 पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो धीरेण सर्वा । संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

अर्थ— (ये धीवानः रथकाराः) जो बुद्धिमान् रथ बनानेवाले हैं तथा (ये मनीषिणः कुर्मासाः) जो बुद्धिमान् लुहार हैं, हे (पर्ण) पर्णमणे ! (त्वं सर्वान् जनान् अभितः मह्यं उपस्तीर्णं कृणु) तू सब जनोंको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ६ ॥

(ये राजानः राजकृतः) जो राजा और जो राजाओंको बनानेवाले हैं, (ये सूताः ग्रामण्यः च) और जो सूत और ग्रामके नेता हैं, हे पर्णमणे ! तू सब जनोंको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ७ ॥

हे (मणे) पर्णमणे ! तू (पर्णः तनूपानः असि) पर्णरथ और शरीररक्षक है, (मया धीरेण सयोनिः वीरः असि) मुझ शेरके साथ समान उत्पत्तिबाला वीर है, इसलिये मैं (त्वा संवत्सरस्य तेन तेजसा बध्नामि) तुझको संवत्सरके उस तेजके साथ धीपता हूँ ॥ ८ ॥

भाषार्थ— जो बुद्धिमान् रथकार और कुशल लुहार हैं वे सब मेरे पास उपस्थित हों ॥ ६ ॥

जो सरदार और राजाका चुनाव करके राजाकी बनानेवाले हैं और जो सूत और ग्रामके नेता हैं वे सब मेरे चारों ओर उपस्थित हों ॥ ७ ॥

यह मणि उत्तम शरीर रक्षक है और वीरता तथा उत्साहको बढानेवाला है, इसको मैं एक वर्ष पर्वत स्थिर रहनेवाले तेजके साथ धारण करता हूँ ॥ ८ ॥

राजा और राजाके बनानेवाले

पर्ण-मणि

इस सूक्तमें पर्णमणिके धारणका उल्लेख है। यह पर्णमणि इसलिये कही जाती है कि यह औपधियोंके रत्नके बनानेवाला होता है—

१ पर्णमणिः औपधियोंका द्रव्य भी है । (मं. १)

२ पर्णः (पर्णमणिः) सोमस्य उग्रं सहः । (मं. ४)

३ देवाः (पर्ण-) मणिं धनस्पतौ निदधुः । (मं. ३)

“ (१) पर्ण मणि औपधियोंका द्रव्य भी है । (२) यह पर्णमणि सोमवस्त्रोका उप बल है । (३) देवोंने पर्णमणिकी बनस्पतिमें रखा है । ” ये इसके वर्णन स्पष्टतासे यह बता रहे हैं कि यह मणि बनस्पतिमेंके द्रव्यके बनानेवाला है । ‘ पर्ण-मणि ’ यह शब्द भी स्वयं अपना अर्थ व्यक्त कर रही है कि यह (पर्ण) पत्तोंका मणि है अर्थात् बनस्पतिके पत्तोंके रत्नमें बनी है । इसके धारणसे बनस्पति-रत्नके धीपके कारण शरीरपर बड़ा प्रभाव होता है—

१ अयं पर्णमणिः पत्नी । (मं. १)

२ पर्णः तनूपानः । (मं. ८)

३ यत्नेन सपरतान् प्रमृणन् । (मं. १)

४ देवतां योजः... मा वर्षसा जिम्वतु । (मं. १)

५ मधि क्षत्रं माधि रथिं धारयताम् । (मं. २)

६ आयुषे मत्तैवे च तं भस्मान्यं ददतु । मं. ३)

७ पर्णः उग्रं सहः... दीर्घायुर्वाप शतवारदाप । (मं. ४)

८ पर्णमणिः अरिहतातये मा आकृषत् । (मं. ५)

“ (१) यह पर्णमणि बल बढानेवाली है, (२) यह (तनू-पानः) शरीरका रक्षक है, (३) यह अपने बलसे रोयल्टी शत्रुओंका नाश करती है, (४) यह (देवानां) इन्द्रियोंका बल बढानेवाली है यह मेरा तेज बढाये, (५) यह मुझमें क्षात्रतेज और शरीरकी कान्ति बढाये, (६) दीर्घ आयुष्य और शरीरकी वृष्टि इससे बढे, (७) यह मणि बड़ी बल बढानेवाली है, इससे मैं वर्षकी दीर्घायु मुझे प्राप्त रहे,

(८) यह मणि शरीरपर धारण किए जानेपर मेरी प्रतिबन्धना है ।"

इस प्रकारके वर्णन बता रहे हैं कि इस ' वर्णमणि ' के अंदर क्या प्रभाव है और इसके शरीरपर धारण करनेसे शरीरमें निम्न जलाहुर रहता है, बल्के कार्य करनेके शोष्य शरीरकी पवित्र होती है, शरीरका श्रेष्ठ बनता है और मनुष्य क्या तेजस्वी होनेके कारण प्रभावशाली विचारक बनता है । यह बनारसके रत्नोंका प्रभाव है । संस लोग इस मणिकी खोज करें ।

राष्ट्रका मित्र बनना

" राष्ट्रका अपना ' बन कर रहनेका उपदेश इस सूत्रमें विशेष मन्त्र करने योग्य है । जो लोग राष्ट्रमें रहें वे उसके अपने बन कर रहेंगे तो ही राष्ट्रका भक्ता हो सकता है ; इस विषयमें द्वितीय मंत्र मनन करने योग्य है -

वाहं राष्ट्रस्य अधीयर्षीं निजो भूयासमुत्तमः ॥

(मं. २)

" मैं इस राष्ट्रके हितरक्षक वर्णमें उत्तम निज बन कर रहूँ ।" यहाँ राजा, राजपुरुष, अधिकारी वर्ण आदि सब राष्ट्रके अपने बनकर रहें यह उपदेश स्पष्ट है । राष्ट्रमें रहता हुआ कोई मनुष्य राष्ट्रके लिये पराया बनकर न रहे । यहाँ निज बनकर रहनेका मन्त्र बना है और पराया बनकर रहनेका भाव क्या है यह अत्यन्त वैखना चाहिये । अपने यहाँ का ही उदाहरण खोजिये । इस भारतवर्षमें जापानी, चीनी, अमेरिक्न और योरोपीयव जाते हैं और रहते भी हैं, परंतु इनमेंसे कोई भी ' भारतवर्षका निज ' बनकर नहीं रहता । जो ये जाते हैं वे ' पराये ' बनकर जाते हैं और पराये बनकर ही यहाँ रहते हैं, पराये बनकर यहाँका करोबार करते हैं और परचात् फले खाते हैं । इस कारण इनके परायेके भावसे भारतवर्षका अहित हो जाता है । इस लिये परायेके भावसे रहना राष्ट्रके लिये घातक है । जो ' निजभावा ' से रहेंगे, राष्ट्रके हित और अहितको, सपना हित और अहित समझेंगे तो उनसे राष्ट्रका अहित कभी नहीं होगा । यह तो साधारण मनुष्योंकी बात हुई, परंतु जो राष्ट्रके कर्नलारी हैं, यदि वे परायेभाक्से राष्ट्रमें रहने लग जायें, तो राष्ट्रका मुकाम कितना होगा इसका हिसाब सज्जना कठिन है ।

इस वृत्तिसे बैरनेवर शात होगा कि ' राष्ट्रका निज ' बनकर रहनेका भाव कितना उच्च है और राष्ट्रहितकी वृत्तिसे कितना व्यापक है । ' निजभाव ' से रहनेके कारण विदेशी लोग भी स्वदेशीके समान राष्ट्रहित करनेवाले बनेंगे और ' निजभाव ' न रखनेवाले स्वदेशी लोग भी परदेशी लोगोंके समान राष्ट्रहितका धात करनेवाले बनेंगे ।

राजाका निर्माण करनेवाले

इस सूत्रके सत्य मंत्रमें ' राज-सूतः ' शब्द है इसका अर्थ है ' राजका निर्माण करनेवाले (King makers) ' राजका किस रीतिसे निर्माण करते हैं यह मन्त्र यहाँ उल्लेख हो सकता है । इसका उत्तर इसके पूर्वके अष्टम सूत्रमें ही दिया है, राजका चुनाव प्रजा द्वारा होता है और तब यह राजपदोपर जाता है, इसीसे प्रजाद्वारा राजका निर्वाचन, राजका नियोजन अथवा राजका चुनाव कहते हैं । जिसका चुनाव प्रजा करती है, उसका नामो ' निर्माण ' ही प्रजा करती है । इस प्रकार राजाके विद् या मातृसंवाचने प्रजा होती है, इसीलिये राजसभाके सदस्य राजाके ' पितर ' हूँ ऐसा वेदमें ही अत्यन्त बड़ा है प्रजाके जो महाजन नेता अथवा शिष्ट लोग होते हैं वे राजाका चुनाव करते हैं और उसका निर्माण करते हैं, इसीलिये प्रजाकी रक्षा करना राजाका परम श्रेष्ठ कर्तव्य है । मातृश्रांके समान ही प्रजा-रक्षाका यह राजवर्ण है ।

मंत्र ६ और ७ में कहा है कि स्वकार, स्वर्द, सुहा, सानी पुरुष, मंत्री, मूल, प्रामनेता, सरदार तथा राजाका चुनाव करनेवाले ये सब लोग राजाके शासक रहें, राजाके अनुयायी बनें, राजाके साथ रहकर राजाकी वीर्य सजाह दें । इस प्रकार राष्ट्रका शासन प्रजाके द्वारा नियुक्त किसे राजपुरुषद्वारा प्रजाके हितके लिये प्रजाकी अनुकूलिते सत्कामा जावे । इसीसे राष्ट्रका सच्चा हित हो सकता है ।

यद्यपि यह सूत्र वस्तुतः दर्शनबिधा वर्णन करता है, तथापि प्रामनेसे राष्ट्रका निज बनकर रहना, राजाका चुनाव प्रजाद्वारा करना इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातोंका उपदेश होनेके कारण वैदिक राजनीति शासकी वृत्तिसे यह सूत्र अने महत्त्वका है ।

राजाका चुनाफ

कांड ६, सूक्त १२८

(श्रुति - धर्मशास्त्राः । वेत्ता - सोमः, शकभूमः ।)

शकभूमं नक्षत्राणि यद्राजांनमकुर्वत । भद्राहर्मस्यै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥ १ ॥

भद्राहं नो मध्यदिने भद्राहं सायमस्तु नः । भद्राहं नो अह्नां प्रातः रात्रीं भद्राहमस्तु नः ॥ २ ॥

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सर्वाचन्द्रमसांभ्याम् । भद्राहमस्मभ्यं राजन्लकभूमं त्वं कृषि ॥ ३ ॥

यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा । तस्मै ते नक्षत्रराजं शकभूमं सदा नमः ॥ ४ ॥

अर्थ— (यत् नक्षत्राणि शकभूमं राजानं अकुर्वत) जिस प्रकार नक्षत्रोंने शकभूमको राजा बनाया और (अस्मै भद्राहं प्रायच्छत्) इसके लिये भूम विपत्त प्रदान किया, इसलिये कि (इदं राष्ट्रं असात्) यह राष्ट्र बने ॥ १ ॥

(नः मध्यदिने भद्राहं) हमारे लिये मध्यदिनका समय शुभ हो, (नः सायं भद्राहं अस्तु) हमारे लिये सायंकालका समय शुभ हो, (यः अह्नां प्रातः भद्राहं) हमारे लिये दिनका प्रातःकाल शुभ हो और (नः रात्रीं भद्राहं अस्तु) हमारे लिये रात्रीका समय भी शुभ हो ॥ २ ॥

हे (शकभूम) शकभूम ! (त्वं अहोरात्राभ्यां) तू अहोरात्रके द्वारा, (नक्षत्रेभ्यः सर्वाचन्द्रमसाभ्यां) नक्षत्रों और चन्द्र तथा चन्द्रमा द्वारा (अस्मभ्यं भद्राहं कृषि) हमारे लिये दिवस शुभ कर ॥ ३ ॥

हे (नक्षत्रराज शकभूम) नक्षत्रोंके राजा शकभूम ! (यः नः सायं नक्तं अथो दिवा) जो हमारे लिये सायंकाल, रात्रीको और दिनमें (भद्राहं अकरः) समय शुभ बनाया है, (तस्मै ते सदा नमः) उस तारे लिये सदा नमस्ते ॥ ४ ॥

भाषार्थ— सब नक्षत्रोंने मिलकर अपना एक संघदित राष्ट्र बनानेके लिये एक राजा बनाया ॥ १ ॥

इसके बननेके प्रातःकाल, मध्यदिनमें और सायंकाल तथा रात्रीके समयमें सबको सुख होने लगा ॥ २ ॥

राजा सुख, चन्द्र, नक्षत्र और अहोरात्र इनसे मनुष्योंका कल्याण करता है ॥ ३ ॥

जिस कारण राजा सब प्रजाजनोंका हित करनेमें विनोदित तत्पर रहता है, इस कारण उसका सदा सम्मान होता चाहिये ॥ ४ ॥

प्रजा अपना राजा चुने

प्रजा अपनी उपस्थिति करनेके लिये सुयोग्य राजाको चुने और उसको राजवर्षादिदिलकारे, उसको सम्मान देवे और उसके शासनमें सुखका उपयोग लेवे। इस उपदेशको इस सूक्तमें उत्तम अलंकारके द्वारा बताया है। अलंकार इस प्रकार हैं।

“आकाशमें अनेक तक्षक हैं, उनका परस्पर कोई संबंध नहीं था। यह दुरवस्था उन्होंने देखी और अपना एक बड़ा राष्ट्र बनानेके लिये उन सबने मिलकर अपना एक राजा चुना, उसका नाम चन्द्रमा है। इस राजाके राजवर्षादि अपनेके परचात् सबको उत्तम सुख लाभ हुआ और उसकी सदा उपस्थिति दृष्ट मयी।”

यह तो इसका बाह्यार्थ है, परंतु इसका वास्तविक अर्थ श्लेषालंकारसे जाना जाता है और यह अर्थ इस सूक्तका गूढ़ अर्थ है। इसमें जो ‘न-क्षत्र’ शब्द है वह शब्द शासकके रहित सामान्य प्रजा अर्थात् जो प्रजा अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती ऐसी प्रजा। मानी, ध्यायारी और कारीवर यह प्रजा, इसमें सत्र वर्ग संमिलित नहीं।

इदं राष्ट्रं असात् इति । (मं. १)

अपना एक बड़ा राष्ट्र निर्माण करनेके लिये—

नक्षत्राणि राजानं अकुर्वत ॥ (मं. १)

“ क्षत्रियोसि मिस प्रजाओं अथवा क्षात्रवृत्ते रहित प्रजाजनोंके अपना एक राजा बनाया । ” पुर्वापर संबंधते यह राजा क्षत्रियोंसे चुना गया होगा । यह भाग्य ' शाक्यभूम ' शब्दसे भी व्यक्त हो सकता है । श्वय (शाक) समर्थ होकर जो शत्रुओंको (धू) रूपायमान करता है उसका नाम शाक्यभूम है । सब प्रजाजनोंके देखा कि इस तेजस्वी पुरुषको राजा बनानेसे इसके सामर्थ्यके कारण हमारे सब शत्रु परास्त होंगे और शत्रुओंके परास्त होनेसे हमें सुख लाभ होगा और हमारा राज्य बड़ा तेजस्वी होगा ।

इस प्रकार राजाका पुनर्वाप्य करनेसे उनके ' मद्राहं ' (मद्र+अहं) कल्याणका समय प्राप्त हुआ और वे सब धार्मिक रहने लगे । कोई शत्रु उनको कष्ट देनेके लिये उनके पास नहीं आया और सब प्रजा वडे मानेबके साथ रहने लगे ।

राजाका यह प्रताप देखकर सब उस राजाका सन्मान करने लगे । इस प्रकार जो मनुष्य अपने राज्यके लिये सुयोग्य राजाको चुनेगे और उसका आदर करने लगे, वे सब सुखी होंगे । इसका विचार करके प्रजा अपने लिये उत्तम राजाको चुने और सुखी होवे ।

राजाकी स्मरणपर पुनः स्थापना

कांड ३, सूक्त ३

(ऋषि - श्वर्या । देवता - अग्नि, नागादेवता :)

अचिक्रदस्ववा इह भुवदमे व्यचिस्व रोदसी उरूचां ।

युञ्जन्तु स्वा मरुतो विश्वेदस आमुं नपु नमसा रावईध्वम्

॥ १ ॥

दूरे चित्सन्तमरुपास इन्द्रमा र्पाधिवन्तु सख्याय विप्रम् ।

यद्गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृपन्त देवाः

॥ २ ॥

अर्थ— (इह स्व-पाः भुवत्) यहाँ अपना राज्य करनेवाला मनुष्य सुरमित होवे ऐसा (अचिक्रदत्) पुकार-कार कहा गया है । हे (अग्ने) जने ! (उरूची रोदसी व्यचस्व) बिलत छायापिचियोंके अपना तेज फेला । (विश्व-वेदसः मरुतः स्वा युञ्जन्तु) सब जाननेवाले मरुत् तुम योग्य बनारों । (रात-हव्यं अमुं) हवनीय पदाओंको देनेवाले इस पुरुषको (नमसा आनय) नमस्कारपूर्वक यहाँ ला ॥ १ ॥

(दूरे चित् सन्तं विप्रं इन्द्रं) दूर रहनेपर भी प्राण इन्द्रको (अरुपासः सकयाय आव्यायवन्तु) तेजस्वी लोग मित्रताके लिये यहाँ के आरों । (यत् देवाः) क्योंकि सब देव (सौ-त्रामण्या) सौत्रामणीके द्वारा (गायत्रीं बृहतीं अर्कं अस्मै दधृपन्त) गायत्री बृहतीरुप अर्पित इसके लिये धारण करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— इस जगत्में मनुष्यको अपना संरक्षण स्वयं करना चाहिये, यह बात पुकार कर सब आत्मपुरुषोंने कही है । मनुष्य अजिघत्स तेजस्वी घने और अपना प्रकाम जगत्में फैलावे । ऐसे राजाको सब जाननेवाले पौर शक्तिमान् करें और उसको नमस्कारपूर्वक अपनी राजमहोदर स्थापित करें ॥ १ ॥

राजा दूर भी क्यों न चला गया हो, उनको अपने राज्यके हितके लिये तेजस्वी पौर पुत्र से आरों । उसमें रक्षण करनेके योग्य संबंधते उसका उत्तम सत्कार करें ॥ २ ॥

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्यपतु सोमस्त्वा ह्यपतु पर्वतेभ्यः ।
 इन्द्रस्त्वा ह्यपतु विद्भ्यः आभ्यः इयेनो मूखा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥
 इयेनो ह्ययं नपत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् ।
 अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं तं इमं संजाता अभिसंविशन्त्वम् ॥ ४ ॥
 ह्ययन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत । इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥
 पस्तुं इवं विवर्दस्तज्जातो यश्च निष्टयः । अपाञ्चामिन्द्रं तं कृत्वायेममिहाहं रामय ॥ ६ ॥

अर्थ— (घृणः राजा) राजा मरण (अद्भ्यः त्वा ह्यपतु) जलके लिये तुझे बुलावे, (सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्यपतु) सोम तुझे पर्वतोंके लिये बुलावे, (इन्द्रः त्वा आभ्यः विद्भ्यः ह्यपतु) इन्द्र तुझे इन प्रजाओंके लिये बुलावे । (इयेनः मूखा इमाः विशाः आपत) वृक्षेन पक्षीके समान येन धारण करके इन प्रजाओंमें आ ॥ ३ ॥

(अभ्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं ह्ययं) अन्य देशमें छिपकर घूमनेवाले वृक्षनीम राजाको (इयेनः परस्तात् आनपतु) इयेनवत् शीघ्र जानेवाले मनुष्य दूसरे देशके लो आये । (अश्विनीते पन्थां सुगं कृणुतां) शौर्भो अश्विनी तेरा मार्ग सुलभे जान योग्य बनये । (संजाताः इमं अग्नि सं विशाब्धं) सजातीय लोग इसको प्रविष्ट कराये ॥ ४ ॥

(प्रतिजनाः त्वा ह्ययन्तु) प्रत्येक प्रकारके लोग तुझे बुलावे । (मित्रा प्राणि अवृषत) मित्रतेरा घत बढ़ाये । (इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः) इन्द्राग्नी और सब देव (विशि ते क्षेमं आदीधरन्) प्रजाजनोंमेंतेरे लिये क्षेम धारण करें ॥ ५ ॥

हे (इन्द्र) नरेन्द्र ! (यः संजातः) जो सजातीय है (न यः निष्टयः) और जो विजातीय है, (ते ह्ययं विवर्त्सु) तेरे धारणीयताका विशेष वर्णन करें । (तं अपाञ्चं कृत्वा) उसको पहिचूत करके (अय इमं इह अय रामय) परस्तात् इसको यहाँ ला ॥ ६ ॥

भाषार्थ— इस स्थानकी रक्षाके लिये अन्तर्निर्घत, पर्वतोंकी रक्षाके लिये पर्वतोंका अधिकाारी, जनोंकी रक्षाके लिये मनुष्योंका अधिपति किंवा मुखिया सम्राट्को बुलाये, सब सम्राट् अपने प्रजाओंमें शीघ्रतासे जाकर विराने ॥ ३ ॥

सकट समयमें अन्य देशमें छिप छिपकर छिरेनेवाले राजाको भी पुनः अपनी राजवहोपर लाकर थिठलाना चाहिए, जानी उसका मार्ग सुगम करें और सजातीय लोग उसको अपने राज्यमें प्रविष्ट कराये ॥ ४ ॥

मित्रजन उस राजाकी सहायता करें, सब देव प्रजाके समेत उस राजाका कल्याण करें ॥ ५ ॥

यदि सजातीय अथवा विजातीय जोई मनुष्य इस योग्य राजाका विशेष कालेवाला हो, तो उसको राज्यसे बहूर करके बड़े शहर सत्कारसे राजाका प्रवेश अपने राज्यमें कराना चाहिये ॥ ६ ॥

यहाँ तुम्हारा मूलतका अर्थ और भाषार्थ हुआ । इसीके साथ चतुर्थे मूलतका आरंभ धरिष्ठ संबंध है, इसलिये उसका अर्थ और भाषार्थ पहिले देलकर परस्तात् दोनों मूलतोंका मिलकर विचार करेंगे ।



राजाका चुनाफ

कांड ३, सूक्त ४

(शब्दों - मयर्वा । देवता - इन्द्रः ।)

आ स्वां गन्नाष्टं सह वर्चसोर्दिदि प्राङ् विशां पतिरेकुराट् त्वं वि राज ।

सर्वीस्त्वा राजन्प्रदिशो ह्ययन्तूपसयो नमुस्यो भवेह

॥ १ ॥

स्वां विशो वृणतां राजर्षाय स्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवी ।

वर्षेन्नाष्टस्य कुरुदि श्रयस्य ततो न उग्रो वि भञ्जा वर्धनि

॥ २ ॥

अच्छं त्वा यन्तु हविर्नः सजाता अग्निदेतो अजिरः सं चरातं ।

जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहु बलिं प्रति पश्यासा उग्रः

॥ ३ ॥

अश्विना स्वामिं मित्रावरुणोमा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्ययन्तु ।

अथा मनो वसुदेवाय कृणुषु तवो न उग्रो वि भञ्जा वर्धनि

॥ ४ ॥

अर्थ— हे राजन् । (राष्ट्रं त्वा आगन्) यह राष्ट्र तुझको प्राप्त हुआ है, अब (सर्वसा सह उद्+इदि) तेजके साथ उपस्थिते प्राप्त हो । (विशोपतिः प्राङ् पुराट् त्वं विराज) प्रजाओंका एक प्रभुत्व स्वामी ब एक सम्राट् होकर तू विराजमान हो । (सर्वाः प्रदिशाः ह्ययन्तु) सब दिशा और उपदिशाओं तुझे पुरातें और (इह उपसयः नमुस्यः भव) यहाँ पास पहुंचने योग्य और नमस्कारके योग्य हो ॥ १ ॥

(विशाः त्वां राज्याय वृणतां) प्रजायें तुझे राज्यके लिये स्वीकार करें, (इमाः देवाः पञ्च प्रदिशः) ये दिव्य पाँच दिशायें (स्वां वृणतां) तुझे राज्यके लिये स्वीकार करें । तू (राष्ट्रस्य वर्षेन् कुरुदि श्रयस्य) राष्ट्रके ऐश्वर्यसय उच्च स्थानपर बैठ, (ततः उग्रः) पश्चात् उपकोर बनकर (नः यसुनि वि भञ्ज) हम सबके लिये धनोंका विभाग कर ॥ २ ॥

(हविर्नः सजाताः त्वा अच्छं यन्तु) मूलानेवाले सजातीय लोग तुझको सम्मानपूर्वक मिलें । (अग्निः अजिरः दूतः संचरातं) अग्निके समान वेगवान् तेरे दूत सर्वत्र संबार करें । (जायाः पुत्राः सुमनसा भवन्तु) शिष्यों और पुत्र उत्तम मनवाले हों । (उग्रः बहु बलिं प्रति पश्यासै) उग्र होकर तू बहुत भैंटको देख ॥ ३ ॥

(अश्विनौ, मित्रावरुणौ, विश्वेदेवाः, मरुताः) अश्विनो, मित्रावरुण सब देव और मरुत (अग्ने) सबके पहले (त्वा त्वा ह्ययन्तु) तुझको बुलायें । (अथा वसु-देवाय मनः कृणुषु) पश्चात् तू धनका शान करनेके लिये अपना मन कर, (ततः उग्रः नः यसुनि विभञ्ज) पश्चात् उग्र होकर हम सबको धनका भाग दे ॥ ४ ॥

आशार्थ— हे राजन् । यह राष्ट्र सब तुझको प्राप्त हुआ है अब तू अपने तेजके अर्पितकर, और सब प्रजाओंका एक सम्राट् होकर विराजमान हो । सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले सब लोग तुझे चाहें और तू सबके लिये प्राप्त होनेवाला बनकर सबके सुखित हो ॥ १ ॥

सब प्रजायें राज्य पालनेके लिये तुझे ही स्वीकार करें । सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले प्रजाजन तुझे ही संबार करें । तू राष्ट्रके परम उच्च ऐश्वर्यवान् राजपद पर आरुह होकर, और बनकर, हम सबके लिये धनको योग्य विभाजिते बाँट दे ॥ २ ॥

तेरी इच्छा करनेवाले सजातीय लोग सम्मानपूर्वक तेरे पक्षमें रहें, अग्निके समान तेरे तेजस्वी दूत चारों दिशाओंमें संबार करें । तेरे राष्ट्रमें धर्मपशियों और भाग्यवन्ने उत्तम मनवाले हों । तू धूरधीर होकर बहुत भैंट प्राप्त कर ॥ ३ ॥

सब देवता तेरी सहायता करें । तू धनका शान करनेमें अपना मन विभर कर और धूरधीर होकर हम सबके योग्य विभाजिते धन बाँट दे ॥ ४ ॥

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते यावापृथिवी तुभे स्ताम् ।

तदुयं राज्ञा वरुणस्तथाह स त्वायमहत्स उपेदमेहि

॥ ५ ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ज्ञास्था वरुणेः संविदानः ।

स त्वायमहत्सवे सधस्थे स देवान्यक्षत्स उ कल्पयाद्विद्यः

॥ ६ ॥

पृथ्या रेवतीर्विद्युधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन् ।

तास्व सवोः संविदाना ह्यपन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह

॥ ७ ॥

अर्थ— (परमस्याः परावतः आ प्र द्रव) दूर दूर देशों में वहाँ आ । (उभे यावापृथिवी ते शिवे स्तां) दोनों यावापृथिवी तैरे तिमि कल्याणकारी होंगे । (तथा अयं राजा वरुणः) उसी प्रकार यह वरुण राजा (तद् आह) यह कहता है कि (सः अयं त्वा अहत्) यह तुम्हारी बुलावे और (सः इदं उप-धा इहि) यह तू इस राष्ट्रको प्राप्त कर ॥ ५ ॥

हे (इन्द्र-इन्द्र) राजाओंके महाराजा ! (मनुष्याः परेहि) मनुष्योंके समान परे जा और (हि वरुणैः संविदानः) बरिष्ठीके मिल कर तू (सं ज्ञास्थाः) ठीक प्रकार जान । (सः अयं सौ सधस्थे त्वा अहत्) यह यह अपने धर तुझे बुलावे (सः देवान् यक्षत्) यह देवोंका वजन करे और (स उ विदा कल्पयाद्) यह निरूपते प्रजाओंको समर्थ करे ॥ ६ ॥

(पृथ्याः रेवतीः) समानोंके चलनेवाली पनवाली (विद्युधा विरूपाः सर्वाः संगत्य) बहुत प्रकारके विविध रूपवाली सब प्रजाएँ मिलकर (ते वरीयः अक्रन्) तैरे तिमि श्रेष्ठ स्थान बनाती हैं । (ताः सर्वाः संविदानाः त्वा ह्यपन्तु) ये सब एकमत होकर तुझे बुलावे, वरना तू (इह उग्रः सुमनाः दशमीं वरा) यहाँ उग्र और उत्तम मनवाला होकर दसवीं शतक तक राष्ट्रको वरानगी कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— यदि तू दूर देश भी चला गया हो तो भी अपने राष्ट्रमें सीमाही वापस ला । सब देव तैरो सहायता करें । तू सब अपने राष्ट्रमें ही रह ॥ ५ ॥

तू साधारण मनुष्योंके समान ही अपने आपको मानकर देशमें सबंध भ्रमण कर और राष्ट्रके बरिष्ठ मनुष्योंके मिलकर सब यहाँ ठीक प्रकार समझ । ऐसा करनेसे लोग अपने परमें तुझे आरते बुलावेंगे और यहवाग भी करेंगे । इस प्रकार प्रजाओंके साथ मिलजुलकर सब प्रजाओं सब प्रकारसे समर्थ कर ॥ ६ ॥

अब समानोंके चलनेवाली हो, और धनवान् हो । बहुत प्रकारके रक्षणमें विभिन्न रहनेपर भी सब प्रजा मिलकर एक भावसे तुझे श्रेष्ठ माने और सब एकमतसे तैरी प्रार्थना करे । इस प्रकार बोरतातो और सुभ मनोभावसे राज्य करता हुआ तू सी बर्षांत राज्य अपने वशमें रख ॥ ७ ॥

राजाका चुनाव

पूर्व संरघ

विश्व प्राप्त होनेके पश्चात् अपने राजाका राजधानीमें प्रवेश होता है, उस समयके उसवके ये मंत्र हैं, अथवा विश्वको प्राप्त करके राजाके वापस जानेपर उसे देते योग्य उपदेश इन की पुस्तकोंमें हैं । तृतीय और चतुर्थ सूत्रको विनायक्य दृष्टिसे देखनेसे और एक बात प्रतीत होती है, वह

यह है कि- " कनो एता भी होता है कि शत्रु संघ द्वारा परास्त होकर राजा किसी दूसरे देशमें या जंगलोंमें छिपकर रहता है और उसके राष्ट्रपर दूसरे विदेशी राजाका अधिकार होजाता है । ऐसे समयमें राष्ट्रमें रहनेवाले लोग तब पुराने समयके अधिकारसंपन्न और राष्ट्रकाहित करनेके यत्न करें, वरना प्रजागत शत्रुका परभाव करें और अपने

पुराने राजाको साकर बडे सम्मानके साथ पुनः राजगद्दीपर स्थापित करें। यह भी उपवेश यहाँ बिसाई देना है। दुराणोंमें इन्द्रकी एक कथा भी इस प्रकारकी है, कि असुरोंके द्वारा इन्द्रका पराभव हुआ, वह भाग गया और छिपकर किसी प्रदेशमें रहने लगा। देवोंने अन्वेषण-प्रयत्नको असुरोंका पराभव करके इन्द्रको ढूँढा और पुनः इन्द्रपद पर स्थापित किया। यह कथा महाभारत उद्योगपर्व अ० १० से १५ तक पाठक वेक सकते हैं।

आत्मरक्षा

द्वितीय सूत्रने सबसे प्रथम आत्मरक्षाका बड़ा महत्त्वपूर्ण संदेश प्रारम्भमें ही कहा है। यह संदेश हण्णक वैश्विकधर्मोंकी ध्यातमें धारण करना चाहिये—

इह स्व-या भुवत् (इति) अशिक्षदत् ॥

(सू० ३, मं० १)

‘ यहाँ आत्मरक्षा करनेवाला मनुष्य बने, ऐसा पुकार पुकार कर कहा गया है।’ इस अर्थमें यदि मनुष्यको संमानने नीजिल रहना है, तो (स्व-याः) आत्मरक्षा उसके लिये अत्यावश्यक है। यह बात जैसे एक मनुष्यके लिये सत्य है वैसे ही एक समाज और एक राष्ट्रके लिये भी सत्य है। जब समाज आत्मरक्षामें रक्ष नहीं रहता, तो वृत्तत समाज उसपर हमला करनेमें प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार जिस समय एक राष्ट्र आत्मरक्षा करनेमें लग्न नहीं होता है, उसी समय वृत्तत राष्ट्र उसपर आक्रमण करता है और उसकी परतंत्र बनाकर उसपर अधिकार चलाने लगता है। आत्मरक्षा करनेकी अक्षमताका बड़ा भारी अपराध है, जो राष्ट्र परतंत्र हुए हें, वे स्वानुभवसे इस वैदिक उपदेशका महत्त्व जान सकते हैं। आत्मरक्षाका अर्थगत महत्त्व है। इसीलिये इस मंत्रने कहा है कि यह बात बारंबार पुकार पुकार कर कही गई है। जो बात अत्यंत महत्त्वकी होती है, वही बारंबार पुकार पुकार कर कही जाती है। इस कारण जो बात बेचने अनेक बार पुकार पुकार कर कही है, वह मनुष्यमात्रकी उपरिलकी बुद्धिसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

आत्मरक्षाका सामर्थ्य न रहनेवाला, राष्ट्र और उरुका राजा भी परास्त होता है और आपत्तियों गिरता है। आत्मरक्षा करनेवालेकी तेजोबुद्धि होती है, इस विषयमें इसी मंत्रका अपला भाग देखिये—

अग्ने । उरुवी रोदसी अयचस्य ॥ (सू० ३, मं० १)

११ (अथर्व. भा. २ मातृ० द्विती)

‘ अग्निके सत्त्वतेजस्वी ! तू इस विशाल छायासुंधियोंके अंदर फैल जा।’ आत्मरक्षा करनेवालेका आशय अग्नि है, यह अग्नि सदा ऊर्ध्व गतिसे जलता और प्रकलता है। ‘ अग्नेः ऊर्ध्वं ज्वलन् ’ अग्निकी उच्चताकी गति उच्च है। उच्चगतिवाले सब उन्नत ही होते रहेंगे और अपना तेज फैलानेमें और संपूर्ण अस्तुको प्रकाशमान करेंगे। आत्मरक्षा करनेवालोंका यथा अस्तुमें भारी दिशाओंमें फैलता ही है। आत्मरक्षा करनेवालेकी गति तो अग्निके प्रबल प्रकाशसे घटाई है। आत्मरक्षा न करनेवालेकी अवस्था ब्या होती है—

अन्यक्षेत्रे अण्डर्यं चरन्ते ॥ (सू० १, मं० ४)

‘ दूसरेके देशमें प्रतिबंधमें भटकता है।’ जो आत्मरक्षा नहीं करता, वह दूसरेके अधिकारमें-प्रतिबंधमें पड़ता है, दूसरे देशमें छिपछिपकर रहता है, किसी न किसी प्रकार बंदीखानेमें सज्जा रहता है। यह आत्मरक्षा न करनेका परिणाम है। यह परवन्ताका भयावक परिणाम आत्मरक्षा न करनेसे होता है, वह जानकर मनुष्य, समाज, राष्ट्र तथा राजा आत्मरक्षाका अपना परमधेष्ठ कर्तव्य कभी न भूले; यह आवेश वेच इस सूत्रद्वारा देता है और बारंबार उद्घोषित करता है कि मनुष्य इस आत्मरक्षाकी बातको कभी न भूले।

सौत्रामणी याग

‘ सौत्रामणी ’ नामक एक यज्ञाभारी यज्ञ है। इसमें मुख्य ध्येय अथवा ताप्य ब्या है, वह तैत्तिरीय संहिताके षष्ठने स्पष्ट होता है—

इन्द्रस्य सुपुत्राणस्य दशधेन्द्रियं धीर्यं परापतत् ।
तद्देवाः सौत्रामण्या समभरन् ॥

(तै० सं० ५।१।३।४)

‘ इन्द्रका बीर्य इस विशालमें विभिन्न शक्तियों विभक्त हो गया था, वह देवोंने सौत्रामणी यागसे एकत्रित किया।’ यथात् इस सौत्रामणी यागका ताप्य बिलरी हुई संहिताके विद्वान् करना है। ‘ सु-त्रामन् ’ शब्दका अर्थ है (सु) उत्तम (त्रामन्) रक्षा करनेकी बुद्धिपूर्वक शक्ति। यह शक्तिसे प्राप्त होती है जलको ‘ सौ-त्रामणी याग ’ कहते हैं। पूर्वोक्त तैत्तिरीय संहिताके षष्ठने भी बिलरी हुई इन्द्रकी शक्ति इच्छ्दी रूपसेके लिये ही सौत्रामणी याग बनाना यथा और उस यागसे यह शक्ति केन्द्रोभूत होगई इत्यादि बात स्पष्ट है। यथात् सौत्रामणीयागसे प्राप्त होता है और राष्ट्रिय शक्ति बढ़ती है। इसीलिये इस तृतीय सूत्रके द्वितीय

मंत्रमें सौभाग्यो पक्षके द्वारा राज्यभ्रष्ट राजाको फिर राज-
पदोपर लाते हैं, ऐसा कहा है—

दूरे सन्तं विप्रं इन्द्रं सरवाय अरपासः आच्यावयन्तु ।

(सू. ३, मं. ३)

‘ राज्यसे दूर हुए तानी नरैन्द्रको सरपने लिये तेजस्वी
योग उस गुण स्वामसे पहा लायें । ’ राज्यभ्रष्ट राजा जपलमें
या (अथर्व-श्रुते अपरुद्धे चरन्ते । (मं. ४) इतरे देशमें
छिप छिप कर रहता है, उसको पुनः राज्यपर स्थापित
करनेके लिये तानी योग अपने राज्यमें ले आयें; उसका सत्य
पुनः जनताके साथ पूर्ववत् हो । तानी इन्द्र ही राज्यपदोपर
भेते; इसलिये यह सत्य प्रयत्न है । यह सत्य प्रयत्न करनेके
लिये सौभाग्यो याग किया जाता है, ऐसा इसी द्वितीय मन्त्रके
उत्तरार्धमें कहा है—

देवाः अस्मै सायभी पृहतीं अर्कं सौभाग्यया वधुवन्तः ।

(सू. ३, मं. २)

‘ देव इस राजाके लिये सायभी, पृहती आदि रूप अर्चन
साकार सौभाग्यो यागके द्वारा करते हैं । ’ राज्यपदोपर
राजाको विद्वहानेका प्रबंध करनेके लिये सौभाग्यो याग
करते हैं; इस यागसे अपने विजयी हुई शक्तिको इच्छुली
करते हैं और उस शक्ति द्वारा उस राजाको अपने राज्यमें
लाकर उसका बड़ा साकार करते हैं । इस साकारका स्वरूप
केलिये—

वरणो राजा त्या अद्भ्यः ह्यतु ।

सोमः त्या परितेभ्यः ह्यतु ।

इन्द्रः त्या आभ्यः धिद्वन्भ्यः ह्यतु ॥ (सू. ३, मं. ३)

अश्विना ते सुगं पन्थां कृणुताम् ॥ (सू. ३, मं. ४)

प्रतिजनाः त्या ह्यन्तु, मित्राः प्रति अवृषत ॥

(सू. ३, मं. ५)

‘ वरुण राजा अलसपार्श्वके संरक्षणके लिये तुझे बुलाये,
सोम राजा पर्वतोंको रक्षाके लिये तुझे बुलाये, इन्द्र सुमे इन
प्रजातनोंकी मुख्यवस्थाके लिये बुलाये । ’ अश्विदेव यह
जानेवा तेरा मार्ग सुगम करें । प्रत्येक प्रजाजन आत्रुत्ते तुझे
बुलाये और मित्र सदा तेरा बल बढ़ावें । ’

राज्य प्रबंधमें समृद्ध किलारका प्रबंध, पर्वत स्थानोंका
प्रबंध ये दो प्रबंध अन्तरीष्ट्रीय महत्त्वके हैं और प्रजातनोंके
समप्रयत्न कार्य राष्ट्रके अन्तर्गत ध्वन्यकारका है । समृद्धमें नीरस,
जलदुर्घ आदिसे रक्षाका प्रबंध करना होता है और पर्वतों
पर भी निके कारिका प्रबंध आवश्यक होता है । प्रजाकी

मुख्यवस्थाका प्रबंध तो राज्यशासनका मुख्य भाग है ही,
इसमें कोई संदेह नहीं है । इन प्रबंधोंको करनेके लिये राजाको
पुनः राज्यपदोपर स्थापित किया जाय, यह तात्पर्य यहाँ है ।
राजाके कर्तव्योंकी भी सूचना यहाँ मिलती है । सब देवता-
ओंकी मह्यता भी इस राजाको प्राप्त हो और इन प्रकार
देवताओंकी मह्यतासे बलवान् बना हुआ अपने देवका
राजा यजुके लिये जसस्य हो, यह इच्छा प्रजाजनके नेताओंके
अंतःकरणमें होने चाहिये । देखिये, इस विषयमें अपना मंत्र ही
बहुता है—

इन्द्राशीं विभ्ये देवाः विशि ते क्षेमं अदीघन्तु ।

(सू. ३, मं. ५)

‘ इन्द्र, अग्नि और सपूर्ण अन्य देव प्रजामें तेरा कल्याण
स्थापित करें । ’ अर्थात् इन देवोंकी कृपासे तेरी प्रजाका भी
कल्याण होवे और प्रजाके जनार्दके साथ तेरा भी कल्याण
होवे । यहाँ—

ते क्षेमं विशि । (सू. ३, मं. ५)

‘ तेरा (राजाका) कल्याण प्रजामें बसता है । ’ अर्थात्
प्रजातनोंका कल्याण होनेसे ही राजाका कल्याण होना
सम्भव है, अन्यथा नहीं । जो राजा प्रजाके कल्याणके साथ
अपने कल्याणका संबंध नहीं जानता, वह सच्चा राजा ही
नहीं है । यजुर्वेदमें भी कहा है कि—

विशि राजा प्रतिष्ठितः । (यजु. २०१९)

‘ प्रजाके आधपने राजा मुप्रतिष्ठित होता है । ’ प्रजा न
हो तो राजा कहाँ रहेगा ? परंतु राजा न होनेकी अवस्थामें
प्रजा रह सकती है, इस कारण कहते हैं कि राजा प्रजाके
आधपने रहता है, परंतु प्रजा राजाके आधपनेके बिना भी
रह सकती है । अत एव राजाका कल्याण प्रजाके कल्याणमें
है । ऐसे राजाको सजातीय लोग अपने राज्यमें पुनः स्थापन
करें, इस विषयमें इस सूक्तका चतुर्थ मंत्र केलिये—

--सजाताः इमं (राजातं) अभि-सं-विदाध्वम् ॥

(सू. ३, मं. ५)

‘ सजातीय लोग इस राजाको (अग्नि) धारों औरते
(सं) ठीक प्रकार (विदाध्वं) प्रेषण करवें । ’ राजा
अपने राष्ट्रमें आवे तो स्वजातीयोंके साथ ही आवे । वे उसकी
सुरक्षाका प्रबंध करें और धारों और उत्तम प्रबंध रतें ।
राजाकी सुरक्षाके लिये उत्तम बल दिया जाय और स्वराष्ट्रमें
ऐसे सुरक्षकके साथ उत्तम प्रेषण कराया जाय । स्वजातीय
(सजाताः) लोग ही राजाके रक्षक हो सकते हैं, परजातीय

लोग किस समय भोळा बनें शुद्ध पता नहीं रहता, इसलिये राजा भी स्वजातीय लोगोंके ऊपर अधिक विश्वास रखे और उनका मोक्ष सम्मान करता रहे। नहीं तो कई राजा ऐसे होते हैं कि जो विदेशियों और परकीयोंपर तो अधिक विश्वास रखते हैं और स्वदेशियों तथा स्वजातीयोंपर अधिक विश्वास करते हैं। इस वास्तविकताके प्रतिबन्ध परिणाम उसको अन्तमें बुरी तरह भोगना पड़ता है। इसलिये इस मंत्र भाषनें यथासा है कि राजा स्वजातीय लोगोंका प्रधान विश्वास रखे। अहो स्वजातीय लोग सहायताके लिये तैयार ह, यहाँ राजा विश्वासते वेगपूर्वक जाये और अपना काम प्रारम्भ करे, इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

इथेनः भूत्वा इमा विशा आपत ॥ (सू ३, म ३)

' इथेनः पक्षीके समान बेशकै इस प्रकारमें जा पड। ' अर्थात् जहाँ प्रजातन्त्रके भद्र पुष्ट्य सहायता करनेकी तैयार हैं, वहाँ राजाको स्वराके साथ पटुत्व कर अपना प्रजापातनका कार्य करना चाहिये।

विरोधी मनुष्य

सजातीय लोग प्रायः सदा राजाकी सहायताके लिये तैयार ही रहेंगे, क्योंकि राजाका गौरव बढ़नेसे उनका भी यत्न बढ़ता ही है, तथापि कई लोग शत्रुपक्षसे मिलकर उत्तम राजाको राष्ट्रमें पुनः स्थापित करनेके विरोधी भी हो जाते हैं, उनका क्या किया जाय, यह प्रश्न यहाँ ही खरती है इस प्रश्नका उत्तर इस सूक्तके अष्ट मंत्रने दिया है, देखिये—

य सजात, य च निद्रय, ते ह्य विरदत्,
त अपाञ्चं युत्वा, अथ इमे इह अवगमय ॥

(सू ३, म ६)

' कोई सजातीय शत्रुवा कोई बिलजतीय या विदेशीय मनुष्य तेरे राज्यपरिहृतके मूल प्रसंगके विषय विचार करा करनेवाला हो तो उसको बहुशुद्ध करके, पश्चात् इस राजाको यहाँ ले आओ। '

सर्व समक्षिते जिना राजाको राज्यकी चर्ची भी जाती है, उसके विषय कार्यवाही करनेवाला यदि कोई मनुष्य हो तो (अपाञ्चं तं हृत्वा) उसको अलग करके ही अन्य भेद लोगोंको अपना प्रशासक कर्तव्य करना चाहिये। राज्यकी आंतरिक व्यवस्था करनेके प्रसंगमें इस प्रकारके कई मण्डे होते ही रहते हैं, इस लिये उसको दूर करनेका एक उपाय यहाँ बताया है।

चतुर्थ सूक्त

यहा तृतीय सूक्तका विचार समाप्त हुआ और अब इसी विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले चतुर्थ सूक्तका विचार करते हैं। तृतीय सूक्तका सम्बन्ध बाह्य रहनेवाले राजाको पुनः स्वराज्यमें लाकर राज्यपर स्थापित करनेके महत्वपूर्ण कार्यके साथ है और इस चतुर्थ सूक्तका सम्बन्ध सर्व साधारण राजाको और विशेषतः प्रजाके पुनः ह्रास राजाकी राजगद्दीपर बैठनेके कार्यके साथ है, इसलिये इस चतुर्थ सूक्तका सम्बन्ध एक रीतिसे तृतीय सूक्तके साथ है और दूसरे विचारसे वेदाभाष्य तो यह चतुर्थ सूक्त स्वतंत्र भी है। राजाका राज्याभिषेक इस चतुर्थ सूक्तका मुख्य विषय है। इस सूक्तमें प्रजाद्वारा राजाके चुनाव होनेका अर्थन मुख्य स्थान रखता है, यही पहले देखेंगे—

राजाका चुनाव

राजाका पुत्र ही अपना नयाही योग्य धीर हो, उसको प्रजाकी समक्षिते ही राज्य प्राप्त होता या। श्री रामचन्द्र जैसे सर्वमान्य पुरुषोंकी भी राज्य प्राप्त होनेके लिये प्रजाकी अनुमति लेनी पड़ी थी, इस बातको देखनेसे प्रजाकी समक्षित प्रयत्न अभिमत रहती थी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, इस सूक्तमें ६४ वैदिक रीतिपर बहुत ही उत्तम प्रकाश आता है, देखिये—

मदिशः देधी इमा पञ्चविशः सर्वा राग्याय कृणुताम्।
(सू ४, म २)

' विशा उपविशागर्भमें रहनेवाली यह विषय पाच प्रकारको प्रजा तुझको राज्यके आधिपत्यके लिये बुनें। ' प्रजा राज्य-शासन जमानेके लिये तुझे स्वीकार करे, ऐसा कहने पापसे राजगद्दीपर राजाको रखने या न रखनेका अधिकार प्रजाके आधीन है यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है। अथर्ववेदमें इस बातको जतनेवाले कई सूक्त हैं, उनका विषय उत्तरे स्वात-पर प्रभावमान होगा। इस प्रकार राजाका चुनाव करके उसकी राज्यपरके लिये स्वीकार करनेका अधिकार प्रजाका है, यह बात इस मन्त्रभाष्य द्वारा सिद्ध होगी, अथ इस सूक्तके इसी भावके बोध मंत्र भाष्य यहाँ देखिये—

दे राजन्। सर्वाः प्रदिशः। (प्रजाः) त्वा कृणुन्तु।

(म १)

देवितः सजाता त्वा मच्छत यन्तु। (म ३)

पहुँचा गिरुयाः सर्वाः (प्रजाः) सगन्त ते धीर्यः। अयन्तु।

(म ७)

ता संविदानाः सार्धाः (प्रजाः) तथा ह्ययन्तु ।

(म. ७)

' हे राजन् ! सब दिशाओंमें रहनेवाली सब प्रजायें तुझे पुकारें । भेद करनेवाले स्वजातीय लोग तेरे समुल आबें । बहुत करके विभिन्न रूपवाली सब प्रजा एकत्र समा करके तुझे घेण्ट बगाने । यह जाननेवालों सब प्रजायें तुझे ही बुलावें ।' इत्यादि मन्त्रभाव प्रजाकी अनुमति राजाके लिये आवश्यक है यही बात बता रहे हैं । इसलिये इस सूक्तका स्पष्ट आशय यही है कि प्रजाशासना स्वीकृत होकर ही राजा राजगद्दीपर आवे । किसी पुरुषको जन्मत राजगद्दीका अधिकार नहीं हो सकता, अस्तित्व जिसकी प्रजा स्वीकृत करे, वही राजगद्दीके लिये योग्य हो सकता है ।

प्रजाका पालन

राज्याभिषेकके समय ही प्रजाके धुने और पर्वद किसे राजाको राजगद्दीपर अभिषिक्त होनेके समय बताया जाता है कि अब तेरा प्रजापालनरूप कर्तव्य है, देखिये—

- १ राष्ट्रं स्वा ध्यामन्,
- २ वर्षसा सह उदिदि,
- ३ विशां पतिः प्राह एकराट् स्वं विराज्,
- ४ उपसद्यः नमस्यः च इह मथ ॥ (म. १)

' हे राजन् ! (१) अब तेरे पास यह राष्ट्र ध्याया है, (२) अपने प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हो, (३) प्रजाका पालन मुख्य एक राजा होकर तु विवेक प्रकाशमान हो, (४) तथा सब प्रजाओंके पास जाने योग्य और नमस्कार करने योग्य बन ।' इस प्रथम मन्त्रमें ' प्रजा-पति ' बन, यह आवेना है, पति शब्दका अर्थ प्रसिद्ध अर्थ स्वामी या मालिक है तथापि यह शब्द ' पा ' धातुसे बननेके कारण (पाति रक्षति) पालन करनेवालेका वाचक ही मुख्यतया यह शब्द है । जो पालन करता है वही पति कहलाने योग्य है, इस लिये प्रजापति (विशां पतिः) ये शब्द प्रजापालन रूप राजाका कर्तव्य बताते हैं । राजा शब्द भी वस्तुतः अभिषिक्त राजाका वाचक नहीं है, प्रत्युत (रंजयति) प्रजाका रंजन करनेवाले उत्तम राजाका वाचक है । इस प्रकार यहाँ प्रजापालन रूप राजाका मुख्य कर्तव्य बताया है । ऐसे राजाको ही प्रजा प्रेमसे (नमस्यः) नमन करती है अर्थात् जोका सरकार करती है । राजा ऐसा ही कि जो आवश्यकता पत्रेपर प्रजाको (उपसद्यः) मिल सके । जिसका वश प्रजा कर सके ऐसा राजा हो । जो राजा सब

मंत्रियोंने विचार रचता है और प्रस्त प्रजाका वश भी नहीं कर सकता वह प्रजासे नमस्कार कैसे प्राप्त कर सकता है ? इससे स्पष्ट हो सकता है कि प्रजाका नमस्कार प्राप्त करनेके लिये प्रजासे मिलना आवश्यक ही है ।

इस मंत्रके (राष्ट्रं स्वा ध्यामन्) राष्ट्र तेरे पास धारणा है, इस वाक्यसे स्पष्ट हो रहा है कि राष्ट्र अपने समस्तसे तेरे लक्ष्य आया है, अर्थात् राष्ट्रके पाँच प्रकारके प्रजाजनोंने राजगद्दीके लिये तुझे चुना है, इसलिये उनकी मिल समस्तसे ही यह राष्ट्र तुझे प्राप्त हुआ है, इस कारण तुझे उचित है कि तू राष्ट्रका पालन ऐसा कर कि तब तबशा मन्त्रिय कालमें राष्ट्रकी समति तेरे अनुकूल ही रहे और कभी प्रति-कूल न बने । इस मन्त्रका विचार करके पाठक जानें कि राजाकी प्रजाको धर्मरूप समतिकी कितनी आवश्यकता है । प्रजाकी अनुमतिके बिना राजा राजगद्दीपर रह ही नहीं सकता, यह स्पष्ट आशय यहाँ प्रतीत होता है ।

धनोंका विभाग

प्रजाओंमें धनके विचन विभाग होनेपर धनी लोग निर्धनों-पर बड़ा दयाव डालते हैं और उस कारण निर्धन लोग धीमे जाते हैं । इसलिये राजाके आवश्यक कर्तव्योंमेंसे एक यह कर्तव्य वेदने बताया है कि वह प्रजाओंमें योग्य प्रमाणसे धनविभाग करे । धनकी विपन्नता प्रथम न ही इस विषयमें वेदमें स्थान स्थान पर आदेश है—

१ राष्ट्रस्य धर्मान् कस्तुदि अयस्य
ततः उग्रः (भूत्वा) नः यस्मिन् विभज ॥
(मं २)

२ अध मनः वसुदेयाय कृणुध
ततः उग्रः (भूत्वा) नः यस्मिन् विभज ॥
(मं, ४)

' (१) राष्ट्रके ऐश्वर्यमें उच्च स्थानपर सदकर, उग्र बनकर हमारे लिये धनको विभक्त कर । (२) धनवान् अपना धन धनके हानके लिये लघुकुल कर, उग्र बनकर हमारे लिये धनका विभाग करके पाठ ।' इन दो मन्त्रोंमें पहले कहा है कि ' हे राजन् ! तू सबसे पहले राष्ट्रके अत्यन्त उच्च स्थानपर अर्थात् राजगद्दीपर आरूढ़ हो, परन्तु उग्र बन अर्थात् नरम दिलवाला न बन और प्रजायें धनका विभाग कर ।'

अपनि राजा प्रजाकी अनुमतिके ही राजगद्दीपर बैठता है तथापि उसको गद्दीपर बैठनेके पश्चात् उग्र बनना चाहिये ।

मदि वह नरन विवधाला बनेगा। तो उससे राजाके कर्तव्य ठीक प्रकार जिभावे जाने अशक्य होजायेंगे। धर्मधर्मका निर्णय करके अयमविचारम करनेवालेको योग्य शासन करनेका कार्य उच बननेके विधा नहीं हो सकता। इसलिये राजाको उच धनता अत्यंत आवश्यक है। उच धनकर और पक्षपात छोडकर धरना कर्तव्य राजाको करना चाहिये।

यह विभाग ठीक प्रकार करनेके लिये राजाको न तो धर्मधर्मका पक्षपात करना चाहिए और ना ही निर्धनोंका पक्ष लेना चाहिये। राष्ट्रमें धन विभाग प्रमाणमें न बडे यह देखते हुए अपने धनुविभागका कर्तव्य पूर्ण करना चाहिये। यह बडा कठिन है, परंतु राष्ट्रकी सुस्थितिके लिये अत्यंत आवश्यक है। धनकी विषयता, अधिकारको विषयता, ज्ञानकी विषयता और जातिकी उच्चनीचताको विषयता आदि अनेक विषयताएं होती हैं, उनमें धन और अधिकारको विषयता बडी घातक होती है, इस विषयताके कारण दबे हुए धनुषका उठना कठिन हो जाता है और उकी जातिकी ओ भयावक स्थिति होती है वह सब जानते ही हैं। इसलिये धनुविभाग नामक राजाके कर्तव्यमें अत्यंत आवश्यक विषयता बूर करनेका उपदेश किया है।

शुभसंकल्प

प्रजाजनको शुभसंकल्पवासा बनाना भी राजाका एक मुख्य कर्तव्य है, इसका प्रारंभ राष्ट्रकी माताओं और राष्ट्रके सुपुत्रोंके होना चाहिए, इस विषयमें इस प्रकार कहा है—

जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु । (मं. १)

हे राजन् । तू अपने राष्ट्रमें शिक्षाका प्रबंध ऐसा कर कि जिससे ' सिद्धयों और बालधन्ये उत्तम विचारवाले बनें । ' जिस राष्ट्रकी माताएं और बालधन्ये सब उत्तम विचारवाले बने हों, उन राष्ट्रकी गणना स्वर्गमें ही हो सकती है। सुविचारवाली कन्या और सुमनसकल्पवाले कुमारोंके राष्ट्रमें बजनेसे ही राष्ट्रधर्मका वायुमंडल बन सकता है, अन्याया जो बिराड होना संभव है वह आश्चर्य प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है। राष्ट्रमें विदाके अधिकारी शिक्षक तथा ग्रन्थ प्रबन्धके शासननिर्वाहियोंके उत्तम चरित्र होनेपर ही राष्ट्रकी सब कन्याएं और सब कुमार उत्तम संकल्पवाले हो सकते हैं। यह एक कर्ममें उपदेश देनेमें यहाँ बताया है जो प्राचीन समय व्यवहारमें आया था, परंतु अब यह फिर भी व्यवहारमें लायेगा ऐसा दिखाई नहीं देता। क्योंकि अर्थविक वायुमंडल बड रहा है। अतः लोग कुमारी और कुमारोंके अवर पवित्र

विचारका वायुमंडल उत्पन्न करनेका प्रयास करें और यह जायेंगे अपने मनमें सदा जावत रहें।

राजाका रहना सहना

राजाका व्यवहार सीधासाधा हो, राजा साधारण मनुष्य जैसा धनकर किसी किसी समय राष्ट्रमें भ्रमण भी करे और प्रत्यक्ष जनताके सुख दुःखका अवलोकन करे, इस विषयमें अत्यंत देखिये—

इन्द्रेन्द्र ! मनुष्याः (यत्) परेति,

यदगैः संश्रियानः सं गतास्थाः ॥

स अयं दवा स्ये सधस्थे अहत्,

स उ देवान् यक्षत्, विशः कल्पयात् ॥ (मं. ६)

' हे राजन् ! साधारण लोगोंके समान धनकर बुर बुर तक जनतामें भ्रमण कर, वहाँके अर्थ मनुष्योंके साथ मिल-बुलकर उनकी सच्ची अवस्थाको जान । वे तुझे अपने घर बुलायें और पक्ष करें; इस प्रकार तू प्रजाओंकी उपरति कर । '

यह संघ बहुत बुद्धियोगि जनपूर्वक देखने योग्य है। सबसे पहिले इसमें यह कहा है कि राजा किसी किसी समय अपने शाहीपनेको अलग करके स्वयं साधारण मनुष्योंके भेषमें होकर साधारण मनुष्योंके समान धनकर बचनोंमें भ्रमण करे और अपनी आँखोंसे देखे कि अपनी प्रजाकी अवस्था कसी है, प्रजा कष्टमें है या सुखमें है और राष्ट्रके कर्मचारों प्रजाके साथ कैसा व्यवहार करते हैं। वहाँके जो (यद्योः=धरेः) प्रमुख लोग हों, जो विशेष समसहार हों उनसे मिलकर सब अवस्थाको जान ले कि किस बहत्तमें सुधार करके प्रजाका सुख बढ़ाना चाहिये।

दूसरी बात इसी अर्थमें जो कही है यह यह है कि प्रजाके लोग राजाको विशेष समय अपने घर बुलायें, राजा वहाँ जाये, उनके साथ मिलबुलकर बातचीत करे, सब मिलकर पक्ष पाय आदि करें; इस रीतिसे राजा प्रजाको समर्थ बनाये और प्रजाकी उपरति करे।

दूतका संचार

राजा स्वयं अपने राष्ट्रमें भ्रमण करे और सब व्यवस्था स्वयं अपनी आँखोंसे देखे, इस विषयमें ऊपर कहा ही है; परंतु जकेला राजा कर्हातक भ्रमण कर सकता है और कर्हा-तक देख सकता है, अतः राजा लोग दूतोंके आँखोंसे ही देख सक लेहें, इसलिये दूतोंका विस्तार करनेके विषयमें तृतीय मंत्रमें कहा है—

अजिरः दूताः संचरन्ते । (ग. ३)

'यथा दूत संचार करे ।' राष्ट्रमें दूतोंका विस्तार करके राजा सब जानने योग्य बातें जान लेवे । और इस ज्ञानसे अपने शासन प्रबंधमें जो कुछ सुधारणिक करना हो वह करता रहे । अर्थात् दूत-संचार यह शासनका एक आवश्यक अंग है क्योंकि इससे राजाको शासन विषयक प्रजाके सुख दुःखोंका पता लगता रहता है । इस प्रकार राजा ज्ञान प्राप्त करनेके अपना शासन चलानेवाला राजा प्रजाको अत्यंत प्रिय होता है, इसलिये प्रजा भी उस राजाका सत्कार विविध प्रकारकी भेंट देकर करती है । इस विषयमें वैदिक—

(१) हविनः सजाताः स्वा अरुह्य रन्तु ॥ (म. ३)

(२) उग्रः बर्हुं चर्लिं प्रति पश्यात् ॥ (म. ३)

(१) 'हवि लेकर स्वर्नातिके लोग तेरे समुख उपस्थित हों । (२) उग्र बन कर बहुत भेंट दू देवेगा ।' इस प्रकार राजा प्रजासे बहुत सत्कार प्राप्त कर सकता है । तथा—

(१) ते ध्यावापृथिवीं शिवे स्ताम् । (मं. ५)

(२) उग्रः सुमनाः इह दशर्षो वश । (मं. ७)

(१) 'हे राजन् ! तेरे लिये धावापृथिवी कल्याणपूर्ण हों और (२) तू उग्र तथा उत्तम मनवाला बनकर यहाँ ही वर्षाकर राज्यको अपने बसमें कर ।' इसी प्रकार 'तव देवीकी सहायता इस राजाकी मिले ।' (म. ४) इत्यादि

प्रकारकी इच्छा लोग उसी समय करते कि त्रिम समय राजा भी प्रजाका सुख बढ़ानेमें बतचित्त होगा । जो राजा प्रजाके सुखकी परवाह नहीं करता हो, उसके हिताहितकी किक प्रजा भी नहीं करती । इसलिये हरएक राजाकी सदा ध्यानमें यह बात रहनी चाहिये कि 'मेरे पास जो राजपद आया है वह प्रजापालन करनेके लिये आया है, न कि अपने सुखभोग भोगनेके लिये ।' यह भाव मनमें रखता हुआ राजा अपने कर्तव्यका योग्य रीतिसे पालन करे ।

बहण

यहाँ एक वैदिक वर्षान ढोलीकी विरोधता अवश्य देखने योग्य है । इन्द्र, वरुण आदि शब्द देवताओंके वाचक ही होते हैं, अन्य किसीके वाचक नहीं हो सकते, ऐसा सामान्यतया साधारण लोग समझते हैं । परंतु ये शब्द कभी कभी विरोधक रूप होकर किसी अन्यके युगबोधक होते हैं और कभी स्वयं किसी अन्य पदार्थके वाचक भी होते हैं । यहाँ वरुण शब्द बहुवचनमें आया है इसलिये यह वरुण देवतावाचक निःसंदेह नहीं है, क्योंकि जिस समय वरुण देवताका वाचक यह शब्द होता है, उस समय यह सब एकवचनमें ही होता है । यह बहुवचनमें होनेके कारण यह पदा प्रजापतिवाचक है । 'बहण, वरण, वर्ण' इस प्रकार यह 'भार वर्षोंके लोगों' का वाचक ही सकता है किवा वर अर्थात् श्रेष्ठोंका भी वाचक ही सकता है । यहाँ हमारे मतसे 'वर्ण' अर्थ सेना अधिक योग्य है ।

श्विजर्षी राजर्ष

कांड ६, सूक्त ९८

(श्वधि. - अपर्षा । देवता - इन्द्रः ।)

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयाति ।

चर्कृत्य ईडयो वन्द्यभोपसद्यो नमस्यो भवेह

॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्र. जयाति) धूर पुरुषकी ह्येसा विजय होती है, (न पराजयाते) कभी पराजय नहीं होती । (राजसु अधिराजः राजयाति) राजाओंमें जो सबसे बड़े अधिराजा होता है उसकी शोभा बढ़ती है । हे राजा ! तू (इह) इस राष्ट्रमें (चर्कृत्यः ईडयो) समुक्त मान करनेवाला और स्तुतिके लिये योग्य, (वन्द्यः. उपसद्यः नमस्यः भवे) वन्दनीय, प्राप्त करने योग्य और नमस्कारके लिये योग्य हो । १ ॥

भाषार्थ— जो पुरुष धूर होता है, उसीकी विजय होती है, उसकी कभी पराजय नहीं होती । जो राजा सब राजाओंमें बड़े बनता है वही अधिक प्रभावशाली, प्रशस्तनीय, वन्दनीय और उपास्य होता है । १ ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रुत्स्युस्त्वं भूमिभूतिर्जनानाम् ।

त्वं दैवीर्विश्वं इमा वि राजापुष्पमत्स्रमज्जरं ते अस्तु

॥ २ ॥

प्राच्यां दिशस्त्वमिन्द्रसि राजोतोदीच्या दिक्षो बृषहन्स्रुहासि ।

यत्र यन्ति स्रोत्यात्स्रितं तं दक्षिणतो बृषुम एपि हव्यः

॥ ३ ॥

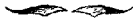
अर्थ— हे इन्द्र ! (त्वं अधिराज) तू राजाधिराज और (श्रुत्स्युः) कीर्तिमान् हो । (एवं जनानां अभिमूर्तिः भूः) तू प्रजाओंका सम्मूर्तिकर्ता हो । (त्वं इमाः दैवीः विशाः विराज) तू इन दैवी प्रजाओंपर विराजमान हो । (ते आयुष्मन् क्षत्रं यज्जरं अस्तु) तेरा दीर्घायुष्मत् क्षात्रतेज नरारहित होवे ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (त्वं प्राच्याः दिशः राजा असि) तू प्राचीन दिशाका राजा है । हे (बृजहन्) शत्रुघ्न ! (उत्त उदीच्या दिशः शत्रुहा असि) और तू उत्तर दिशाके शत्रुओंका नाश करनेवाला है । (यत्र स्रोत्याः यन्ति) जहाँ नदियाँ जाती हैं वहाँतकके प्रदेशको (तत् ते जितं) तूने जीत लिया है । तथा (बृषुम हव्यः दक्षिणतः एपि) बलवान् और भारते पुकारने योग्य होकर दक्षिण दिशासे तू जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— उत्तम राजा कीर्तिमान् और प्रजाओंको सम्मूर्ति बढ़ानेवाला होवे । अपनी प्रजाको दैवी संपत्तिसे युक्त करे और अपने राष्ट्रका क्षात्रतेज बड़ाकर दीर्घ आयु भी बढ़ावे ॥ २ ॥

प्राचीं विशाग्रेणं यज्जरेण पराजय करके राजा विजयी बने, बलमान् बने और सबके आदरका पात्र बने ॥ ३ ॥

राजा विजयी होकर किस रीतिसे पञ्चक भागी होता है, यह बात इसमें स्पष्ट उल्लेख नहीं है । इस सूक्तका भाव अति सरल और सुगोचर है । 'शौर्य और बल बढ़ाने और प्रजाकी सम्मूर्ति बुद्धित करनेसे राजा विजयी होता है ।' यह इस सूक्तका मुख्य अर्थ है ।



क्षत्रियका धर्म

कांड २, सूक्त ५

(श्रुति - भृगु, आपर्वण । वेत्ता - इन्द्र ।)

इन्द्रं जुषस्व प्र वहा यांदि शूर हरिभ्याम् । पिवां सुतस्व मतेरिह मघोश्चकानश्वाहर्मदाय ॥ १ ॥

इन्द्रं जठरं नघो न पुणस्य मघोर्दिवो न ।

अस्य सुतस्य स्वर्णोर्षे त्वा मदाः सुवाचो अयुः

॥ २ ॥

अर्थ— हे शूर इन्द्र ! (जुषस्व) तू-प्रणम हो, (प्र वहा) भागे बह । (हरिभ्यां वा यादि) घोड़ोंके साथ तू वहा जा । (चकानः) तुल्य होता हुआ तू (मदाय) हर्षके लिये (इह) यहाँ (मतेः) बुद्धिमान् पुरुषका (सुतस्य मघोः श्वायः) निचोडा हुआ मयूर सुन्दर रत्न (पिब) पी ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (नघः न) प्रशसनीयके समान और (स्वः न) स्वर्णके आकारके समान (मघोः जठरं पुणस्य) इस मयूर रत्नके सपना घेद भर । (अस्य सुतस्य) इस निचोडे रत्नकी (स्वः न) स्वर्णके आकारके समान सुग्री और (सुवाचः मदाः) उत्तम आपर्वणके साथ भाव (त्वा उप अयुः) तेरे पास पहुँचते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— हे शूर वीर ! तू स्वरा प्रसन्न और आनन्दित रह और उन्नतिके मार्गसे भागे बह । अपने उत्तम घोड़ोंके साथ अपने बँटकर इन्द्र के पास जा और तदा तनुष्ट रहला हुआ अपने हर्षको बढ़ानेके लिये बुद्धिमत्क मयूर रत्नका पीन कर ॥ १ ॥

हे शूरवीर ! प्रशसके योग्य और हर्ष बढ़ानेवाले मयूर रत्नके सपना घेद भर, ऐसा करनेसे ही उत्तम प्रशसकी प्राप्ति ही तेरे पास आनेसे पहुँचैगी अर्थात् सब तेरी प्रशंसा करेंगे ॥ २ ॥

इन्द्रस्तुरपाभिन्त्रो वृषं यो जघान यतीर्न । विभेदं बलं भृगुर्न संसहे शत्रुमदे सोमस्य ॥ ३ ॥
आ त्वां विशन्तु सुतासं इन्द्र पूणस्वं कुक्षीं विद्वि शकं धियेसा नः ।

श्रुधी इवं गिरीं मे जुपस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह मुहे रणाय ॥ ४ ॥

इन्द्रस्य तु प्रा वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रयमानि वृत्ती ।

अहङ्गहिमन्वपस्तर्तुं प्र वक्षणां अग्निस्पर्षतानाम् ॥ ५ ॥

अहङ्गहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वशस्मै वञ्चं स्वयं ततश्च ।

वाग्ना इव धेनवः स्पन्दमाना अङ्गाः समुद्रमव जग्मुराणः ॥ ६ ॥

अर्थ— (यतीः न) यत्न करनेवाले पुरुषके समान (यः तुरापाद् मित्रः इन्द्रः) जिस तुरासे शत्रुपर हमला करनेवाले मित्र इन्द्रने (सुतासः जघान) घेरनेवाले शत्रुका भाग किया था, तथा (भृगुः न) भृगुके समान जिसने (बलं विभेदं) शत्रुके प्रसङ्ग भेद किया था और (सोमस्य भदे) सोमरसके आनंदमें (शत्रुमससहे) शत्रुओंका पराभव किया था ॥ ३ ॥

हे (शत्रु इन्द्र) शक्तिमान् प्रभु इन्द्र ! (सुतासः तथा भा विशन्तु) निचोरे हुए वे रत तुमने प्रविष्ट हो । (कुक्षीं पूणस्य) दोनों कुक्षियोंको तू भर और (विद्वि) शासन कर (धिया नः आ-इहि) अपनी बुद्धिसे तू हमारे पास आ । हमारी (ह्यं श्रुधि) पुकार सुन, (मे गिरः जुपस्व) मेरी स्तुतियां स्वीकार कर और (इह) यहाँ (मुहे रणाय) बड़े युद्धके लिये (स्वयुग्भिः) अपनी योजनओंके साथ (आ मत्स्व) हाँवत हो ॥ ४ ॥

(इन्द्रस्य वीर्याणि तु प्र वोचं) इन्द्रके पराक्रमका मैं बख्ती प्रकार वर्णन करता हूँ । (यानि प्रयमानि) जो पहिले योनोंके पराक्रम (वक्षं चकार) वक्ष्यपारी इन्द्रने किये थे । उसने (अङ्गा अहङ्) कम न होनेवाले शत्रुका भाग किया और (अपः अनुतर्तुं) प्रवाहोंको सुला किया और (स्पन्दमानां) पर्वतोंके (वक्षणाः प्र अग्निम्) भाग भी तोड़े ॥ ५ ॥

(पर्वते शिश्रियार्णं अङ्गि) पर्वतके आषयते रहनेवाले शत्रुका (अहङ्) बध किया । (असी) इसके लिये (स्वया स्वयं वञ्चं ततश्च) शत्रुगणने तैज शस्त्र बनाया । (वाग्नाः धेनवः इव) रंभाती हुई गौर्षोंके समान (स्पन्दमानाः अपः) वेपते बहनेवाले जलप्रवाह (अङ्गाः समुद्रं जयजग्मुः) तीर्थ समुद्रतक आ पहुँचे ॥ ६ ॥

भावार्थ— पुरुषार्थी, उद्यमी पुरुषके समान प्रयत्नशील और शीघ्रवेगके साथ शत्रुपर हमला करनेवाला शूरवीर अपने शत्रुका भाग शोभ करता है । जिस प्रकार मूलेवाला मनुष्य धार्योंको भूतता है, उसी प्रकार यह शूरवीर शत्रुको सेनाको भूत बनाता है और सोमरसका पान करता हुआ हृषित और उत्साहित होकर शत्रुका पराभव करता है ॥ ३ ॥

हे शक्तिमान् शूरवीर ! सब मयूर रत तुझे प्राप्त हों और उत्तरो तू अपना पेट भर । उस समय तू अपने मनसे सब जनताको भलाईका विचार कर और उनकी पुकार सुन तथा बड़े औद्यतकतहमें विजय प्राप्त करनेके लिये अपनी योजक शक्तिपोंके साथ आनंदसे तैयार रह ॥ ४ ॥

शूर पुरुषके पराक्रमोंका मैं वर्णन करता हूँ, जो उसने (इन्द्रने) किये थे । बड़नेवाले शत्रुका उसने भाग किया और अङ्गके प्रवाह सबके लिये सुले कर बिये, तथा पर्वतोंके भागोंको तोड़कर जंगल भी शक किया ॥ ५ ॥

पर्वतके भागोंपर छिपकर रहनेवाले शत्रुओंका उसने बध किया, ऐसे शूरके लिये कारीगरोंने विशेष प्रकारके तीक्ष्ण शस्त्र तैयार कर बिये । जिस प्रकार गौर्ष रंभाती हुई अपने बछड़ोंके पास जाती है, उसी प्रकार उा शूरके द्वारा मूला किये हुए जलके प्रवाह समुद्रतक आ पहुँचे ॥ ६ ॥

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकंद्रकेष्वपिचसुतस्य ।
आ सार्यकं मृगवाद्दत्तं वज्रमईश्रेणं प्रथमजामहीनाम् ॥ ७ ॥

॥ ७ ॥

अर्थ— (वृषायमाणः) वनवान् वीर (सोमे अवृणीत) सोमरसको प्राण हुआ । (सुतस्य त्रिकन्दकेषु अपिचत्) रसका तीन उच्च स्थानोंमें पात किया । (मृगवा सार्यकं वज्रं वा अद्स) इनमें बाणरूप वज्र सिधा और (अहीनां प्रथमजां एतं अहन्) सशुभ्रोंके पहिले इस वीरको मार जाला ॥ ७ ॥

भावार्थ— अपना बल बढ़ानेवाला शूरवीर सोमरसका पात तीन समय और तीन स्थानोंमें करता है । धनी शूरवीर मगने धरम सब तैयार रखता है और बढ़नेवाले शत्रुके अध्यात्मो वीरका शीघ्र नाश करता है [वीर इस रीतिसे अपनी विजय प्राप्त करता है ।] ॥ ७ ॥



क्षत्रियका धर्म

क्षत्रधर्म

प्रायः इत्यं श्रुतोंमें क्षत्रियधर्म बताया होता है । इत्यं शब्द मुख्यतः क्षत्रिया नाम करनेवाले शूरवीरका द्योतक है और उसका वर्णन शूरवीरके क्षत्रधर्मका प्रकाशक होता है । इस श्रुतमें भी पाठक उक्त बात बोल सकते हैं । इस श्रुतमें तीन शब्दों द्वारा शूरवीरका धर्म होकर क्षत्रधर्मका प्रकाश हुआ है, उन शब्दोंका अर्थ बोलिये—

क्षत्रियके गुण

१ इन्द्रः (इन्द्रः)— शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रु-संग्रहका नाश करनेवाला । (मं. १)

२ शूरः— शूरवीर । (मं. १)

३ स्वकामः— हृत्, संतुष्ट, तैत्तली, प्रकाशमान् । शत्रुका प्रतिहार करनेमें समर्थ । (मं. १)

४ मित्रः— जनताका मित्र, सहायका हित करनेवाला । सूर्यप्रकाशका समान् । (मं. १)

५ यतीः— प्रवृत्तशील, पुण्यार्थी । (मं. ३)

६ सुगुणः— भूषणवाला, शत्रुको भूषणका । (मं. ३)

७ तुरापाद्— त्वरासे शत्रुपर हमला करनेवाला ।

(मं. ३)

८ शक्रः— समर्थ, शक्तिशाली, बलवान् । (मं. ४)

९ यज्ञी— वज्र आदि शस्त्रोंके युक्त । (मं. ५)

१२ [अथर्व. भा. २ मन्त्र ० हिरवी]

१० वृषायमाणः— अपना बल प्रतिदिन बढ़ानेवाला; अपनी शक्ति सब प्रकारसे बढ़ानेवाला । (मं. ७)

११ मृगवा (मृग+वाद्)— पनवान् । (मं. ७)

ये शूरवृत्तं शब्द इस श्रुतमें शूरवीर क्षत्रियके वाचक हैं । इन शब्दोंसे क्षत्रियके कर्तव्योंका भी बोध होता है । क्षत्रियके पास धैर्य, वीर्य, पराक्रम आदि गुण जैसे चाहिये उसी प्रकार पुनः पुनः प्रयत्न करनेका गुण और वेगले शत्रुपर हमला करनेका जो गुण अथवा चाहिये । शत्रुको अपना बल अधिक रखनेको तैयारी भी क्षत्रियको करनी चाहिये और इस सबके लिये उसके पास विपुल धन भी चाहिये इत्यादि साधनधर्म; उपदेश हर्षे यहाँ प्राप्त होता है । जब बाण्यों द्वारा जो क्षत्रियके कर्म इस मन्त्रीमें वर्णन हुए हैं, उनका विचार बोलिये—

क्षत्रियके कर्तव्य

१ शूर ! हरिर्न्यायायाहि— हे वीर ! घोड़ोंपर सवारो कर । घोड़ोंको सवारो करनेका सम्पन्न क्षत्रियको करना चाहिये । (मं. १)

२ प्र वद्— आगे बढ । क्षत्रियकी ऐसी तैयारी चाहिये कि शत्रुसे वह जी-मरतासे भागे नड सके । बडाईमें तिलाई न रहे । (मं. २)

३ वृत्रं जघान— घेनेवाले अपना शत्रु बांधकर बडाई करनेवाले शत्रुका नाश करनेमें समर्थ क्षत्रिय हो । (मं. ३)

४ वलं धिमेद्— शत्रुके बलका भेद करे, शत्रुको तेनामें

भेद उत्पन्न करे, शत्रुकी सेनाकी संघराशि नष्ट करे, उस शत्रुसेनाको तितर बितर करे। (मं. ३)

५ शत्रुन् ससहे- शत्रुका पराजय करे। शत्रुके हमलेको सहे गर्वात् शत्रुके हमलेसे पीछे न हटे। (मं. ३)

६ विद्मि (अ वा विद्मि)- उत्तम राज्यशासन कर। राज्यशासन करना अपना कर्तव्य है ऐसा क्षत्रिय समझे। (मं. ४)

७ महते रणाय स्वयुग्मिः मरस्य- बड़े युद्धके लिये अपनी योजना शक्तिशाली द्वारा वापसले तैयार रहे। शत्रु शय्या करता है, वो उसको अपनी योजना और ध्वस्तगोले दूर करे। (मं. ४)

८ अहि अहन्- शत्रुका नाश करे। (मं. ५)

९ पर्वतामां वध्वाः अभिनत्- पर्वतोंके उपरके घने जंगल तोड़कर शत्रु छिपकर रहनेके स्थान हटा देवे। अथवा वहासे बहनवाले नदी प्रवाह खुले करे। (मं. ५)

१० अयः अनु सतर्द- जलके प्रवाह शत्रुके अधिकारमें हों तो उनकी सपके लिये खुले करे। (मं. ५)

११ पर्वते शिशियाणं अहिं अहन्- पहाड़ियोंका आश्रय करके लडनेवाले शत्रुका नाश करे। (मं. ६)

१२ अस्मै त्वष्टा स्वयं यज्ञं ततक्ष- इसके लिये सृष्टार शीघ्र अस्मात्पर तैयार करके दे। अथवा राजा अपने कारीगरोंकी शक्त तैयार करनेके काममें निपुण करे और आवश्यक आस्त्रास्त्र तैयार करके ले। (मं. ६)

१३ स्याकं घर्षं वा अदत्त- बाण और बन्ध आदि प्रस्त्र हाथमें लेवे। (मं. ७)

१४ आहीनां प्रथमर्जां पत्नं अहन्- बधनेवाले शत्रुके मुख्य मुख्य धोरोंका अर्थात् सेनानायकोंका नाश करे। (मं. ७)

ये बाण अश्विकके कर्तव्य धत्ता रहे हें। इनको विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये बाण स्वयं स्पष्ट हें और योमेंसे मनगले इनका अस्त्राय ध्यानमें आ सकता है।

अब राज्यशासन विषयक कर्तव्योंकी सूचना करनेवाले पाप्योंकी देखिये—

राज्यशासन

१ मित्रः- प्रजाओंका मित्र बनकर राजा राज्य करे। शत्रु शत्रु बनकर राज्य न करे। (मं. ३)

२ हर्षं धुधि, गिरः सुपस्व- पुकार सुन, वाणीको स्वीकार कर अर्थात् प्रजाकी सान्नाय सुन। प्रजाकी इच्छाका जावर कर। (मं. ४)

३ अयः अञ्जः समुद्रं अवजग्मुः- समुद्रतक बहनेवाले गहर घलावे और चलते कृदिकी सहायता करे। (मं. ६)

इस प्रकारका राज्यशासन केवल प्रजाके हितकी दृष्टि करनेके लिये जो क्षत्रिय करता है, उसीको प्रजाप्रसंगा करती है, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिये—

प्रजासे सम्मान

१ त्वा मदाः सुवाचः उप अगु- तेरे पास हर्षकी उतम वाणी पहुँचती है अर्थात् हर्षित और आनन्दित हुई प्रजा उसकी उत्तम वाणीसे प्रसंगा करती है। कृदकतान्ते संमान करती है। मानपत्र अर्पण करती है। (मं. २)

आनन्दित होनेके पश्चात् जो प्रजा उत्तम राजाकी इस प्रकार प्रशंसा कर सकती है। अन्यथा अन्त हुई प्रजा राजाकी विदा या राजाका द्रोह करती रहती। इस प्रकार राजाके लक्ष्य शत्रियके राष्ट्रीय कर्तव्य क्या है, इस विषयमें इस सूत्रमें उपदेश दिया है। वहाँ ऊपर जो वाक्य उद्धृत किये हैं, उनमें प्रजाकी सुविधाके लिये शब्दोंके अर्थोंका पुनः-पुनः करके जोरजोर परिपक्व वाक्यबद्ध कर दिया है। यह बात संस्कृतस्य वाक्य रूप में जान सकते हैं। इसका परिपक्व इस प्रकारके स्पष्टीकरणमें आवश्यक हो होता है। इसलिये इस विषयमें कुछ न मिलकर अब अश्विकका व्यक्तिगत आचार भीग आदि कैंसा रहना धार्मिक इत विषयमें इस सूत्रका उपदेश देलते हैं—

भोग

१ सुतस्य मघोः मदाय पिय- सोमादि धनापरितो निषोर्धे मधुर रसका पान हर्षके लिये कर। (मं. १)

इस विषयमें मधुर रसका पान करनेका उपदेश है। यहो मधुपर्क प्राशन है। धनस्वतिसमें सोम मुख्य है। इसका ग्रहण करनेमें अथ्य आरोग्य और हर्षवर्षक वनस्पतियोंका ग्रहण स्वयं हुआ है। इस सूत्रके सप्तम मंत्रमें सोमका नाम है और यही इस मंत्रसे संबंधित है। इस सूत्रमें इसके उल्लेख निम्न लिखित हैं—

२ सुतस्य मघोः जटरं पुणस्व। (मं. २)

३ सुतासः त्वा बुद्धीः आचिरान्तु। (मं. ४)

४ सुतस्य सोमं अिफुकेपु अयिद्यत्। (मं. ७)

इन मध्य भागोंका भी वही भाव है। (२) सोमरससे पेट भर ले। (३) सोमरससे दोनों कुशिया भर ले। (४) निचोडा सोमरस तीन चर्तनों द्वारा तीन स्थानोंमें बँडकर दिग्भे तीन बार पी। यह सोमरस ममूर दधिवाला, हर्ष और उसलाहबर्षक, पकाषटकी दूर करनेवाला, वीर्य आधुप्य देनेवाला, बुद्धि बढ़ानेवाला और रोगबीजोंको दूर करने-वाला है।

सोम और मद्य

कल्पिय विद्वान् सोमको शराब मानते हैं, पर उनकी यह धारणा शोधपूर्ण है। सोम, सुरा, शरणी, अलस, अरिष्ट, मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक नहीं हैं। मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक होगये हैं और सुरा शब्द भी उनमें सम्मिलित हुआ है, यह बात हमें पता है। इसलिए हम कहते हैं कि इन शब्दोंका आशय पाठक अवश्य स्मरण रखें—

१ सोम- सोमबलीक रस, जो रूप, मयु (शब्द), मिथी, भुने हुए माल्यका गाटा, रही आदि अनेक पदार्थोंके मिश्रणके साथ अच्छा स्वादेष्ट्य पेय बनाकर पोया जाता है और गो आदि पशुओंको भी खिलाया जाता है। यह वनस्प-तिर्षोंका शेषल रस होता है। इसके गुण ऊपर विषे हैं।

२ सुरा- किसी रसका भाग बनाकर फिर उसको ठण्डा करके रस बनाया जाय, तो उसे सुरा कहते हैं। (Distilled Water) पानीकी भाव घटाकर फिर उस भागका पानो बन जानेसे भी उस जलका यह नाम होता है, बुद्धि-पलका भी यही भाग उक्त कारण ही है, क्योंकि भूमिपरके शूल भाव होकर मेष बनते हैं और उससे बुद्धि होती है। किसी भी रसको इस प्रकार बुद्धि होती है। यह बुद्धिकी रीति है। आशकल इस रीतिसे शराब बनाते हैं, इसलिए इस नामकी विह्वलति हुई है, यह बात सामयिक है। वास्तव में संस्कृतका शेषल सुरा शब्द उक्त विधिसे बनाए गए-भारत बुद्ध जल या शराब कायक है।

३ शरणी, अमरशरणी- ये भी शब्द उक्त प्रकारके रसोंके या जलके वाचक हैं। इन पेयोंमें मादकता या दुर्गुण वास्तवमें नहीं है। वस्तु मातृकल इस रीतिसे शराब बनते हैं इसलिए ये सब नाम दूरे अर्थोंमें मातृकल प्रयुक्त होगए

हैं। प्राचीन समयमें भी श्वशित् दूरे और श्वशित् लक्ष्णे अर्थोंमें इनका उपयोग दिखाई देता है।

४-५ आस्य और अरिष्ट- ये नाम शोधविशेषोंके होते हैं। इनमें कुछ सदाष्ट होनेके कारण मद्य उत्पन्न होकर अर्परिहाय है, तथापि इनमें मद्यकी मात्रा प्रति पाठक को भागके करीब होती है। इसलिए शराबमें इसकी गिनती नहीं होती।

६-७ मद्य और शराब- मादक होनेसे निम्नरेह हानि-कारक पेय हैं।

पाठक इस विवरणसे समझ गये होंगे कि सोममें शोधकी कल्पना अथवा मद्यकी कल्पना यथार्थिक भी नहीं हो सकती, विलम्ब तीन बार रस निचोडा जाता है और उतने समय उतकी आशुतिर्या देकर पिया जाता है। शरीर, शोधहरकी और सामकालको रस निचोडा और पिया जाता है, उसका वर्णन इस सूक्तके शपाम मन्त्रमें आशुका है।

इस सूक्तमें शत्रियका जीवन, अनल्पतिषा मयूर रस है यह बात स्पष्टतासे बड़ी है, जो शाकाहारकी बुद्धि करने-वाली है।

जीवन संग्राम

वेदमें 'मनुते रणाय' ये शब्द बरम्बाट भाते हैं। 'महान् युद्ध' यत्र रहा है, सावय रहकर अपना कर्तव्य करो, यह वेदका उपदेश जीवन संग्राममें लड़नेवाले मनुष्य यात्रका मार्गदर्शक है। प्रत्येक मनुष्य तथा युद्धभूमिपर लडा हुआ है, किसी न किसी प्रकार युद्धमें सम्मिलित हुआ है, उसकी इच्छा हो या न हो उसको युद्ध करना ही पड़ता है, फिर यह भागकर कहां जाय ? इसलिए उसको अपने युद्ध-का स्वयं जानना चाहिए और उस सम्बन्धसे उत्पन्न होने-वाला अपना कर्तव्य लक्ष्य करना चाहिए। अन्यथा उसका जन्म निरर्थक ही जायगा। चाहे वह आर्हिशाशुतिमें युद्ध करे या हिंसा मूर्तिसे करे, युद्धके बिना उसकी विपत्ति मर्ती है और इस युद्धमें विशय बसानेके बिना उसको उन्नति नहीं है। यह हुई तब मनुष्योंकी भाव, शत्रियकी तो घुटना ही बरा है, उसका जीवन ही युद्धक है, जसे कि युद्ध तो शत्रियार्थ है।



मङ्गल-फलक-सूक्त

कांड १, सूक्त २१

(ऋषि - अथर्व । देवता - इन्द्र ।)

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृषो वृशी । वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अमयंकरः ॥ १ ॥
 वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः । अधमं गमया तमो यो अस्मो अभिदासति ॥ २ ॥
 वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृषस्य हनू रुज । वि मनुयुमिन्द्र वृषहन्मित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥
 अपेन्द्र द्विपतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् । वि महच्छर्म यच्छ चरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (स्वस्ति-दा) मंगल देनेवाला, (विशां पतिः) प्रजाओंका पातक, (वृत्र-हा) घेरनेवाले शत्रुका नाश करनेवाला, (वि-मृषा वृशी) विशेष हितकोंको बधमें करनेवाला, (वृषा) बलवान् (सोम-पा) सोमका पात करनेवाला (अमयं-करः) अमय देनेवाला (इन्द्रः) प्रभु राजा (नः) हमारे (पुरः एतु) आगे चले, हमारा नेता बने ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (नः मृघः) हमारे शत्रुओंको (विजहि) मार डाल । (पृतन्यतः) सेनाके द्वारा हमपर हमला बढानेवालोंको (नीचा यच्छ) नीचे ही गिरा दे । (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें बाध बनाना चाहता है या हमारा शासत करना चाहता है, उसको (अधमं तमः गमय) हीन अर्थकारमें पहुँचा दे ॥ २ ॥

(रक्षः मृधः वि विजहि) राजाओं और हितकोंको मार डाल, (वृषस्य हनू विरुज) घेरकर हमला करने-वाले शत्रुके शोर्मा अथर्वोंको तोड़ दे । हे (मनुयुमिन्द्र इन्द्र) शत्रुनाशक प्रभो ! (अभिदासतः अभिप्रसा) हमारा नाश करनेवाले शत्रुके (मनुयु विरुज) उखाड़को तोड़ दे ॥ ३ ॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! राजन् ! (द्विपतः मनः अप) द्वेषीका मन बल दे । (जिज्यासतः वधो अप) हमारी आत्मेके नाश करनेवालेको डूब कर, (महत् दामं धियच्छ) हमें बड़ा सुख दे और (चचं चरीया यावया) वधकी दूर कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— प्रजाजनोंका हित और मंगल करनेवाला, प्रजाओंका उत्तम पातक करनेवाला, घेरकर नाश करनेवाले शत्रुको दूर करनेवाला, बलिष्ठ, अमृतपात करनेवाला, प्रजाको अमय देनेवाला राजा ही हमारा स्वपामी बने ॥ १ ॥

हे राजन् ! प्रजाके शत्रुका नाश कर, सेना लेकर हमला करनेवाले शत्रुको दबा दे, जो धातपात और नाश करना चाहता है उसको भगा दे ॥ २ ॥

हितक दूर शत्रुओंके मार डाल, घेरकर लतानेवाले शत्रुओंके नाश दे, तथा प्रजाओंके शत्रुओंका उत्तम अमय कर दे ॥ ३ ॥

शत्रुओंके मन ही बल दे अर्थात् वे हमला करनेका विचार छोड़ दें, नाश करनेवालोंको दूर कर, धातपात आदिको दूर कर और सब प्रजाको सुखी कर ॥ ४ ॥

क्षेत्रधर्म

यह ' अमयगण ' का सूक्त है । इस सूक्तमें क्षेत्रधर्मका उपदेश और राजाके कर्तव्योंका वर्णन है । उत्तम राजाके मूल प्रथम मन्त्रमें वर्णन किये हैं । इस मन्त्रकी कर्ताहीसे राजा उत्तम है या नहीं इसकी परीक्षा हो सकती है । अन्य तीन मन्त्रोंमें विधिवि प्रकारके शत्रुओंका बर्णन है और उनका प्रतिकार करनेका उपदेश है । सब प्रकारके अन्तर्गत शत्रुओंका प्रतिकार करके प्रजाको अधिकसे अधिक सुखी करना राजाका मध्य कर्तव्य है । यह सूक्त यदि भारत है इसलिये इसका अधिक स्थूलकरण आवश्यक नहीं है ।

आशा-पालक-सूक्त

कांड १, सूक्त ३१

(ऋषिः - ब्रह्म । देवता - आशापालाः, [वस्तुव्यतिः] ।)

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतैभ्यः । इदं भूतस्याभ्यर्क्षेभ्यो विधेम हविषा वृषम् ॥ १ ॥

य आशानामाशापालाश्चत्वार सन देवाः । ते नो निर्वृत्याः पार्श्वेभ्यो मुञ्चताईसोऽर्हसाः ॥ २ ॥

अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि ।

य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत ॥ ३ ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।

विश्वं सुभूतं सुविदर्शं नो अस्तु ज्योतिषं दंष्ट्रेण धर्मम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (भूतस्य अभ्यर्क्षेभ्यः) जगत्के अल्पस (अमृतेभ्यः) अमर (आशानां चतुर्भ्यः आशापालेभ्यः) दिशाओंके चार दिशापालकोंके लिये (वयं) हम सब (हविषा इदं विधेम) हविर्भ्यसे इस प्रकार अर्पण करते हैं ॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो ! (ये आशानां चत्वारः आशापालाः स्यन) जो तुम दिशाओंके चार दिशापालक हो (ते नः) वे तुम हम सबको (निर्वृत्याः पार्श्वेभ्यः) अनजानके पार्श्वसे तथा (अर्हसाः अर्हसाः) हरएक पापसे (मुञ्चताः) छुड़ाओ ॥ २ ॥

(अ-स्रामः) न पका हुआ मं (हविषा त्वा यजामि) हविर्भ्यसे तेरा अर्पण करता हूँ । (अ-श्लोणः त्वा घृतेन जुहोमि) लंगड़ा न होता हुआ तुमको घी अर्पण करता हूँ । यह (आशानां आशापालः तुरीयः देवाः) जो दिशाओंका दिशापालक चतुर्थ देव है (सः नः सुभूतं मेह आयक्षत्) वह हम सबको उत्तम प्रकारसे यही पट्टावे ॥ ३ ॥

(नः मात्रे उत पित्रे स्वस्ति अस्तु) हम सबको माताके लिये तथा हमारे पिताके लिये शान्ति होये । तथा (गोभ्यः जगते पुरुषेभ्यः स्वस्ति) गौओंके लिये, पशुनेवालोंके लिये और पुरुषोंके लिये सुख होये । (नः विश्वं सुभूतं सुविदर्शं अस्तु) हम सबके लिये सब प्रकारका ऐश्वर्य और उत्तम ज्ञान हो और हम (सूर्यं ज्योष्कं पृथु शशोम) सूर्यको बहुत कामना देखते रहें अर्थात् हम दीर्घायुवी हों ॥ ४ ॥

भावार्थ— चार दिशाओंके चार अमर विकपाल हैं, वे इस बने हुए जगत्के अल्पस हैं । उनको पूजा हम करते हैं ॥ १ ॥

चार दिशाओंके चार विकपाल हैं, वे हमें हरएक पापसे दवावें और दुर्भागसे भी हमारा छुटकारा करें ॥ २ ॥

वे न पकता हुआ उनका ताकार करता हूँ, लंगड़ा सूता न बनकर मैं उनको घी देता हूँ, जो इन चार दिशापालकोंका चतुर्थ देव है वह हमें सुखपूर्वक उत्तम अवासात्क पट्टावे ॥ ३ ॥

हमारे माता पिता, हमारे अन्य इन्द्रमित्र, हमारे माप, पीरे आदि वस्तु तथा जो भी हमारे प्राणी हों वे सब इस प्रकार सुखी हों । हमारा सब प्रकारसे अशुभदय होने और हमारा ज्ञान उत्तम प्रकारसे बने तथा हम दीर्घायु हों ॥ ४ ॥

आशा-पातक-सूक्त

दिकपाल

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर ये चार दिशाएँ हैं। उनकी रक्षा करनेवाले चार दिक्पाल हैं, ये अपनी अपनी दिशाका संरक्षण कर रहे हैं। ये विश्वके रक्षण इतने बख्त हैं कि इनके अनजाने कोई भी मनुष्य किसी भी प्रकार बुरा कार्य कर नहीं सकता। हर एक मनुष्यको उचित है कि यह उक्त बात मनमें धारण करे और इन देवी ऋषिपत्नीके वचनके योग्य कोई साधन न करे।

याना अपने राज्यकी व्यवस्था और राज्यका सुशासन करनेके लिये राज्योंमें चार विभाग करके उनपर एक एक मुख्य शासक अधिकारी नियत करे, वर अधिकारी बसंताने अपने विभागका योग्य शासन करे। दुष्टोंको बण्ड दे और सज्जनोंका प्रतिपालन करे और कहीं भी अन्याय होने न दे। यह राज्यनीतिक पाठ इस सूक्तसे हमें मिलता है।

विश्वके अन्दर राष्ट्र और राष्ट्रके अन्दर व्यक्तिका देह है और इन दोनों स्थानोंमें नियम एक जैसा ही है। इसलिए राष्ट्रशासनका विचार होनेके पश्चात् निज व्यक्तिबोधका राष्ट्र बलता है उन व्यक्तिबोधके अन्दर चार दिशाओंके चार दिक्पाल किस रूपमें हैं और उनका शासन इस अध्यात्मभूमिकामें कैसे चल रहा है और उससे हमें वैयक्तिक साधनकारके नियममें कौनसा धर्म लेना है, इसका विचार अव करना चाहिये।

देहमें चार दिक्पाल

देहमें मुखको 'पूर्व द्वार' कहते हैं और गुदाको 'पश्चिम द्वार' कहते हैं। ये द्वार एक दूसरेके साथ सम्बन्धित भी हैं। पूर्व द्वारसे अर्थात् मुखसे जन्म पान शरीरके अन्दर जाता है, वहाँका कार्य करता है और शरीरके मलादिके रूपमें परिवर्तित होकर पश्चिम द्वारसे अर्थात् गुदासे बाहर हो जाता है। अर्थात् योग्य अन्नका प्रवेश पूर्व द्वारसे इस शरीर में होता है और मलको दूर करनेका कार्य पश्चिम द्वारसे होता है। लोगों काय शरीरके स्वास्थ्यके लिए अत्यन्त आवश्यक ही है। परन्तु यह ही स्थूल शरीरके स्वास्थ्यके साथका सम्बन्ध है, इससे थलाता और भी दो द्वार हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्यको उत्पत्ति या अवनतिके साथ अधिक है; ये दो द्वार मनुष्यके शरीरमें ही हैं, जिनको 'उत्तर द्वार' तथा 'दक्षिण द्वार' कहते हैं।

'उत्तर द्वार' मस्तकमें है जिसका नाम 'विद्यति

द्वार' उपनिषदोंमें कहा है, इस द्वारसे शरीरमें जीवात्मका प्रवेश होता है और इसी द्वारसे अपने प्रयत्नसे जिस समय यह बाहर जाता है, उस समयसे यह जन्ममरणके चक्रसे छूटता है और पुनः शरीरके धनधनमें पड़ता नहीं। बालकके मस्तकमें छोट्टेपनमें इस स्थानपर हड्डी नहीं होती। इसका नाम उत्तर द्वार है क्योंकि इस द्वारसे जातेसे उत्पत्तर अवस्था प्राप्त होती है।

यह द्वार रज्जा केन्द्रके साथ सम्बन्धित है। इसी रज्जा केन्द्रके साथ सम्बन्ध रखनेवाला रिचला द्वार मिलता है, जिससे धीमेका पात होता है। इसके योग्य नियम पालनेसे सुधीय सन्नति उत्पन्न होती है, परन्तु इसके अनियममें चलनेसे मनुष्यकी अयोग्यता होती है। ये दो द्वार मनुष्यको बल और भीच बनानेमें सार्थक हैं। ब्रह्मचर्य पातन द्वारा उत्तर मार्गसे जानेका उपनिषदोंका धर्मन इसी उत्तर मार्गको सूचित करता है, इसीका नाम 'उत्तरायण (उत्तर+अयन)' अर्थात् उत्तर मार्गसे जाना है। इसके विपरीत 'दक्षिणायन' अर्थात् पश्चिम मार्गसे जाना है, जिसके संघर्षसे उत्तर गुरुत्वयर्षदात्मपूर्वक उत्पत्ति होता संघर्ष है, परन्तु असत्यसे मनुष्य इतना गिरता है कि उसका कोई विकास ही नहीं होता। ये दो मार्ग मन्वानतनुओंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं।

इस प्रकार पूर्वद्वार और पश्चिमद्वार में शरीरमें अन्ननलिका के साथ सम्बन्ध बनाते हैं तथा उत्तरद्वार और पश्चिमद्वार में दो मार्ग मन्वानतनुओंके साथ सम्बन्ध रखते हैं। ये द्वारोंके चार संरक्षक देव हैं, अतः ये देव राक्षसोंके दृग्लेके कारण बचने नहीं चाहिये।

आशा और दिशा

इस सूक्तमें दिशावाचक 'आशा' शब्द है और उसके पातकका नाम 'आशापाल' मन्त्रोंमें बतया है। 'आशा' शब्दके दो अर्थ हैं। एक 'दिशा' और दूसरा 'आशा', मद्दरवाकांक्षा, उन्मीद'। मनुष्यकी जंजी आशा, इच्छा, यत्नवाकांक्षा और उन्मीद होती है, उसी प्रकारकी कार्य करनेकी दिशा होती है। मनुष्य जिस समय आशाहीन हो जाता है, निराश होता है, हताश होता है, उस समय वह इस जगत्से हटनेका या मर जानेका इच्छुक होता है। यह विचार यदि बालकोंके मनमें जन्म शायदा, तो उनको पता लग जायगा कि यह सूक्त मनुष्यके साथ रिचला पश्चिम सम्बन्ध रखता है।

इस अथर्व भूमिमें शरीरका और हृदय गुहाका वर्णन करते हुए कहा है कि इस शरीरमें नौ द्वार हैं। ये द्वार हैं इसमें कोई सन्देश ही नहीं है। दो नाक, दो आंख, दो कान, एक मुँह, गुदा और शिस्त ये नौ द्वार यहाँ कहे हैं। इनमेंसे मुँह पूर्व द्वार, गुदा पश्चिम द्वार, शिस्त दक्षिण द्वार इन तीनोंका सम्बन्ध इस अपने प्रचलित सूक्तके मन्त्रमें है। जो अतुल्य द्वार है यह आठ अक्षरान्ते पृष्ठवक्त्रके ऊपर मस्तिष्कके भी ऊपरके भागमें ' विद्वति ' नामसे प्रसिद्ध है। इसका वर्णन अथर्ववेदमें इस प्रकार है—

मूर्धानमस्य संसीध्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रैरयत् पयमानोऽधि शीर्षतः ॥
(अथर्व. १०।१।२७)

' मस्तक और हृदयको सोकर अर्थात् एक केन्द्रमें लीन कर के मस्तकके भी ऊपर शिरके बीचमेंसे प्राण संका जाता है । '

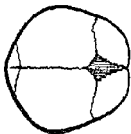
विद्वति-द्वारसे प्रवेश

विद्वति द्वारसे लीनित देवोंके, काम आत्माके, शरीरमें प्रवेश होने पर यह द्वार बन्द होजाता है। परचात् प्राणसाधन द्वारा अपनी इच्छामें इसी द्वारसे वापस जानेपर मुक्ति होती है। साधारण जन देहसाधन करनेके समय किसी अन्य द्वारसे बाहर आते हैं, परन्तु केवल योगी ही अथर्ववेदके कहे भागसे मस्तिष्कके परे इसी द्वारसे जाता है और मुक्त होता है।

इस मन्त्रमें ' मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः । अधि शीर्षतः । ' आदि शब्दों द्वारा मस्तकके ऊपरके उत्तर द्वारका वर्णन किया है। अर्थात् जो चार द्वार हमने इस शब्दके व्याख्यानके प्रसंगमें निरिच्छत किये हैं उनका वेदमें अन्यत्र वर्णन इस प्रकार आता है। नौ द्वारोंमेंसे तीन और इस मन्त्रा-सम्पाय-का एक मिसकर चार द्वार हैं और उनको चार आशाएँ अथवा विधाएँ हैं। अब ये आशाएँ बेलिये—

द्वार आशा

- १ पश्चिमद्वार = गुदा = जो आशा, विलीन करना । शरीरधर्म ।
- २ पूर्वद्वार = मुँह = जो आशा मधुर भोजन करना । अर्पणप्रति ।
- ३ दक्षिणद्वार = शिस्त = जो आशा भोलाका उपभोग करना । कार ।
- ४ उत्तरद्वार = विद्वति = जो आशा अर्पणसे मुक्त होना । मोक्ष ।

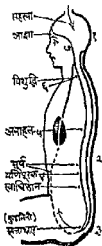


मस्तकमें विद्वतिद्वार



पृष्ठवंश

विद्वतिद्वार



सहस्रार चक्र पृष्ठवंशमें चक्रोंके स्थान

आरोग्यका आधार

इसमें परिश्रमद्वारा जो आशा है, वह केवल 'दारीरधर्म' पालन करनेकी ही है, तथापि इस बीच धर्मसे अर्थात् परिश्रम करनेके कर्मसे दारीर धृष्टि होनेके कारण इससे दारीर रक्षात्मकी प्राप्ति होती है। सब अन्य भोग इसके आधारसे ही यह बात हरएक जान सकते हैं। इस द्वाराका कार्य विपद आनेसे दारीर रोगी होता है और अन्य दारोंकी आशाएं पूर्ण होनेकी वृत्तमर्वाता होती है। इसके उत्तम प्रकार कार्य करने पर ही अन्य आशाओंके सफल होनेकी सम्भावना है। इस विषये हम कह सकते हैं, कि इस पश्चिम दारकी आशा मनुष्यके मनमें 'आरोग्यकी प्राप्ति' रूपसे रहती है। इस आशाका कार्यक्षेत्र बहुत बड़ा है, मनुष्य इस विषयमें जितना कार्य करेगा, उतना ही अधिक प्रशंसा प्राप्त करेगा और वह यदि ऐसे व्यवहार करेगा कि इस पश्चिम दारसे व्यवहार ठीक न चले तो उसके रोगी होनेमें कोई शंका ही नहीं है।

खानपान

अब पूर्वद्वाराकी आशा देखियें : सर्वसे इतना कहना इस विषयमें पर्याप्त होगा कि इस दारसे मनुष्य उत्तम अन्न और उत्तम पान करनेकी इच्छा करता है। मधुरतासे श्रेय करती करते मनुष्य इतना अधिक खाता है कि वह अजीर्णसे बीमार होजाता है। इसलिये इस विषयमें प्रथमपूर्वक समय रखना चाहिये। चिकित्सा मुलान और बिट्ठिका दास जो बतला है उसको आप कल्पवृक्ष ही होती है। हरएक इन्द्रियके विषयमें यही बात है। इस प्रकार इन्द्रिय भोगके लिये धनकी आवश्यकता है, इस हेतुसे इस दारकी आशा 'अर्थकी प्राप्ति' ही है। इस आशासे धार्मिक बन्ध आनेसे बन्ध होते हैं और संयम द्वारा आशास्यवृत्तके अनुसार भोग देनेसे सुख बढता है, उपरति होती है। मूढद्वारासे सम्बन्धितनेका भी एक काम होता है। उत्तम सम्बन्ध-प्रयोगसे अर्थपूर्ण दार्शनिकता ही और कुशाब्देके प्रयोगसे अर्थान्ति फैलती है। इस विषयमें भी बिट्ठिकापर संयम रखना आवश्यक है। अर्थपूर्ण अर्थ होनेमें कोई डर नहीं लगेगा। इस प्रकार इस द्वितीय दारकी आशाका सम्बन्ध मनुष्यको उपरतिके साथ ही।

कामोपभोग

तीसरा दर्शन दार है। इस द्वितीय द्वारा अर्थपूर्ण उत्तम प्रयत्न अर्थात् सुव्यवहार करना आवश्यक है। परन्तु अर्थपूर्ण इसके अर्थव्ययसे जो अर्थपूर्ण हो रहे, वे तिलोत्ते लिये

मार्गों हैं। इसका संयम महत्त्वपातले साम्य होता है। अर्थपूर्ण होना ही वैदिक धर्मका साम्य है। इसके विचारसे इस दारकी आशाका पता लग जायगा। यह केन्द्र अत्यन्त महत्त्वका है, परन्तु जनताका लक्ष्य इसके कार्यमें बिगाड़ करनेकी ओर अधिक है और सुधारके मार्गमें प्रयत्न क्षति कर्म हैं।

चम्बनका नाश

अब अर्थपूर्ण विवृति द्वारापर हम आते हैं। यह विवृति-दार है। इससे जोबाधा इस दारोंमें प्रविष्ट हुआ है, परन्तु इसी दारसे बाहर जानेका मार्ग इसको मिलता नहीं है। मूढमूर्खोंमें अर्थपूर्ण करना यह वाक्य है, परन्तु सुरक्षित धाम फिरनेकी विच्छाका से पता लूँ है। अर्थपूर्ण होने पुनर्लेकी विच्छा जानेवाला, परन्तु अर्थपूर्ण होने धृष्टकर मूढमें विजय प्राप्त करने और सुरक्षित वापस आनेकी विच्छा न माननेवाला परिश्रम कुशाह जनिमाम्पु यही है। यदि यह सुरक्षित धाम धारकी विच्छा जानेगा तो यह विजय-अर्थपूर्ण-होवा, फिर इसको डर किसका है? 'विजयी' बननेके लिये ही ये शब्द धर्मसाधन हैं। जिस समय आपे हुए मार्गसे यह जोबाधा प्रयाग जागेकी दार्शनिक प्राप्त कर सकेगा, उस समय इसको कोई चम्बन बन्द नहीं पशुषा सकता। हरएक अर्थपूर्णकी दूर करनेकी इच्छा इसमें इस दारके कारण है।

इस प्रकार चार दारकी चार आशाएं हैं और हरएक विषय इन आशाओंके कार्यक्षेत्रमें दूर या भला कार्य करता है और गिरता या उठता है।

अमर दिक्पाल

इस सूक्तके प्रथम मन्त्रके रूपमें तीन वाक्यों बही हैं—
' (१) चार आशाओंके चार अमर आशा पालक हैं।
(२) के ही मूढाव्यय हैं। (३) उनकी पुत्रा हम हृदयसे करते हैं।'

मनुष्यमें चार आशाएं करनेकी हैं, उन आशाओंका स्वयं पता है और उनके साथ मनुष्यके पतन अथवा उद्वेगना किता प्रकार सम्बन्ध है, यह पूर्व स्वयंसे बताया हो है। चार आशाएं मनुष्यके अन्तर सातातर हैं, (१) दारीरधर्मका स्वागत करना, (२) भोग प्राप्त करना, (३) साधना भोग करना और (४) अर्थपूर्ण निवृत्त होना। ये चार आशाएं अथवा अर्थपूर्ण मनुष्यमें सदा प्राणवी रहनी हैं, मूढमें तथा प्राज्ञमें ये समानतासे रहनी हैं। मनुष्यधर्मोंमें भी आशाओंसे ये रहनी

है अर्थात् भूतमात्रमें ये तथा रहती हैं, इसलिये इनका अना-
सन्न अधिकार प्राणीमात्रपर है, मानो ये ही भूतोंके अध्यक्ष
हैं। इनकी क्षम्यता इसलिये बड़ा है कि इनकी प्रेरणासे ही
प्राणी अपने अपने सब व्यवहार करते हैं। यदि ये आशाएं
प्राणिनोंके अन्दर न रहतीं, तो उनकी हलचल भी बन्द हो
जायी। मनुष्यके सम्पूर्ण प्रयत्न इनकी आधीनतामें ही हो
रहे हैं। इसलिये ये ही चार आशा-पातक मनुष्यके चार
अधिकारी हैं। इनकी आधीनतामें रहता हुआ मनुष्य अपने
व्यवहार करता है और उनका घृणा या भका परिणाम
भोगता है।

हवनसे पूजन

इनका पूजन हवनसे हो रहा है। पूर्वद्वार मुख है,
उत्तमें अग्निपात्रका हवन हो रहा है। कौन प्राणी ऐसा है कि
वो यह हवन नहीं करता। इसी प्रकार दक्षिणद्वार शिल्प-
देवके पूजन सब प्राणी हैं, इतना ही नहीं परंतु इस कामदेव
की अति पूजासे लोग अपना ही घात कर रहे हैं, इसनी बात
सब है कि उत्तरद्वार शिवका नाम विदुति है उसके पूजन
अत्यन्त बल है और पश्चिमद्वारकी पूजा करना छोड़े ही
जानते हैं। पश्चिमद्वारकी पूजा योगमें प्रतिष्ठ 'अपाना-
धाम' से की जाती है। जिस प्रकार नासिका द्वारसे करने
का ध्यायाम 'प्राणाधाम' होता है, उसी प्रकार पश्चिम द्वार
द्वारसे अचानाधाम किया जाता है। इसकी शिवा भी छोड़े
लोग जानते हैं। यह क्रिया योगशास्त्रमें प्रतिष्ठ है और इससे
नाभिके निचले भागका आरोप्य प्राप्त होता है। उत्तरद्वार
विदुतिके उपासक सात भोगी होते हैं, वे इस स्थानपर अपना
प्यास करके मृतता प्राप्त करते हैं। इनकी हवनसे पूजा
पाह है—

- १ पूर्वद्वार- (मुख)- अग्रपालाधिके हवनसे पूजा।
- २ दक्षिणद्वार (शिव)- भोग्यादि द्वार कामदेवकी पूजा।
- ३ पश्चिमद्वार (गुदा)- अचानाधाम -अपानका प्राणमें
हवन करके पूजा।

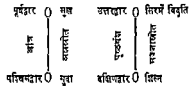
इसका उल्लेख मगधपुराणमें भी है—
अपाने लुद्धति प्राणं प्राणोऽपानं तथा परे।
(न. पर. ४।२१)

४ उत्तरद्वार (विदुति) - मस्तिष्कके मज्जाकेन्द्रके सहस्रार-
धर्ममें ध्यानादिके पूजा।

इनमें पहिली दो उपासनाएं जगत्में सचिक है और बुद्धी
को कम है। परंतु बीजधर्मसे ही प्रथम मन्त्रमें ' हुग' चारों

अमर आशागतोंकी हवन द्वारा पूजा करेंगे ' ऐरा शपथ कर्तु
है। यह इसलिये कि हरएक मनुष्य चारोंकी उपासना द्वारा
अपना उद्धार करे।

यह नियमन इस प्रकार है—



पूर्व तथा पश्चिमद्वार से हमारे आंतोंके विद्वेद रिशाले
मुख है। मुखका अतिरेक होनेसे गुदाका कार्य विगड़ता है
और गुदाका कार्य ठीक रहनेसे मुखकी शक्ति ठीक रहती है।
इस प्रकार ये एक दूसरेपर नियमन करते हैं। इसी प्रकार
मस्तिष्क और शिवन ये परस्परका नियमन करते हैं। यदि
शिवनदेवने अतिरेक किया, तो मस्तिष्क हलका होजाता है
और मनुष्य दुष्टियां कार्य करनेमें असमर्थ होजाता है, पापल
घनकर निकम्मा होजाता है। तथा मस्तिष्कमें सुविचारोंको
स्थिर करनेसे वे सुविचार शिवनदेवका संयम करनेमें सहा-
यक होते हैं। इस प्रकार ये परस्पर उपकारक भी हैं और
घातक भी हैं। अब द्वितीय मन्त्रका विचार करेंगे—

पापमोचन

द्वितीय मन्त्रका आशय यह है— ' चार आशागतोंके चार
आशापातक देव हैं, वे हमें पापसे तथा अधोपतिके पापसे
बचावें। '

पूर्वोक्त वर्णनसे यह सात होकर होगा कि ये चार देव
हमें किस प्रकार बचा सकते हैं और किस प्रकार गिरा सकते
हैं। देखिये—

- १ पूर्वद्वार-मुख- विद्वेदको गुलाबीसे आनयानमें
विदुति होकर, पैरका गिणा और स्वात्मिका नाश। इसी
विद्वेदके संयमसे आरोप्य - प्राप्ति।
- २ पश्चिमद्वार- गुदा- पूर्वोक्तके संयम और अत्यंतमें
ही इसके लाभ या हानि होनेका सम्बन्ध है।
- ३ दक्षिणद्वार- शिवन- बह्वर्चमें द्वारा संयमसे उप्रति,
संयमपूर्वक गृहस्थधर्ममें पावनसे दुष्टता प्राप्ति और अत्यंतमें
क्षय।
- ४ उत्तरद्वार- विदुति- पूर्वोक्तके संयम और अत्यंतमें
ते इसके लाभ और हानि होनेका सम्बन्ध है।

इसका मनन करनेसे ये पापसे किस तरह छुड़ा सकते हैं इसका ज्ञान हो सकता है। पापसे छुड़नेसे ही निर्द्वन्द्विके पापसे पशुप्य छट सकता है। निर्द्वन्द्विका कथं प्राणा है। पाप करनेवालेको निर्द्वन्द्विके कर्मात् विवाशके पाप बांध देते हैं और पुण्यवालोंको उनसे कोई कष्ट नहीं होता। इस मन्त्रका यह कथन बड़ा शोचनप्रव है कि ये चार द्वारकी चार अन्नाप मनुष्यको पापसे छुड़ा सकते हैं और दन्धनसे भी मुक्त कर सकते हैं। कोई आशापालक उनके विरुद्ध कार्य करता हो वा झनुके आधीन हुआ हो, तो सावधानीसे अपने बचावका यत्न करे। इस प्रकार त्रितीय मन्त्रका विचार करनेसे इतना शोच निसत, सब तृतीय मन्त्र देखते हैं—

चतुर्थ देव

तृतीय मन्त्रका आशय यह है— मैं न बकता हुआ और अपनेसे सुबल न होता हुआ हृदयसे तथा घोसे इनकी तृप्ति करता हूँ। इन चार आशापालकों में जो चतुर्थ आशापालक वेव है वह हमें सुचसे पहां भानन्ध स्थापनमें पशुचावे।

इस मन्त्रमें कहा हुआ 'तुरीयः देव' अर्थात् चतुर्थ देव विद्वित्तज्ञारका रथक मोक्षकी अज्ञाका पालक है। इसी देवकी कृपासे अन्य सब द्वारोंका नियमन हो सकता है। इसी दृष्टिके अन्य सब कार्य-व्यवहारका नियमन होना चाहिए। वैदिक धर्मके सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार इसी दृष्टिके रचे गए हैं। मोक्षके मार्गके व्याप्तके अगतके सब व्यवहार होने चाहिए। इसीका नाम धर्म है। अन्तते मुक्त होना मुख्य साध्य है, उसके सहायकारी सब अन्य व्यवहार होने चाहिए। अन्यथा अगतके व्यवहारके अधिक महत्त्व देनेसे और मोक्ष-धर्मको कम महत्त्व देनेसे मनुष्यमें संभ्रमद्वि होनेके कारण बड़ा अवर्ष होगा। स्थापनमें जीयत और भोगपूर्ण जीयतका भेद यहाँ स्पष्ट होता है।

मन्त्रमें कहा है कि न बकता हुआ और अवयवोंके विकल न होता हुआ मैं इन देवोंकी पूजा करता हूँ। इस कथनका भाव स्पष्ट है कि मनष्य प्रमत्त करके अपना धरौर सुदृढ बनाये और अनेक पुरुषार्थ करनेका उत्साह मनमें स्थिर करे।

इन चार देवोंकी अज्ञादिते तथा धी आदिते तृप्ति करनी चाहिए। जिसका जो हृदय है उसीके अनुकूल उसका धी भी है। अत उस धीरे मयायोग्य रीतिते देकर उसकी तृप्ति करनी चाहिए। इस विषयमें उपेक्षा करना योग्य नहीं। न बकते हुए और न धीत होते हुए ये भोग प्राप्त करने और भोग प्रमापते उनको हवीद्वार भी करना चाहिए। अर्थात् धरी

भक्ततासे अगतका व्यवहार करना चाहिए। पशुपु सब व्यवहार करते हुए चतुर्थ देवकी कृपा सम्पादन करनेका भी भयल करना चाहिए। क्योंकि जमीकी कृपासे सानक, उन्नति पदा धारिकी पहां प्राप्ति होती है और सत्पत्ते भी मिल सकती है।

दीर्घ आयु

पूर्वोक्त प्रकार तीन मन्त्रोंका विचार करनेके पश्चात् अब चतुर्थ मन्त्र इस प्रकार हमारे सम्मुख आता है— ' इन आशा-पालकोंकी सहाय्यतासे हम तथा हमारे माता, पिता, इष्ट, मित्र, पाप, घोड़े आदि सब सुखी हों। हमारा अमृत्युय होये तथा हम ज्ञानो व्रतकर वि श्रेयसके भागी बनें और शीघ्रिय बनें। ' इस मन्त्रमें चार बातें कही हैं—

१ स्वस्ति— (सु+स्वस्ति) — स्वका उत्तम अस्तित्व हो अर्थात् इस लोकका श्रेयस सुखपूर्वक हो।

२ सुभूतं (सु+भूति) — उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त हो, यह उत्तम अमृत्युयका सूचक शिषान है।

३ सुविद्वं— (सु+विद्व+त्र) — उत्तम ज्ञान मिले। आत्मज्ञान ही सब ज्ञानोंमें उत्तम और नि श्रेयसका हेतु है। यह हमें प्राप्त हो।

४ ज्योक्— शीघ्रकालक जीयत हो। यह तो अमृत्युय और नि श्रेयसके सहज ही प्राप्त हो सकता है।

वेदमन्त्रोंमें धारम्भ्यार कहा है, 'ज्योक् च सर्वे दशमे' अर्थात् 'शीघ्रकालक सुयंके हम देखते रहें।' इसका तात्पर्य 'हमारी आयु अतिदीर्घ हो' यह है। पशुपु यहा ध्यानमें विशेषतया धारण करनेकी बात यह है कि अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका सम्बन्ध सुयंसे अवश्य ही है। जहा जहा शीघ्र आयु प्राप्त करनेका अवदेश वेदमें थाया है, बहा बहा सुयंका सम्बन्ध अवश्य बताया है। इसलिये जो शीघ्र दीर्घ आयु प्राप्त करना चाहते हैं, वे सुयंके साथ आयुधनधनका सम्बन्ध है, यह बात न भूले। इसको कृपासे शीघ्र आयु प्राप्त होती है, इस विषयमें अवयवैवमें अत्यन्त कहा है—

यो वै तां ब्रह्मणो वेदान्तेनापृता पुरम् ।

तस्मै ब्रह्म च ब्राह्मण्य चक्षु प्राण प्रजां द्दुः ॥ २९ ॥

न वै त चक्षुर्जहाति न प्राणो जरतः पुरा ।

पुरे यो ब्रह्मणो चेद् यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

(अथर्व ११२)

* जो निश्चयसे ब्रह्मकी अमृतते परिपूर्ण नगरोंको जानता

है उसको स्वयं ब्रह्म और ब्रह्मके सापी अथ देव तथा, प्राण और प्रजा देते हैं ॥ २९ ॥ अति पुण्यावस्थासे पूर्ण उसकी प्राण और बल छोड़ते नहीं जो ब्रह्मपुरीको जानता है और जिस पुरीमें रहनेके कारण इसको पुण्य कहते हैं ॥ ३० ॥

भाव स्पष्ट है कि ब्रह्मको रूपसे बोधे भाषु सुसन्तान और आरोग्यपूर्ण इन्द्रियोति युक्त उत्तम शरीर प्राप्य होता है। यही भाव सखेवसे अपने प्रचलित सूक्तके अनुपम मन्त्रमें कहा है। इस प्रकार यह ज्ञानी मनुष्य इस लोक एवं पर लोकमें यशस्वी होता है। यही इस सूक्तका उपदेश है।

विशेष दृष्टि

यह सूक्त केवल ब्राह्मण विचारों और उनके गुरुगुरुका ही वर्णन नहीं करता है। ब्राह्मण विचारोंका वर्णन इस सूक्तमें

है परन्तु विशा शब्द न प्रयुक्त करते हुए ' ब्राह्मण ' शब्दका प्रयोग इसमें इतनीलिये हुआ है कि मनुष्य अपनी ब्राह्मणों और उनकी पालक शक्तियोंको अपने अन्दर धन्यम करे और उनके समम विषय और योग्य उपासना आदिसे अपनी अभ्युत्थन और निश्चय सिद्ध करे।

इस सूक्तका यह शैलीवाक्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और जो इस सूक्तको केवल ब्राह्मण विचारोंके लिए ही समझते हैं वे इसके महत्त्वपूर्ण उपदेशसे वंचित हो रहते हैं।

इस सूक्तका सम्बन्ध आयुष्य तथा अपराधित गण आदि अनेक वर्णोंके विषयको अनुकूलतासे है। यह सूक्त स्वर्ग वास्तोस्पर्ति गण तथा वा सुतु यगका है। इसलिये ' यहाँके विधाता ' के साथ इसका अपूर्व सम्बन्ध है।

राष्ट्र-संघर्ष-सूक्त

कांड १, सूक्त २९

(श्रुति - वसिष्ठ । देवता - समोवर्ती मणि ।)

अभिर्वर्तेन मणिना येनेन्द्रां अभिवावृधे । तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽसि राष्ट्राय वर्षय ॥ १ ॥
अभिवृत्त्या सुपत्नानमि या नो अरातयः । अभि पृतन्यन्वं तिष्ठाभि यो नो दुरस्पतिं ॥ २ ॥
अभि स्वा देवः संविताभि सोमो अवीशुधत् । अभि स्वा विश्वा भूतान्यमीवृत्तो यथाससि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (ब्रह्मणस्पते) शानो पुरुष ! (येन इन्द्र अभिवावृधे) जिसके इन्द्रको विजय हुई थी, (तेन अभिर्वर्तेन मणिना) उस विजयको प्राप्त करानेवाली शक्तिके (अस्मान्) हमें (राष्ट्राय अभिवर्षय) राष्ट्रके लिये यदा ॥ १ ॥

(या न अपरातय) जो हमारे शत्रु हैं उनको तथा अथ (सुपत्नान्) धर्मियोंको (अभिवृत्त्या) पराभूत करने (या नो दुरस्पतिं) जो हमको दुष्टताका आचरण करता है तथा जो (पृतन्यन्वत्) किलो हारण घड़ाई करता है उनको (अभि अभि तिष्ठा) युद्ध करनेके लिये तैयार हो ॥ २ ॥

(संविता देव) सूर्य देवने तथा (सोम) चन्द्रमा देवन जो (स्वा) तुम (अभि अभि अवीशुधत्) सब प्रकारसे बधाया है। (विश्वा भूतानि) सब भूत (स्वा अभि) तुमो बधा रहे ह जिससे तु (अभिवर्ते असासि) शत्रुको दवानवाला हुआ है ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हे राष्ट्रके शानो पुरुषो ! जिस शान्तिवृद्धि मणिको पारण करने इन्द्र विजयी हुआ था उसी विजयी मणिके हमें राष्ट्रके हितके लिये बधाइये ॥ १ ॥

जो अनुहार शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी ह उनको परास्त करने लिये, तथा जो हमसे बुरा व्यवहार करते ह और जो हमपर तेना भेदकर घड़ाई करते ह उनको हारनेके लिये अपनी तैयारी करके आगे बढ़ ॥ २ ॥

सूर्य, चन्द्र आदि देव तथा सब भूतमात्र तुम सहायता देकर बधा रहे ह, जिससे तु सब शत्रुओंको दवानवाला बन गया है ॥ ३ ॥

अभीवर्तो अभिभवः संपन्नक्षयणो मणिः । राष्ट्राय मह्यं वक्ष्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवै ॥ ४ ॥
 उदुसौ स्वर्षो अगादुद्रिदं मांमकं वचंः । यथाहं शुभ्रहोऽसान्यसपन्नः संपन्नहा ॥ ५ ॥
 सपन्नक्षयणो वृषाभिराष्टो विवासहिः । यथाहमेपां वीराणां विराजानि जर्नस्य च ॥ ६ ॥

अर्थ— (अभिवर्तः) शत्रुको धरनेवाली, (अभिभवः) शत्रुका पराभव करनेवाली, (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षियोंका नाश करनेवाली यह (मणिः) मणि है। यह (सपत्नेभ्यः पराभुवै) प्रतिपक्षियोंके पराभव करनेके लिये तथा (राष्ट्राय) राष्ट्रके अभ्युदयके लिये (मह्यं वक्ष्यतां) मूलपर बांधी जावे ॥ ४ ॥

(असौ सूर्यः उदगात्) यह सूर्य उदयको प्राप्त हुआ है, (इदं मांमकं वचंः उत्) यह मेरा वचन भी प्रकट हुआ है, (यथा) जिससे (अहं शुभ्रहः) शत्रुका नाश करनेवाला तथा (सपत्नहा) प्रतिपक्षीका घात करनेवाला होकर मैं (असपत्नः अस्मानि) शत्रुरहित होऊँ ॥ ५ ॥

(यथा) जिससे (अहं) मैं (सपत्न-क्षयणः) प्रतिपक्षियोंका नाश करनेवाला, (वृषा) बलवान् और (विवासहिः) विजयी होकर (अभिराष्टः) राष्ट्रके अनुकूल बनकर तथा राष्ट्रीका सहायता प्राप्त करके (एषां वीराणां) इन वीरोंका (जनस्य च) और सब लोगोंका (वि राजानि) विशेष प्रकारसे रक्षित करनेवाला राजा होऊँ ॥ ६ ॥

भावार्थ— शत्रुको धरनेवाली, वीरोंका पराभव करनेवाली और प्रतिपक्षियोंको दूर करनेवाली यह राजाविह्वल्ययी मणि है। इसलिए प्रतिपक्षियोंका पराभव करनेके लिये और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके लिये मूलपर यह मणि बांधो ॥ ४ ॥

जैसे यह सूर्य उदय हुआ है, वैसे यह मेरा वचन भी प्रकट हुआ है, अब तुम ऐसा करो कि जिससे मैं शत्रुका नाश करनेवाला, प्रतिपक्षियोंको दूर करनेवाला होकर शत्रु रहित होजाऊँ ॥ ५ ॥

मैं प्रतिपक्षियोंका नाश करके बलवान् बनकर, विजयी होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्य करता हुआ अपने वीरों का और अपने राष्ट्रके सब लोगोंका हित साधन करूँ ॥ ६ ॥



राष्ट्र-संघर्ष-सूक्त

अभीवर्त मणि

इस सूक्तका संवाद

जित प्रकार राजाके विन्दु राजदण्ड, छत्र, ज्ञातर आदि होते हैं, उसी प्रकारका 'अभीवर्त मणि' भी एक राज-विन्दु है। इसके धारण करनेके समय यह सूक्त बोला जाता है।

देवोंका राजा इन्द्र है, उसका पुरोहित बृहस्पति वा बृहस्पति है। यह पुरोहित इन्द्रके शरीरपर यह अभीवर्त मणि बांधता है। अर्थात् राज पुरोहित राजाके शरीरपर यह राजाविह्वल्ययी मणि बांधे। यहाँ सम्बन्ध देवोंके इन्द्र प्रतीत होता है कि यह सूक्त संवादरूप है। यह संवाद इस प्रकार है। देखिए—

राजा— हे पुरोहित ! जो अभीवर्त मणि इन्द्रके शरीरपर देव तुम बृहस्पतिने बांधा था, वह राजाविह्वल्ययी मणि मेरे शरीरपर लगानेके लिये, जिससे मैं राष्ट्रका वर्धित करनेमें समर्थ होऊँ ॥ १ ॥

पुरोहित— हे राजन् ! जो भन्दुवार शत्रु है और जो प्रतिपक्षी है तथा जो हमारे राष्ट्रके साथ बुरा व्यवहार करते हैं और हमपर संन्यते चढ़ाई करते हैं उन्हींको परास्त करने की तैयारी करो ॥ २ ॥

सूर्य, चन्द्र तथा सब भूत पुण्डरीकी सहायता कर रहे हैं, जिससे तुम शत्रुको दधा सकते हो ॥ ३ ॥

राजा-पुरोहित। यह राजचिन्ह रूपी मणि मनुको घेरने, वैदिका पराम्ब करने और प्रतिपक्षियोंकी हृदयलोका सामर्थ्य देनेवाली है। इसलिए विरोधियोंका पराम्ब और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके कार्योंमें मन्त्रे समर्प बनायेके लिये मन्त्रपर यह मणि बांध दीजिए ॥ ४ ॥

अंगे सुभं उदयको प्राप्त होता है, येते ही मेरे मन्त्रे वाच्योका प्रकाश होता है, इसलिए आप ऐसा करें कि जिसके मैं मनुका नाम कर सकू ॥ ५ ॥

मं बलवान् बनकर प्रतिपक्षियोंको दूर कर और विजयों होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्यों करता हुआ अपने वीरों, कर्म और राष्ट्रका हित कर ॥ ६ ॥

राज्य शासकके शासन कायदा है, उक्त कथ्य पुरोहित राजाके प्रजाहितकी कुछ बातें करनेके लिये कहते हैं और राजा भी राष्ट्रहित करनेकी प्रतिज्ञा उक्त कथ्य करता है। पुरोहित ब्राह्मणविराजता और राजा क्षात्रविराजता प्रतिनिधि है। राष्ट्रकी ब्राह्मणविराजिता पुरोहितके मुखसे शासकके लिये उद्देश्य राजाको करती है, राजगद्दीपर राजाको रखना या न रखना राष्ट्रकी ब्राह्मणविराजिताके आधार पर रहना चाहिये अर्थात् ब्राह्मणविराजिताके आधार पर शासनविराजिता रहनी चाहिये। ज्ञानी लोगोंपर शरीरकी हनुकृत न रहे, अर्थात् शूर शरीर लौकिक आधार पर कार्य करें। राष्ट्रकी (Civil and military) ब्राह्मण तथा क्षात्रविराजिता एक दूसरेके साथ किन्तु तरहका बतवि करे, यह एक सूत्रमें स्पष्ट किया है। ब्राह्मणविराजिता द्वारा सम्भला हुआ राजा ही राजगद्दीपर आसक्तता है अन्य नहीं।

राजाके गुण

इस सूत्रमें राजाके गुण बताये हैं, वे इस प्रकार हैं—

१ अस्मान् राष्ट्राय अभियुष्य- हमारी शक्ति राष्ट्रकी उन्नतिके लिये सर्व अपात् राजाके अंदर जो शक्ति बढती है, यह राष्ट्रकी उन्नतिके कार्योंमें ही सवे, यही भाव राजाके अन्दर रहे। अपनी शक्ति ठीक तब, मन, मन आवि सम शक्ति अपने भोपके लिये नहीं है, प्राण्य राष्ट्रकी भलाईके लिये ही है, यह जिस राजाका निबन्ध होगा यही सच्चा राजा कहा जासकता है। (म. १)

२ राष्ट्राय महां अध्यातां सपत्नेभ्यः परामुये-राष्ट्रकी उन्नति और वैदिकोंका पराम्ब करनेके लिये राजचिन्ह रूप मणि मेरे (राजाके) शरीरपर बांधी जाये। मणिवादि रत्न तथा अन्य राजचिन्ह जो राजा धारण करता है यह अपनी शोभा बढानेके लिये नहीं है, प्रत्युत वे केवल दो ही

उद्देश्यके लिये हैं—(१) राष्ट्रकी उन्नति हो और (२) जनताके शत्रु दूर किये जाय। राजाके अन्दर यह शक्ति उत्पन्न करनेके लिये ही उत्सव राजचिन्ह बांधे जाते हैं। (म. ५)

३ अभिराष्ट्रः- (अभितं राष्ट्रं यय्य)- जिसके चारों ओर राष्ट्र है, ऐसा राजा हो। अर्थात् राजा अपने राष्ट्रमें रहे, राष्ट्रके साथ रहे, राष्ट्रका बनकर रहे। राजाका हित राष्ट्रहितमें ही निहित हो और राष्ट्रका हित राजहित ही, अर्थात् दोनोंके हितोंमें फरक न रहे। राजाके लिये राष्ट्र अनुकूल रहे और राष्ट्रके लिये राजा अनुकूल हो। राष्ट्रहितका उच्च ध्येय अपने सामने रखनेवाले राजाका धर्म इस शब्दसे होता है। जिस राजाके लिये अपनी जान देनेके लिये राष्ट्रसेवार होता है उस राजाका यह नाम है। यह शब्द शरणा राजाका वाचक है। (म. ६)

४ शत्रुहः- शत्रुका नाश करनेवाला।

५ असत्पत्नः- अन्दरके प्रतिपक्षी या विरोधी जिसके न हों। (म. ५)

६ सत्पत्न-ह्य- प्रतिपक्षीका नाश करनेवाला, अर्थात् प्रतिपक्षियोंका पराम्ब करनेवाला। (म. ५) ' सत्पत्न क्षययः ' यह शब्द भी इसी अर्थमें (म. ६ में) भाया है।

७ वृषा- बलवान्। सब प्रकारके बलवति मूल राजाके होना चाहिये, अन्यथा वह परात हो जायगा। (म. ६)

८ विपासहि- शत्रुके शत्रुके होनेपर उनका मुकाबला करते हुए अपने स्थानसे पीछे न हटनेवाला। (म. ६)

९ धीरशां जनस्य च विराजानि- राष्ट्रके शूरवीर तथा राष्ट्रकी सम्पूर्ण जनता इन सबको मनुष्य करनेवाला। (म. ६)

१० प्रतिपक्षियोंकी दवाना, वैदिकोंका नाश करना, सेवा के साथ चर्चा करनेवालेका प्रतिहार करना और जो कुछ ध्वजहार करता है उसको ठोक करना आदि राजाके कर्तव्य (म. २ में) कहे हैं।

ये दस कर्तव्य राजाके इस सूत्रमें कहे हैं, ये सब मनन करने योग्य हैं। ये सब कर्तव्य वही भाव बता रहे हैं कि राजा अपने भोपके लिये राजगद्दीपर नहीं जाता है, प्रत्युत राष्ट्रका हित करनेके लिये जाता है।

राजचिन्ह

शत्रु, धारण, राजचिन्ह, मणि, रत्न, रत्नमाता, मुकुट, विरोध कर्तव्यसे राजतमाका टांड, हाथी, घोड़े आदि सब जो राजचिन्ह समझे जाते हैं, इन चिन्होंके धारण करनेसे

जनतापर कुछ विशेष प्रभाव पड़ता है और उस प्रभावके कारण राजाके इर्दगिर्द शक्ति केन्द्रीभूत हो जाती है। यद्यपि इस प्रत्येक चिन्हमें कोई विशेष शक्ति नहीं होती, तथापि राजाचिन्ह धारण करनेवाले साम्यारम सिपाहीमें भी अन्य सामान्य जनोको अपेक्षा कुछ विशेष शक्ति होनेका अनुभव हरएक करता है; इसी प्रकार उक्त चिन्होंके कारण अमूर्त राजशासनका एक विशेष प्रभाव जनतापर पड़ता है, जिस कारण राजा शक्तिपूर्वका केन्द्र बनता है। जिस समय अपने चिन्होंसे बोर सम्पूर्ण ठाठसे राजा जाता है, उस समय उसका बढावारी प्रभाव सामान्य जनतापर पड़ता है, इसी कारण राजामें शक्ति इकट्ठी होती है। इस सूत्रके अंतुर्ग मन्त्रमें 'यह मणि ही शत्रुनाश करनेवाला, प्रभाव घटानेवाला, राष्ट्रहित साधन करनेवाला है' इत्यादि कहा है, उसका नारा उक्त प्रकार ही समझना योग्य है। सिपाहोकी शक्ति उसके चिन्होंसे ही उत्तम होती है और यह शक्ति वास्तविक नहीं प्राप्त एक भावनासे ही उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण राज चिन्होंकी शक्ति इसी प्रकार भावनात्मक है। अस्तु, अब शत्रुके लक्षण देखिए—

शत्रुके लक्षण

इस सूत्रमें निम्नलिखित प्रकार शत्रुके लक्षणोंका वर्णन किया है—

१ यः दुर्दस्यति- जो दुष्ट व्यवहार करता है। (मं. २)

२ सपत्नः- मित्र पक्षका मनुष्य। राष्ट्रमें जितने पक्ष होंगे, उतने पक्षवाले आपसमें सपत्न होंगे। सपत्न व्यवस्था (Party Politics) पक्ष भेदका राजकारण बता रहा है।

३ अरातिः- अनुदार, जो मनमें श्रेष्ठभाव नहीं रखता।

४ घृतन्यय- सँघसे चढाई करनेवाला।

इन शब्दोंके विचारते शत्रुका पता लग सकता है। इनमें कई अन्वर्थके शत्रु हैं और कई बाहुरके हैं।

सबैकी सहायता

तृतीय मन्त्रमें कहा है कि, 'सूर्य, चन्द्र और सब भूत-मात्र जिस राजाके सहायक होते हैं, वह शत्रुको पराजित करता है।' (मं. ३) इसमें सूर्य, चन्द्र आदि शब्द राष्ट्रसूत्रिकी सहायता बता रहे हैं, जिसमेंकी सहायता राजाकी शक्तिका एक महत्वपूर्ण भाग है राष्ट्रकी रचना ही ऐसी हो कि जहाँ शत्रुका प्रवेश सुगमतासे न हो सके। यह एक शक्ति ही है।

दूसरी शक्ति (विश्वा भूतानि) सब भूत मात्रसे प्राप्त होती है। पंचमयूत्रमूर्ति शक्ति प्राप्त करनेकी भी बात इसमें सुगमतासे बात हो सकती है। 'भूत' शब्दका दूसरा अर्थ अर्थ 'प्राणी, मनुष्य' ऐसा होता है। जिस राजाके राष्ट्रके सभी प्राणी और सब मनुष्य सहायक हों, उनकी शक्ति विशेष होगी ही, इसमें क्या संदेह है? यही सब जनताकी शुभ इच्छामें प्राप्त होनेवाली शक्ति है जो राजाको अपने पास रखनी चाहिये, क्योंकि इसीपर राजाका चिरस्थायित्व अवलम्बित है।

केवल राष्ट्रके लिये

इस सूत्रके अन्तर कई सामान्य निर्देश भी हैं जिनका यहाँ विचार करना आवश्यक है। इससे पाठकोंको इस बातका भी पता लग जायगा कि विशेष उपदेशोंसे भी सामान्य निर्देश कैसे प्राप्त हो सकते हैं। देखिए प्रथम मन्त्रमें कहा है—

अस्मान् राष्ट्राय अभिधाय्यम्। (मं. १)

इसका अर्थ— 'हमें राष्ट्रके लिये बढाओ' अर्थात् हमारी उन्नति इसलिये करो कि हम राष्ट्रहित साधन करनेके योग्य बनें। हमारा शरीर सुवृद्ध हो, हमारा वायु शीत हो, हमारे हृदिय अधिक कार्यक्षम बनें, हमारा मन मननशक्तिसे युक्त हो, हमारी बुद्धि ज्ञानसे परिपूर्ण हो, हममें आत्मिक बल बढे, तथा हमारी कौटुंबिक, सामाजिक तथा अन्त्याय शक्ति-या बढें। ये सब शक्तियाँ इसलिये बढें कि इनके योगसे हमारा राष्ट्र आधुन्यसे युक्त हो। इन शक्तियोंकी वृद्धि इस लिये नहीं करनी है कि इनसे केवल धार्मिकता ही सुलु बढे, केवल एक जातिके ह्रासमें अधिकार रहे, या किसी एक कुलमें पास अधिकार हो जाय; अपितु वे शक्तियाँ इसलिये बढानी चाहिये कि इनके संयोगसे राष्ट्रको प्रगति हो, राष्ट्रकी उन्नतता हो।

सामान्य अर्थ शब्दोंके समग्र इस प्रथम मन्त्रका 'अस्मान्' शब्द बढा महत्व रखता है। इसका अर्थ होता है, 'हम सबको' अर्थात् हम सबको मिलकर राष्ट्रहितके लिये वृद्धि-यत्न करो। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि किसी एकको ही उन्नति या किसी एककी शक्तिका विकास ही यहाँ अर्थ निल नहीं, अपितु सबकी शक्तिका विकास यहाँ स्पष्टित है। राष्ट्रपुं उन्नतिके लिये जो प्रजाजनोकी शक्तिका विकास करना है वह हरएक प्रजाजनका, किसी प्रकार भी पक्षपात न करते हुए करना चाहिये। अर्थात् धार्मिकशक्ति या संघ-जिनिष्ठ पक्षपातके लिये यहाँ कोई स्थान रहना नहीं चाहिये।

जो मैं करता हूँ वह राष्ट्रके लिये समर्पित हो यही भाव हरएकके मनमें रहना चाहिये ।

राष्ट्राय मह्यं वक्ष्यतां ।

सपरमेभ्यः पराभुवे ॥ (मं. ४)

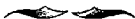
'मैं तो राष्ट्रके लिये बांध, ताकि मैं राष्ट्रके दासुओंका परामर्श कर सकूँ ।' यह भाव मनमें धारण करना चाहिये । मैं राष्ट्रके साथ बांधा जाऊँ, मेरा अपने राष्ट्रके साथ ऐसा सम्बन्ध जुड़ जाय कि वह कभी न टूटे, राष्ट्रका हित और मेरा हित एक ही बने, मैं राष्ट्रके लिये ही जीवित रहूँ इत्यादि प्रकारके भाव उन्नत भक्तमें हैं । जो जिनके साथ बांधा जाता है वह उसीके साथ रहता है । यदि स्वराष्ट्राभिमानसे मनुष्य राष्ट्रके साथ एकबार अच्छीप्रकार बंध जाय तो वह बहासि नहीं हट सकेगा । इसी प्रकार मनुष्य अपने राष्ट्रके साथ बांधे बांध और ऐसा परस्पर सम्बन्ध जुड़नेके कारण राष्ट्रमें अपूर्व संध शक्ति उत्पन्न हो यह बात वेदको शशीष्ट है ।

हरएक मनुष्य 'अभिराष्ट्र' (मं. ६) बने अर्थात् राष्ट्र हित करनेका ध्येय अपने सामूहिक रखे । वह मनुष्य कहीं भी जाय, कुछ भी कार्य करे, उसके सामूहिक अपने राष्ट्रके दाय-दबाका विचार जाग्रत रहे । इस प्रकार जितके मनके सामने राष्ट्रका विचार सदा जाग्रत रहता है, उसीको वेद 'अभि-

राष्ट्र' कहता है (अमितः राष्ट्रं) अपने धर्मों और राष्ट्र हे ऐसा माननेवाला हरएक अवस्थामें अपने समूह अपने राष्ट्रको देखनेवाला जो होता है उसका यह नाम है ।

'राष्ट्र' का अर्थ

राष्ट्र शब्द केवल वेद अथवा केवल जनताका बाधक वेदमें नहीं है । केवल भूमिके एक विभागापर रहनेवाले मनुष्य समाजका बोध 'राष्ट्र' शब्दसे वेदमें नहीं होता है । इस प्रकारके राष्ट्र भूमिपर बहुत होंगे, परंतु वेद जितको राष्ट्र कहता है, वैसे राष्ट्र अल्प ही होंगे । वेदमें 'राष्ट्र' शब्द (राजते सत् राष्ट्रं) जो धमकता है, वह राष्ट्र है, इस अर्थका बोधक है । जो मनुष्योंका समुदाय भूमिदल पर अपने कमारो यशसे धमकता है और सब अन्य लोगोंका ध्यान अपनी ओर खींच सकता है वही वैदिक दृष्टिसे राष्ट्र है । अन्य मानवो समुदाय राष्ट्र नहीं हैं । इस प्रकारके राष्ट्र विस्तारसे छोटा हो या बड़ा हो, वह राष्ट्र ही कहलायेगा । परंतु जो विस्तारसे अति प्रबंध हो, परंतु पताकी दृष्टिसे जिसमें चक्क न हो वह राष्ट्र नहीं होगा । वैदिक धर्मियोंको अपने परिधामें अपने राष्ट्रमें इस प्रकारका तेज उत्पन्न करना चाहिये और प्रदाना चाहिये, तभी उनके देशका नाम वैदिक रीतिसे राष्ट्र होगा । वेदमें राष्ट्रधर्मन विषयक अनेक सूक्त हैं और उनका परस्पर निकट संबंध भी है ।



संरक्षक कर

कांड ३, सूक्त २९

(अर्थः - उदात्तः । देवता - शिविपान्; अग्निः, काम, भूमिः ।)

यद्राज्ञानो विसृजेन्त इष्टापूर्तस्य श्रेष्ठं समस्रामो संसासदः ।

अविस्तरमात्प्र मुञ्चति दुक्तः शिविपात्स्वपा

॥ १ ॥

अर्थ— (यमस्य धामी राजानः समासादः) नियम से चलनेवाले राजाके ये समासद (इष्टापूर्तस्य पात् पौडशं विसृजन्ते) असाधिका जो सोलहवां भाग बिनकर करते हैं । वह (दुक्तः) दिया हुआ भाग (अग्निः) एकक धमका (शिवि-पात्) शिवकीको गिरानेवाला (स्व-धा) और अपना धारण करनेवाला होता हुआ (तस्मात् प्रमुञ्चति) उस समयसे छुड़ता है ॥ १ ॥

भाषार्थ— नियमसे प्रजाका शासन करनेवाले राजाके ये राजसभाके समासद वस्तुता शब्धे राजा ही हैं । ये प्रजाके अप्रसादि प्रातिक सोलहवां भाग कर कपसे लेते हैं । राजाको दिया हुआ यह सोलहवां भाग सब राष्ट्रका संरक्षण करता है, प्रजाको बुद्ध देनेवाले जो होते हैं उनको बद्ध बंधर दबाता है, प्रजाको धारण करनेवाला है और उसकी सभसे मुक्तता करता है ॥ १ ॥

सर्वान्कामान्पूरयत्याभवन्प्रभवन्मवन् । आकृतिप्रोऽविर्दुचः श्रितिपात्रोप दस्यति ॥ २ ॥	॥ २ ॥
यो ददाति श्रितिपादुमर्विं लोकेन संमितम् ।	
स नाकंमुष्यारोहति यत्रं शुल्को न क्रियते अवलेन बलीयसे ॥ ३ ॥	॥ ३ ॥
पञ्चापुषं श्रितिपादुमर्विं लोकेन संमितम् । प्रदातोर्पं जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥	॥ ४ ॥
पञ्चापुषं श्रितिपादुमर्विं लोकेन संमितम् । प्रदातोर्पं जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥	॥ ५ ॥
शैव नोप दस्यति समुद्र इव पशो महत् । देवैः संवृत्तिनापिब श्रितिपात्रोप दस्यति ॥ ६ ॥	॥ ६ ॥

अर्थ— यह (दत्तः) दिया हुआ भाग (आकृति- प्रः) सफलताको पूर्ण करनेवाला, (दिति-पात्) हितकोंके दवानेवाला, (अविः) संरक्षण करनेवाला, (अ-भवन्) राष्ट्रको संलाभेवाला, (प्रभवन्) प्रभावनाको, (मवन्) अतिरक्षक का कारण बनता हुआ (सर्वान् कामान् पूरयति) तब कल्पलोकोंका पूर्ण करता है और (न उपदस्यति) विनाश नहीं करता ॥ २ ॥

(यः लोकेन संमितं) जो सब लोकोंके द्वारा सन्तानित (श्रिति-पाद् अवि ददाति) हितकोंके नाम करनेवाले संरक्षक भागको देता है, (सः नाकं धरयेति) यह उस दुःखरहित स्थानको प्राप्त करता है, (यत्र अवलेन बलीयसे शुल्को न क्रियते) जहाँ निर्बल मनुष्यको बलवान्के लिये धन देना नहीं पड़ता है ॥ ३ ॥

(पञ्च-अ पूष) पाँचोंको तष्ट न करनेवाले, अत एव (लोकेन संमितं) जनता द्वारा समत (दिति-पाद् अवि) हितकोंको दवानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (पितृणां लोके अक्षितं उपजीयति) पितृदेवताके बसपताके अधिकार रहता है ॥ ४ ॥

(पञ्च अ-पूषे) पाँचोंको तष्ट न करनेवाले (लोकेन संमितं) जनता द्वारा संमानित (दिति-पाद् अवि) हितकोंके दवानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (सूर्या-मासयोः अक्षितं उपजीयति) सूर्य और चन्द्रके साक्षिपदके बसपताके अधिकार रहता है ॥ ५ ॥

(इरा इव) भूमिके समान तथा (समुद्रः इव) यद्ये अनिपि महासागरके समान और (स-वृत्तिना देवै इव) साथ साथ निवास करनेवाले प्राणरूप वो देवोंके समान (श्रितिपात् न उपदस्यति) हितकोंको दवानेवाला यह भाग विनाश नहीं करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— यह दिया हुआ कर प्रजाके सब धन्युदयके सफलताको पूर्ण करता है, दुष्टोंका दमन करता है, सज्जनोंका पालन करता है, राष्ट्रका विस्तार करता है, बीरोंका प्रभाव बढ़ाता है, और अतिका अस्तित्व स्थिर रखता है, साथ साथ सब जनताके मनोरथ पूर्ण करता है और किसी भी प्रकार प्रजाका नाश नहीं करता ॥ २ ॥

इसलिये सब लोग राजाको यह कर देना पसन्द करते हैं । जो लोग दुष्टोंको दबाकर सज्जनोंका प्रतिपालन करनेवाला यह कर राजाको देते हैं, वे मांगे, कुछ पूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, फिर उस स्थानमें निर्बलके अवर्धताके धन लेनेवाला कोई बलवान् मनुष्य नहीं रहता और न कोई निर्बल मनुष्य अपनी अक्षिहीनताके कारण बसवान्के लिये धन धरना करता है ॥ ३ ॥

यह कर पञ्चजन्योंको न गिरानेवाला, दुष्टोंको दवानेवाला और साधुधर्मोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब जनता इसको राजाके पास समर्पण करती है । जो लोग यह कर देते हैं वे संरक्षकोंकी रक्षामें तथा सुरक्षित रहते हैं ॥ ४ ॥

यह कर पञ्चजन्योंको न गिरानेवाला, दुष्टोंका दमन करनेवाला, सज्जनोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब लोग ध्यानसे राजाको यह देते हैं । जो कर देते हैं वे सूर्य और चन्द्रमाके प्रशासनमें सुखते रहते हैं ॥ ५ ॥

दुष्टोंको दवानेके लिये दिया हुआ यह कर भूमिके समान सागर देनेवाला, समुद्रके जलके समान अति देनेवाला और प्राणिके समान सबका रक्षक होता है और किसीका विनाश होने नहीं देता ॥ ६ ॥

क इदं कस्मा अदात्कामः कामायादात् । कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विविश ।
 कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैवते ॥ ७ ॥
 भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णास्वन्तरिक्षमिदं मुहत् । माहं मा प्राणेन मात्मना प्रजयां प्रतिगृह्य वि राधिपि ॥ ८ ॥

अर्थ— (इदं कः कस्मै अदात्) यह कितने कितको दिया है ? (कामः कामाय अदात्) गतिरफले गतिरथको दिया है । (कामः दाता) काम ही दाता है, (कामः प्रतिग्रहीता) काम ही लेनेवाला है, (कामः समुद्रं आविवेश) काम ही समुद्रमें प्रविष्ट होता है । (कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि) इच्छासे ही तुझे स्वीकार करता हूँ । हे काम ! (एतत् ते) यह त्व तैरा ही है ॥ ७ ॥

(भूमिः) पृथ्वी और (इदं मुहत् अन्तरिक्षं) यह बड़ा अन्तरिक्ष (त्वा प्रतिगृह्णानु) तुझे स्वीकार करे । (माहं प्रतिगृह्य) मैं प्राप्त करके (प्राणेन, आत्मना, प्रजया) प्राणसे, आत्मासे और प्रजासे (मा मा मा विराधिपि) अलग न होनाऊँ ॥ ८ ॥

भावार्थ— भला, यह कर कौन कितको देता है ? काम ही कामको देता है । इस जगत्में मनुषी इच्छा ही देने और लेनेवाली है । यही कामना मनुष्यको समुद्रपर ध्यान कराती है । इस कामसे ही मनुष्य बड़ी बड़ी अल्पलिमा स्वर्ग तिर पर लेता है । यह सब अतृष्णा व्यवहार कामको महिमा ही है ॥ ७ ॥

इस पृथ्वीपर और आकाशमें कायनाका ही संचार हो रहा है । इस कायनाका विस्तार करता हुआ मैं प्राण, आत्मा और प्रजासे दूर न होऊँ ॥ ८ ॥



संरक्षक कर

राज्य-शासन चलानेके लिये कर

राजा राज्यका शासन करता है । यह बहुत्वपूर्ण कामके लिये प्रजा उसको ' कर ' समर्पण करता है । इस करका प्रमाण मिलना होना चाहिये, अर्थात् प्रजा अपनी मानिका बौद्धसा भाग राजाको समर्पित करे और राजा उस धनका किन कामोंमें उपयोग करे, इस विषयका उपदेश इस सूक्तमें किया है ।

प्रास्रिका सोलहवाँ भाग

प्रजाकी जो दामदनी होती है, उसका सोलहवाँ भाग राजाको देनेके लिये राजशासकके सामासद् अलग करते हैं, यह धर्मन पहले ही मन्त्रमें है—

वमी सभासद् इष्टापूर्तस्य दोऽश्ते विमजन्ते ॥

(मं. १)

' राजसभाके ये सभासद् प्रजाकी प्रतिभत्से सोलहवाँ भाग अलग करते हैं । ' और यह सोलहवाँ भाग राजाको प्रजासे मिलता है । यह कर है जो राजाको राज्य चलानेके लिये देना चाहिये । ऐतत्तै सो भाग उत्पन्न हो उसका सोलहवाँ

भाग राजाको प्रास्रिकाके सामासद् लेकर उसका समुद्र करें । जो उत्पन्न हो उसका सोलहवाँ भाग लेना है । अर्थात् साधारण सेतो करनेवालोसे धान्यके रूपमें ही यह कर लिया जाये । धान्य उत्पन्न करनेवालोसे धनके रूपमें नहीं लेना है, मत्स्य जो पदार्थ उत्पन्न हो, उस पदार्थका सोलहवाँ भाग लेना है । जिस पदार्थका भाग हो नहीं सकता, उसके मत्स्यका सोलहवाँ भाग लिया जाये तथा जो र्थधन धन काममें हों, उससे उनकी बर्बादीका यह भाग धनके रूपमें लिया जाये । कर देनेके विषयमें यह वेदकी आज्ञा सुस्पष्ट बिलाल देती है और यह कर प्रजाके लिये बनी असलू नहीं हो सकता ।

उत्पन्नका सोलहवाँ हिस्सा देनेके लिये वेदकी आज्ञा है परंतु मृत्तिप्रदोंमें छटा भाग लेनेका नियम है । इसप्रकार करको दृष्टि हुई है और आजकल तो कई मृत्त दृष्टि हुई है । इस मन्त्रमें ' विमजन्ते ' क्रिया वर्तमान कालकी है । राज समाने सामासद् स्वयं उत्पन्न वेद कर उतारा सोलहवाँ भाग अलग करते हैं, अर्थात् वे सत्तमें धान्य लेकर होनेपर धान्यकी दानिने वास जात्रे हैं और उसके तोह भाग बरके दूध भाग राजसदयके लिये ले लेते हैं । वेदका अभावसे नहीं लेते,

अपिबु प्रत्यक्ष प्राप्ति देखकर उतमो उतत भाव लेते हैं, यह शेष वर्तमान कालवाचक 'अमी सभासद्, विभञ्जन्ते' इस वाक्यसे प्राप्त होता है। अकात्के क्लिप्तों में शब्द कम उत्पन्न हुआ तो कर कम लेते हैं और तुक्कालमें अधिक उत्पत्ति हुई तो अधिक लेते हैं। आजकालके समान तुक्काल और अकात्कमें एक जैसे प्रमाणसे नहीं लेते।

प्राप्तिके दो साधन

आगवन्तीके दो मार्ग होते हैं, एक 'इष्ट' और दूसरा 'पूर्त'। मनुष्य जो अपनी इच्छानुसार अभीष्ट व्यवहार करते हैं और उससे कमाई करते हैं, उसको 'इष्ट' कहते हैं, इसमें उद्योग पदे शिल्प आदिका समावेश होता है, इसमें कर्ताको इच्छापर व्यवहारको सत्ता विभंर है। दूसरा है 'पूर्त'। इसमें स्वामीको इच्छा हो गानही, आगवन्ती हीनी रहती है, जैसे मावरो फलविकोंका उत्पन्न होता, हृविषे पात्य पिल्ला, पहिलेसे यह हुए पक्षोंसे प्राप्त होता ६०। पूर्वजति पत्नी आई व्यवस्थासे जो प्राप्ति होती है उसका नाम पूर्व है, लभोदारोंको जो उत्पन्न होता है यह 'पूर्त' है, क्योंकि लभोदारके प्रयत्न न करनेपर भी यह उससे शोभाही पूर्तता करता रहता है। इष्ट व्यवहार सत्ता नहीं है, उसमें तो इच्छानुसृत काम पदा करके सकलता हीनेपर ही प्राप्ति होनी है, यह प्रथमसाध्य है। इष्ट और पूर्वमें यह भेद है। मनुष्योंके व्यवहारोंके ये मुख्य दो भेद हैं।

आगवन्त 'इष्ट' का अर्थ 'उत्पद्योग' और 'पूर्त' का अर्थ सर्वजनोपयोगी रूप साक्षात् वर्तमानता आदि करना समझते हैं, इन दोनोंमें यह अर्थ है, परंतु यह देखत एक ही भाग है। इन शब्दोंके मूल अर्थ केवल ये ही नहीं हैं। इन सूत्रमें 'प्रजाही सामरन्तीरो सोलहवां भाग कर रूपमें लिया जाता है' ऐसा कहा है। उस प्रमाणमें 'घत और कुबे' या सोलहवां भाग राजा लेता है ऐसा पाठना अर्थोप्य है, इसी लिये चारों वर्णोंके व्यवहारकी दृष्टिते होनेवाला और जिससे राजाको सोलहवां भाग कर रूपसे प्राप्त हो सकता है वंसा अर्थ ऊपर लिया है। यथादि अर्थ लेनेके प्रमाणमें प्रजाके मुहुरतका जो मुख्य होगा, उसका कुछ भाग राजाके घत सर्वदने लिये उसको प्राप्त हो सकता होगा। परंतु इससे संसुर्द राज्यसासन नहीं घत सकता, अत आगवन्तीके विषय-का अर्थ हो वहाँ लेना शोध्य है।

जका प्रकारकी रीतिले दो प्रकारके व्यवहारोंके होनेवाली प्राप्तिका सोलहवां भाग राजाके समस्त राज्यसासन चलानेके

लिये प्रजासे कर रूपमें लेते हैं, यह प्रथम मंत्रार्थका अर्थ है। यहाँ राजाका भी ससन देखना चाहिये—

राजा कैसा हो

इस सूत्रमें राजाका नाम 'यम' बताया है। यमका अर्थ 'स्वाधीन रखनेवाला, नियमसे चलनेवाला, धर्मका पालन करनेवाला' है। 'यम-धर्म' इस शब्दसे भी यमसे धर्मका अर्थ स्पष्ट होता है। राज्य चलानेके जो धर्म नियम होते हैं उनके अनुसार राज्यसासन करनेवाला राजा ही यहाँ इस शब्दसे बोधित होता है। इससे स्पष्ट है कि यहाका राजा मनमानी करनेवाला नहीं है, प्रत्युत राजधर्मके नियमोंके अनुसार तथा जनताके प्रतिनिधियोंकी समझिके अनुसार राज्य चलानेवाला है। यह राजा राजभक्तके सबदोंके मतसे और धर्मनियमोंके बद्ध है, स्वैच्छाकारी नहीं है। यहात इससे राज्यमें—

अमी सभासद् राजानः। (म १)

'राजभक्तके ये सभासद् ही राज्यसासन करनेवाले राजा हैं।' राजा तो नाम मात्रका अधिकारी रहकर, उन सभासदोंकी समझिके जो नीति निश्चत होती है, उससे अनुसार राज्यसासन चलता रहता है। यैरकी यह नियमबद्ध राजगता यहाँ देखने शोध्य है। इस राजाकी राजभक्तके अर्थय प्रजाकी आगवन्तीका सोलहवां भाग राज्य सासनके अर्थके लिये प्रजासे करके रूपमें लेते हैं और इसका उपयोग भी प्रजाकी उत्पत्तिके कार्योंमें ही करते हैं। यह प्रजासे प्राप्त होनेवाला कर क्या क्या करता है इस विषयमें इस सूत्रका अर्थय बड़ा मनोरंजक है। इसका विचार करनेसे हमें पता लग सकता है कि प्रजाके लिये हुए करका उपयोग राजाको कैसे करना चाहिये—

करका उपयोग

राजा जो कर जमाते लेता है, उसका अर्थय विन बाणोंके लिये दिया जाये, इसका अर्थय निम्नलिखित शब्दोंसे इस सूत्रमें लिया है। 'यह कर निम्न लिखित बाणों करता है,' ऐसा अर्थय इस सूत्रमें आया है, इस सूत्रका अर्थय है कि प्रजा द्वारा दिया हुआ कर निम्नलिखित बाणों करता है—

(१) अधीयः- (अग्रति इति यदियः)- रक्षा करना है, कनताकी अथवा राष्ट्रकी रक्षा करता है। प्रजाके दिया हुआ कर ही प्रजाकी रक्षा करता है। (मं १, ३-५)

(२) स्वध्याः- (स्वस्य धारणा)- मरनी अर्थात् प्रजाकी धारणा करता है। राष्ट्रकी धारणा- धारण करने

बढ़ती है । कर लेकर राजा ऐसे प्रबंध करता है कि जिससे प्रजापती सम्पत्ता बढ़ जाती है । (मं १)

(३) पञ्चापूपः- (पञ्च+अ+पूपः पूपते विरारिर्वेति इति पूपः । न पूप अपूपः । पञ्चानां अपूपः पञ्चापूपः) - जो अलग अलग होता है अर्थात् जिसके भाग बिकरे रहते हैं उसका नाम 'पूप' है । तथा जिसके भाग सघटित एक दूसरेके साथ अखंडी प्रकार मिले खुले होते हैं उसको 'अ-पूप' कहते हैं । पञ्चजन्योंको सघटित करता है अर्थात् परस्पर मिलाकर रखता है, जिससे पावों प्रकारके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंका अमिश्र सघ होता है । राजा प्रजासे कर लेता है और प्रजापती सघघटित बढ़ाता है ।

(म ५, ५)

(४) भवन्- हुना, अस्तित्व रहना । प्रजासे कर ले कर राजा ऐसे कार्योंमें उसका विनियोग करता है, कि जिससे प्रजाका अस्तित्व चिरकालक रहता है । (म. २)

(५) वामधन्- धन ऐश्वर्य संपन्न होना । राजा करका ऐसा उपयोग करता है कि जिससे प्रजा प्रतिदिन अथवा पण्य संपत्तिवृद्ध होती जाय । (मं. २)

(६) समयन्- प्रभावशाली । प्रजासे कर प्राप्त करने; राजा उसका विनियोग ऐसे कार्योंमें करता है कि प्रजा प्रतिदिन प्रभावशाली बनती जाय । साधवान्, पराक्रमी और प्रभावशाली प्रजा बने । (मं. २)

(७) जाकृतिप्रः- (जाकृतिः) सकल्योंको (प्र) पुनं करनेवाला कर है । अर्थात् प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे कार्य करता है कि जिससे प्रजाके बन्की श्रेष्ठ कामनाएँ परिपुनं होती हैं और प्रजाकी अव्यक्ति उन्मत्ति होती रहती है ।

(म २)

(८) सर्धान् कामान् पूरयति- प्रजाको संपूर्ण उपरतिको कामनाएँ सफल और मुक्त होती हैं । किसीप्रकार भी प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाएँ निफल नहीं होती । (कर लेकर राजा ऐसा प्रबंध करता है कि प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाएँ पूर्ण होती विधिको प्राप्त हों । (म. २)

(९) यो...ददाति स नाकं अभ्येति- जो (कर) देता है वह (न+अ+कं) मुक्तपुनं स्वयंको प्राप्त करता है अर्थात् राजाको कर देनेवाले लोग अपने देसमें मुक्त रहते हैं । प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे उत्तम प्रबंधसे राज्य चलाता है कि सब प्रजा मुक्त होती है । (मं. ३)

(१०) प्रदाता सूर्यानां लोकैः अक्षितं उपजीवति- कर देनेवाले लोग सूर्यानां द्वारा सुरक्षित हुए प्रदेशमें विर-

कालक आनंदसे रहते हैं । राजा प्रजासे कर लेने और उनको सुरक्षित रखे, सुराज्य प्रबंधसे लोग सुरक्षित होकर आनंदसे रहें । (मं ४)

(११) प्रदाता सूर्या-नास्योऽक्षितं उपजीवति - कर देनेवाले लोग अक्षित (सूर्य) दिनमें बंसे (मास-चंद्रमाः) रात्रिके समय भी सुरक्षित होकर आनंदसे रहते हैं । कर लेकर राजा राज्य-शासनका ऐसा योग्य प्रबंध करे कि जिससे प्रजा दिनके समय भी सुरक्षित होवे और रात्रिके समयमें भी सुरक्षित होवे । (म ५)

(१२) इरा इय न उपदस्यति- कर देनेवाले प्रजा पृथ्वीके समान भूय रहती है अर्थात् उस प्रजाका नशा कोई नहीं कर सकता । (म. ६)

(१३) मद्द्रु पयः समुद्र इय न उपदस्यति- कर देनेवाले प्रजा बड़े अक्षय्य बड़े गहरे महासागरके समान सदा गभीर और प्रगाढ़ रहती है । छोटे जलाशयके समान शुष्क होकर नशाने नहीं प्राप्त होती । (मं ६)

(१४) स्वधासिनां देवो इय न उपदस्यति- साथ साथ रहनेवाले वे वेद स्वात और उद्गुवातके समान यह कर सब प्रजाको रखा करता है अर्थात् जिस प्रकार प्राणके व्यापारसे सब शरीर सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार प्रजासे निम्ननेकाला कर राष्ट्रको सुरक्षित रख सकता है । (मं. ६)

(१५) तस्मात् प्रमुञ्चति-ज महाभयसे मुक्त करता है । यह दिया हुआ कर प्रजाकी महाभयसे बचाता है ।

(म १)

(१६) शिति-पात्- (शिपते इति शितिः हिंसनं, शितिं पातयति) ' शिति ' का अर्थ है नाम, जन नशाना पतन आ करता है अर्थात् नामसे जो बचता है, उसको ' शिति-पात् ' कहते हैं । यह कर प्रजापर विनाशसे बचाव करता है । (मं. १-६)

(१७) अवलेन घटीयसे शुश्रुव न शिपते- निर्बल मनुष्य अपनी निर्बलतासे कारण प्रचलको घन नहीं देता । अर्थात् यह कर निर्बल मनुष्योंका दलघनत्वसे अत्याचारसे पूर्ण बचाव कर सकता है । (म ३)

प्रजासे कर लेकर राजाको इतनी बाले करनी चाहिये । यहाँ ऊपर विषे हुए ये सब व्यवस्था इस सूक्तमें विनियोग महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । साधारण सूचना करनेके लिये पूर्वोक्त वाक्योंसे प्राप्त होनेवाला योग्य पुन सवेपथे यहाँ देते हैं-

(१) राजा अपनी प्रजासे कर लेवे और उताहा उपजोग प्रजाको योग्य प्रकारको रखा करनेमें, (२) प्रजापती सब

प्रकारकी धारणावृत्ति और समर्पता बढ़ानेमें, (३) शानी, सूट, श्यापारी, कारीगर और अन्य लोगोंकी लघुवृत्ति बढ़ानेमें, इन सबको समर्थित करनेमें, (४) इनका राष्ट्रीय और शास्त्रीय अस्तित्व सुरक्षित रखनेमें, (५) प्रजाको ऐश्वर्य संपन्न करनेके कार्योंमें, (६) प्रजाजनको प्रभावशाली बनानेमें, (७) संपूर्ण राष्ट्रके सब लोगोंकी सब थोछ कामनाओंको पूर्ण करनेके साधन सप्रतिष्ठ करनेमें, (८) राष्ट्रके बुद्ध दूर करनेमें, (९) राष्ट्रकी रक्षा करनेके लिये संरक्षणकण विवृणत करनेमें, (१०) जैसे विषमें जैसे रात्रिमें भी निर्भय होकर लोग सर्वत्र संचार कर सकें, ऐसी निर्भीकता संपूर्ण राष्ट्रमें सदा स्थिर रखनेके कार्योंमें, (११-१४) जनताको भूमिके समान धृष्ट, जलनिधि सन्दर्भके समान गभीर और प्राणिके समान जीवन मुक्त करनेके कार्योंमें, (१५-१६) सब और विनाशके प्रजाको बचानेके प्रयत्नोंमें, तथा (१७) बलवान् मनुष्य निर्बलके ऊपर सत्वाचार न करें, ऐसा सुप्रबल संपूर्ण राष्ट्रव्यवस्थे करनेके कार्योंमें करें ।'

प्रजाके लिये हुए करका उपयोग इन कार्योंमें करना राजाका कर्तव्य है । पूर्वोक्त वाक्योंसे यही भल प्रकट हो सकता है । जो राजा प्रजासे कर लेता हुआ इसका उपयोग इन कर्तव्योंके निम्न केवल करने ही स्वायंसाध्यके कार्योंमें करेगा, वह राज्य बसानेके लिये अयोग्य होगा ।

स्वर्गसदृश राज्य

जिस राज्यमें राजा प्रजाको कर लेकर पुर्वोक्त रीतिते प्रजाकी उत्तम रक्षा करता है, वह स्वर्गके सदृश ही राज्य है और जहाँ कसै प्राप्त हुए धन उपयोग प्रजाके बचन बढ़ानेमें होता है, वह नरकके सदृश राज्य है । स्वर्गराज्यके लक्षण इसी सूत्रमें बड़े हैं, उनकी अब वहाँ देखिये—

१ स नाक व्यभ्येति ।

२ यत्र श्रुको न क्षिपते अग्रलेन पत्नीयसे । (प ३)

' (१) कर देगैवाले मनुष्य स्वर्गपापमें पशुवत्ते हैं, (२) जहाँ निर्बल मनुष्यको बलवान् मनुष्यके लिये धन देना नहीं पड़ता । ' यह स्वर्ग सदृश राज्यका लक्षण है । जिस राज्यमें निर्बल मनुष्यको केवल निर्बल होनेके कारण ही बलवान् मनुष्यके सामने शिर झुकाने हुए अपने पासका धन उपहारके रूपमें देना नहीं पड़ता वह स्वर्गपाप है और जिस राज्यमें बलवान् मनुष्य निर्बलपर जो चाहे तो सत्वाचार करते हैं और निर्बल मनुष्य केवल बलहीन होनेके कारण ही पीसे जाते हैं, वह नरक है । ' नर-क ' का अर्थ 'हीन मनुष्य, छोटा मनुष्य, मोक्षी भोगीका मनुष्य ' है । जिस राज्यमें होनभाववा-

वाले मनुष्य होते हैं वह नरकराज्य है और जहाँ थोछ भावना-वाले मनुष्य होते हैं उसको स्वर्गराज्य कहते हैं ।

बाहुनोंका शासक बल, क्षत्रियोंका अधिकारका बल, वैश्योंका धनका बल, वृद्धोंका कारीगरीका बल और विद्यार्थी-का केवल शारीरिक बल होता है । ये लोग स्वार्थी होकर इन वर्तनीं मनुष्यगत होकर अन्धोंपर क्लृपाचार करते हैं । ऐसा अत्याचार कोई किसीपर न करे और सबको धर्मके आश्रयसे मनुष्यत्व विषयक समानताका बताई हो, राज्य व्यवस्थाका ऐसा प्रबल रचना राजाका परम कर्तव्य है । जहाँ ऐसा उत्तम प्रबल होता है और जिस राज्यमें शासनव्यवस्थाके आश्रयसे निर्बल मनुष्य भी बलवान् मनुष्यके सत्वाचारके सामने अपनी रक्षाके लिये लड़ा रह सकता है और केवल निर्बलताके कारण पीसा नहीं जाता, वही राज्यशासन पद्धति वैदिकी दृष्टिसे भाव्य उत्तम है । यही ' वैदिक राज्य ' है ।

कामनाका प्रभाव

पूर्वोक्त प्रकारकी राज्यव्यवस्था करना या अन्धगम्य वैदिक आत्माओंके अनुसार मनुष्योंके सुधार करनेके ध्येय करना, यह सब मनुष्यको कामना, इच्छा, सत्त्व, भावना आदि पर निर्भर है । मनुष्यमें जैसी इच्छा होती है वैसे वह बसता है और वैसे ही व्यवहार करता है । यह बातानेके लिये ७ वें और ८ वें मंत्रका उपदेश है । इसका पहला ही मन्त्रोत्तर देखिये—

प्रत्न- इदं कः कस्मै अदात् १- यह हीन जिसको देता है ?

उत्तर- कामः कामाय अदात्- काम ही कामके लिये देता है ।

काम दाता, काम प्रतिग्रहीता- काम ही देने और लेनेवाला है ।

ये मंत्रभाग बड़े महत्वपूर्ण उपदेशको देनेवाले हैं । मनुष्यके मनके अंदर जो इच्छा है, जो महत्वाकांक्षा है, जो कामना है वही मनुष्यको दाता बनावती है और उसीसे दूसरा मनुष्य दान लेनेवाला बनता है । राजा राज्य करता है, संनिक मूढ करते हैं, नीचर नीचरी करते हैं, शौर्षी तिमीको कुछ देता है और दूसरा लेता है, यह सब व्यवहार मनके अन्धरों इच्छाने कारण होते हैं । मनी, यह काम ही सबमे वे व्यवहार करा रहा है यहाँ तक की—

कामः समुद्रे भाविदेग । (म ७)

' काम ही समुद्रमें घुसा है । ' मनी मनुष्यपर भी इसी कारण हो राज्य है । मनीको छोड़कर भी मनुष्य मनुष्य

महाशक्ति को प्रेरणा देने का काम ही होता है वह भी काम ही होता है। और कोई विधान द्वारा भाषाशास्त्र को प्रेरणा देने का काम ही होता है। इस प्रकार इस जगत् का सब व्यवहार कामकाजी प्रेरणा देने ही हो रहा है। 'भूमि और अंतरिक्ष में भी संबंध काम ही काम अर्थात् कामकाजी राज्य है।' (मं. ८) सब इसीकी आभासे अनुसार फिर रहे हैं।

कामः । यत्तत्ते । (मं. ७)

'हे काम ! यह तेरा ही महाराज्य है' तेरा ही शासन सब पर है। कौन तेरे शासनसे बाहर है। कामको स्वीकार करनेवाले कागी लोग जैसे अपने मतकी कामकाजी प्रेरित होते हैं, उसीप्रकार कामका रक्षण करनेवाले विरक्त लोग भी उसी कामकाजी हो प्रवृत्त होते हैं, तात्पर्य कामका सर्वतोपरि शासन है।

कामकी मर्यादा

कामना बुरी ही ऐसा कहते हैं। यदि काम उक्त प्रकार सब पर शासनधिकार चलाता है और भोगी और त्यागी दोनों जगतीं मारपीत रहते हैं तो फिर कामका संयम कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर अखण्ड मंत्रके उत्तरार्थमें दिया है। इस मंत्र भागमें किशु कीमत्तक कामका उपयोग करना चाहिए, इस महत्त्वपूर्ण विषयका विवेचन किया है—

प्रतिगृह्य अहं आत्मना मा विराधिषि,
अहं प्राणैर्न मा विराधिषि,
अहं प्रजया मा विराधिषि । (मं. ८)

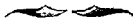
'काम ! तुझे स्वीकार करके, मैं अपनी आत्मव्यक्ति को न लो बंधूँ, मैं अपनी प्राणव्यक्ति को न लोचूँ और मैं अपने प्रजननको भी हिन न बना दूँ।' यहलोक जितना काम इन्कीकार या सकता है, उतना मनुष्यके लिये लाभदायी हो सकता है। काम विषयका सामाधार हरएक इन्द्रियके कार्यक्षेत्रमें हो सकता है, परंतु इसका विशेष कार्यक्षेत्र अपने-अपने लक्ष्य संबंध रखता है। इस इन्द्रियके अर्थात् उपयोग

करनेसे आत्मका बल कम होता है, शोचनको मर्यादा तथा प्राणकी शक्ति क्षीण होती है और समान उत्पन्न करनेकी शक्ति भी न्यून हो जाती है और ऐसे कामी पुण्यकी लोभी सन्तानें उत्पन्न होती हैं, वे भी शोच, बलहीन और बोन होते हैं। इस प्रकारकी आपत्ति न आए इसलिये कामका संयम करना आवश्यक है। संयमकी मर्यादा यह कि 'उत्तमार्थ तक कामका उपयोग लिया जाने कि अत्यधिक ऐतन्त्रिय अपनी आत्माकी शक्ति, प्राणकी शक्ति और प्रजनन शक्ति क्षीण न हो सके, इससे अधिक कामका भोग करनेसे हानि है।'

यद्यपि हमने यहाँ एक ही इन्द्रियको लक्ष्य करके संयमको महत्ता बताई है, पर अन्य इन्द्रियोंपर भी यही नियम लागू होता है। अन्य इन्द्रियोंका संयम भी उतना ही आवश्यक है, जितना अन्तर्द्वयका।

कामका यह साधन्य संपूर्ण जगत्में है। विशेषकर मानवो प्राणियोंमें हमें विचार करना है। इस राज्यमर्यादाके उपदेश देनेवाले इस सूत्रमें इस काम विषयके ये मंत्र रखे हैं और कामकी मर्यादा और उपयोगविधि भी बता दी है; इसका हेतु यह है कि राजा अपने राज्यमें ऐसा राज्यप्रबंध करे कि जिससे प्रजाजन काम विषयक धर्ममर्यादाका उल्लंघन न करें और अपने जलमा, प्राण और प्रजननकी शक्तिले दुर्बल हों और सब उत्तम शक्तिले स्वर्गलुप्त्य राज्यका धार्तर प्राप्ति करें। प्रजासे लिये हुए करका इस व्यवस्थाके लिये व्यय करना राजाका आवश्यक कर्तव्य है। करते ये कार्य होते हैं और प्रजा सुखी होगी है, इसीलिये (लोकसंमितिं । मं. ५, ५) 'प्रजाप्राप्त स्वीकृत और संमानित कर' ऐसा इसका विशेषण दिया है।

यह प्रजासे प्राप्त करका इन कारणोंके लिये उपयोग होता है, यहाँकी प्रजा सुखी और अमृत्यु तथा निःशेषसगी प्राप्त करनेवाली होगी है। वैदिकधर्मों ऐसा प्रबंध करें कि जिससे अपने देशमें, तथा अत्यान्व देशोंमें, इसी प्रकारके वैदिक आदर्शोंके प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष जानेवाले राज्य हों और कोई राज्य स्वराज्यके वैदिक आदर्शोंके दूर न रहे।



दुष्टोक्त नाश

कांड ८, सूक्त ३

(ऋषिः - वाल्मीकिः । देवता - यमिनिः ।)

रक्षोर्हणं वाजिनानां जिघर्षिं मिश्रं प्रथिष्ठमुप यामि शुभं विद्यानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिपः पातु नक्तम्	॥ १ ॥
अयोदंष्ट्रो अर्चिषां यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः । आ जिहया मूर्देवात्रभस्व क्रव्यादां वृष्ट्वापि धस्वासन्	॥ २ ॥
उभोर्मयाविष्णुषे धेहि दंष्ट्रो हिंस्रः शिश्रानोऽर्वरं परं च । उतान्तरिक्षे परिं यास्ये जम्भैः सं वैश्रामि यातुधानान्	॥ ३ ॥
अग्ने त्वचं यातुधानस्य मिन्धि हिंसाशनिर्हरसा हन्त्वेनम् । प्र पर्वाणि जातवेदः शृष्याहि क्रव्यात्क्रविष्णुषि विनोत्वेनम्	॥ ४ ॥

अर्थ— (रक्षो-हणं वाजिनं प्रथिष्ठं मिश्रं वा जिघर्षिं) राजशोका नाम करनेवाले बलवान् प्रसिद्ध मिश्रको सं प्रकाशित करता हूँ और उसके (शर्म उपयामि) मुझ प्राण करता हूँ । (सः शत्रुभिः समिद्धः) यह पतंगी प्रवीण हुआ (शिश्रानः अग्निः) शीघ्र यमिनि (नः दिवा नक्तं रिपः पातुः) हूँ किन् रात शत्रुगोति बचाये ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) जातवेद अपने । (समिद्धः अयोदंष्ट्रः) प्रवीण होकर सोहेको शर्मित मुझ होकर (अर्चिषा यातु-धानान् उपस्पृश) अपने प्रकाशसे यातना देनेवालोंको अन्ना । तथा (मूर्देवान् जिहया धस्वासन्) मूर्द्धनिषोको अपनी जिह्वासे ब्याससे ठीक करना आरंभ कर । (वृष्ट्वा) बलवान् होकर (आसन् अपि धस्व) परत जानेवाले हिनकोंको अपने मुँहमें शक्त ॥ २ ॥

हे (उभयायिन् जम्भै) दोनोंको जानेनेवाले अपने । तु (हिंस्रः शिश्रानः) शत्रुगोति हित करनेवाला होकर और सोदग बन कर (अर्चं परं च उभौ) निहृष्ट और उत्कृष्ट दोनों प्रकारके शत्रुगोति अपने (दंष्ट्री उपधेहि) शर्मित रख, (उत अन्तरिक्षे परियाहि) और अन्तरिक्षमें हूँ संवार कर और वहहि (जम्भैः यातु-धानान् अमि-सेधेहि) अपने कपडोंसे यातना देनेवाले शत्रुगोति पराई कर ॥ ३ ॥

हे अपने ! (यातुधानस्य त्वचं मिन्धि) बण्ट देनेवालेकी त्वचाको छिन्नमिन्न कर । (हिंसा-शनिः हरसा यमं हन्तु) हिनक विष्णु देनेसे इतना नाश कर । हे (जातवेदः) जातवेद ! शत्रुके (पर्वाणि शृष्याहि) पर्वाको काट । (क्रविष्णुः क्रव्यात् यम विचिनोतु) मातमलक कर शत्रुको इत बुराको बुरा बुरा कर वा मार ॥ ४ ॥

भावार्थ— दुष्टोक्त नाम करनेवाला बलवान् प्रसिद्ध हिनकर्ता यदा प्रयासनीय है । इतने मुझ प्राण होता है । यह बलम प्रकाश बर्ण करनेवाला, शीघ्र अपनी उम्र प्रयास करके हूँ किन् रात शत्रुगोति बचाये ॥ १ ॥

शत्रुको अपने सेजसे दुष्टोको निबल करे, मूर्द्धोको अपने जिह्वासे उपधेयोंसे लुभारे । मातमलक शत्रुको करताते निवृत्त करे ॥ २ ॥

शत्रुको जानेनेवाला श्रेय ब्रह्मवान् और निबल हिनकोंको अपने कान्धमें रखे । तब स्वावपर संवार करके कप्ट देनेवाले दुष्टोको बचाये ॥ ३ ॥

दुष्टोको पीट कर उनकी शर्मको छिन्नमिन्न कर दे । शत्रुकोके अपायसे दुष्टोका नाश हो । दुष्टोके शत्रुकोके काट दे । मातमलक हिनक और शत्रुको बुरा बुरा बुरा कर दे ॥ ४ ॥

यश्रेदानीं पश्यति जातवेददुस्तिष्ठन्तमग्र उत वा चरन्तम् ।	
उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुभानुं तमस्तां विध्य शर्वा शिशानः ॥ ५ ॥	॥ ५ ॥
यस्यैरिषूः सुनममानो अग्रे वाचा शब्धौ अशनिभिर्दिहानः ।	
रामिर्विध्य हृदये यातुधानान्प्रतीचो वाहून्प्रति भृहभ्येषाम् ॥ ६ ॥	॥ ६ ॥
उतारब्धान्स्पृशहि जातवेद उतारंभाणो ऋष्टिर्भिर्यातुधानान् ।	
अग्रे पूर्वो नि जंङ्घि शोशुचान आमादुः श्विङ्कास्तमदुन्देनीः ॥ ७ ॥	॥ ७ ॥
इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्रे यातुधानो य इदं कृणोति ।	
उमा रमस्य समिधा यविष्ट नृचक्षुषे रन्धयै नम् ॥ ८ ॥	॥ ८ ॥
तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यत्नं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः ।	
हिंसं रक्षांस्यग्नि शोशुचानं मा त्वा दभन्यातुधानां नृचक्षुः ॥ ९ ॥	॥ ९ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) शानी अग्ने ! तू (यत्र इदानीं) जहाँ अब (तिष्ठन्तं चरन्तं उत अन्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं पदपक्षि) लगे हुए, भ्रमण करनेवाले और अन्तरिक्षमें सांचार करनेवाले यातना देनेवाले बुद्धको देखता है, यहाँ (शिशानः अस्ता शर्वा) तीक्ष्ण दाहक फेंकनेवाला वायुहिसक तू (तं विध्य) उस शत्रुका वेष कर ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (यशैः) साक्षुषोदारा बधता हुआ (इषूः सुनममानः) अपने पाशोंको ठीक करके (वाचा) वाणीसे उपदेश करता हुआ (शब्धौ शरानीभिः दिहानः) शर्योंको विक्रमिती तीक्ष्ण करता हुआ (रामिः प्रतीचः) यातुधानान् हृदये विध्य) उनसे शत्रुके समूह हीकर उन बुद्धके हृदयको वेष करके (एयां वाहून् प्रति भंभिध) इनके बाहुओंको सोड बाल ॥ ६ ॥

हे जातवेद ! (उत आरब्धान् उत आरेभणान्) साक्षयका आरंभ करनेवाले और जिये हुए लोगोंको (ऋष्टिभिः स्पृशहि) शस्त्रोंसे लुरकित रख । हे अग्ने ! (यातुधानान् पुर्यः शोशुचानः निजाहि) बुद्धोंको सबसे प्रथम प्रकाशित हीकर मत्त कर । (आमादुः पनीः श्विङ्काः एनं अदग्नु) मातृभूमिवाले शत्रु पक्षी इनको लरा जावे ॥ ७ ॥

हे अग्ने ! (यः यातुधानः इदं कृणोति) जो बुद्ध यह बुद्ध कर्ष्य करता है (यतमः सः इह प्रब्रूहि) यह मीन है, यह यहाँ ब्रूहे । (तं आरभस्य) उसको बन्ध देना आरंभ कर । (तं समिधा आरभस्य) उसको लकड़ियोंसे जलाना आरंभ कर । (नृचक्षुषः चक्षुषे एनं रन्धय) मनुष्योंके हितकी बुद्धिसे इस बुद्धका नाश कर ॥ ८ ॥

हे अग्ने ! (तीक्ष्णेन चक्षुषा प्राञ्चं यत्नं रक्ष) तू अपने तीक्ष्ण भौवसे वेष्ट पक्षी रक्षा कर । हे (प्र-चेतः) शानी ! तू (वसुभ्यः प्रथय) वसुओंके लिये उत्तरो से दा । (नु-चक्षुः) लोगोंके निरोधक । (हिंसं रक्षांसि आग्नि शोशुचानं) हिसकको और शस्त्रोंको लपानेवाले (त्वा) तुमको (यातुधानां म्भृदम्) यातना देनेवाले न बधवे ॥ ९ ॥

भाष्यार्थ— अहाँ बद्ध देनेवाले हिसक बुद्ध हूँ यहाँ उनको बधा विना जावे ॥ ५ ॥

साक्षुषोदारा बध, अग्ने शस्त्रास्त्र तैपार रख, वाणीसे उत्तम उपदेश कर, अपने शस्त्रोंको विक्रमिती तीक्ष्ण कर और उनसे शत्रुओंके हृदयोंका वेष कर, तथा उनके बाहुका छेदन कर ॥ ६ ॥

शुभ कर्ष्य करनेवालोंकी रक्षा अग्ने शस्त्रोंके कर । बुद्धोंका नाश कर । मातृ भूमिवाले पक्षी बुद्धोंका मातृ जावे ॥ ७ ॥

जो बुद्ध है उनकी बुद्धता यहाँ ब्रूहे, उनको बन्ध दे, जलताका हित करनेकी बुद्धिसे उनका नाश कर ॥ ८ ॥

यानी बुद्धिसे-शस्त्रोंसे-साक्षयका सांचाग कर और विवातकोंकी और उसे से बल । हिसकोंको अग्ने तैपार ह्यः और देता बर कि बुद्ध तुमसे न बधवे ॥ ९ ॥

नृचक्षा रक्षः परिं पश्य विक्षु तरय श्रीणि प्रति शृणीष्वग्रा ।
 तस्यसि पृष्ठीर्हरसा शृणोहि श्रेधा मूलं यातुधानस्य वृथ ॥ १० ॥
 त्रिर्षांतुधानः प्रसिंतिं त एतृत्त यो अंशे अनृतेन हन्ति ।
 तमूर्चिषा स्फूर्ध्वयंज्ञातवेदः सप्रक्षमेनं गृणते नि युद्गधि ॥ ११ ॥
 यदंशे अथ मिथुना शपातो यद्वाचस्तृधं जुनयन्त्व रेभाः ।
 मन्मोर्मनसः शर्ध्याई जापते या तथा विध्य हृदये यातुधानान् ॥ १२ ॥
 परां शृणीहि तर्पसा यातुधानान्परश्रि रक्षो हरसा शृणीहि ।
 पराचिषा मूर्देवान्शृणीहि परासुवृषः शोशुंचतः शृणीहि ॥ १३ ॥

अर्थ— हे जाने । तू (मृ-चक्षाः विक्षु रक्षः परिपश्य) मनुष्योंका निरोक्षण करते हुए सब दिशाओंमें राशियोंको घेस । (तस्य श्रीणि अग्रा प्रति शृणीहि) उसके तीनों अग्रभागोंका नाम कर । (तस्य पृष्ठीः हरसा शृणीहि) उसके पक्षियोंको अपने बलसे तोड़ । (यातुधानस्य मूलं श्रेधा वृथ) मालना देनेवालेकी पथ तीनों प्रकारोंसे बच बस ॥ १० ॥

हे जाने । (यः अनृतेन कृतं हन्ति) जो अक्षयसे सत्यका नाश करता है, यह (यातुधानः ते प्रसिंतिं धिः एतु) बुद्ध तेरे बध्नमें तीन प्रकारोंसे प्राप्त होवे । हे वातवेद ! (ते अर्चिषा स्फूर्ध्वयन्) उसकी ध्वने प्रकारसे प्रभावित करता हुआ तू (यन् समक्षं गृणते नि युद्गधि) उसकी ध्वने सामने ईश्वरुति करनेवालेके हितके लिये प्रति-बन्धमें रह ॥ ११ ॥

हे जाने ! (यत् अथ मिथुना शपाता) जो धान दोनों एक दूसरेको घाय बने हं, (यत् रेभाः वाचः सुष्ट जतयन्त) जो माओस करनेवाले काफीकी बहोरका प्रकाशित करते हं । (या मन्मोः मनसः शर्ध्या जापते) जो कोपी मनसे शस्त्रकी पूजा करता है (तथा यातुधानान् हृदये निधय) उसके बीरोंके हृदयोंको घेस जान ॥ १२ ॥

(यातुधानान् सपसा परा शृणीहि) धानना देनेवालोंको अपने तपसे दूर करके बच बर और हे जाने । (हरसा रक्षः परा शृणीहि) अपने बलसे उन्हें दूर करके उनका नाम कर । (मूर्देवान् अर्चिषा परा शृणीहि) मूर्धोंको अपने तेजसे दूर करके उनका नाम कर तथा (असुवृषः शोशुंचतः परा शृणीहि) दूसरोंके प्राणोंपर तुल्य होनेवाले तथा घोर देनेवाले दुष्टोंको भी दूर करके उनका नाम कर ॥ १३ ॥

भावार्थ— धनताकी रक्षा करनेके लिये तू सब दिशाओंमें दुष्टोंकी दृष्टि निवास । और उनकेतीनों प्रकारसे प्रशनोंका प्रतिबन्ध कर । दुष्टोंकी पीठ तोड़ और उनकी जड़ उखाड़ दे ॥ १० ॥

जो अक्षयसे सत्यको बहाला है उस दुष्टको बध्नमें डाल । अपने तेजसे उसको नि सत्य कर और ईश्वर भजनके सम्मुख उसका प्रतिबन्ध कर ॥ ११ ॥

जो बुद्ध धरतरकी घाय बने हं और माओस करके बहोर भाषण बोलने हं, उनके मरने बुद्ध भाषणों को घातक परिणाम होता है, उससे दुष्टोंके हृदय जल भावें ॥ १२ ॥

जो बुद्ध तोषोंकी बच बने हं उनकी ध्वने तप, बल और तेजसे दूर बर और उनका नाम कर । मूर्धोंको जगलना करनेवालोंको भी दूर बर । जो दूसरोंके प्राण लोकर तुल्य होते हं उनको बसाते हुए हटा दे ॥ १३ ॥

प्राय वेदा ऋजिनं मृणन्तु प्रस्यथेनं शुपथा यन्तु सुष्टाः ।

वाचास्तेनं शरव श्रच्छन्तु मर्मन्विश्वस्यैतु प्रसितिं यातुधानः

॥ १४ ॥

यः पौरुषेयेण ऋविषा समहृते यो अश्वेयं पशुना यातुधानः

यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृथ

॥ १५ ॥

विषं गवां यातुधानां भरन्तामा वृथन्तामदितये दुरेवाः ।

परैणान्देवः सविता ददातु परां भागमोषधीनां जयन्ताम्

॥ १६ ॥

संवत्सरीणं पर्य उस्त्रियांवास्तस्य माशींयातुधानो नृचक्षः ।

पीयूषमग्ने यतमस्तिर्हस्ताच्चं प्रत्यश्रेमुर्विषां विध्यु मर्मणि

॥ १७ ॥

सनादग्ने मृणसि यातुधानाञ्च त्वा रक्षीसि पृतनासु निग्युः ।

सहमूरान्तु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत देव्यायाः

॥ १८ ॥

अर्थ— (देवाः अथ ऋजिनं परा मृणन्तु) वेद आज पाप करनेवाले पापीको दूर करें । (सुष्टाः शपथा यन्तं प्रत्यक् यन्तु) भेरी हुई गालियां उनके प्रति यापत जाय । (वाचा स्तेनं मर्मन् शरवः श्रच्छन्तु) पापीके चोरके मर्मको धारण करते । (यातुधानः विश्वस्य प्रसितिं यतु) पातना देनेवाला दुष्ट राक्षके बन्धनमें लाय ॥ १४ ॥

(यः पौरुषेयेण ऋविषा समहृते) जो मनुष्यके मांसके अपने आपकी दुष्ट करता है और (यः यातुधानः अश्वेयं पशुना) जो दुष्ट शरव जाति पशुके मांसके अपने आपकी दुष्ट करता है, हे अग्ने ! (यः अघ्न्याया क्षीरं भरति) जो यापका दूध घृत कर ले जाता है (तेषां शीर्षाणि हरसापि वृथ) उनके तिरोंको अपने बलके तोड़ डाल ॥ १५ ॥

(यातुधानाः गवां विषं भरन्तां) जो दुष्ट गौओंको विष देते हैं और (दुरेवाः अदितये आवृथन्तां) जो दुष्ट गौको काडते हैं, (सविता देवः घनान् परा ददातु) सविता देव इनको दूर हटावे (ओषधीनां भागं परा जयन्तां) इनको औषधिपौधा भाग भी न दिया जावे ॥ १६ ॥

हे (नृ-चक्षः) मनुष्यके निरोक्षक ! (उस्त्रियायां संघात्सरीणं पयः) गायका वर्षभर डाल होनेवाला जो दूध है (तस्य यातुधानः मा आशीत्) उसका पात पातना देनेवाला दुष्ट न करे । हे अग्ने ! (यतमः पीयूषं तिहस्तात्) उनमेंसे जो दुष्ट दूधकरी मृतकी पीयेगा, (तं प्रत्यश्रे अर्चिया मर्मणि विध्यु) उसको सबके लंगूक अपने लेखने मर्षस्पर्शनमें वेध डाल ॥ १७ ॥

हे अग्ने ! तू (यातुधानान् सनात् मृणसि) पातना देनेवाले दुष्टोंका सवा नाश करता है । (रक्षीसि त्या पृतनासु न निग्युः) राक्षस तुमो दुष्टोंमें नहीं भोजन करके । (सहमूरान् क्रव्यादः अनुदह) मूत्रोंके साथ पात भस्मकोंको जला दे । (ते देव्यायाः हेत्या) वे तेरे विष्य गस्त्यावले (मा मुक्षत) दूष्ट न जाय ॥ १८ ॥

भाष्यार्थ— परा मनुष्योंको और पापको दूर किया जाय, जो हुई गालियां देनेवालेके पात वापत जाय । पापीसे चोरों करनेवालेके मर्मस्थान शरवसे काटे जाय । जनताको पातना देनेवालेको प्रतिबंधमें रखा जाय ॥ १४ ॥

मनुष्य और घोड़े आदि पशुका मांस खा कर जो दुष्ट अपना शरीर दुष्ट करता है और गायका दूध चोरी करके पीता है उसका तिर काट दे ॥ १५ ॥

जो दुष्ट मनुष्य गौको विष देते हैं और गौ काडते हैं, उनको सजावले हटाया जावे और इनको धान्यादिका आग जो न दिया जावे ॥ १६ ॥

हे मनुष्योंका हित करनेवाले ! गायका दूध दुष्ट मनुष्य न पीये । जो दुष्ट घृताकर पीयेगा उसको शारीरिक रक्ष दिया जावे ॥ १७ ॥

तू सवा दुष्टोंका नाश करता है, तुमने राक्षस पराभूत नहीं कर सकते । तू मांसभक्ष दूरीको जला, तेरे पापमें वे दुष्ट न हटें ॥ १८ ॥

त्वं नो अग्रे अधराद्भुक्तस्त्वं पश्चाद्भुत रक्षा पुरस्तात् ।
 प्रति त्वे तं अजरास्तपिष्ठा अचर्षसं शोष्ठ्यचतो दहन्तु ॥ १९ ॥
 पश्चात्पुरस्तादधराद्भुतोत्तरात्कविः काव्येन परि पाह्यमे ।
 सखा सखायमजरौ जरिम्णे अग्रे मर्ता असर्वस्त्वं नः ॥ २० ॥
 उदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शंफाकृजो येन पश्यसि यातुधानान् ।
 अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सस्यं पूर्यन्तमुचितं न्योषि ॥ २१ ॥
 परि त्वाम्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य घीमहि । घृष्यदूर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुराधतः ॥ २२ ॥
 विपेणं भङ्गुराधतः प्रति स्म रक्षसो जहि । अग्रे तिम्रमेन शोचिषा तपुंरप्राभिरुचिभिः ॥ २३ ॥
 वि ज्योतिषा बृहता मांस्यमिराविबिन्धानि कृणुते महित्वा ।
 प्रादेवीर्मायाः संहते दुरेवाः शिशोतिं दृङ्के रक्षोभ्यो विनिह्ये ॥ २४ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (त्वं नः अधरात् उदग्नेः पश्चात् उत पुरस्तात् रक्ष) तू हमारी नीचे ऊपर पीछे और आगेसे रक्षा कर । (ते त्वे शोष्ठ्यचतः अजरास्तः तपिष्ठाः) वे सब तेमन्त्री, मन्त्री हीकर तपानेवाले (अचर्षसं प्रति दहन्तु) पापीको जला देवे ॥ १९ ॥

हे अग्ने ! तू (कविः काव्येन) कवि है अतः अपने काव्यसे (पश्चात् पुरस्तात् अधरात् उत उत्तरात् परिपाहि) पीछेसे आगेसे नीचेसे और ऊपरसे सब रीतिसे रक्षा कर । (त्वं सखा सखायं) तू मित्र है अतः मुझ जैसे मित्रकी, (अजरः जरिम्णे) तू जरापरहित है अतः मुझ जरापरतकी और (अमरः मर्यान् नः परिपाहि) तू अमर है अतः हम मरनेवालोंको रक्षा कर ॥ २० ॥

अग्ने ! (येन शफा-रजः यातुधानान् पश्यसि) जिससे तू छातोंद्वारा डोकड़ें लगानेवाले कुप्योंका निरीक्षण करता है, (तत् चक्षुः रेभे प्रतिधेहि) उत नगरको तू नीचे मजानेवालेपर रख । (अथर्व-वत् दैव्येन ज्योतिषा) अद्विक्त विप्र तेजसे (सस्यं अचितं धूर्यन्तं) तब अनेक मांस करनेवालेको (नि ज्योष) जला दे ॥ २१ ॥

हे अग्ने ! हे (सहस्य) बलवन् ! (वयं) हम सब (विप्रं पुरं) शानी और पूर्णता करनेवाले, (घृष्यदूर्णं) पर्यन्त करनेवाले और (भङ्गुराधतः हन्तारं) विनाशकोंका नाश करनेवाले, (त्वा दिवे दिवे परिधीमहि) तेरा प्रतिबिन् ध्यान करते हैं ॥ २२ ॥

हे अग्ने ! (तिम्रमेन शोचिषा) तीव्रतेजसे पुनः (तपुः अग्राभिः अर्चिभिः) तपानेवाले तेजकी शक्तिसे (विपेणं भङ्गुराधतः रक्षसः प्रति जाहि स्म) विपसे नाश करनेवाले राजसोंका नाश कर ॥ २३ ॥

(अग्निः बृहता ज्योतिषा विभाति) अग्नि बिलेब तेजसे प्रकाशता है । (मदिरेऽ विन्धानि व्याधिः कृणुते) अपने सामर्थ्यसे सब जपतुको प्रकट करता है । (प्रादेवीः दुरेवाः मायाः प्रसहते) राजसोंके दुःखदायक कपट प्रातोंकी जोतता है । (अग्रे रक्षोभ्यः विनिह्ये शिशोतिं) अपने शीनों सीतोंको राजसोंका नाश करनेसे तिम्रे तीव्रता करता है ॥ २४ ॥

भाषार्थ— तू सब ओरसे हमारी रक्षा कर । तेजस्वी लोग पापियोंको बन्ध देवें ॥ १९ ॥
 तू कवि, मित्र, जरापरहित और अमर है अतः तू हमारी रक्षा कर । हम तेरे मित्र बनना चाहते हैं । हम जरापरत होते हैं और भुपुते भी प्रातः हैं अतः तू हमारी सहायता कर ॥ २० ॥
 जो बृहत् छातों मारकर हमारे शरीर तोड़ते हैं तथा जो हमारे विरुद्ध क्रोमाहम मचाते हैं उनको तू जला दे । तू अपने तेजसे हमारा नाश करनेवालेका नाश कर ॥ २१ ॥
 शानी, मनोकामता पूर्ण करनेवाले, मनुष्या पर्यन्त करनेवाले, कुप्योंका नाश करनेवाले दुःख बलवान् देवता हम सब प्रतिबिन् ध्यान करते हैं ॥ २२ ॥
 विष देकर जपतुमें नाश करनेवाले कुप्योंका नाश तू अपने तीव्र और जप तेजसे कर ॥ २३ ॥
 अग्नि बिलेब तेजसे प्रकाशता है और अपने सामर्थ्यसे जपतुको प्रकटित करता है । राजसोंके कपट नाश करके उनके पापसे तिम्रे जपने से तीव्र तीव्रता करता है ॥ २४ ॥

ये ते शुक्लं अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंसिते ।

ताभ्यां दुर्हर्दिमभिदासन्ते किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्षिणा जातवेदो वि निक्ष्व

॥ २५ ॥

अग्नी रक्षीसि सेधति शुक्रशोचिरमर्षः । शुचिः पावक ईद्व्यः

॥ २६ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) वेद ! (ये ते अजरे तिग्म-हेती) जो तेरे तीक्ष्ण हृषियारके समान (ब्रह्मसंसिते श्रेयो) सामने तीक्ष्ण किये हुए सौम्य है, हे जातवेद ! (ताभ्यां) उन दोनों सौम्य और (अर्षिणा) अपने तेजसे (दुर्हर्दिं किमीदिनं अभिदासन्ते) हुए हृष्य, भूलो और दूसरेका नाश करनेवाले बुद्धका (प्रत्यञ्चं वि निक्ष्व) सामनेसे नाश कर ॥ २५ ॥

(शुक्रशोचिः अमर्षः) बुद्ध प्रकाशवाला अमर्ष (शुचिः पावकः ईद्व्यः) पवित्र, शुद्धता करनेवाला हृद्यमग्नि (रक्षीसि सेधति) राक्षसोंका नाश करता है ॥ २६ ॥

भाषार्थ— तेरे सौम्य तीक्ष्ण हृषियार वंशे हूँ और वे सामने तीक्ष्ण हुए हैं, उनमें और अपने तेजसे बुद्ध हृष्यवाले पातकी शयुका नाश कर ॥ २५ ॥

शुद्ध, तेजस्वी, अमर्ष, पवित्र, शुद्धता करनेवाला प्रधातनीय अग्नि राक्षसोंका नाश करनेवाला है ॥ २६ ॥

बुद्धोंका नाश

दुष्टोंके लक्षण

इस मूलमें बुद्ध मनुष्योंके नाश करनेका विषय है। अतः बुद्ध लोग हैं डाका पहिले निश्चय करना चाहिये। अतः वेदमें इस शुक्तमें बुद्धोंके लक्षण कहे हैं, देखिये—

१ दुर्हर्दिः (दु + हृदः)— बुद्ध हृष्यवाला, जिसके अन्त करणमें बुद्ध बिचार रहते हैं, जो बुद्ध भाव मनमें धारण करता है, जो हृष्यमें धारणवाली कल्पनाओंको धारण करता है। (म. २५)

२ रक्षः, राक्षसः (रक्षति)— जो रक्षण करनेका अर्थ प्रकट करके घात करता है। जो बाहरसे रक्षा करनेका अर्थ रखकर अन्तरसे उतारा नाश करता रहता है। (मं. ९)

३ अन्तु-तुद्- जो दूसरोंके प्राणोंकी अग्नि लेकर मूल होता है, जो दूसरोंका नाश करके अपना स्वार्थसाधन करता है, जो दूसरोंका घात करके अपनी पुष्टि करता है। (१३)

४ धूर्ध्व- जो दूसरोंका घात और नाश करता है। (२१)

५ भंगुराघृत्- जो दूसरोंका सत्यानाश करता है। (२२)

६ अभिदासन्- जो दूसरोंका अर्थ करता है, दूसरोंको अपनेमें आलस्य है, दूसरोंको युष्मत् बवाता है, दूसरोंको

घातमें अपने रखकर स्वयं अपने भोग वडाता है, जो दूसरोंको नाश बनाता है। (२५)

७ द्विसः (३) श्रावः (१४)— जो हिंसा करता है, घातपात करता है। दूसरोंका नाश करता है।

८ शपा-रज्- अपने घातके प्रहारोंसे जो दूसरोंको मारता है, दूसरोंके अणुयुक्त जालोंमें मारते तोड़ देता है।

९ रियः— द्विसक, घातपात करनेवाला, जो दूसरोंका बिपन्न करता है। (१)

१० क्रन्यात् (२), मविष्णुः, आम्नाद् (४)— जो मास घाता है, जो बन्धा मास घाता है, जो रक्त पीता है, जो दूसरोंके जीवनपर जीवित रहता है।

११ यः पीरयेषेण मद्वेन क्रविषा, यः पद्मना समन्तो— जो मनुष्य, अथ और अणायु यगुओंके मालते अपना घातक पुष्ट करता है, जो अपने वेदके लिये दूसरोंके प्राण लेता है। (१५)

१२ दुरेयाः अदितये आनुञ्जन्तां— जो बुद्ध याचको काटता है अथवा बटवाता है। अ-दिति मर्यात् अहितनीय गीता भी जो कथ करता है। (१६)

१३ गवां दिव्यं भरन्तो— यौर्वोको जो विष देते हैं और विषसे घोका मथ करते हैं। (१६)

१४ किर्मीदिन्- (किं-इदानीं)- अब आज क्या सामे, कल उसका क्या किया और येद भरा, आज किमका क्या करके पेटपूर्ति करें इसका जो सवा विचार करते हैं। जो कभी दूसरोंका पात किये बिना नहीं रहते। (२५)

१५ पातुघानाः (पातु+घानाः)- यातका देनेवाले, दूसरोंको सतानेवाले, दूसरोंको पीडा देनेवाले। (२)

१६ दुरेवः- (दुः+एवः)- दुष्ट कार्यरत चतनेवाला, बुरे कार्यमें प्रवृत्त होकर दूसरोंको कष्ट देकर अपना मुच मजानेका प्रयत्न करनेवाला। (२४)

१७ अदेवीः मत्याः- (अ-दिव्याः प्रायाः)- जो बुराई और कष्ट करते हैं, जो धोखा देकर दूसरोंको छूटते हैं, धोखेबाजीसे अपना ऐश्वर्य बढ़ाते हैं। (२४)

१८ वृत्तिनः- जो पाप करता है, पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है। (१४)

१९ चाचास्तेनः (चाचा+स्तेनः)- जो पापीका धोर है, जिसका भाषण सत्य नहीं होता। जो एक बोलता है और दूसरा ही करता है, जो विनयात करने प्रयोग्य है। (१४)

२० मूरुदेवः, (२) सहमूरः (१८)- पातपात करनेवाला मूठ, अकुशलके साथ रहनेवाला, महाभूल, महापातकी, महाहितक। (२)

२१ मियुना पापातः- एक दूसरेको पातियां देते हैं, परस्पर बुरे जशोंके प्रयोग करते हैं। अपनाय बोलते हैं। (१२)

ये सब दुष्ट हैं। ये दुष्टोंके लक्षण हैं। इन लक्षणोंके विचारते श्रेष्ठ सम्जनोंके लक्षण भी जाने जा सकते हैं। जैसे ' जो दूसरोंका पातपात नहीं करते, जो कितोकी हित नहीं करते, जो अहिंसा भावसे बर्तते हैं, जो सवा सत्य बोलते हैं, कभी बपट नहीं करते, दूसरोंमें दुष्ट भाव पारण करते हैं, कभी कितोका पात करके अपना पेट भरना नहीं चाहते, अविश्व यथने प्रयत्नसे दूसरोंका मुच मजाना चाहते हैं, दुष्ट मनुष्योंके साथ कभी नहीं रहते, पापसे कभी बुरे पाप नहीं उपाकरते, जो पाप कर्ममें प्रवृत्त नहीं होते, जो माताभोजन नहीं करते, जो दूसरोंके पापघोट नहीं करने, जो दूसरोंको दासभावसे घृष्टानेके लिये प्रयत्न करते हैं, जो दूसरोंको रक्षा करते हैं। ' जो ऐसा मूठ सदाचार रखते हैं वे सम्जन बड़े जाते हैं। इन सम्जनोंकी पूर्वोक्त दुष्ट दुर्जन सब बपट देते हैं, अतः दुष्टोंको बुरे करना धर्म होता है। सम्जनोंका परित्राण करना, दुष्ट दुर्जनोंका नाश करना और धर्मको स्थापना

स्थापित करना यह सब श्रेष्ठ पुण्योंका कर्तव्य है। जो यह कर्तव्य करेंगे वे ही जाबरसे मोक्ष प्राप्त हें। यही मनुष्यका धर्म है, अतः इस सूक्त द्वारा कहा है कि इन दुष्टोंका नाश करना चाहिये। नाश करनेका भाव यह है कि उनका दुष्ट भाव दूर करना, उनके स्वभावका सुधार करना, उनको दुष्ट व्यवहारसे निवृत्त करना, उनको सपात या राष्टसे अधिकृत करना और इतनेसे भी कार्य सिद्ध न हो, तो उनका नाश करना। इन दुष्टोंका नाश करनेवाला कैसा हो, इस विषयमें कहा है—

दुष्टोंका नाश करनेवाला कैसा हो ?

पूर्वागत विवरणमें दुष्टोंके लक्षण बड़े हैं, इन लक्षणोंके दुष्टोंको पहचान हो सकती है। इन लक्षणोंके दुष्टोंका नाश होनेके पश्चात् उनका नाश करनेका कार्य कौन करे, इसका विचार करना चाहिये। हरेक मनुष्य दुष्टोंके नाश करनेके कार्यका अधिकारी नहीं है, यह कार्य विशेष जिम्मेवारीका है, अतः यह कार्य विशेष साधपानतासे होना चाहिये और विशेष योग्यतावाले मनुष्यके जाघीन यह कार्य रहना चाहिये। इस विषयके निम्न इस सूक्तमें हैं, उनका अर्थ मर्यादित विचार करते हैं—

१ मिश्रः (मं. १), सखा (मं. २०)- जो तब मनुष्योंके निश्रताका बर्तव्य करता है, जो सखा (सखा अर्थात् हित चाहनेवाला है। जनताका हित करनेमें जो उत्तर रहता है।

२ विप्रः (मं. २२), कविः (मं. २०)- जो विशेष शक्त धर्मात् भोजी है, जो कवि है अर्थात् ज्ञानदर्शी है, जो बुरद्विषयवाला है, जो महाराईते हरदृढ बहादुर विचार कर सकता है, जो विश्व दुष्टोंके साथ सब बानोंपर भागेपीठे विचार करनेमें क्षम है।

३ जातयेदः (जातयेदः)- जो ज्ञानी है, जिसने सम्पन्न उत्तम प्रकरणसे पूर्ण किया है, जो बहुयत्न और वेद-साधन हैं, जिसके अंदर ज्ञानकी दृष्टि उत्पन्न हुई है। (मं. ३)

४ अघर्षेयत् द्विष्यन्प्योतिः (मं. २१)- जो (अ-धर्म) अणुधर्म विषयत्रय योगीके समान विषय तेजसे दुष्ट है, जिसने योगसाधनादि द्वारा अपना पत विचार किया है, जो अणुधर्म ब्रुतिवाला नहीं है, जो मानि और संकीरतासे सब बालोंका विचार कर सकता है और जीवता करके जो कार्यसे विचारता नहीं है।

५ दुष्टरारोचिः, दुष्टिः, पादकः (मं. २१)- जो अविश्व लेखके दुष्ट, हर्ष आशाके दुष्ट और एविश्वता करने-

वाला है, जो स्वयं पवित्र विचार, पवित्र उच्चार और पवित्र आचारसे युक्त है। जिसके मन, बुद्धि, चित्त, आदि अन्तरिन्द्रिय तथा बाह्य इंद्रिय पवित्र हैं और जो सदा शुद्ध व्यवहार ही करता है—

६ इन्द्रियः (मं. २९), प्रविष्टः (मं. १)- पूर्वोक्त कारणसे जो प्रशंसनीय है, स्तुति करने योग्य है, सब लोग जिसके पवित्र आचारकी प्रशंसा करते हैं।

७ याज्ञी (मं. १), स्वहृद्यः (मं. २२) जो बलवान् है, कर्तव्यका निश्चय करके जो निश्चयपूर्वक अपने बलसे उसको निभाता है, जो प्रतिपक्षीको परास्त कर सकता है, जो अपने बलसे अपने कर्तव्य कर सकता है।

८ दृष्टा संशितः (मं. २५)- ज्ञानसे तीव्र, ज्ञानसे तेजस्वी, ज्ञानसे सुसंस्कृत, ज्ञानसे प्रशंसा युक्त बना हुआ।

९ अजरः, अमर्त्यः (मं. २०)- अजरहित और मरु-रहित बना हुआ, क्षीण न होनेवाला और मरुसे न दूरेनेवाला, वेदोंके समान जरामृत्युको दूर रखनेवाला, विष्वजीवन युक्त।

१० प्रभूमिः समिद्धः (मं. १)- विविध सत्कर्मोंसे प्रदीप्त हुआ हुआ, स्पष्ट प्रशस्ततम कर्मोंसे प्रकाशित, सत्यमय, प्रशंसनीय उत्तम कर्म करनेवाला, जिससे उत्तम कर्म ही होते हैं।

११ विश्रानः (मं. १)- तोषण, तेजस्वी।

१२ शर्वा (मं. ५)- शत्रुओंका नाश करनेवाला।

१३ प्रतीच्यः (मं. ९)- दुष्टोंका सतना करनेवाला, शत्रुओंके सम्मुख खड़ा होकर उनका प्रतिकार करनेवाला।

१४ भंगुराघतः इन्ता (मं. २२)- घातकोंका नाश करनेवाला।

१५ रक्षोहा (मं. १)- राक्षसों, कूरुषं करनेवालोंका नाश करनेवाला।

१६ क्रवादाः अपिघार्य (मं. २)- मांसभक्षकोंको, दूतकोंको शीकनोंपर अपनी घुट्टि करनेवालोंको बर्षानेवाला।

१७ अर्विया यातुघानाम् उपस्थ (मं. २)- अपने लेकसे यातना देनेवालोंका नाश करनेवाला।

१८ दिवा नक्तं रिपः पातु (मं. १)- दिन रात यातकोंसे सज्जनोंको रक्षा करनेवाला,

१९ अग्निः यातुघानान् संधेहि (मं. ३)- हविषारोंसे दुष्टोंको दण्ड देनेवाला।

इस प्रकार दुष्टोंका नाश करनेवाला शत्रु, शान्त, सम-बुद्धि रखनेवाला, संभार, विचारवान्, जनताका हित करनेवाला, पवित्र विचारवाला और सुयोग्य पुरुष होना चाहिये। हर एक मनुष्य यह पवित्र कार्य कर नहीं सकता। जिसके कभी अन्याय होनेकी संभावना नहीं होती, ऐसे सज्जनोंके आधीन यह अधिकार होना चाहिये। जब कभी न्यायाधीन सपना दण्डविचार करनेके कार्योंके लिये किसी मनुष्यको नियुक्त करना हो, तो उस स्थानके लिये इन गुणोंसे युक्त पुरुष ही नियुक्त किया जावे। और इन गुणोंसे युक्त मनुष्य ही उस स्थान पर जाकर कार्य करे। इस बुद्धिसे इस सूक्तके मंत्र बड़े उपयोगी हैं। ऐसे सार्विक पुरुषसे कभी अन्याय नहीं होगा, जो योग्य होगा, वही कार्य वह करेगा और सब मनुष्योंकी इसके कार्योंसे संतोष होगा।

इन दुष्टोंकी तो दण्ड देना योग्य है, उन दुष्टोंके विविध प्रकार भी इस सूक्तमें लिखे हैं, जो इन मंत्रोंमें स्पष्ट लिखे हैं, तथापि सुयोधताके लिये उनका यहाँ बर्णन करते हैं—

दण्डका विधान

इस सम्पत्तक जो विवरण दिया गया, उससे दुष्टोंके सक्षम और दुष्टोंको दण्ड देनेवालोंके सक्षण शांत हुए। दुष्टोंको दण्ड देनेवालोंके सक्षणोंमें भी अन्तिम कुछ सक्षण ऐसे हैं कि जिनसे दण्डविधानका भी पता चल सकता है। अब इसी दण्ड विधानका अधिक विचार करते हैं—

१ रक्षो-हा- इस शब्दसे राक्षसोंकी 'घघ' दण्ड देना योग्य है यह सिद्ध होता है। 'हन्' धातुका रूपरा अर्थ 'माति' है। यह अर्थ लिया जाय तो राक्षसोंको सपने स्थानसे भगा देना अर्थात् 'वेधसे दिकान देना' यह अर्थ होगा। 'रक्षन्' (रक्षन्ति यस्मान् इति रक्षः) शब्दका अर्थ है जिससे सुरक्षित रहनेकी आवश्यकता होती है, जिससे जनताका पक्षाय किया जाता है। ऐसे दुष्टोंको ऐसे स्थानमें रक्षना और उनपर ऐसा बहुर विधान चाहिए कि वे दुष्ट ब्रह्मणोंकी यातना न दे सकें, आदि धोष इससे प्राप्त होता है (मं. १)

२ अयोर्दृष्टु- कोहेकी घाटे। इस मंत्रमें दुष्टको रख कर उसका नाश करना। ऊपरसे और नीचेसे कील घुसाकर दुष्टके शरीरको काटना। (मं. २)

३ क्रवादाः अपिघार्य- दूतोंके मांस पर अपने शरीर-को घुट्टि करनेवालोंको बंध करके रख, शीघ्र रख (स्थ आशाम्) अंते साध नराम् अपने मुखमें बंध रखा जाता है, जती प्रकार उन दुष्टोंकी रख। (मं. २)

४ अथरं पर च वंपुो उपघोह- दोनों प्रकारके कर्मिक और अथर शत्रुकी अपनी शक्तिमें बर रहा । अर्थात् उसको अथर अथर हिलाने म वे । (म ३)

५ यातुधानान् जमे संघेहि- यातना देनेवालोंपर जमकोंके समान शत्रुको साथ बड़ाई कर । शत्रुको उनका नाश कर । (म. ३)

६ यातुधानस्य त्वच भिन्धि- यातना देनेवाले दुष्टों की बमझी छिन्न विच्छिन्न कर । अर्थात् उनको इतना मार कि उनकी बमझी उपर जाय । (म. ४)

७ द्विज-अशनि एतं हरसा ह्यनु- द्विजक बिलकी इतका धप वेगसे करे । अर्थात् बिलकुतके प्रयोगसे इन दुष्टोंका धप किया जावे । (म. ४)

८ पर्वाणि प्रभृणीहि- दुष्ट जोहोंको काट दे । (म ४)

९ कविष्णु- श्रव्याद् एतं विचिनोतु- मांसभक्षक सिंह, व्याध्र थावि प्राणियोंके द्वारा दुष्टोंके शरीरोंको मूचवाया जाये (म. २)

१० यातुधानं विषय- यातना देनेवाले दुष्टको मार भाविते वेध डाल । (म. ५) इदये विषय- हृद्य पर मार मार । (म. ६)

११ एषां बाहू प्रतिभिधि- दुष्टोंके बाहु काट दे । (म. ६)

१२ यातुधानान् ऋषिभिः स्पृशुहि- यातना देनेवालोंका शस्त्रोंसे बध कर । (म. ७)

१३ यातुधानान् तिजहि- दुष्टोंको यातना देनेवालोंका नाश कर (आमाद्-पत्नीः भद्रन्तु) दुष्टोंका मांस खाकर अपनी पुष्टि करनेवालोंको वेध छा जामे । (म ७)

१४ रक्ष प्रति भृणीहि- राक्षसोंका नाश कर । (म १०)

१५ पृथी- हरसा भृणीहि- दुष्टोंको पसलियां वेधने लोच दे । (यातुधानस्य मूल बुद्ध) यातना देनेवाले दुष्टको काट काट डाल । (म. १०)

१६ यातुधान नियुद्भि- यातना देनेवालोंको कारा गुप्तमें रखा । (मं. ११)

१७ यातुधानान् हृद्ये विषय- यातना देनेवाले दुष्टोंके हृद्यमें वेध कर । (मं १२)

१८ मनुमृप पराभृणीहि- दुष्टोंके प्राणोंको लेकर अपने कृति करनेवाले दुष्टोंका नाश कर । उनको डूब करके उनका नाश कर । (म. १३)

१९ मर्मन् श्रच्छुगु- दुष्टोंके मर्मस्थान काटे जाय । (म. १४)

२० यातुधानः प्रसिति एतु- दुष्ट मयमत्वात्- कारागार-की प्राप्ति होवे । अर्थात् दुष्टोंको कारागृहमें रखा जावे । (मं. १४)

२१ तेषां शीर्षाणि लुब्ध- दुष्टोंके सिर काटे जाये । (मं. १५)

२२ यातुधानः उस्त्रिपाया- संघत्सरीणं पयः माशीत्- दुष्टोंको यातना दूध एक वर्तक पीनेको न दिया जावे । एक वर्तक यातना दूध पीनेकी न देना, यह भी एक दृष्ट है । आजकल तो जो भैरव ही दूध पीते हैं, वे भी यह दृष्ट स्वभावतः भोग ही रहे हैं, क्योंकि यातना दूध बहुतोंको प्राप्त ही नहीं होता है । आजकल कंबियोंको भैरव ही दूध दिया जाये तो उनको कुछ भी बुरा प्रतीत नहीं होगा । परंतु वैदिक कालमें यातना दूध पीनेके लिये न मिलना ही एक बृद्ध बात माना जाता था । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कारागृहवासी कंबियोंको भी यातना दूध पीनेकी शक्ति न मिलना होगा और जो विशेष प्रकारके बुद्ध लोग होंगे, उनको ही वर्धपरतक यातना दूध न देनेका दृष्ट होता होगा । इसीलिये आपने इसी मर्ममें कहा है कि- (यतम- पीर्युर्षु तितृप्साद् तं मर्मणि विषय)- जित दुष्टको यातना दूध न पीनेका दृष्ट होनेपर भी यदि वह घोर करके या अन्य दृष्टिते यातना दूध पीनेको चेष्टा करे तो, उसके पक्षे त्यागको वेध डाल । इससे स्पष्ट होता है कि विशेष प्रकारके घोर अत्याचारी कंबियोंको ही यातना दूध न पीनेका दृष्ट दिया जाता था और ऐसे कंबी यदि यातना दूध नियम पीकर पीते थे, तो उनको कठोर दृष्ट किया जाता था । (म १७)

२३ अधधोसं दृहन्तु- पापोंको जलाया जावे । यह दृष्ट दृष्ट है । यहाँ जलाकर बध करना है । (म. १९) यही भाव (धूर्चन्तं न्यौप) विनाश करनेवालेका दृष्ट कर, नाश कर अथवा कलाकर नाश कर इस आदेशमें है ।

२४ रक्षस- प्रतिजहि- दुष्ट राक्षसोंका नाश कर । (म. २१)

२५ दुर्हार्दि अभिवास्तन विनक्ष- दुष्ट हृद्यवाले और दुष्टरोंको दात बनानेवाले दुष्टका नाश कर । (म. २५) इस प्रकार विविध प्रकारके दुष्टोंका विधान इस सूक्तमें है । विविध प्रकारके अपराधोंके प्रमाणसे ये विविध दृष्ट देने पीय ही हैं । जो ज्ञानी और सभ्यत विद्वान् न्यायाधीश हीं, यही अपराधोंकी न्यूनाधिकताके अनुसार न्यूनाधिक दृष्ट दे सकते हैं । किंतु अपराधके सिद्ध कौयता दृष्ट देना भेद्य है, इसका विचार करनेके लिए ज्ञान और पशोर विभावनाला न्यायाधीश होना चाहिए ।



दुष्टनाशन सूक्त

कांड १, सूक्त २८

(श्रुतिः - घातनः । वेवता - रूहसामयन्म् ।)

उप प्रागदिवो अग्नी रक्षोहार्मिविचातनः । दहन्प इशविनां यातुधानान्किमीदिनः ॥ १ ॥	
प्रति दह यातुधानान्प्रति देव किमीदिनः । प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥	
या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे । या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमंतु सा ॥ ३ ॥	
एवमंतु यातुधानीः स्वसारमुत नप्यम् ।	
अथा मिथो विकेदयो इ वि मंतां यातुधान्यो इ वि तृहन्तामराय्यः ॥ ४ ॥	

अर्थ— (अग्नीच-घातनः) रोगोंको दूर करनेवाला और (रक्षोहा) राक्षसोंका नाश करनेवाला अग्निदेव (किमीदिनः) तबके भूषोंको (यातुधानान्) लुटेरोंको तथा (इशविनः) कपटियोंको (उप दहन्) जलाता हुआ (उप प्रयात्) पास आ पहुंचा है ॥ १ ॥

हे अग्निदेव ! (यातुधानान् प्रति दह) लुटेरोंको जलादे तथा (किमीदिनः प्रति) तबके भूषोंको भी जला दे । हे (कृष्णवर्तने) कृष्ण वर्णवाले अग्निदेव ! (प्रतीचीः यातुधान्यः) संयुक्त जानेवाली लुटेरी स्त्रियोंको भी (संदह) अजली तरह जला दे ॥ २ ॥

यह दुष्ट लुटेरी स्त्रियाँ (शपनेन शशाप) शपते शप बेती हैं, (या अघं मूरं आदधे) जो प्रारंभसे पाप ही करती हैं, (या रसस्य हरणाय) जो रस पीनेके लिये (जातं तोकं आरेभे) जन्मे हुए बालकको खाना खारंभ करती हैं और (सा अन्तु) यह पुत्र खाती है ॥ ३ ॥

(यातुधानीः) पापी स्त्री (पुत्रं अन्तु) पुत्र खाती है । (स्वसारं उत नप्यं) बहिनको तथा बालोंको खाती है । (अथ) और (विकेदयः) केश पकड़ पकड़ कर (मिथः मंतां), आपसमें सगदती हैं । (अराय्यः यातु-धानीः) दानभाव-रहित घातकी स्त्री (तृहन्तां) आपसमें मारपीट करती हैं ॥ ४ ॥

भाषार्थ— रोग दूर करनेमें सपर्य अर्थात् उत्तम वैद्य, वायुर भावको हत्यानेवाला, अग्निके समान सेतवयी, उपवेशक स्वर्षा लुटेरे तथा कपटियोंको दूर करता हुआ आगे चले ॥ १ ॥

हे उपवेशक ! तू लुटेरे स्वर्षा दुष्टोंका नाश कर तथा सापने जानेवाली दुष्ट स्त्रियोंको भी दुष्टता दूर कर दे ॥ २ ॥ इन दुष्टोंका सस्य यह है कि ये आपसमें गालियाँ देते रहते हैं, हरएक काम पाप भावसे करते हैं, यहाँतक ये क्रूर होते हैं कि रक्त पीनेको इच्छासे नये उत्पन्न बालकको ही घूँसना आरंभ कर देते हैं ॥ ३ ॥

इनकी स्त्री अपने पुत्रको भी खा जाती है, बहिन तथा नातीको भी खा जाती है, तथा एक दूसरेके बाल पकड़कर आपसमें ही लड़ती रहती हैं ॥ ४ ॥



दुष्टनाशन सूक्त

संस्कृतमें ' वि दुग्ध ' (विषेय प्रकारसे जला हुआ) यह शब्द ' अग्नि विद्वान् ' के लिये प्रयुक्त होता है । यहाँ अज्ञानका बहून जलन वाचि अर्थ समझना उचित है । वित्त प्रकार अग्नि सोहे आधिक्य तथा दण्ड करती है, उसी प्रकार उपवेशक द्वारा प्रेषित आध्यात्मिक अज्ञानकी मनुष्योंके

अज्ञानको जला देती है । इस कारण ' आद्वेष ' के लिये वेदमें ' अग्नि ' शब्द आता है । आद्वेष और अग्नि के वाच्य वेदमें ' अग्नि और इन्द्र ' शब्द प्रसिद्ध हैं । आद्वेषपर्यं अग्नि वेवताके और आश्रयमें इन्द्र वेवताके सुकर्तृति प्रकट होता है । इस सूक्तमें ' अग्नीच-घातनः ' (रोगोंको दूर करनेवाला)

यह शब्द विनोयण रूपमें आया है। यह वहाँ चिकित्सा द्वारा रोग दूर कर सकनेवाले उत्तम वैद्यका भी बोध कराता है। उपदेशाक्तो अंते शास्त्रमें प्रयोग होता चाहिये अंते ही उसे उत्तम वैद्य भी होना चाहिये। वैद्य होनेसे वह रोगियोंकी चिकित्सा करता हुआ धर्मका प्रचार कर सकता है।

दुर्जनोंके लक्षण

इस सूत्रमें दुर्जनके पूर्वकी अपेक्षा कुछ अधिक लक्षण कहे हैं, इसलिये उनका विचार यहाँ करते हैं—

१ दयाहितः- मनमें एक भाव और बाहर एक भाव, ऐसा कथ्य करनेवाले। (मं १) ' किमीदिन् यातुधान् ' इन शब्दोंका भाव सूत्र ७, ८ जो व्याख्याके प्रसंगमें बताया ही है। इस सूत्रमें दुर्जनके कई भ्रमहार बताये हैं, वे भी यहाँ दक्षिण—

२ श्रापनेन शशाप- आपसे श्राप देना, बुरे शब्द बोलना, गालियाँ देना इत्यादि। (मं ३)

३ अयं मूर्ध्नादधे- श्रादनमें पापका भाग रहना। हरएक कामका प्रारंभ पाप दृष्टिसे ही करना।

४ रसस्य हरणाय जातं तोकं आदेभे- रक्त पीनेके लिये नशजान्त बन्धेको सा जाती है।

५ यातुधानीं पुत्रं स्वप्नार नप्यं अक्षि- यह बृष्ट धासुरी स्त्री बच्चा, बहिन अथवा नातीको सा जाती है।

६ विकेदयाः मिथः विप्रतां, चित्तहान्तां- आपसमें केस पकड़ कर परस्पर सारपीठ करती हैं।

ये सब दुर्जन श्रेयोपुत्रोंके लक्षण हैं। बालबच्चोंको खानेवाले लोग इस समय व्योमकामें कई स्थानोंपर हैं, परंतु आप देसोंमें अब वे नहीं हैं। जहाँ कहीं ये हों, वहाँ धर्मोपदेशक आवे और उनको उपदेश देकर उत्तम मनुष्य बना देंगे, सानी बनाने, उनकी दुष्टता दूर करके इनको सज्जन बना देंगे।

ऐसे मनुष्य-भक्षक दृष्ट, क्रूर, हिंसक मनुष्योंमें भी आकर धर्मोपदेश देकर इनको सुधारनेका यत्न करनेका उपदेश होनेसे इससे कुछ सुधरे हुए किञ्चित् उपरकी जेगोके मनुष्योंमें धर्म कावृत्ति करनेका आशय स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है।

दुष्टोंका सुधार

दृष्ट लोगोंमें दुष्टता होनेके कारण ही वैश्वाम्य समाज

जाते हैं। उनकी दुष्टता उपदेश आवे द्वारा हटाकर उनकी सभ्य जनाता प्राप्तमान है और उनको बंध बेकर या बरा पनकार उनका सुधार करनेका यत्न करना क्षात्रमार्ग है। वेदमें अग्नि वेद्यतासे प्राप्तमार्ग और द्रव्य वेद्यतासे क्षात्रमार्ग बताया है। नकलते या तपाते तो दोनों ही हैं। परंतु एक उपदेश द्वारा उनके अज्ञानको अज्ञात है और दूसरा श्राप दण्ड और इसी प्रकारके कठोर उपदेशोंसे शीघ्र बेकर उनकी सुधारता है।

सुधार तो दोनोंसे होता है, परंतु धर्मियोंके बंध द्वारा तपाणेके उपदेशसे ब्राह्मणोंके ज्ञानाग्नि द्वारा तपाणेका उपाय अधिक उत्तम है और इसमें कष्ट भी कम है।

यहाँ अग्नि शब्दसे अज्ञानका ग्रहण करके उससे दुष्टोंको जलानेका भाव इस सूत्रका नहीं है, क्योंकि इस सूत्रका सभ्य आगोष्ठके अनेक सूत्रोंमें ही और अग्निके गुणोंके प्रमाण देकर शान्ति उपदेशक ही अग्नि शब्दसे ऐसे सूत्रोंमें अभीष्ट है। इसके अतिरिक्त ' रोप दूर करनेवाला अग्नि ' इस सूत्रमें कहा है यदि यह उन लोगोंको जला ही वेवे तो उनके रोगमुक्त करनेके गुणसे क्या लाभ हो सकता है। इसलिये यह अग्निका जलाना ' ज्ञानाग्निसे अज्ञानताका जलाना ' ही है। दृष्ट गुणधर्मोंको हटाना और बड़ा भेद्य गुणधर्म स्थापित करना ही यहाँ अभीष्ट है और इसीलिये रोगमुक्त करनेवाला उत्तम वैद्य ही धर्मोपदेशका कार्य करे यह सूत्रका इस सूत्रमें हमें मिलती है। क्योंकि रोमीके मन पर वैद्यके उपदेशका प्रेक्षा आता होता है, वैसा बन्धुके व्याख्यातसे शोताओंपर नहीं होता। रोमीका मन भासुर होता है इसलिये धर्म्य की हुई उत्तम बात उसके मनमें नष्ट जाती है और इस कारण वह शीघ्र ही सुधर जाता है।

[यहाँ तृतीय और चतुर्थ सत्रमें ' अन्तु ' शब्द है जिसका अर्थ ' खाद्य ' ऐसा होता है परंतु ' शशाप आदधे ' इन क्रियाओंके अन्तुसंपादने ' अन्तु ' के स्थानपर ' अक्षि ' मानना युक्त है। क्योंकि यहाँ यातुधानोंकी रीति बताई है अंते (शशाप) श्राप देते रहते हैं, (अयं आदधे) पाप स्वीकारते रहते हैं, (तोकं अक्षि) बन्धेको खाते रहते हैं अर्थात् यह इनकी रीति है। पूर्वपर संबंधसे यह अर्थ यहाँ समीप है ऐसा हमें प्रतीत होता है।]

शत्रुदमन

कांड ८, सूक्त ४

(अग्निः - मातृभूमि । देवता - इन्द्रासोमी)

इन्द्रासोमा तपतं रथं उज्जतं न्यर्पयत वृषणा तपोवृषः ।
 परा शणीतमचितो न्योर्पितं हतं नुदेथां नि विंशीतमृत्त्रिणाः ॥ १ ॥

इन्द्रासोमा समुषशंसमृष्यं धं तर्पुयस्तु चरुरीप्रिमां ह्व ।
 ब्रह्मद्विषं क्रुष्यादे धोरचक्षसे द्वेषो घत्तमनवायं किमीदिने ॥ २ ॥

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वप्रे अन्वरनारम्भणे तमसि प्र विष्यतम् ।
 यतो नैपां पुनरेकश्चनोदयत्तद्वामस्तु सहसि मन्वुमच्छर्वः ॥ ३ ॥

इन्द्रासोमा वषस्यतं द्विषो वधं सं पृथिन्या अघर्षसाय तईणम् ।
 उच्छतं स्वर्ष्यं पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृषानं निजूर्ध्वयः ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (वृषणा) वलयात् इन्द्र और सोम । (रक्षः तपतं) रक्षसोंकोताप दो, (उज्जतं) उनको भारो । (तपो-वृषः नि अर्पयतं) अणकार बडानेवालोंको नीचे गिरा दो । (अ-चितः परा शणीतं) अन्तःकरण रहित वृष्टोंका नाम करो, (नि औपतं, हतं,) उनका नाम करो, उनका वध करो । उनको (नुदेथां) निकाल दो, (अत्रिणः निशि-शीतं) दूतरोंको धानेवालोंको निबंल करो ॥ १ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (अग्निमान् चक्रः इय) आपपर छडे हुए हाथोंके सामान (अघर्षसां अर्थ अग्नि) पाप करनेवाले पापके समुल (तपुः सं ययस्तु) ताप-दुःख देते रहो । (ब्रह्मद्विषे क्रुष्यादे) शत्रुके घानु, मांसभक्षण, (धोरचक्षसे किमीदिने) क्रूर वृष्टिवाले वृष्टते (अनयायं द्वेषः घर्षं) निरन्तर द्वेष करो ॥ २ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (अन्वरनारम्भणे घये तमसि अन्तः) अणाय मावरण क्षणकारके बीचमें (दुष्कृतः प्रवि-धत्तं) दुष्कर्म करनेवालोंको वेष्टाओ, (यतः परां एकः चन) जिससे इनमेंसे एक भी दुबारा (न उय् अयत्) न उठ सके । इस प्रकारका (घां मन्वुमत् तत् शचः) तुम्हारा जलाहमृत वध वध (सहसे अस्तु) शत्रुदमनके लिये होये ॥ ३ ॥

हे इन्द्र और सोम ! आप दोनों (अत्त-शंसाय) पाप करनेवाले वृष्ट मनुष्यके लिये (द्विषः प्रीथिन्याः) शत्रुके और पृथ्वीलोकके बीचमें (तर्ह्यं वधं संवर्त्तयतं) विनाशक वध करनेवाले शत्रुको प्रवृत्त करो । (पर्वतेभ्यः स्वर्ष्यं उय् तक्षतं) पर्वतनिवासी शत्रुओंके लिये अतिशोषण शस्त्र तैय्यार रहो । (येन वावृषानं रक्षः निजूर्ध्वयः) जिससे वधनेवाले रक्षसोंका युग नाश कर सको ॥ ४ ॥

भावार्थ— वृष्टोंको वध दो, उनका ताडन करो, अज्ञान फैलानेवालोंको दूर हटा दो, वृष्ट हृष्यवालोंको समाजो बाहर निकाल दो, उनका वध भी करो, अपना उनको बाहर निकाल दो । जो दूतरोंको धाते हैं उनको निबंल मतलो ॥१॥ जो सवा पाप करता है उसको कठिन दण्ड दो । शत्रुका नाश करनेवाले, मांसभक्षण, क्रूर और हिनकति द्वेष करो ॥ २ ॥

मात्र अणकारवें रहनेवाले, दुष्कर्मियोंको वेष्ट डालो । धृष्टी व्यसथा करो कि इनमेंसे एक भी फिर कष्ट देनेके लिये न वध सके, तुम्हारा जलाहमृत वध अपने विजयके लिये ही लगे ॥ ३ ॥

पाप करनेवाले वृष्टकी निन्दा करो और वध करो । उनको दूर करनेके लिये अपने शस्त्र तैय्यार रहो । जिससे युग उनका नाश कर सको ॥ ४ ॥

इन्द्रासोमा वर्तयंत दिवस्पर्वमित्तोर्मिर्षुवमश्मइन्मभिः
 तपुर्वेषभिरजरेभिरत्त्रिणो नि पर्शानि विष्यतं यन्तु निस्वरम् ॥ ५ ॥

इन्द्रासोमा परिं वां भूतु विश्वतं इयं मतिः कृशपाश्वेन वाजिना ।
 यां वां होत्रां परिद्धिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपतीं हव जिन्वतम् ॥ ६ ॥

प्रतिं स्मरेथां तुजयद्विरेवैर्हृतं द्रुहो रक्षसो मङ्गरावतः ।
 इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूयो मां कदा विदमिदासति द्रुहुः ॥ ७ ॥

पो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अमृतेभिर्वचोभिः ।
 आप हव काशिना संगृमीता असंजस्वासत इन्द्र चक्षा ॥ ८ ॥

ये पाकशंसं विहरन्त एवैयं वां भद्रं दुषयन्ति स्वधाभिः ।
 अर्हये वा तान्प्रददात् सोम ओ वां दधातु निर्जितेरुपस्थे ॥ ९ ॥

अर्थ— हे इन्द्र और सोम ! (युवं) तुम दोनों (अत्रिततेभिः अदमइन्मभिः) अग्निमें तपे और कोलावते पने हुए (अजरेभिः तपुर्वेषभिः) क्षीण न होनेवाले और सतत देकर बंध करनेवाले ब्रह्मति (दिव्य, अत्रिणः पारिवर्तयतं) एलोकसे भोगे भोगोंको हटा दो और उनके (परशानि नि विष्यतं) कठिन स्थानमें उनका बंध करो, जितसे वे (निस्वरं यन्तु) शब्द न करते हुए मारा जाय ॥ ५ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (कृशपाश्वेन वाजिना इव) धीमे धनपट्टो पलवान् घोड़ोंसे संबन्धित होता है, वंते हो (इयं मतिः) वह हमारी बुद्धि (यां परि भूतु) तुम्हको सब प्रकार प्राप्त होवे । (यां होत्रां वां मेधया परिद्धिनोमि) इस साक्षात् करनेवाली वाणीको धारणो बुद्धिके साथ तुम्हारे प्रति प्रेरित करता हू, अतः तुम दोनों (नृपती इव) राजाओंके समान (ब्रह्माणि भा जिन्वतं) इन स्तुति वाक्योंको प्रेमसे स्वीकार करो ॥ ६ ॥

हे इन्द्र और सोम ! (तुजयद्विरेवैः प्रतिस्मरेथां) वेगवान् बाहनोंसे दुष्टोंके पतिका पीछा करो । (मंगु-रायताः द्रुहुः रक्षसः हृतं) विनाशक और शोहशील राजसोंका नाश करो । (य द्रुष्टः कदाचित् मा ममिदासति) जो दुष्ट मुझे कभी कष्ट पहुंचावे । (दुष्कृते सुग मा भूतु) उस दुष्कर्म करनेवालेको मुझसे पुनर्लोक अवकाश न हो ॥ ७ ॥

हे इन्द्र ! (पाकेन मनसा चरन्तं मा) परिपक्व मूठ मनसे धारण करनेवाले मुझसे (या अमृतैः वचोभिः अभिचष्टे) जो अत्यंत बचनोंसे शिथिलता है, (काशिता संगृमीताः माय, इव) मूठों द्वारा पचने जलने समान वह (असतः चक्षा) अत्यंत बचन बोलनेवाला (य-सन् अस्तु) न होनेके समान होवे ॥ ८ ॥

(ये एवैः पाकशंसं विहरन्ते) जो विलंब गति साधनोंसे परिपक्व बुद्धिवालेको विशेष प्रकारसे हराते हैं, (ये वा भद्रं स्वधाभिः दुषयन्ति) जो अपने मनुष्योंको अथेति दूषित करते हैं, (सोम या तान् महये प्रददात्) सोम उन दुष्टोंको तापके लिये सोम देवे अथवा (निर्जितेः उपस्थे या आदधातु) विनाशके समीप उनको पहुंचावे ॥ ९ ॥

भाषार्थ— अग्निमें तपे कर कोलावते बनाये अतितीव्र और प्रबुद्ध नाम करनेमें सपर्यं प्राप्तसे अपने हुए तपुर्वेषोंके बंध डालो, जितसे वे विना बिलकाये ही नाशको प्राप्त हों ॥ ५ ॥

तुम्हारे अन्दर यह विचार-सन्तुष्टा करनेका विचार स्थिर रहे, जितसे तुम प्रदीप्तको प्राप्त हो, जैसे बन्धननोंसे राजा लोक प्रशंसित होते हैं ॥ ६ ॥

वेगवान् बाहनोंमें बंधकर तपुर्वेषोंका पीछा करो । सब दुष्टोंको प्राप्त करके उनका नाश करो । दुष्ट कर्म करनेवाले तुम्हारे तपानमें मुझसे न भ्रमण कर सके और किसीको कष्ट न पहुंचावे ॥ ७ ॥

मूठ मनसे काम करनेवालेको जो बिना कारण मूठ मूठ पालिया देता है, वह अतप्यरवी जीवित न रहनेवालेके समान बन जावे ॥ ८ ॥

यो भो रसं दिप्सति पितृवो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम् ।

रिपुः स्तेन स्तेयकृद्भ्रमेतु नि प हीपतां तुन्वारे तना च ॥ १० ॥

पूरः सो अस्तु तुन्वाङ्के तनां च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विद्याः ।

प्रति शुष्यतु यथो अस्प देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥ ११ ॥

सुबिज्ञानं चिंक्रितुषे जनाय सञ्चासञ्च वचसी पस्पृधाते ।

तथोर्षस्सस्यं यैतरद्विजीमस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ १२ ॥

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।

हन्ति रक्षो हन्त्यासद्ददन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसिती शपाते ॥ १३ ॥

अर्थ— हे भाने ! (यः नः पितृवः रसं दिप्सति) जो हमारा हस्तके रसको बिनाइता है, (यः अश्वानां गवां यस्तनूनां) जो घोड़ों, गौओं और बकरे जरीरोंका नाश करता है, यह (स्तेयकृद् रिपुः स्तेनः) चोरी करनेवाला शत्रुको घोर (दक्षं प्तु) नाशको प्राप्त होवे । (सः तन्या तना च नि हीपतां) यह जरीरसे और पुत्राजितेहीन बने ॥ १० ॥

हे देवो ! (यः मा दिवा) जो मुझे दिनके समय (यः च नक्तं दिप्सति) और जो रात्रिके समय पोधा देता है, (सः तन्या तना च पूरः अस्तु) वह अपने शरीरके साथ और पुत्रके साथ दूर रहे, यह (विद्याः तिस्रः पृथिवीः अघः अस्तु) सभी तीनों भूविभागोंके नीचे रहे और (अस्प यशः प्रति शुष्यतु) इसका पक्ष मूल जाय ॥ ११ ॥

(चिंक्रितुषे जनाय सुबिज्ञानं) शान प्राप्त करनेवाले मनुष्यके लिये यह उत्तम ज्ञान कहा जाता है कि, (सत् च असत् च) सत्य और असत्यके (वचसी पस्पृधाते) भाषणोंमें स्वर्ण होती है । (तयो यत् सत्य) उनमें जो सत्य है और (यतरत् क्रजीय .) जो सरल है, (तात् इत् सोमः अवति) उसकी सोम रक्षा करता है और (असत् हन्ति) असत्यका विनाश करता है ॥ १२ ॥

(सोमः वृजिनं न वा उ हिनोति) सोम पापको कभी सहायता नहीं करता, (मिथुया धारयन्तं क्षत्रियं न) मिथ्या व्यवहार करनेवाले क्षत्रियको कभी सहायता नहीं करता । (रक्ष- हन्ति) यह राक्षसोंको मारता है, (असत् ददन्तं हन्ति) असत्य धोऊनेवालेको मारता है, य दोनों (इन्द्रस्य प्रसिती शपाते) इन्द्रके बचनमें रहते हैं ॥ १३ ॥

भाष्यार्थ— जो बुद्ध अपने अनेक साथियोंके सजनोंको सूते हैं, और अग्ने आरमियोंने अर्तोंका विनाश करते हैं, ये अपने पोष्य हैं ॥ १ ॥

जो अक्षरोंको बिगाड़ता है, मनुष्यों और पशुओंका घात करता है, चोरी करता है, वह अपने भातबच्चोंके साथ नाशको प्राप्त होवे ॥ १० ॥

जो बुद्ध दिन रात दूसरोंको धोखा देता है वह अपने माल अथवा धनके साथ नाशको प्राप्त होवे और उसका पक्ष कम होवे ॥ ११ ॥

सत्य लोगोंको यह सत्य ज्ञान कहा जाता है कि सत्य और असत्यको स्वर्ण इस जगत्में धन रही है । जो सत्य और जो सौधा है उसकी रक्षा परदेपर करता है और जो असत्य है उसका नाश करता है ॥ १२ ॥

जो पाप करता है, मिथ्या व्यवहार करता है, असत्य भाषण करता है और घात करता है उसको बचनमें ब्रह्मणा धारिये अवशर उसका वध करना चाहिये ॥ १३ ॥

यदि वाहमर्तुदेवो अस्मि मोषं वा देवो अंब्युहे अग्ने ।
 किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निःश्रेयं संचन्ताम् ॥ १४ ॥
 अथा मुंरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि धार्यस्तवपु पूरुषस्य ।
 अथा स वीरैर्दुर्गाभिविं यूया यो मा मोषं यातुधानेत्याह ॥ १५ ॥
 यो मापातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिःसमीत्याह ।
 इन्द्रस्तं हन्तु महता बुधेन विश्वस्य जन्तोरेधमस्पर्दीष्ट ॥ १६ ॥
 प्र या जिगाति स्वर्गलेश नक्तमर्ष द्रुहुस्तन्वं १ गूहमाना ।
 वृषमनन्तमय सा पंटीष्ट प्रावाजो भन्तु रसस उपन्दैः ॥ १७ ॥
 वि तिष्ठष्वं मरुतो विश्वीकृच्छतं गुमापवं रक्षसः सं विनष्टन ।
 ययो ये भूत्या पतयन्ति नक्तभिये वा रिपो दधिरे देवे अंध्वरे ॥ १८ ॥

अर्थ— (यदि वा अहं अमृतदेवः अस्मि) यदि मैं असत्यका उपासक बनूँ, (अपि वा देवान् मोषं ऊहे) अपना देवोंको भयं उपासना करूँ, तो हे (जातवेद अग्ने) जातवेद अपने । (किं अस्मभ्यं हृणीषे) क्या हमारे ऊपर क्रोध करोगे ? (द्रोघवाचः ते निःश्रेयं संचन्तां) क्रोहका भावण करनेवाले विनाशको प्राप्त हूँ ॥ १४ ॥

(यदि यातुधानः अस्मि) यदि मैं पीछा देनेवाला हूँ (यदि वा पूरुषस्य मातुः तवपु) और यदि मैं किसी मनुष्यको भावको साथ देऊँ तो (अथा मुंरीय) आज ही मर जाऊँ । (अथा) और (यः मा मोषं यातुधानः इति आह) जो मुझे भयं ही दृष्ट करता है, (सः यदाभिः पीरैः वि यूयाः) वह सबों कोपेले विपुत्र हो जाय ॥ १५ ॥

(यः मा अ-यातुं यातुधानः इति आह) जो माया पातना न देनेवालेको भी दृष्ट करता है, (यः वा) और जो (रक्षाः) स्वयं राक्षस होते हुए भी (शुचिः अस्मि इति आह) मैं शुद्ध हूँ ऐसा करता है । (इन्द्रः तं महता बुधेन हन्तु) इन्द्र उसको बड़े बल रखते मारे । और वह (विश्वस्य जन्तोरेधमः पंटीष्ट) तब प्राणियोंके बीच फिर लावे ॥ १६ ॥

(या मर्कं स्वर्गला इय) जो राशिके समय उत्सुके समान (तन्वं गूहमाना) अपने गरीरको छिपाती हुई (प्रजिगाति) जाती है और (द्रुहुः अपजिगाति) क्रोह करके भटकती है, (सा अनन्तो यम पंटीष्ट) वह मरनेमें फिर पडे और (प्रावाजः रक्षसः उपन्दैः इन्तु) पशुप राक्षसोंको शत्रुके साथ मारे ॥ १७ ॥

हे (मरुताः) मरुतो ! (विभु वि तिष्ठष्वं) प्रजाशौचं विषय प्रकारसे स्थिर रहो (इच्छत) अपना शत्रु करनेको इच्छा करो, (ये ययः भूत्या) जो पशियोंके समान हीनर (नक्तभिः पतयन्ति) राशियोंमें घुसने हे, (ये वा) अपना जो (देये अंध्वरे रिपः दधिरे) यज्ञ देवके विषयमें विनाशक भाव धारण करते हे (रक्षसः गृभापत) उन पातकोंको प्रकरो और (संविनष्टन) पीछे लावे ॥ १८ ॥

भावार्थ— यदि हमने अत्याय बहा अपना देवोंकी पूजा करते हैं, तो हमारी अपीति होगी । तब क्रोहका भावण करनेवाले मातुको प्राप्त हूँ ॥ १४ ॥

यदि मैंने किसीको पीछा ही हो अपना किसीके स्वात्मयमें विनाश किया हो, तो मेरी मातु हो जावे । परंतु मेरे ऐसा काम न करने पर भी जो मुझे दृष्ट करता है उसके शरीर प्राण दूर ही जाय ॥ १५ ॥

गुहाचारी होते हुए भी मुझे भी दृष्ट रहे और जो गुहाचारी स्वयं दृष्ट होते हुए भी अपने भावको पवित्र करना रहे, उसका भय ही और वह सबसे अपीतिही प्राप्त ही ॥ १६ ॥

जो उत्सुके समान राशिके समय विपरीतकर दृष्टभावसे संधार करती है वह मरनेमें पडे और पशुके समान भय दिया जावे ॥ १७ ॥

प्रजाशौचमें यथागो पशुप शौ, बुधको दृष्टकर निकामनेही इच्छा करो, बुधोंको पशुको, उनको पीछे धालो, जो दृष्ट शरीरके समय संधार करते हे और ईश्वर तथा यज्ञने विषयमें दृष्ट भाव धारण करते हे, उनका साथ दिया जावे ॥ १८ ॥

प्र वर्तय दिवोऽदमानमिन्द्र सोमंशितं मघवन्त्सं जिशाधि ।

प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदुक्तोऽभि जीहि रक्षसः पर्वतेन ॥ १९ ॥

एत उ स्ये पंतयन्ति श्वातव इन्द्रं दिप्तन्ति त्रिप्तवोऽदाम्यम् ।

शिशिति शुकः पिशुनेभ्यो वधं नूनं संजदुशानि यातुमश्र्यः ॥ २० ॥

इन्द्रो यातुनामभवत्पराशरो हविर्मधीनामभ्याकुविवासवाम् ।

अधीदुं शुकः परशुर्यथा वने पात्रेव भिन्दन्सुत यंतु रक्षसः ॥ २१ ॥

उलूकपातुं शुश्रूलूकपातुं जहि श्वातुमुत कोकपातुम् ।

सुपर्णपातुमुत गृध्रपातुं हृपदेव प्र गृण रथं इन्द्र ॥ २२ ॥

मा सो रथो अमि नंदयातुमावदपोऽन्तु मिथुना ये किमीदिनः ।

पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंदसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वंस्मान् ॥ २३ ॥

अर्थ—हे (मघवन् इन्द्र) धनवान् इन्द्र । (दिवः अदमानं प्रवर्तय) दूरीको अदमानको बसा और (सोम-शितं सं जिशाधि) सोम द्वारा लोभन क्रिये हुए अदमको निपटते प्रेरित कर । (पर्वतेन) पर्वतप्राक्ते (प्राक्तः अपाक्तः अधरात् उदकः रक्षसः) सामने, पीछे, नीचेसे और ऊपरसे राक्षसोंको (अभिजाहि) विनाश कर ॥ १९ ॥

(एते उ स्ये पंतयन्ति) ये वे कुत्तिकापान बर्ताव करनेवाले वृष्ट (पंतयन्ति) हमला करते हैं, (त्रिप्तयः अदाम्यं इन्द्रं दिप्तन्ति) श्लोक पात्र न दबनेवाले इन्द्रको मारते हैं । (शुकः पिशुनेभ्यः वधं शिशिति) इन्द्र इन दोन दुष्टोंको वध रूप देता है । (यातुमश्र्यः अशानि नूनं संजदु) यातना देनेवाले सिये विद्युत्को मारता है ॥ २० ॥

(इन्द्रः) इन्द्र (हविर्मधीनां) हविर्बलि विनाश (अमि आविवासतां) सपने स्थित (यातुनां) यातन देनेवाले दुष्टोंको (परा-शरः अश्रयत्) दूर हटाकर भाग करनेवाला होता है । (यथा वने परशुः) जैसे वनको कुल्हाड़ा बगटा है, तथा जैसे (पशुमा इव) मिट्टीके बतनोंको तोड़ा जाता है, उसीप्रकार (शुकः) सपने इन्द्र (सतः) रक्षसः भिन्दन्) उपस्थित राक्षसोंको तोड़ता हुआ (इत् उ अमि यतु) आगे बढ़े ॥ २१ ॥

हे इन्द्र । (कोकपातुं) चिरिणोंके समान व्यवहार करनेवाले अर्पात्त शायी, (शुश्रूलूकपातुं) मैदिनेके समान बर्ताव करनेवाले अर्पात्त शोथी, (गृध्रपातुं) गीपके समान बर्ताव करनेवाले अर्पात्त लोभी, (उलूकपातुं) उलूके समान बर्ताव करनेवाले अर्पात्त मोहित, (सुपर्णपातुं) गरदके समान बर्ताव करनेवाले अर्पात्त घनरी (उत भयातुं) और कुत्तेके समान आपसमें लड़ा करनेवाले अर्पात्त मासरी लोभोंको (जहि) मार और (हृपदा इव) जैसे पथरीते पथीको मारते हैं जैसे (रक्षः प्रसूण) राक्षसोंका नाश कर ॥ २२ ॥

(यातुमावत् रक्षः नः मा अमिन्द्र) यातना देनेवाला राक्षस हमनक न काये । (ये किमीदिनः) जो लूचे हैं और जो (मिथुनाः वाप उच्छन्तु) यातक हैं वे दूर भाग जावें । (पार्थिवात् पात्वंदसः) पृथिवी संबंधी पारते (पृथिवी नः पातु) पृथिवी हमारे रत्ता करे । तथा (दिव्यात् पात्वंदसः) दूरीके संबंधी पारते (अन्तरिक्षं अस्मान् पातु) अन्तरिक्ष हरे बधाये ॥ २३ ॥

मापार्थ— अपने लोभन शास्त्राश्रित दुष्टोंका सब मारते भाग करो ॥ १९ ॥

जो कुत्तोंके समान वृष्ट है, जो दूरारोंकी शिवा करते हैं, उसका वध और भाग भागकरने क्रिया जाये ॥ २० ॥

पशुओंका नाश करनेवाले, हबलसमयी विनाशनेवाले, दूरारोंके मारनेवाले दुष्टोंको हटा दो और जैसे पशुने बलका भाग लिया जाता है जैसे ही उसका भाग लिया जाये ॥ २१ ॥

शायी, शोथी, लोभी, अलानी, घनरी और मासरी ये छ. प्रकारके दुष्ट हैं इनका नाश कर ॥ २२ ॥

यातना देनेवाले हमने दूर हों, तथा भूले रहनेके समान व्यवहार करनेवाले दुष्ट दूर भाग जावें । पृथ्वी और अन्तरिक्ष संबंधी होनेवाले सब पारते हय वध जाय ॥ २३ ॥

इन्द्रं जहि पुमांसं यातुधानंमुव स्त्रियं मायया शार्ङ्गदानाम् ।

विभ्रविर्मासो मूर्देया अदन्तु मा ते ईशान्सूपैमुधरान्वम्

॥ २४ ॥

प्रति चक्षु वि चक्षुवेन्द्रश्च सोम जागृवम् । रक्षोभ्यो बुधमर्षवतमश्चनिं यातुमश्रंः

॥ २५ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! (यातुधानं पुमांसं) यातवा देनेवाले पुत्रका तथा (मायया शार्ङ्गदानां स्त्रियं) कपटसे व्यवहार करनेवाली स्त्रीका (जहि) नाम कर । (मूर्देया विभ्रविर्मासः प्रादन्तु) मूर्त्तिके उपासक गर्वन भहित होकर मासको प्राप्त हों । (ते उच्यन्ते सूर्ये मा दृशन्) वे उच्यते प्राप्त होनेवाले सूर्यको न देख सके ॥ २४ ॥

हे सोम ! (इन्द्रः प्रतिचक्षुः) इन्द्र निरीक्षण करे, (विचक्षुः) विशेष प्रकारसे देखे । माय दोर्गे (जागृतं) जाग्रत रहो । (रक्षोभ्यः यातुमद्भ्यः) राक्षस और पीडक इन सब पर (यद्यं अशनिं) मृत्युदण्ड और बखरदण्ड (अस्त्यते) फेंके ॥ २५ ॥

भावार्थ— यातवा देनेवाला चाहे वह पुत्र हो या स्त्री हो, उसका नाम हो । मूर्त्तिके अनुयायियोंको गर्वन काटो नाम । ये दृष्ट सुपौरव होनेका भी जीवित न रहे ॥ २४ ॥

निरीक्षण करो और सबका अपलोकन करो, जगते रहो । जो राक्षस अर्थात् यातवा करनेवाले और दूतोंको मत्तानेवाले हों, उनकी बधका दण्ड दिया जाये ॥ २५ ॥



शत्रुदमन

दुष्टोंका दमन

दृष्ट शत्रुभ्योका दमन करनेका विषय इस सूक्तमें है । यहाँ विषय पूर्व सूक्तमें भी था । 'चातन' ऋषिके सूक्तमें प्राय ऐसे ही शत्रुदमनके विषय हुआ करते हैं । 'चातन' शब्दका ही अर्थ 'हटाना, हटा देना, निकाल देना, दूर करना, मास करना' है । शत्रुको हटानेका उपदेश देनेवाले सूक्तोंके ऋषिके नामका भी 'शत्रुको हटाना' ही अर्थ हो, ऐसे अर्थ-वाला यहाँ एक सूक्त और यही ऋषि है ऐसा नहीं है । कई अन्य सूक्तोंमें यह काल ऐसा ही लिखा है देतो है । ऋषिचं (अ० १० सू० १८३ का) 'उलो यातापनः' ऋषि है और दूतमें शत्रु वामु क्षीयन् देनेवाला है ऐसा विषय आया है । यातापनका अर्थ लिखकी है और निखकीका संबन्ध कुछ हुआ घटमें आनेके साथ है । इस प्रकार कई ऋषियोंके नाम और उनके सूक्तोंके आशय परस्पर सम्बन्धित हैं । इस सूक्तमें दुष्टोंका दमन करनेका उपदेश है । अत्र प्रथम दुष्टोंके कुछ लक्षण यहाँ देते हैं । पूर्व सूक्तके विवरणके माध्यम से निम्न सलाहोंका विचार किया है, उनको यहाँ नहीं दुरासोंके । इस सूक्तमें जो नये लक्षण आये हैं वेही यहाँ देते हैं—

दुष्टोंका लक्षण

पूर्वके सूक्तमें 'रक्षः, राक्षसः, भंगुरायम्, यज्याद्, किर्मादिन्, यातुधान, मूर्देय' ये शब्द दृष्ट वाचक आये हैं, ओ लक्षण पूर्व सूक्तमें नहीं दिये और इस सूक्तमें विशेष रूपसे बड़े हैं, उनका ही विचार यहाँ अब करते हैं—

१ तमोऽधुष्- अज्ञानको बहानेवाले, ज्ञानप्रसारका प्रति-बन्ध करनेवाले, ज्ञान देनेवालोंको दण्ड देनेवाले अपराध उनके कार्यमें दृष्टादृष्ट उत्पन्न करनेवाले । (म. १)

२ अग्निन्- जिनके जित नहीं हैं, अर्थात् जितका अज्ञान कारण उत्पन्न नहीं है, यद्यपि वस्तुवत्के बिलके समान जितका जित नहीं, जिन्हा जितने अर्थ दृष्टताने विचार है । (म. १) पूर्व सूक्तमें इसीका भाव बगानेवाला 'दुष्टोऽं' शब्द है ।

३ अग्निन्- (अग्नि इति) जो दुरासोंके ज्ञान सेकर अपनी पुष्टि करता है, अपने स्वार्थके लिये ओ दुरासोंके लोभ-पर दुरी बनाता है । (म. १)

४ अघः अघाशंस - पाप करनेके लिये जितका ज्ञान विकृत है, जितने पाप करनेके कारण हो जितको सब सोच जानने है । (म. २)

५ ब्रह्मद्विप्- ज्ञानका द्वेष करनेवाला, ज्ञानका प्रतिबन्ध करनेवाला, ज्ञान प्रसारमें रुकावट् उत्पन्न करनेवाला । (मं २) तमोवृष्- (मं १) यह शब्द इसी अर्थका सूचक है ।

६ दुष्टदृष्ट- दुष्कर्म करनेवाला, पापी । (मं ३)

७ द्रुह- शोह करनेवाले, जो विवाहसंघात करते हैं, जो वपटसे भूटमार करते हैं, जो अत्याचारी हैं । (मं ७)

८ अन्वतेभिः यथोभि- अभिचोष्टे- असत्य भाषण करता है, असत्य गवाही देकर दूसरोंको कष्ट पहुंचाता है । (मं ८)

९ असत घक्ता (मं ८), असत् चद्व- (मं १३) - असत्य वचन बोलनेवाला ।

१० ये एवैः वि हरज्जे- जो विविध साधनोंसे दूसरोंके धनाधिकोंका विनाश रीतिसे हरण करते हैं । (मं, ९)

११ स्वधामि- भद्रं दूषयन्ति- जो अपनी दक्षितियोंसे दूसरोंको बुरा बना देते हैं । जो जपोंके द्वारा भले मनुष्योंको दुषित करते हैं, बुरे जप प्रयोगसे सज्जनोंको कष्ट पहुंचाते हैं । (मं ९)

१२ स्तेनः, स्तेनद्वत्- चोर और चोरी करनेवाला, अथवा चोरोंका सङ्गठन बनानेवाला बड़ा डाकू । (मं १०)

१३ रिपु- जो सत्रता करता है, छल कपट करनेवाला है । (मं १०)

१४ मिथुया धारयन्- मिथ्या व्यवहार करनेवाला, मिथ्या भावको धारण करनेवाला । (मं ११)

१५ अन्वत्तदेषः- असाधका उपासक, सदा असत्यविचार, असत्य भाषण और असत्य आचार करनेवाला । (मं १४)

१६ देवान् मोघ ऊहे- । सङ्गति-) जो देवोंको व्यर्थ उतावट् प्रथता है, जो कपटसे वेवताओंके उत्सव करता है, जो स्वयं भक्तिहीन होता हुआ अपने स्वार्थ साधनके लिये देवताके महोत्सव रचता है । (मं १४)

१७ द्रौहवाह- शोहयुक्त भाषण करनेवाला, कठोर भाषण करनेवाला, दूसरोंको दुःख देनेके लिये कठोर भाषण करनेवाला । (मं १४)

१८ रक्षः शुचि- गस्ति इति आह जो स्वयं राक्षस होता हुआ अपने अत्यन्त दुष्ट और विषय करता है । (मं, १६)

१९ अपानुं यातुधान इत्याह- जो भले आशुओंको बुरा कहता है । (मं १६)

२० तस्य गृहमाणा नक्त प्रसिगाति- छिपकर रातोंके समय हथला करती है । (मं १७)

२१ दिभ्यु- द्विगक, घातक । (मं २०)

२२ पिशुनः- चुगली करनेवाला । (मं २०)

२३ ह्यिर्मिथिन्- ह्यिका नाम करनेवाला । (मं, २१)

२४ कौत्र्यातुः- चित्रिवाके समान काम व्यवहार करनेवाला धर्मार्थ अथवा काम व्यवहारमें आसक्त । (मं, २२)

२५ गुणुत्कपातुः- भंडियेके समान क्रूरता करनेवाला, क्रूरतासे दूसरोंका नाश करनेवाला, महाक्रूर ।

२६ गध्यातुः- गीधके समान दूसरोंके मोहन ठेकर मृत होनेवाला, लोभी, इसीको पूर्व सूक्तमें ' असु-वृप् ' कहा है ।

२७ सुपर्णयातु- गरुड़के समान ऊपर ही ऊपर प्रथमसे व्यवहार करनेवाला, गर्विष्ठ, प्रथमो ।

२८ उल्लूकपातुः- उल्लूके समान विनाशोत्तमसे व्यवहार करनेवाला अर्थात् महामुष्ट ।

२९ अघ्यातुः- कुत्तोंके समान धारणमें रुझनेवाला, रचनालीयोंसे सदन और दूसरोंके सामने पृष्ठ हिलानेवाला । (मं २२)

३० मायया शाशदानः- कपटसे सब व्यवहार करनेवाला, कपटो छली । (मं २४)

इतने लक्षण दुष्टोंके हैं ऐसा इस सूक्तमें कहा है । पूर्व सूक्तमें २१ और इस सूक्तमें ३० लक्षण दुष्टोंके बड़े हैं, दोनों सूक्तोंके मिलकर ५१ लक्षण हुए हैं । इन पचास लक्षणोंके दुष्टोंकी पहचान ही सकती है । ये दुष्टों और राक्षसोंके लक्षण हैं । इन लक्षणोंको तुलना श्रीमद्भूषणव्यासोंके (मं १६ में कहे) आधुन सप्ततिके लक्षणोंके साथ करनेसे दुष्टोंका विशदप करनेमें बड़ी सहायता हो सकती है । ये राक्षस कोई भिन्नभौतिक प्राणी नहीं हैं, ये मानवजातिमें ही हुए स्वभावके सभी पुत्र्य हैं, यह बात यहाँ भूलनी नहीं चाहिये । अतः इन राक्षसोंके अपने रक्षा करनेका साधन अपने समाजके अपना मानव जातिके दुष्ट जनोंसे रक्षा करना है । इसीलिये इस सूक्तमें कहा है—

प्रतिचक्ष्य, विचक्ष्य, आपृत्तम् । (मं, २५)

' प्रत्येक स्थानपर देख, शिरीय रीतिसे देख और आपृत्त रह । ' ये तीनों संदेश आभारलाकी दुष्टोंके आज्ञा महत्वके हैं, जो इस जनताको रक्षा करनेके कार्यमें निपुण होते हैं, जो स्वयं तेजस्वी होकर जनताको रक्षा करना चाहते हैं वे सदा आपृत्त रह, अपनी रक्षा आपृत्त रहनेसे ही हो सकती है । जो लोग हैं या जो गुप्त हैं वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते । आपृत्त रहनेके परचात् (प्रतिचक्ष्य) प्रत्येक मनुष्यका

श्वयत्नर देवता चाहिये, अपने और पराने साथ मनुष्यों के श्वयत्नरको अच्छी प्रकार परीक्षा करनी चाहिये। और देवता चाहिये कि कौन मनुष्य सहायक है और कौन घातक है। यह निरीक्षण (विचक्षण) विशेष रीतिसे करना चाहिये, गृहपादों के साथ निरीक्षण करना चाहिये, क्योंकि कई सन्त्र ऐसे होते हैं कि जो निष्पत्ता करनेके ग्रहाने पात आते हैं और किन्त समय अघटते पाला काट देते हैं, इसका पता ही नहीं चलता। अतः हरएक बाटका विशेष दक्षतासे निरीक्षण करना चाहिये । अपनी रक्षा करनेके इच्छुक बाटक इन तीन आता-ओका अच्छी प्रकार स्मरण करें। इसी भावका अधिक स्पष्टीकरण करनेवाली आताएँ १८ वें मन्त्रमें निम्नलिखित प्रकार आई हैं—

विशु बिलिष्ठध्वं, विशु इच्छत,
रक्षसः गृभायत, रक्षसः सपिनष्टन । (म. १८)

‘ प्रजाजनोंमें विशेष प्रकारसे उपस्थित रहो, प्रजाजनोंमें क्षान्ति तुल्य स्थापन करनेकी इच्छा करो और इस कामके लिये राक्षसोंको दूध निकालो, उनको पकड़े रखो और उनको पीस डालो । ’ यहाँ प्रजाजनोंमें विशेष रीतिसे उपस्थित होनेकी आज्ञा है, धारण मनुष्य जैसे होते हैं, बैला रहनेकी आज्ञा यहाँ नहीं है, गृहा वेव कहता है कि अवाधारण रीतिसे प्रजाजनोंमें सर्वत्र संचार करो, विविध स्थानोंको धारण करके सब कर्तोंका विशेष स्थानके साथ निरीक्षण करो और पता लगाओ कि कौन मनुष्य राक्षस है और कौन वेव है। सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंका नाश करनेके लिये पहिले सज्जनों और दुर्जनोंका विवरण करना चाहिये। यह विवरण विशेष निरीक्षणके बिना नहीं हो सकता, अतः यह आज्ञा की है।

(विशु इच्छत) प्रजाजनोंमें क्षान्ति और तुल्यस्थापन करनेकी इच्छा धारण करो, इसी उद्देश्यसे प्रजाजनोंमें विविध प्रकारसे उपस्थित हो और राक्षस कौन है इस बातका पता लगाओ। जो राक्षस है उन राक्षसोंको (गृभायत) पकड़ रखो, उनको अनसमानमें धूमनेसे रोकरो, उनको हलचलपर रोक लगाओ और उनको (सपिनष्टन) पीस डालो। यहाँ पोसनेका अर्थ धूम करना अभीष्ट नहीं है। उनके सगठन बधमें न शो, उनको अलग अलग करके उनका नाश करो। उनको अलकल बनाओ। इसी विषयमें देखिये—

रक्षसः प्राक्तो अघाक्तो अघरात् उदकं जाति ।
(म. १९)

‘ इन दुष्टोंकी सामनेसे, पीछेसे, भीचेसे और ऊपरसे १७ [अर्घव भा २ मन्त्र ० शिवी]

अर्थात् सब ओरसे प्रतिबन्धमें रक्षण नष्ट करो। ’ यहाँ उनके देहोंकी काटनेका तात्पर्य नहीं है। शरीर उनके देशक ओषित रहे, परन्तु उनकी गति (प्राक्तः) सामनेसे एक भाग, (अघाक्तः) से पीछे न जा सके, (अघरात्) से नीचे न जा सके और (उदकः) ऊपर भी न हो सके, अर्थात् चारों ओरसे उनकी घतघ्नत बंध हो जावे और वे ऐसे प्रतिबन्धमें रहें कि वे किसी प्रकार द्रुष्टता न कर सके। इस प्रकार वे अपनी द्रुष्टतामें अक्षम हुए, तो उनका मानो पूर्ण नाश हो हुआ। अर्थात् यहाँ उनको द्रुष्ट कर्म करनेसे रोकना अथवा उनकी द्रुष्टताका नाश करना अभीष्ट है, इसीलिये कहा है—
उभौ प्रसितो शयाते । (म. १३)

‘ दोनों प्रकारके द्रुष्ट अथनमें सोते रहें। ’ अर्थात् कारा-गारमें पड़े रहें, जिससे वे आने पीछे नीचे और ऊपर हिल न सके। वे द्रुष्ट पुत्र हों या स्थियाँ हों, दोनोंका समान रीतिसे प्रतिबन्ध करना चाहिये, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र वेदने योग्य है—

पुमांसं यतुधानं जहि ।
मायया शाश्वतानं श्रियं जहि । (म. २४)

‘ पुत्र्य द्रुष्ट हो, या कष्टाचारिणी स्त्री हो, दोनोंको उसी प्रकार अलकल करना चाहिये। ’ स्त्री है, इसलिये उसको क्षमा करना योग्य नहीं, क्योंकि एक द्रुष्ट अनेकोंको कष्ट पहुँचाता है, अतः किसी भी द्रुष्टको क्षमा नहीं देनी चाहिये। राक्षी द्रुष्ट अपनी द्रुष्टता छोड़ें और सज्जन बनें, ऐसा प्रबंध होना आवश्यक है। राक्ष्यमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि—
द्रुष्टते सुगं मा भूत् । (मं. ७)

‘ द्रुष्टकर्म करनेवाली द्रुष्ट मनुष्य इधर उधर सुखते न भूम सके। ’ उनके अक्षरके ऊपर प्रतिबन्ध हो। जब वे अपनी द्रुष्टता छोड़ दें, तब उनको सब प्रवेशमें भ्रमण करनेकी सुविधा मिले। इस उपदेशसे पता लगता है कि वेव चाहता है कि राक्ष्यका प्रबंध करनेवाले अपने राक्ष्यमें अथवा ग्रामके प्रबंध-कर्ता ग्रामके द्रुष्ट मनुष्योंके एक पूर्ण रूपी अन्तरे और उनके ऊपर विचारणी रहें, वे कहा रहते हों, क्या करते हैं यह देखें और उनको ऐसे व्यवहारमें रखें कि वे बुराई न कर सके। सज्जनोंकी रक्षा करनेके लिये द्रुष्टोंपर इस रीतिसे दबाव रखना अत्यंत आवश्यक है, इसलिये कहा है कि—

एयं मति विभवतः पादिभुत् । (म. ९)

‘ यह आभारता और समानरतासे द्रुष्ट मनुष्योंमें सर्वत्र अर्थात् सब त्वरकें नागरियोंमें स्थिर रहे। ’ कोई मनुष्य इसकी न भूले और—

वा मनुष्यमत् शय सद्भस्ते अस्तु । (म ३)

' तुम्हारा कर्त्ताहू पुक्त बल अपने विजय और शत्रुको पराजयके लिये समर्पित हो । ' शत्रु तो वे ही लोग हैं कि जिनके सज्ज इस सूक्तमें और पूर्वं सूक्तमें दृष्ट शक्तके साथ कहे हैं । इन दुष्टोंको दूर करने और सज्जनोंको रक्षा करनेके कार्यमें शयको बल लवाना चाहिये । दुष्टोंके सचरखे मार्ग बंद हों और सज्जनोंके मार्ग अधिक खुले हों । यह बात अनेक प्रयत्नोंसे साध्य करनी चाहिये । हरे एक मनुष्य अपने अपने कार्यभेदमें इस बातकी सिद्धताके लिये परम प्रयत्न करे । इस पञ्चमका स्वकथ यह है—

अस्तत् वचा अ-सन् अस्तु । (म. ८)

' अस्तव भाषण करनेवाला अर्थात् दुष्ट मनुष्य (अ-सन्) न होनेके सामान होवे । ' न होनेके उलान होनेका अर्थ यही है कि यह दुष्ट मनुष्य या तो प्रतिक्रममें रहे या कारागृहमें रखा जावे, उसको दुष्टता मार्ग उसके लिये खुले न रहें ।

सत्यका रक्षक ईश्वर

इस सूक्तमें एक महत्वपूर्ण बात कही है कि ' सत्यका रक्षक परमेश्वर है । ' सत्यमार्गपर जानेवालेके समुल अन्तः प्रसन्नतायां प्रा खर्दों हों तो भी यह नहीं डरेगा, क्योंकि यह इस आदेशके अनुसार जान जायगा कि उसका रक्षक परमेश्वर है । जब सत्यका रक्षक परमेश्वर है । तब उसको बरानेवाला कौन हो सकता है ?

सुविद्यान चिकित्तुषे जनाय
सथासथा घचली पस्पृधाते ।

तपोर्यःसत्य यतरदजीयस-

दिरसोमोऽयति इन्त्यास्तम् ॥ (म १२)

' यह उत्तम ज्ञान शान्ति करनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्यके हितके लिये कहा जाता है कि सत्य और असत्य भाषणको इस जगत्में स्पर्धा चल रही है । उनमेंसे जो सत्य और जो सोचा होता है, उसको परमेश्वर रक्षा करता है और जो असत्य और कुटिल होता है उसका नाश करता है । ' वर्धन् साधका पालन करनेवाले और सरल आचरण करनेवाले मनुष्यको रक्षा परमेश्वर स्वयं करता है और असत्य भाषणों तथा कुटिल व्यवहार करनेवालेका नाश करता है । हरे एक मनुष्य इस ईश्वरके नियमका हमरूप रते और अपनी भाषण सोचा और सत्यमें अनुसार रखे । जो अपनी आचरण ऐसा रखेगे वे कभी शोचो नहीं हो सकते और उनको ईश्वरको

ओरसे कभी बन्द नहीं मिल सकता । परमेश्वरकी रक्षा प्राप्त करनेका यह एक उत्तम उपाय है ।

जो ऐसा आचरण करेंगे और सत्य पालनमें दक्षिण होंगे वे कभी दुष्ट नहीं होंगे । अर्थात् दुष्ट वे बनेंगे जो असत्य और कुटिल व्यवहार करेंगे । इन दुष्टोंको बन्द देना परमेश्वरका ही कार्य है । इनको जो विविध दण्ड दिये जाते हैं, वे इस प्रकार हैं—

दुष्टदण्ड

इन दुष्टोंको बंध देनेके विषयमें निम्नलिखित भन्नभाषा प्रमाण हैं—

अत्रिधन. हत, योपेत,

अघशस सहृण घघ वर्तयतम् । (म ४)

दुह भंगुराघत रक्षस हतम् । (म ७)

रक्ष हन्ति । अस्तु यद्वन्त हन्ति । (म ११)

तं मद्धता वधेन हन्तु । (म १६)

पिशुनेभ्यो वध शिशीते । (म २०)

रक्षोग्यो वध. । (म २५)

' भोयो, पापी, द्रोही, नाग करनेवाले, अस्तव भाषण करनेवाले, पुण्यही करनेवाले, जो रातसवृत्तिकाके लोग हों वे यदवच्छके लिये योग्य हैं । इसी प्रकार—

दुष्कृत अनारभणे समसि वधे प्रत्रियतम् ।

(म ३)

सः अन्त वध अय पदाष्टि । (म १७)

अहितसोमि अहमहन्मभि तपुर्वोघोभि

अश्रिणः विध्यतम् । (म ५)

' दुष्ट कर्म करनेवालोंको अथकारने स्थानमें रतो और उनपर सत्यका वेध करो : अग्निमें तवे, सोलावसे घने, पातक शक्यो भोयो शोयोवा वध करो ' वेध करनेका अर्थ यह है कि उनपर शस्त्र फेंककर उनके शरीरको धातक करना । आगोमें अथवा बहुरकी धोलेसे वेध करना अर्थात् वेध बुरो हो शिया जाता है । इसी प्रकार—

यातुमद्रयः अशानि सूजत् । (म २०)

यातुमद्रयः अशानि अस्यतम् । (म २५)

मूरदेवा निम्रीयासः फदन्तु । (म ३४)

तान् निश्रंते उपस्थे आदधातु । (म ९)

द्रोघयाचः निश्रंत सचन्ताम् । (म १४)

' यातना देनेवालोंपर विजली छोड़ी जावे, मूर्खों उन

सहोमा यथा काश जाये, वे नाराके द्वारपर पहुँचे, द्रोहका भारण क'नेशले नाशको प्राप्त हों।' इस प्रकार यह करीब बय दण्ड हो है। तथापि इसमें अय प्रकारका नारा भी सम्भवनीय है। पत्थरसे दृष्टका अथ करनेका भी उल्लेख है—

श्रावाणाः रक्षसः उपन्दैः प्रभुः । (म. १७)

इपदा इव रक्षः प्रभृणः । (म. २२)

' पत्थरसे राक्षसोंका यथ किया जाये ।' जो राक्षस है ऐसा निरर्थक हो जाय, उसको किसी स्थानपर सजा करके अथवा पृथके साथ रक्षसोंसे दीपकर दूरसे उसपर पत्थर मारकर उसका अथ किया जाये। इस प्रकारका यथदण्ड इस समय अकणनित्थानमें है।

देगसे निकाल देना

यादूनां पराशर अभयत् ।

रक्षस भिन्दन् यतु । (म. २१)

' यादूना देनेवालोंको दूर करनेवाला घोर राक्षसोंको तोड़ता हुआ चले ।' यह घोरका लक्षण है, वह घोर यादूना देनेवालोंके कर्तुओंको सह नहीं करता। ' पराशर ' शब्दका विलक्षण अर्थ है। (परा) दूर ले जाकर (शर) नाश करनेवाला जो घोर है उसको पराशर कहते हैं। राक्षसोंको सगामसे और श्रावसे दूर करना चाहिये, ये कभी श्राववातियोंको कण्य देनेके लिये न आवे, इस विषयमें देवकी आशा देखिये—

भक्षितः परा शृणीतं, जुदेधाम् । (मं. १)

यतः पर्यां पुनः एकश्चन न उदयत् । (म. ३)

अतुमावत् रक्षः न. मा अभिनह । (म. २६)

किमादिनः मियुना अपोच्छन्तु । (मं. २३)

' जिनके अंत कारण सत्य नहीं हैं, वे दूर हटाये जाय, इनमेंसे एक भी फिर न लौट सके, निश्वाचारी सब दूर भाग जायें।' ये तब आशाएँ दृष्टोंकी राक्षसोंसे बाहर करनेका ही भाव सताती हैं। इस प्रकार देगसे निकाला हुआ कोई दृष्ट फिर देगमें या घाममें न जा सके। ऐसा करनेसे ही प्रमा सुना रह सकती है।

दृष्टोंको तपाना

दृष्ट दूर्धनोंको सताय देनेका भी एक दण्ड इस सूत्रमें कहा है, विचार करना चाहिये कि इस तपानेका अर्थ क्या है। इस विषयके मन में है—

रक्षः तपतं, उच्यते । (मं. १)

अधरोर्ध्वं अध तपु. यस्तु । (म. २)

' राक्षसों दृष्टों, पापवृत्तियोंको तप रो।' उनको संतप्त करो। किन्तु साधनेसे सताय उतपन्न करना है, इसका यहाँ उल्लेख नहीं। तथापि दृष्टका विचार करनेसे हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जब दृष्ट अपनी दृष्टताके कारणसे हटाये जायेंगे और धारों ओरसे उनके रौका जायगा, तब उनको सताय होगा और इस प्रकारका सताय ही यहाँ अर्थात् होगा।

दृष्टोंसे द्वेष

यस्तुत, देखा जाय तो कोई मनुष्य किसीके कभी द्वेष न करे। परस्पर मित्रदृष्टिसे देखें। यह नि सदेह पर्यं है। परंतु दृष्ट मनुष्य और दृष्टतासे द्वेष करनेकी आता घेर जाता है। यदि द्वेष करना हो तो दृष्ट मनुष्यसे और उसकी दृष्टतासे द्वेष करना योग्य है देखिये—

ग्रहद्विषे कण्यदे घोरचक्षुसे किमदिने

अनघायं द्वेषो धत्तम् । (मं. २)

' ज्ञानसे द्वेष करनेवाले, मासमोत्री, क्रूरदृष्टि, सदा योग विचार करनेवाले दृष्टके साथ निरंतर द्वेष करो।' यदि द्वेष करना है, तो इससे द्वेष करो, अथवा (मित्रस्य चक्षुषा समीक्षासदे) यत्न०) मित्रकी दृष्टिसे सबको और देखो और किसीके कभी द्वेष न करो। स्वयं गुहाधारों हीपर दृष्टोंसे द्वेष करना योग्य है। मनुष्य स्वयं पापसे बचनेके लिये इस प्रकार प्रार्थना करे—

पार्थिव्यात् दिव्यात् च बंद्धसः ना पातु । (म. २३)

' भूमिके सबधसे तथा स्वर्गके प्रदलमें जो पाप हो, उससे हमें बचाओ।' इस प्रकार मनुष्य ईश्वरकी प्रार्थना करे। अपने पापको पापसे बचाये। ऐसे मनुष्यकी ही अर्थात् स्वयं पापसे बचनेवालेकी ही दृष्टसे द्वेष करनेका अधिकार है। जो स्वयं पाप करता है उसको दूसरोंसे द्वेष करनेका अधिकार नहीं है।

पापीकी अधोगति

कभी दृष्ट मनुष्यकी अधोगति होती है उसको अर्कोति होती है, वह बदनाम होता है इस विषयमें इस सूत्रमें निम्न लिखित मन्त्रभाष मिलते हैं—

अस्व यदाः प्रतिशुष्यतु ।

यः दिवानक दिवसति स अध अस्तु । (म. ११)

स्तेनहृत् स्तेनः रिपुः दध्नं यतु ।
स तन्वा तना च निह्रीयताम् । (मं. १०)
स दशमि धीरैः वि यूया । (म. १५)
धिभ्रस्य जन्तोः अधमः पस्पदीष्ट । (मं. १६)

' इस दुष्टका मस मष्ट हो जाये, जो बिनरात दुष्टता करता है वह नीचे गिरे, और मूटेरा दुष्ट मनु तन घनते हीन होये, यह भालवच्योति हीन होये । उसके दशों प्राण दूर हों । ऐसा दुष्ट सब प्राणियोंसे भी सबसे नीचे गिर जाये । ' अर्थात् जो इस प्रकारका दुष्ट है वह परमेश्वरिय नियमसे अपभोगितको प्राप्त होता है, जब तक वह अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता तब तक उसकी उन्नतिको कोई आशा नहीं है । उन्नतिको इच्छा है तो दुष्टता छोड़नेकी आवश्यकता है, यह यात यहा सिद्ध होती है । सब दुष्टोंको उन्नतिको यह मार्ग खुला है, अर्थात् उन्नति करना उनके आधीन है । ये यदि पूर्वोक्त प्रकार 'पापसे भयनेके लिये' ईश्वरकी प्रार्थना करेंगे, तो उनमें दुष्टता छोड़नेका बल भा जायगा । इसके नियम ये हैं—

आरिमदण्ड

यः व-यानुं यातुधान इत्याह ।
यः रक्षः शुचिः भासि इत्याह । (मं. १६)

' भलेको धुस कहना और अपवित्रको पवित्र समझना ' यह दुष्टका लक्षण है । जो उन्नत होना चाहते हैं । वे ऐसा न करें, वे भलेको भला, भुरेको भुरा, राक्षसको राजस, पवित्रको पवित्र, अपवित्रको अपवित्र समझे । डरते हुए ऐसा माननेसे और भाननेके अनुकूल कहनेसे आरिमिक बल बढ़ता है । इसी रीतिसे हर एक मनुष्य कहे कि—
यदि यातुधानोऽस्मि, यदि या पुरुषस्य आयु ततप, अया मुरीय । म. १५)

' यदि मैं किसीको यातना देनेवाला मनु अपया किसी मनुष्यको तप दूँ तो मैं भाग ही मर जाऊँ । ' ऐसा उन्नत होनेवाला मनुष्य कहे अर्थात् यदि अपने हाथसे कुछ पाप या दोष हुआ हो, तो उसके प्रापदिवत्तके लिए मनुष्य तपण रहें । अपने द्वारा विषेय दोष होनेपर मरने तक तपण होना चाहिये । जिसको जिसप्रमाणसे इस प्रकारकी तपणारी होगी, वह उस प्रमाणसे उन्नत होगा । इस कारणसेके भासिते मनुष्य जोश्र उन्नतही सकतः है ।

शत्रुका निवारण

कांड ७, सूक्त १२२

(श्रुतिः - अथर्वान्तरिः । देवता - इन्द्रः ।)

वा मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयुरोमभिः ।

मा त्वा के चिदि ययन्वि न पाशिनोऽति मन्वेव तौ इदि

॥ १ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! (मन्द्रैः मयुरोमभिः हरिभिः व्यापाहि) सुन्दर मोरके पंखोंके समान सुन्दर पुनछपले घोड़ोंके साथ दहा वा । (पाशिनः विं न) जैसे बशीको जालमें पकड़ने है उस प्रकार (त्वा केचित्त् मा वि यमन्) तुमसे कोई न पकड़े । (घम्व इय तान् अति इदि) रोगीले स्वानपरसे जैसे गुजरते हैं वैसे उनका प्रतिफलम कर ॥ १ ॥

इन्द्र (इन्द्र+इन्द्र) शत्रुका विदारण करनेवाले वीरका यह नाम है । ऐसे वीर सुन्दर घोड़ोंपर अथवा ऐसे घोड़ोंवाले रथपर सवार होकर स्वान स्वानमें जाय । उनकी रोगनेवाला कोई न हो । वे ही दुष्टोंको रोगे और उनकी दबाकर रने ।

शत्रुका नक्ष

कांड ७, सूक्त ११०

(अग्नि - भृगु । देवता - इन्द्राग्नी ।)

अम् इन्द्रश्च द्वाश्रुपे हृतो वृत्राण्यप्रति । उमा हि वृत्रहन्तमा ॥ १ ॥

साम्यामर्जयन्त्स्वर्शुभ्रं एव यावात्स्वतुर्भुवनानि विश्वा ।

प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हृवेऽहम् ॥ २ ॥

उप त्वा देवो अग्रमीचमसेन् वृहस्पतिः । इन्द्रं गीर्भिर्न आ विश्वा यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

अर्थ— हे जन्मे ! तू और (इन्द्रः च) इन्द्र मिलकर (द्वाश्रुपे) दान देनेवालेके लिये (वृत्राणि अप्रति हतः) मनुष्योंको बिना भूके पारो । शर्वीणि (उमा) तुम दोनों (हि वृत्रहन्तमा) शत्रुके नाश करनेवाले हो ॥ १ ॥

(साम्यां अग्ने एव स्व. भजयन्) जिन दोनोंको सहायतासे पहिले ही स्वर्गलोकको जीत लिया था । (यौ विश्वा भुवनानि ज्ञातस्थतु) जो दोनों सद्रूप भुवनोंमें व्याप्त हैं । (प्र-चर्षणी) मनुष्य श्रेष्ठ, (वृषणा) बलवान्, (वृत्र-हणा वज्रबाहू) शत्रुका उप करनेवाले उत्तमधारी (अग्नि इन्द्र भद्र दुष्टे) अग्नि और इन्द्रको में मूलता ह ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (वृहस्पतिः देव. त्वा समसेन उप अग्रमीत्) ज्ञानपति देव तुझे धमत्तसे प्रशान करता है । (सुन्वते यजमानाय) सोमयात्री यज्ञगणके कारण (नः गीर्भिः आविश्व) हमारे लिये रूप स्तुतिसे ताप यहाँ प्रवेश कर ॥ ३ ॥

शत्रुका नक्ष

कांड ४, सूक्त ४०

(अग्नि - शत्रु । देवता - बहुदेवतायम् ।)

ये पुरस्ताद्भुङ्क्षति जातवेदः प्राच्यां दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।

अग्निमुत्था ते परांश्चो व्यधन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ १ ॥

ये दक्षिणतो जुङ्क्षति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।

युममुत्था ते परांश्चो व्यधन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ २ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) सर्वत ! (ये पुरस्तात् जुङ्क्षति) जो सम्मुख रहकर आहुति देते हैं और (प्राच्यां दिशः अभिदासन्ति) पूर्व दिशासे हृषं दान यज्ञोक्त प्रदत्त करते हैं (ते अग्निं ऊत्था परांश्चो व्यधन्तां) वे अग्निको प्राप्त हो कर पराजित होते हुए कष्ट भोगें । (एनान् प्रत्यग् प्रतिसरेण हन्मि) इनका पीछा करें और इनपर हमला करके में इनका नाश करता ह ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) सर्वत ! (ये दक्षिणतो जुङ्क्षति) जो दक्षिण दिशासे आहुति देते हैं और (दक्षिणाया दिशः अभिदासन्ति) दक्षिण दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं, (ते यमं ऊत्था परांश्चो व्यधन्तां) वे यमको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए वृक्षको प्राप्त करें (एनान्) इनका पीछा करें और इनपर हमला करके में इनका नाश करता ह ॥ २ ॥

ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।	
वरुणमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्ता प्रत्यगैनान्प्रतिसुरेणं हन्मि	॥ ३ ॥
य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उर्दीच्या दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।	
सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्ता प्रत्यगैनान्प्रतिसुरेणं हन्मि	॥ ४ ॥
येष्टुधस्ताज्जुह्वति जातवेदो ध्रुवया दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।	
भूमिमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्ता प्रत्यगैनान्प्रतिसुरेणं हन्मि	॥ ५ ॥
येऽन्तरिक्षाज्जुह्वति जातवेदो व्यध्वाया दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।	
वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्ता प्रत्यगैनान्प्रतिसुरेणं हन्मि	॥ ६ ॥
य उपरिष्टाज्जुह्वति जातवेद ऊर्ध्वाया दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।	
सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्ता प्रत्यगैनान्प्रतिसुरेणं हन्मि	॥ ७ ॥
ये विश्वामन्तर्दशेभ्यो जुह्वति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्योभिदासन्त्यस्मान् ।	
ब्रह्मर्त्यां ते पराञ्चो व्यथन्ता प्रत्यगैनान्प्रतिसुरेणं हन्मि	॥ ८ ॥

अर्थ— हे सर्वत । (ये पश्चात् जुह्वति) जो पीछेकी ओरसे आहुति देते हैं और (प्रतीच्या दिशः अस्मान् अभिदासन्ति) पश्चिम दिशासे हमारा घात करना चाहते हैं (ते ध्रुवया आःवा०) ध्रुवकी प्राप्ति करके परामृत होकर बुद्ध भोगें, मैं इनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ३ ॥

हे सर्वत ! (ये उत्तरतो जुह्वति) जो उत्तर दिशासे हवन करते हैं और (उर्दीच्याः दिशः०) उत्तर दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (सोमं अन्त्या०) सोमको प्राप्त होकर परामृत होते हुए बुद्ध भोगें । मैं इनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ४ ॥

हे सर्वत ! (ये अधस्तात् जुह्वति) जो नीचेकी ओरसे आहुति देते हैं और (ध्रुवयाः दिशः०) इस भ्रुव दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (भूमिं अन्त्या०) भूमिको प्राप्त होकर परामृत होते हुए कष्ट भोगें । मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ५ ॥

हे सर्वत ! (ये अन्तरिक्षात् जुह्वति) जो अन्तरिक्षसे आहुति देते हैं और (व्यध्वायाः दिशः०) विशेष धार्ग्यालो दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं, वे (वायुं अन्त्या०) वायुको प्राप्त होकर परामृत होते हुए कष्ट भोगें । मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ६ ॥

हे सर्वत ! (ये उपरिष्टात् जुह्वति) जो उपरकी ओरसे आहुति देते हैं और इस (ऊर्ध्वाया दिशः०) ऊर्ध्व दिशासे हमारा नाश करते हैं वे (सूर्यं अन्त्या०) सूर्यको प्राप्त होकर परामृत होते हुए कष्ट भोगें । मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ७ ॥

हे सर्वत ! (ये दिशां अन्तर्दशेभ्यः जुह्वति) जो विना उपदिशाओंसे आहुति देते हैं और (सर्वाभ्यः दिग्भ्यः०) सब दिशाओंसे हमारा नाश करनेका यत्न करते हैं (ते ब्रह्मा अन्त्या०) वे ब्रह्मको प्राप्त होकर परामृत होते हुए कष्ट भोगें । मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ८ ॥

शत्रुका नाश

शत्रुका नाश

जो लोग हमारा नाश करते हैं, हमें वासयन्त्रो हे अथवा अन्य प्रकारसे हमें मारते हैं, वे सब शत्रु हैं, उनका प्रतिकार करना चाहिये। जो शत्रु होते हैं वे पोछते, डागते, दायीं ओरसे और बायीं ओरसे, नीचेसे अथवा ऊपरसे हमला करते हैं और हमारा नाश करते हैं, किसी किसी समय शत्रु इस प्रकार छिप छिपकर गुप्त प्रयत्नसे हमारा नाश करना चाहते हैं कि साधारण मनुष्य उनके प्रयत्नोंका पता भी नहीं लगा सकते। ऐसे गुप्त शत्रुका नाश करना तो बड़ा कठिन कार्य है। इस सूक्तमें जिन शत्रुओंका वर्णन है, वे शत्रु तो धर्म-भावका बौध विनाशकर विद्रोह उत्पन्न करनेके गुप्त रीतिये घात करनेवाले हैं। ये शत्रु (जुह्वति) हवन करनेका ध्यान करते हैं, यज्ञपाप और सन्नका डोंग रखकर जनताका भला करनेका ही अपना प्रयत्न है, ऐसा विश्वास जनतामें उत्पन्न करके अन्ध अन्धसे नाश करनेको तैयारी करते हैं। हवनमें ऐसे जयियदुष्ट पदार्थ-अर्घात् मांस आदिक-प्रयुक्त करते हैं, कि जिनसे देवमें रोगोंकी उत्पत्ति हो जाये और उससे मनुष्योंका क्षय हो जाये। यज्ञका और हवनका डोंग रखकर ऐसे अनर्थकारक कर्म करनेवालोंका भी प्रयत्न होता है उससे जनताका बड़ा नाश होता है। विधिपूर्वक क्रिये हुए वैदिक यज्ञयाग ही आरोग्य वधानेवाले होते हैं, परन्तु ऐसे विधि हीन शत्रुति वेदोंके प्रसार जनताका घात करनेवाले होते हैं, डोंग बसाकर नाश करनेके प्रकार और भी अनेक हैं, कई शत्रु ऐसे होते हैं, कि जो उपकार करनेका भाव दिनाकर झहित ही करते हैं, उन सबका यहाँ विचार करना चाहिये। ऐसे शत्रुओंका नाश करना बड़ा कठिन होता है, परन्तु इनका नाश ही अत्यन्त ही करना चाहिये। क्योंकि जल हल्ला करने-वाले शत्रुसे ये छिपकर नाश करनेवाले शत्रु बड़े घातक होते हैं। इनका नाश करनेके लिये कुछ उपाय इस सूक्तमें कहे हैं। इसका भाव समझनेके लिये निम्नलिखित कोष्टक देखिये—

दिशा	देयता	गुण	कर्म
प्रदो	आदि	ज्ञान, तेज	जानना नाश
दक्षिण	यम	निवसन	कुष्टोंकी दण्ड देना
प्रतीची	अथ	निवारण	शत्रुका निवारण

दिशा	देयता	गुण	कर्म
उदीची	सोम	शान्ति	शान्तिका उपाय
ध्रुवा	दुग्ध	आधार	सर्वजनोंकी आधार देना
अमरिका	धाम्	बल, जीवन	बलका उपयोग
उर्वा	सूर्य	प्रकाश	प्रेरणा करना

विद्याभक्ति अनेक देवताओंके ये गुण कर्म देखनेसे मनुष्यको पता लग सकता है, कि अपने शत्रुओंको दूर करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये। सबसे प्रथम अपने लोगोंके भ्रान्तका नाश करना चाहिये और उनकी शान्ति उत्तम प्रकारसे देना चाहिये। जो इस ज्ञानसम्पन्नके कर्ममें विरोध करें उनको दण्ड देना चाहिये और फिर विरोध न हो ऐसा योग्य शासन प्रबंध करना चाहिये। इतना करनेपर भी जो शत्रुता करे उसका सुनस्य द्वारा निवारण करना चाहिये। सबसे प्रथम शान्तिके उपायोंसे यह पूर्वोक्त प्रबंध करना चाहिये और शान्तिये उक्त न्यायमें असफलता हो तो शक्तिका भी उपयोग करके कुष्टोंकी हडाना चाहिये। सर्वजनोंकी रक्षा और दुर्जनका नाश करनेके जनताको अपने अन्धम्य निश्चयसका मार्ग खुला करना चाहिये। इस प्रकार ध्वंसकार करनेसे जनताके अन्ध इतनी शक्ति बढेगी कि स्वयं उससे शत्रु दूर हो जायेंगे और फिर क्वाबटें उत्पन्न करनेवाले शत्रु उनकी सतानेमें असमर्थ हो जायेंगे। शत्रु कांता भी प्रयत्न करे, उस विद्यासे अपनी रक्षा करनेके क्षम्य अपने दास पहिलेसे ही तैयार रहने चाहिये। अर्थात् शत्रु यदि जानते घाटी करते तो ज्ञान द्वारा उनका प्रतिबन्ध करना चाहिये, शत्रु बलसे हमला करे तो बलसे उसका निवारण करना चाहिये। इसी प्रकार जिन शत्रुओंको लेकर शत्रु हमपर हमला करे, उनका निवारण करनेका पूर्ण प्रबंध अपने पास रहना चाहिये। देखके शत्रु-रहित होनेसे ही मनुष्योंका अन्धम्य होना और उनको निश्चय प्राप्त होना समर्थ है। शत्रुके हमले का रक्षा हेतु रहे तो उत्पत्ति अत्यन्त है।

इसलिये काया, धाना, मनसे तथा अपने पासके अन्धम्य साधनोंसे शत्रुओंको दूर करनेका प्रयत्न होता चाहिये और अपना आदिक, बौद्धिक, मानसिक, आर्थिक तथा अन्य सब प्रकारका बल इतना बढना चाहिये कि जिससे अपने सामने शत्रु उठर ही न सके।

शशु-नरशान-सूक्त

कांड १ सूक्त १९

(श्रुति - मन्त्रा । देवता - ईश्वर, ऋत्वि ।)

मा नो विदन् विव्याधिनी मो अभिव्याधिनी विदन् ।

आराच्छरव्या अस्मद्विपूर्वीरिन्द्र पातय

॥ १ ॥

विश्वेशो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्पतिः ।

॥ २ ॥

दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विंध्यत

॥ ३ ॥

यो नः स्वो यो अरणः सज्जत उत निष्टयो यो अस्मां अभिदासति ।

रुद्रः शरव्या यैतान् ममामित्रान् वि विंध्यतु

॥ ४ ॥

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विपन् छपाति नः ।

देवास्तं सर्वं धूर्वन्तु ब्रह्म चर्म मनान्तरम्

अर्थ— (वि व्याधिनः) विशेष वेध करनेवाले शत्रु (नः मा विदन्) हतकर न पहुँचे । (अभिव्याधिनः) चारों ओरसे सारकाट करनेवाले (नः मा विदन्) हमारा कमी न पहुँचे । हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (विपूर्वीः शरव्या-) सब ओर फैलनेवाले वायु समूहोंको (अस्मत् आरात् पातय) हमसे दूर दूर । ॥ १ ॥

(ये अस्ताः) जो सके हुए और (ये च अस्याः) जो कँके जायेंगे, वे सब (विश्वेशः शरवः) चारों ओर फैले हुए वायु आवि शस्त्र (अस्मत् पतन्तु) हमसे दूर जाकर गिरें, (दैवीः मनुष्येषवः) हे मनुष्योंके विश्व पावो । (मम मित्रान्) मेरे शत्रुओंको (विविंध्यत) वेध डालो ॥ २ ॥

(यः नः स्वः) जो हमारा अपना अथवा (यः अरणः) जो दूतरा परकोय हो, किंवा जो (स-ज्जतः) समान वस्त्र जातिका कुलीन (उत) अपना जो (निष्टयः) भिन्न जातिवाला या संकर जातिवा हीन मनुष्य (अस्मान् अभिदासति) हमपर घटाई करके हमें दास बनानेकी चेष्टा करे, (यतान् मम मित्रान्) इन मेरे शत्रुओंको (रुद्रः) दसनेवाला और (शरव्या विविंध्यतु) वायोंसे वेध करे ॥ ३ ॥

(यः) जो (सपत्नः) विरोधी और (यः असपत्नः) जो प्रकट विरोधी नहीं है (च यः द्विपन्) और जो द्वेष करता हुआ (न छपाति) हमको शाप देता है (तं) उल्टा (सर्वैर्देवाः) सब देव (धूर्वन्तु) नाश करें । (मम अन्तर चर्म) मेरा आंतरिक कवच (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान ही है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हमारे शत्रुओंका शीर्ष देना ही कि हमारा नाश करनेकी इच्छा करनेवाले सब शत्रु हमसे तथा दूर रहें और हमतक वे कमी न पहुँच सकें । उनके दास्य भी हमसे दूर रहें ॥ १ ॥

सब शस्त्र हमसे दूर गिरें और हमारे शत्रुओंपर ही सब शस्त्र गिरने रहें ॥ २ ॥ कोई हमारा मित्र या शत्रु, हमारी जातिवाला या परजातिवा, कुलीन या हीन, कोई भी बयो न हो, यदि वह हमें दास बनाने या हमारा शास्य बनानेकी चेष्टा करता है तो उनका नाश शस्त्रसे करना प्रोथ है ॥ ३ ॥

जो प्रकट या छिपा हुआ शत्रु हमारा नाश करना चाहता है या घुरे शब्द बोधता है, हम सज्जन जाको दूर करे । मेरा आंतरिक कवच सत्यज्ञान ही है ॥ ४ ॥



शत्रु-नाशन-सूक्त

आन्तरिक कवच

इस सूक्तमें जो सबसे महत्वपूर्ण बात कही है वह आन्तरिक कवचकी है। देशके कवच पर्वत, दुर्ग और समुद्र होते हैं, इनके होनेके कारण बाहरके शत्रु देशमें धूँस नहीं सकते। पामके कवच किले होते हैं इनके कारण शत्रु घाममें घुस नहीं सकते। शरीरके कवच तोड़ने अथवा लारके बनावे जाते हैं इनके कारण शत्रुके शस्त्र शरीरपर न लगते नहीं और शरीर सुरक्षित रहता है। शरीरके अंदर आत्मा और अन्न करण है, मन, बुद्धि, चित्त और महकार ये मितकर अन्न करण होते हैं, इनका सहयोग आत्मके लिये सदा रहता है। इस 'अंतःकरण' के लिये 'अंतः कवच' अवश्य चाहिये, जो इस प्रभुत्वान्त सूक्तमें 'ब्रह्म धर्म ममान्तरम्' शब्दों द्वारा बताया है। 'तानक्य कवच ही मेरा आन्तरिक कवच' है। जिसके आत्मा और अन्न करणका ज्ञानरूप कवचसे संरक्षण होता है, उनको किसी भी शत्रुसे डर नहीं हो सकता, वह अज्ञानशत्रु ही बना रहता है। इस तानक्य कवचके वर्णनमें जो ज्ञानपाथक 'ब्रह्म' शब्द सूक्तमें प्रयुक्त किया है, वही परमेश्वर या परब्रह्मका वाचक है और इसलिये इस 'ब्रह्म' शब्दसे 'परमात्म विषयक आन्तरिक बुद्धिपुष्ट मान' इतना अर्थ समझना योग्य है।

सूक्तके दो विभाग

इस सूक्तके दो विभाग हैं, प्रथम विभागमें प्रारंभसे षष्ठ्यं मन्त्रके श्लोक चरणसूक्तके सब मन्त्र आते हैं और द्वितीय विभागमें षष्ठ्यं मन्त्रके षष्ठ्यं चरणका ही समावेश होता है। इन विभागोंको देखकर इस सूक्तका विचार करनेसे बड़ा मोघ मिलता है।

वैदिकधर्मका साध्य—ब्राह्म कवच

'परमात्माकी भक्तिसे परिपूर्ण साथ समस्त ज्ञान ही मेरा कवच है' इस ब्राह्म कवचसे सुरक्षित होनेपर मुझे किसी भी शत्रुका भय नहीं, यह अंतमविज्ञान मनुष्यमें उत्पन्न करना वैदिक धर्मका साध्य है। यह भाव मनुष्यनाशमें स्थापित करनेके लिये ही वैदिक धर्मकी शिक्षा है। परंतु यह ज्ञान समय समयपर दोहरे परिच्छेद प्रज्ञानार्थमें ही उत्पन्न होता है और उनको भी दोहरे संतोंमें इसका साक्षात् अनुभव होता है, यह बात हम इतिहासमें देखते हैं। इसलिये मद्रि देवका

१८ [अर्ध भा २ मातृ ० हिन्दी]

यह साध्य है, तयार्थ सब मनुष्योंमें यह साध्य साक्षात् प्रत्यक्षमें आना कठिन है इसमें भी संदेह नहीं है। इसलिये एष साधारण मनुष्य आत्मिक विषय शक्तिको शरण जानेकी अपेक्षा मत्तभेदका निरघम करनेके समय शारीरिक पाशवो शक्तिका ही साध्य लेते हैं। अतः इस प्रकार प्रथम विभागके मन्त्र पाशवो शक्तिका विचार करते हुए साधारण ज्योंका मन बना रहे हैं और द्वितीय विभागका मन्त्रमाय आत्मिक विषय शक्तिका मानवो अंतिय ध्येय बना रहा है।

'आत्मिक शक्ति या आत्मिक ज्ञान ही मेरा सबसे बड़ा कवच है, जिससे मैं सब प्रकारके शत्रुओंसे सुरक्षित रह सकता हूँ, मेरे अंदर अहिंसाका भाव पूर्ण रूपसे स्थिर हो, तो जो जो मेरे पास आयेगे उनके अंदरसे भी शत्रुताका भाव दूर हो जायगा।'

इत्यादि वैदिक धर्मकी शिक्षा अन्तिम साध्य है, मनुष्यको यही बात अंतमें स्वीकार करने है, परंतु यह स्वीकार बाह्य रमायसे नहीं होना चाहिये, अपितु अंत स्फूर्तिसे ही होना चाहिये, अपना स्वभाव ही ऐसा बनाना चाहिये। इसी तबसे मनुष्यका सबसे अधिक कल्याण है।

अन्य कवच—शत्रु कवच

शरीरके, मन्त्रोंके तथा देशोंके सम्बन्ध कवच उक्त विश्वासेके अनारम्भ आवश्यक हो हैं। स्वतंत्रसंकेत शत्रुताका भाव इस बात तबस्वामों ही सह्यक हैं। अर्थात् जबतक जलता पूर्वोक्त अधिकारके लिये योग्य नहीं होती, तबतक शत्रुता लक्ष्यपथ राशुका संरक्षण इन संस्कारोंसे करें। ये क्षत्र साध्य हैं। ज्ञान कवचसे सुरक्षित होना ब्राह्म-साधन और सोहेके कवचों तथा शत्रुतामें ही सुरक्षित होना क्षत्र-साधन है। ब्राह्मसाधनको स्वीकार करने योग्य जनताकी उन्नति धर्मसाधनके करने चाहिये और तबतक उक्तकी उन्नति नहीं होती, तबतक शत्रुतापनसे अनुभूतका प्रतिकार करना योग्य है। क्षत्रसाधनसे युद्धमें नष्ट होनेसे ही मनुष्य इन साधनोंकी श्रुताका अनुभव करता है और ब्राह्मसाधनको आत्मनोका दास करता है।

इस प्रकार युद्ध भी मनुष्यको ब्राह्मसाधनके अनुभवेवाले मार्गदर्शक बनते हैं।

दासभावका नाश

श्लोक मन्त्रमें कहा है कि ' जो अपना पा परमात्म हर्ष दास

घननेकी चेष्टा करता है उसका नाश करना चाहिये ।
राष्ट्रीय पारतन्त्र्य शारीरिक दास भावका छोटक है, इसको
अतिरिक्त मानसिक, बौद्धिक तथा धार्मिक पारतन्त्र्य भी है
और ये सबसे अधिक घातक हैं । किसी प्रकारका भी पारतन्त्र्य
को अपने शासककारणको वह स्वीकार नहीं करना चाहिये,
आपको दास बननी नहीं बनना चाहिये । स्वायत्तता ही

मनुष्यका साध्य है । ज्ञान और पुण्याग्निसे स्वायत्तता अर्पित
रूपसे मुक्ति प्राप्त होती है, इसका भी आशय यही है ।
मनुष्यके सब कुछ बलात्कृतके कारण हैं । इतनिये कोई मनुष्य
या कोई राष्ट्र दूसरे मनुष्यको या राष्ट्रको बलात्कृत बचानेका
यत्न न करे और यदि कोई ऐसा प्रयत्न करे भी तो सब
मनुष्य उसका विरोध करें ।

शकुन्तलम्

कांड ७, सूक्त ७०

(ऋषि. - अथर्व । देवता - इन्द्रेण, मन्योस्ता ।)

यत्किं चासौ मनसा यत्तं वाचा युजैर्जुहोति हविषा यजुषा ।

तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य

॥ १ ॥

यातुधाना निर्ऋतिराद् रक्षस्ते अस्य मृत्यन्तेन सत्यम् ।

इन्द्रैपिता देवा आर्ज्यमस्य मध्रन्तु मा तसं पाद्वि यद्रसौ जुहोति

॥ २ ॥

अजिराधिराजौ इयेनौ संपातिर्नाविब । आर्ज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कर्थाभ्यघापतिं

॥ ३ ॥

अपाञ्ची त उभौ बाहू अपिं नहाम्यास्यम् । अग्नेदेवस्यं मन्थुना तेनं तेऽवधिषं हविः

॥ ४ ॥

अपिं नहामि ते बाहू अपिं नहाम्यास्यम् । अग्नेर्घोरस्यं मन्थुना तेनं तेऽवधिषं हविः

॥ ५ ॥

अर्थ— (असौ यत् किं च मनसा) यह मनु जो कुछ भी मनसे और (यत् च वाचा) जो कुछ भी वाणीसे
करता है तथा जो कुछ (यजुषा हविषा यज्ञैः जुहोति) यज्ञ, हवि और यज्ञसे हवन करता है । (अस्य तत् संवि-
दाना निर्ऋतिः) इसका वह उद्देश्य जाननेवाला सहायकचित (सत्यादा पुरा मृत्युना साहुतिं हन्तु) यज्ञकी पूर्णता
होनेके पूर्व ही मृत्युसे उसकी आहुति नष्ट करे ॥ १ ॥

(यातुधानाः रक्षः निर्ऋतिः) धातना देनेवाले, राक्षस और विनाशकारिण ये सब (मात् उ अस्य सत्य
मृत्यन्तेन हन्तु) निश्चयपूर्वक इस कुछ धनुके सत्यका भी अनुकूल घात करें । (इन्द्र-इपिताः देवाः) इन्द्र द्वारा प्रेषित
देव (अस्य आर्ज्यं मध्रन्तु) इस कुछ धनुके घातको मर्षे और (यत् असौ जुहोति तत् मा संपादि) जिस उद्देश्यको
यह हवन करता है वह निष्ठ न हो ॥ २ ॥

(अजिर-अधिराजौ संपातिर्नो इयेनौ इय) दोधारागो पक्षिराज यात्र जैसे एक दूसरेपर आघात करते हैं,
उसी प्रकार (यः च च नाः अभि अघायति) जो कोई हमें पाप या बन्ध देता है उस (पृतन्यतोः आर्ज्यं हतां) सेना-
वाले धनुषका भी नष्ट करे ॥ ३ ॥

(ते उभौ बाहू अपाञ्ची) हुआ धनुके दोनों बाहू में पीछे मोड़कर धातना हुआ । (आस्यं अपिं नहामि) तेरा
मुंह में बाँध देता हूँ । (अग्नेः देवस्य तेन मन्थुना) अग्निदेवके उस क्रोषको (ते हविः अवधिषं) तेरे हविषा में नाश
करता हूँ ॥ ४ ॥

(ते बाहू अपिं नहामि) तुम धनुके दोनों बाहुओंको बाँधता हूँ । (आर्ज्यं अपिं नहामि) मुझको भी
बाँधता हूँ । (घोरस्य अग्नेः तेन मन्थुना) अग्निदेवके उस क्रोषको (ते हविः अवधिषं) तेरी हविषा में नष्ट
करता हूँ ॥ ५ ॥

जो शत्रु धरने (पृथ-वृत्त.) संयते हवें सनाता है और (न. अधायति) हवें पायी युक्तिबोले विधिष कष्ट देता है, उस दुष्ट शत्रुके नाश सब यज्ञादि प्रयत्न भी सकल न हों। ऐसे दुष्ट शत्रु जो भी साथ कम करते हैं उसका उद्देश्य इतना ही होता है कि उससे उनकी शक्ति बडे और उस शक्तिका उपयोग हवें दवानेकी युक्तिधर्मों से करें। दुष्ट जैसे जो कुछ सत्कर्म करते हैं, वह सत्कर्म प्रेमसे नहीं करते, अभिवृत्त अपनी शक्ति बढानेके लिये करते हैं और ये मनमें यही इच्छा धारण करते हैं, कि इस शक्तिसे हम निर्वन्तोंको लूटें और अपने भोग बढावे। मत इस मूलतमें ऐसी प्रार्थना की है कि ऐसे दुष्टोंके सत्कर्म भी सकल न हों और उनकी शक्ति भी न बडे, दुष्टोंकी शक्ति घटनेसे जगत्में शान्ति रह सकती है।

शत्रुका नाश

कांड ६, सूक्त १३४

(ऋषि - शुक । वेत्ता - मन्त्रवेत्ता, यज्ञ. ।)

अयं वज्रस्तर्ययतामृतस्यावांस्य राष्ट्रमप्य हन्तु जीवितम् ।

शृणातुं ग्रीवाः प्र शृणातुं ष्णिहां वृत्रस्वेषं शचीपतिः

॥ १ ॥

अधरोऽधर उचरेम्पो गूढः पृथिव्या मोसृषत् । वज्रेणावहृतः शयाम्

॥ २ ॥

यो जिनाति तमन्विच्छु यो जिनाति तमिञ्जहि ।

जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय

॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं ऋतस्य यज्ञः तर्पयतां) यह सत्कर्म का शस्त्र तर्पित करे, यह (अस्य राष्ट्रं अपहन्तु) इसके शत्रु-भूत राष्ट्रका नाश करे और (जीवितं अपहन्तु) शत्रुके जीवनका भी नाश करे। (शचीपतिः वृत्रस्य इव) इष्ट जैसी शृणाता पराभव करता है, उसी प्रकार यह शत्रुकी (ग्रीवा शृणातु) गर्दनोको काटे और (ष्णिहाता प्र शृणातु) धम-निर्मोको कष्ट देवे ॥ १ ॥

(उचरेभ्यः अधरः अधरः) जहृष्टोले नीचे और नीचे होकर (पृथिव्या, गूढ.) पृथ्वीमें छिपकर रहे और (म्ना उत्सृषत्) कभी ऊपर न आवे। तथा (वज्रेण अहृतः शयाम्) बख्से मारा जाकर पड़ा रहे ॥ २ ॥

हे शत्रु ! (य. जिनाति तं अन्विच्छु) जो हानि करता है उसको दूढ़ निकाल। (यः जिनाति तं इत् जहि) जो कष्ट पहुँचाता है उसको मार डाल। (त्वं जिनतः सीमन्तमन्वञ्च अनुपातय) तू दुष्ट देनेवालेके तिरको सीधा गिरा दे ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह वज्र सत्कर्म का संरक्षण करता है और असत्कर्म नाश करता है। जो इस राष्ट्रका नाश करना चाहता है उस शत्रुका नाश इस बख्से हो। यह वज्र उनका नाश करे जो दूसरोंको सताते हैं ॥ १ ॥

शत्रुका श्मशान पतन होके, वे अपना तिर कभी ऊपर न करें और अन्तमें बख्से मारे जाकर भूमिपर गिर जायें ॥ २ ॥ जो दिना कारण दुष्टका नाश करता है, उसीका नाश करना योग्य है। उसी दुष्टका तिर काटा जाये ॥ ३ ॥

वज्रादि शस्त्रोंका उपयोग

वज्र आदि सत्कर्मोंका उपयोग जनताको हानि करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके काममें ही किया जाये। सत्य पक्षकी सहायता करने और अज्ञानपक्षके विरोध करनेके काममें इन शस्त्रोंका उपयोग किया जाये। अज्ञानपक्षके भोग समझ-समझकर प्रभव भी हो जाय तथापि वे दिन प्रतिदिन नीचे गिरते जाते हैं। उनका पक्ष ही ऐसा होता है, कि वह उनको उठने नहीं देता। जिसके कारण जनताको हानि होती है, सब मित्रकर उसका नाश करें।



शशुका नाश

कांड ६, सूक्त १३५

(ऋषिः - शुकः । देवता - मन्त्रोक्ता, अथः ।)

यदुशामि बलं कुरु इत्थं वज्रमा ददे । स्कन्धानमुष्यं ज्ञातपन्व्यस्मैव शचीपतिः ॥ १ ॥

यत्पियामि सं पिशामि समुद्र इव संपिवः । प्राणानमुष्यं संपाय सं पिशामो अमुं वषम् ॥ २ ॥

यद्विरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः । प्राणानमुष्यं संगीर्यं सं गिरामो अमुं वषम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यत् अशामि बलं कुरु) जो मैं जाहूँ उतारो मैं अपना बल बढाऊँ । (इत्थं वज्रं आददे) इस प्रकार मैं बल हाथमें लेता हूँ और (अमुष्य स्कन्धान् शातयन्) उस शत्रुके बन्धोंको काटता हूँ (शचीपतिः पृथस्य इव) इन्द्र जैसे धनुषको काटता हूँ ॥ १ ॥

(यत् पिशामि संपियामि) जो मैं पीता हूँ वह ठीक ही पीता हूँ । (समुद्र इव संपिवः) समुद्र जैसे पीता हूँ । (अमुष्य प्राणान् संपाय) उस शत्रुके प्राणोंको पीकर (वषं अमुं स पिशामः) हथ, वस्त्रकी पी जाता हूँ ॥ २ ॥

(यत् गिरामि संगिरामि) जो मैं निगलता हूँ उसको ठीक गलेके नीचे उतार देता हूँ (समुद्र इव संगिरः) समुद्र जैसे निगलता हूँ । (अमुष्य प्राणान् संगीर्यं) उसके प्राणोंको निगलकर (वषं अमुं संगिरामः) हथ उसको गलेके नीचे उतार देते हूँ ॥ ३ ॥

भाषार्थ - जो मैं जाता हूँ और गलेके नीचे उतारता हूँ, उसका मैं अपने अंदर बल पैदा करता हूँ । जिस प्रकार समुद्र नदियों और वृष्टि जलोंकी पीता है और अपनाता है, उसी प्रकार मैं भी शत्रु और धीमे हुए अन्नरतोंको अपनाता हूँ और उनसे अपना बल बढ़ाता हूँ और उस बलसे युक्त होकर हाथमें शस्त्र रखके लिये शस्त्र लेता हूँ और दुष्टोंका नाश करता हूँ ॥ १-३ ॥

अपना बल बढ़ाकर उस बलका उपयोग दुष्टोंके बल करनेके कार्यों करता चाहिये ।



शशुका नाश

कांड ६, सूक्त १०३

(ऋषिः - उषोपनः । देवता - इन्द्राग्नी, बहुवेद्यतम् ।)

सुदानं वो बृहस्पतिः सुदानं सविता करन् । सुदानं मिश्रो अर्षमा सुदानं भगो अधिना ॥ १ ॥

अर्थ— हे शत्रुओ ! (बृहस्पतिः यः सुदानं करत्) बृहस्पति तुम्हारे टुकड़े करे, (सविता सुदानं) सविता नाश करे, (मिश्रः सुदानं, अर्षमा सुदानं) मिश्र और अर्षमा टुकड़े करें, (भगः अधिना सुदानं) भग और अधि-देव तुम्हारा नाश करें ॥ १ ॥

भाषार्थ— शत्रु, शूर, मिश्र, न्यायकारी, धनवान्, शत्रुवान् मे सब शत्रुकी रक्षाके लिये अपनी अपनी शक्तियोंका साह्य करें, कोई डर कर पीछे न रहे ॥ १ ॥

सं परमान्तसमवमानयो सं यामि मभ्यमान् । इन्द्रस्तान्पर्यहार्दाज्ञा तानमे सं द्या त्वम् ॥ २ ॥

अमी ये युधमायन्ति केतून्कृतवानीकृषः । इन्द्रस्तान्पर्यहार्दाज्ञा तानमे सं या त्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ— शत्रुओंके (परमान् अवमान्, अथो मभ्यमान् सं सं यामि) दूरके, पासके और बीचके शैनिकोंको काटता हूँ, (इन्द्रः तान् परि अहः) इन्द्र उन सबका निवारण करे । हे अमे ! (त्वं तान् दासा सं य) तू उनको पासके अपने आपीन रख ॥ २ ॥

(केतून् कृत्वा) शत्रुओंको उठाकर (अमी ये अनीकृषः युद्धं आयन्ति) वे जो अपनी अपनी दुर्कृतियोंके साथ युद्धके लिये आते हैं, (तान् इन्द्रः परि अहः) उनका इन्द्र निवारण करे । हे अमे ! (त्वं तान् दासा सं य) तू उनको पासके अपने रख ॥ ३ ॥

भावार्थ— शत्रुसेनामें जो पासवाले, बीचके और दूरके शैनिक हैं, उनका निवारण किया जावे और जो जीवित मिले उनकी अपने आपीन किया जावे ॥ २ ॥

जो शैनिक शत्रुओंको उठाकर छोटे छोटे दुर्कृतियोंमें मिलकर हमला करते हैं, उनका भी पूर्वोक्त प्रकार मान किया जावे ॥ ३ ॥

शत्रुका दमन

बिना समय राष्ट्र रक्षाका प्रश्न उपस्थित हो, उस समय (गृहस्वपति) ज्ञानी जन, (सविता) दूर धीर, (मिथ्र) मित्रदलके लोग, (अर्य-या) श्याय करनेवाले, कौन थोड़ा है और कौन नहीं इसका निश्चय करनेवाले, (भृग) ऐश्वर्यवान्, (अधिवनी) अश्ववाले, अर्थात् घोड़ोंपर सवार होनेवाले धीर, (इन्द्र) नरेन्द्र मज्ज, दूर, धीर, (अग्नि) प्रकाशक आदि सब प्रकारके लोग अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये कटिबद्ध होकर हर प्रकारसे शत्रुका नाश करें और अपने राष्ट्रका बचाव करें । इनमेंसे कोई भी पीछे न रहे, अपनी अपनी शक्तिके अनुसार जो हो सके, वह हरएक मनुष्य करे और अपने राष्ट्रकी रक्षा करे ।

इस सुषटमें जो देवतावाचक नाम आये हैं, वे देवोंके दिव्य राष्ट्रके अनेक ओहदेदार हैं, देव राष्ट्रमें उनके कार्य निरिधत हैं । वे ही कार्य करनेवाले मानवराष्ट्रके ओहदेदार भी उसी प्रकारके अपने अपने कार्य करें और अपने राष्ट्रकी रक्षा करें, यह इस सूक्तका आशय है । अंसा देव करते हैं वंसा ही मनुष्य वहाँ करें और देव यें ।

शत्रुका पराजय

कांड ६, सूक्त १०४

(ऋषि - प्रश्नोचन । देवता - इन्द्राग्नी, महतो वेवता ।)

आदानेन संदानेनामिज्ञाना यामसि । अपाना ये चैषा प्राणा अनुनासून्तसमच्छिदन् ॥ १ ॥

अर्थ— (आदानेन संदानेन) एकदके और वयमें करके (अमिज्ञान् भा यामसि) शत्रुओंको हम नष्ट करते हैं उन (येषां ये च प्राणाः अपानाः) इनके जो पान धीर अपान हैं उन (असून् अनुना स अच्छिदम्) प्राणोंको प्राणोंसे ही काट बालता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ— शत्रुको एकदकर उनको धामें रखकर हम उनका नाश करते हैं । उनके प्राणोंका बल ही हम नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

इदमादानंमकरं तपसेन्द्रेण संशिवम् । अग्नित्रा येऽत्र नः सन्ति तान्मया आ द्या त्वम् ॥ २ ॥

ऐनाभ्यतामिन्द्राग्नी सोमा राज्ञा च मेदिनी । इन्द्रो मरुत्वानादानंमित्रैर्भ्यः कृणोतु नः ॥ ३ ॥

अर्थ— (इन्द्रेण तपसा संशिवम्) इन्द्रके द्वारा तपसे तीक्ष्ण किया हुआ (इदं आदानं मकरं) यह पाप मने बनाया है, (ये अत्र नः अग्नित्राः सन्ति) जो महाहमारे शत्रु हैं, हे बन्ने ! (तान् त्वं आ द्या) उनका तु नाश कर ॥ २ ॥
(इन्द्राग्नी एतान् आ द्यातां) इन्द्र और अग्नि इनका नाश करें (सोमः राज्ञा च मेदिनी) सोम और राजा भी जानवसे यह कार्य करें । (मरुत्वान् इन्द्रः) मरुतोंके साथ इन्द्र (नः अग्नित्रैर्भ्यः आदानं कृणोतु) हमारे शत्रुओंको पकड़ कर रसे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— तपके द्वारा बनाया यह पाप है उससे शत्रुको बांध और उनका नाश कर ॥ २ ॥

सब देव शत्रुनाश करनेके लिये हमारी सहायता करे ॥ ३ ॥

शत्रुको पकड़ना

शत्रुको पकड़कर उसको बांध देना चाहिये । उसकी शत्रुता यदि नष्ट हो जाए तो शत्रु भी नष्ट हो जाता है । मनुष्यके तपके प्रभावसे उसका शत्रु शीघ्र होता है और उसमें तप न होनेसे शत्रु भी प्रथल हो जाता है ।

शत्रुके तेजका नाश

कांड ७, सूक्त १३

(श्राविः - अर्षा द्विपोवर्चोहर्तुकामम् । देवता - सोमः ।)

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यस्तेर्जास्यादुद्रे । एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विपर्ता वर्च आ ददे ॥ १ ॥

यार्षन्तो मा सप्तर्षानामापन्तं प्रतिपश्यथ । उद्यन्सूर्यं इव सुष्ठानां द्विपर्ता वर्च आ ददे ॥ २ ॥

अर्थ— (यथा उद्यन् सूर्यः) जैसे उदय होता हुआ सूर्य (नक्षत्राणां तेजांसि आददे) तारकी प्रकाशोंको हट लेता है, (एवा द्विपर्ता स्त्रीणां च पुंसां च) उसी प्रकार देव करनेवाले त्रिषों और पुरुषोंका (वर्चः आददे) तेज में हट लेता है ॥ १ ॥

(सप्तर्षानां यार्षन्तः) शत्रुओंमेंसे जितने (मां आपन्तं प्रतिपश्यत) मुझे खाते हुए देखते हैं, उन (द्विपर्ता वर्चः आददे) सब शत्रुओंका तेज में उसी प्रकार शीघ्र लेता है, (सुष्ठानां सूर्यः इव) जैसे सोते हुए मनुष्योंका तेज सूर्य शीघ्र लेता है ॥ २ ॥

भाषार्थ— शत्रु शीघ्र हो अथवा पुरुष हटे, यह सोना ही अथवा जागता हो, जो कोई शत्रुता करता है उसका तेज कम करना चाहिये, अर्षात् उससे अथवा तेज बढाना चाहिये ॥ १-२ ॥

शत्रुका तेज घटाना

इस सूक्तमें शत्रुका तेज घटानेका उपाय कहा है । नक्षत्र और सूर्यको उपचारते यह विषय कहा है । सूर्यके उदय होनेके पूर्व नक्षत्र चमकते रहते हैं, परंतु सूर्यके उदय होते ही नक्षत्रोंका तेज हलका हो जाता है । इसमें नक्षत्रोंका तेज घटानेके लिये सूर्य को माल नहीं करता है, अपितु सूर्य अपना तेज बढाता है जिससे आप ही आप नक्षत्रोंका तेज घट जाता है ।

इसी प्रकार द्वेष करनेवालोंका विचार न करते हुए अपना तेज बढ़ानेका यत्न करना चाहिये । जो शत्रुके तेजको घटानेका यत्न करेंगे वे फलिते, परंतु जो सूर्यके समान अपना तेज बढ़ानेका यत्न करेंगे उनका अभ्युदय होगा । शत्रुका विचार करनेके समय ' सूर्य और नवाश्रीका वृष्टान्त ' ध्यानमें रहें । इस समयमें एक ओर भी बात बड़े महत्वकी-बतार्ह है कि सोते हुए मनुष्योंका तेज सूर्य हर लेता है । अर्थात् सूर्यके उदय होने पर भी जो सोते रहते हैं, वे मनुष्य नित्य ही होते हैं । इसी लिए सूर्यवियसे पूर्व ही निद्रात्यागका विधान है ।



शत्रुको दूर करना

कांड ६, सूक्त १७

(श्रुति - अथर्वा । देवता - मित्रावरुणी ।)

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरिप्ररभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः ।

अम्भृदं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाभिर्होत्रा इदं हविः ॥ १ ॥

स्त्रघास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावरुचं मधुनेह पिन्वतम् ।

वाधेधां दूरं निश्चिंति पराचैः कृणुं चिदेनः प्र सुंभृक्तमस्मत् ॥ २ ॥

इमं वीरमनुं हर्षव्वमग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रंमध्वम् ।

ग्रामजितं गोजितं वर्जवाहुं जयन्तुमज्मं प्रमृणन्तुमोजेसा ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथाः अभिभूः) यत्न शत्रुका पराभव करना है, (अग्निः अभिभूः) अग्नि शत्रुकी पराजय करता है, (सोमः अभिभूः) सोम शत्रुका पराभव करता है, (इन्द्रः अभिभूः) इन्द्र शत्रुका पराभव करता है (यथा अहं विश्वाः पृतनाः अभि अस्मानि) जिससे मैं भी सब सेनाओंका पराभव करूं । (एवा) इसलिये मैं भी । अग्निहोत्रा इदं हविः विधेम) अग्निहोत्र करनेवाला होकर इस हविका समर्पण करता हूँ ॥ १ ॥

हे (विपश्चिता मित्रावरुणा) ज्ञानी मित्र और वधु ! आपके लिये (स्वघा अस्तु) यह अन्नभाग हो । (प्रजावत् हृषं हृह मधुना पिन्वतं) प्रजावृक्त सन्निव बल यहां लींचे । (निश्चिंति पराचैः दूर वाधेधां) दुर्गतिको दूर करके दूर ही नष्ट करो और (कृणुं चिदं एतः) किये हुए पापको भी (अस्मत् प्रमृणुं) हमसे दूर करो ॥ २ ॥

हे (सखायः) मित्रो ! (उग्रं प्रामजितं गोजितं वर्जवाहुं धीरं) उग्र स्वभाववृत्त, गांवको भीतनेवाले, घोडो भीतनेवाले अथवा इद्रियोंको बध करनेवाले, बधधारण करनेवाले धीर, (योजेसा मज्मं प्रमृणन्तं) बलसे शत्रु-बलका नाश करनेवाले और (जयन्तं) विजय करनेवाले (इन्द्रं अनु सं रंमध्वम्) इन्द्रके अनुकूल अपने सब व्यवहार करो ॥ ३ ॥

भावार्थ— यत्न अथर्वा परीषकार, अग्नि, सोमादि औषधि, शूर और वे सब अपने अपने शत्रुओंको दूर करते हैं । उस प्रकार मैं भी सेनासे आक्रमण करनेवाले शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूंगा । मैं इस विजयके लिये ऐसा आवाप्तमर्पण करूंगा जैसा अग्निहोत्रमें हविर्द्रव्य धरने आपका समर्पण करता हूँ ॥ १ ॥

इस समयमें सब शत्रुओंके उत्तम शूरवीर बालबच्चे हों और वे राष्ट्रमें ऐसा प्रथम करें, कि उससे सब दुर्गति नष्ट होवे और सब पाप दूर होवे ॥ २ ॥

जो शत्रुके वांछी भीतनेवाले, शूरवीर, दारुधारण करनेवाला अपने बलसे शत्रुनाश नाश करता है, उक्त विजय समर्पण करनेवाले वीरके अनुकूल अपना आचरण करो ॥ ३ ॥



इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः । जयन्तु सत्यानि मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥ ३ ॥

अर्थ— (इन्द्रः प्रथम असुरेभ्यः नैर्हस्त चकार) इन्द्रने पहिले असुरोंको निहत्या अर्थात् विजय बनाया । अतः (स्थिरेण मेदिना इन्द्रेण) स्थिर मित्र इन्द्रकी सहायतासे (मम सत्यानिः जयन्तु) मेरे सत्यवान् वीर लोग विजय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

अपना बल इतना रखना चाहिये कि अपने सम्मुख वस्तु विजय प्राप्त हों, इस प्रकार अपना बल बढ़ानेसे और शोणवापूर्वक वस्तुको कमजोर करनेसे विजय प्राप्त होगी ।



शशुपर विजय

कांड ६, सूक्त ६६

(ऋषि - अथर्व । देवता - पराश्र, इन्द्रः ।)

निर्हस्ताः शत्रुमिदासश्चस्तु ये सेनामिदुर्धमायन्यस्मान् ।

समर्षयेन्द्र महता वधेन द्राक्ष्वेषामघटारो विविद्धः ॥ १ ॥

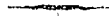
आतन्वाना आपच्छन्तोऽस्प्यन्तो ये च्च धार्वथ । निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोऽथ पराशरीत् ॥ २ ॥

निर्हस्ताः सन्तु शत्रुवोऽर्धैषां म्लापयामसि । अर्धैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि मंजामहे ॥ ३ ॥

अर्थ— (नः अमिदासन् शत्रुः निर्हस्ताः वस्तु) हम पर हमला करनेवाला वस्तु निहत्या अर्थात् विजय होये । (ये सेनाभिः वस्मान् युधं आयन्ति) जो संघ लेकर हमारे साथ युद्ध करनेके लिये आते हैं, हे इन्द्र । (महता वधेन समर्षये) उनको बड़े शस्त्रसे मार डाल । (एषां अघटारः विविद्धः द्रातु) इनका विधाय प्राप्त करनेवाला वीर विद्ध होता हुआ भाग जाये ॥ १ ॥

हे (शत्रवाः) शत्रुओ । (ये आतन्वानाः) जो तुम अनुपस्थानते हुए (आयच्छन्तः अस्प्यन्तः च धार्वथ) लोचने हुए और भाग छोड़ते हुए चौकते चले आते हो, तुम (निर्हस्ताः स्थन) हस्तरहित हो जाओ । (इन्द्रः पराश्र पराशरीत्) इन्द्र आज तुमको मार डाले ॥ २ ॥

(शत्रवः निर्हस्ताः सन्तु) सब शत्रु हस्तरहित हों, (एषां अंशा म्लापयामसि) इनके अंशोंको हथ विजय करते हैं और (एषां वेदांसि शतशः विमंजामहे) इनके अंशोंको हम सैकड़ों अक्षरोंसे मोटते हैं ॥ ३ ॥



शशुपर विजय

कांड ६, सूक्त ६७

(ऋषि - अथर्व । देवता - पराश्र, इन्द्रः ।)

परि वर्तमानि सर्वत इन्द्रः पूषा र्च सस्तुतु । मुषन्त्वधामः सेना अमिप्राणां परस्तुराम् ॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रः पूषा च) इन्द्र और पूषा (सर्वतः वर्तमानि परि सस्तुतुः) सब भागोंमें प्रलय करें, जितने (अमिप्राणां सेनाः परस्तारं मुषन्तु) शत्रुसेनाएं वृत्तक घबरा जायें ॥ १ ॥

मूढा अमित्राश्रयताशीर्षाणि दुर्वाहपा । तेषां चो अयिमूढानामिन्द्रो हन्तु चरवरम् ॥ २ ॥
 पेषु नम वृषाजिनं हरिणस्या भिर्यं कृधि । पराङ्मित्र एषत्वर्वाची गौरुषेपतु ॥ ३ ॥

। अर्थ— हे (अमित्राः) शशुको ! तुम (मूढाः) भ्रान्त होकर (अशीर्षाणाः अह्यः इव चरत) बड़े हुए सिरवाले सपके समान चलते । (अशिमूढानां तेषां चः) हमारे आनेवालेके मोहित हुए दुष्टमेंसे (चरवरं इन्द्रः हन्तु) बरिष्ठ बरिष्ठ बीरको इन्द्र मार डाले ॥ २ ॥

(एषु वृषा हरिणस्य अजिन आनशा) इन हमारे बीरोंको मल्लो युक्त हृदिषका अर्थ पहिना । हमारे सैन्यके शत्रुसंघमें (मिय कृधि) मय उत्पन्न कर । (अमित्रः पराङ् पश्यतु) मनु परे भाग जावे और (गौः अर्वाची उप पश्यतु) उसकी भूमि या गोवं हमारे पास जाजावे ॥ ३ ॥

ये तीन सूक्त शशुको पराङ्कित करनेके हैं । शशुको मोहित करके उन्हें डरा कर ऐसे भया देना चाहिये कि उनमेंसे कोई भी न बचे । उनमें जो दूर हों उनको मार डालना चाहिये और ऐसा पराङ्कय करना चाहिये, कि जितने शशुके मयमें डर पैदा हो जावे । ये तीनों युक्त सरल हैं इतलिये अधिक विवरण करनेको कोई आवश्यकता नहीं है ।

शशुको वपना कांड ५, सूक्त ८

(श्विः - अर्षाः । देवता - नानादेवतां, अग्नि, विश्वेदेवाः, इन्द्रः ।)

वेकङ्कतेनेध्मेन देवभ्य आर्ष्यं वह । अग्ने तौ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम् ॥ १ ॥
 इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि सञ्छृणु । इम ऐन्द्रा अंतिसरा आकृतिं सं नमन्तु मे ।
 तेभिः शकेम चीर्यौ जातवेदस्त्वन्वधिनु ॥ २ ॥
 यदुसावसुतो देवा अदेवः संधिकीर्यति ।
 मा सस्याभिर्हृष्यं वाशीद्वर्ष देवा अंस्य गोपं शुर्ममैव हवमेतन ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (वेकङ्कतेन इध्मेन) श्वेदा [एक प्रकारका वृक्ष] वृक्षके इध्मने (आन्य आ यत्) देवोंके लिये पूत पड़ुंका बीर (तान् इह मादय) उनको यहाँ प्रदान कर, वे (सर्वे) सब (मे हवं आयन्तु) मेरे यत्नमें आवें ॥ १ ॥
 हे इन्द्र ! (मे हव्यं आयाहि) मेरे यत्नमें आ । ओ (इदं करिष्यामि सञ्छृणु) यह प्रार्थना मे कर्ण, उसे सु सुन । (इमे ऐन्द्रा अतिसराः) ये इन्द्र तबकी शरणाभी पुण्य (मे आकृतिं सं नमन्तु) मेरे संबन्धके अनुकूल हों । हे (तान्-यधिनु जातवेद) दासीरको यत्नमें करनेवाले जानवान् । (तेभिः चीर्यं शकेम) उन प्रयत्नमें शोषकों प्राणित हम कर सके ॥ २ ॥

हे (देवाः) देवों ! (असौ अ-देवः सन्) यह देवता रहित होकर (अमृतः यत् चिरीर्यति) बहोसे जो कुछ बात करना चाहता है, (तस्य हव्यं अग्निः मा वाशीष्) उसका हृष्य अग्नि न पड़ुंकावे (देवाः अस्य हवं मा उपस्युः) देव भी इसके यत्नमें न जावें । प्रायत (मम एव ह्य एतन) मेरे ही यत्नमें आवें ॥ ३ ॥

भाषार्थ— अग्नि इस यत्नमें देवोंके लिये पूतको आहूतियां पड़ुंकावे और यहां देवोंको सार्वभूत करे, जितने सब देव संतोवले मेरे यत्नमें आते रहें ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! तु मेरे यत्नमें आ और जो मे प्रार्थना करता हूं उसे सुन । वे जो इन्द्रके संबन्धमें कार्य करनेवाले हैं, मे मेरे अनुकूल कार्य करें । हे दासीरको यत्नमें करनेवाले जानी । उन प्रार्थनामेंसे हमको शोषं प्राप्त होवे ॥ २ ॥

अति घावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हव ।

अविं वृकं इव मभ्रातु स वो जीवन्मा मोचि प्राणमस्यापिं नक्षत ॥ ४ ॥

यममी पुरोदिधिरे ब्रह्माणमर्भूतये । इन्द्र स ते अवस्पदं तं प्रत्यस्वामि मृत्यवे ॥ ५ ॥

यदि प्रेषुदेवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।

तनुपानं परिपाणं कृष्णाना यदुपोचिरे सर्वं तदरुसं कृधि ॥ ६ ॥

यानुसावतिसरांश्चकारे कृष्णबंधं यान् ।

स्य तानिन्द्र वृशद्वन्मतीचः पुनरा कृधि यथामुं तुणहां जर्नम् ॥ ७ ॥

यथेन्द्र उदाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम् । कृपेदेहमधरांस्तथामुच्छ्वतीम्पुः समाभ्यः ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (अतिसराः) अथपामी पुण्यो ! (अतिघावत) वेगसे थोड़ा । (इन्द्रस्य वचसा हव) इन्द्रके वचनसे भारो ! (अविं वृकं इव मभ्रातु) जैसे भेड़को भेड़िया मारता है, उसी प्रकार तानुको मच डालो । (सः जीवन्) वह तानु जीवित ही (यः मा मोचि) हुनसे न छूट आवे । तुम (अस्य प्राणं अपिनह्यत) इसके प्राणको भी बाँध डालो ॥ ४ ॥

(यमी यं ब्रह्माणं) ये जिस तानीको (अपभूतये पुरः दिधिरे) अवनतिके लिये आगे करते हैं । हे इन्द्र ! (सः ते अधस्पदं) वह तेरे पाँके नीचे होये, (तं मृत्यये प्रत्यस्वामि) उसको मृत्युके लिये पकड़ना है ॥ ५ ॥

(यदि देवपुराः प्रेषुः) यदि तानुओंने देवोंके नारोंपर चढ़ाई की है और जहाँने (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) धातको ही अपना बन्ध बनाया है और (तनुपानं परिपाणं कृष्णाना) धरौपरलक सापन भी बनाते हुए (यत् उप ऊचिरे) जो कुछ कहते हैं (सर्वं तत् अरुसं कृधि) उस सबको प्रविष्टहीन करो ॥ ६ ॥

(असी यान् अतिसरांश्चकार) इतने जिनको अथपामो बनाया था और (च यान् कृष्णवत्) जिनको धर्मा बनाया है, हे ! पुत्रद्वन् इन्द्र ! तानुनाटक इन्द्र ! (स्यं तान् पुनः प्रतीचः आकृधि) तू उनको पुनः बाधन छोड़ दे । (यथा अमुं जनें तुणहान्) जिससे उस जनसमूहको हम मार डालें ॥ ७ ॥

(यथा इन्द्रः उदाचनं लब्ध्वा) जैसे इन्द्रने षड्यजानेकाले तानुको प्राप्त करने उसको (अधस्पदं चक्रे) पाँके नीचे दवा दिया (तथा अर्द्धं) उस प्रकार में (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) तराके लिये (अमून् अधरान् कृप्ये) इन तानुओंको नीचे डरता है ॥ ८ ॥

भाषार्थ— हे देवो ! जो बस्तुतः तानुको मर्तित न करता हुआ कुछ अन्य कर्म करना चाहता है, उसकी मर्तुतिपां मर्ति भी देवोंको न पट्टवाये और देव भी इसके घतमें न जायें । अपितु वे मेरे घतमें आवे ॥ ३ ॥

हे अथपामी पुण्यो ! वेगसे तानुपर हमला करो । इन्द्रको आताले तानुका बध करो । जैसे भेड़िया भेड़को मारता है, उसी प्रकार तुम तानुको मार डालो । तानुके प्राण लो । कोई तानु तुम्हारे हाथसे न बच पावे ॥ ४ ॥

जो तानु अपने विद्वान् पुण्योंको भी अवनतिके जायमें लगते हैं, उनकी अपोगति होये, मैं तो उसको मृत्युके लिये मर्तित करता हूँ ॥ ५ ॥

यदि देवोंके नारोंपर तानुओंने चढ़ाई की है और अपने धरौपरलके लिये कवचदिचे द्वारा अपनी संघारो की है तथा अपने सब हातको भी इस युद्धकर्ममें ही लया दिया है, ऐसे तानुका वह सब प्रयाण विफल होवे ॥ ६ ॥

जो तानु अपने थोरोंको भागे करके हमला करता है, उस तानुके सब प्रयाण जल्द ही जायें, जिससे सब तानुओंको हम मार डालें ॥ ७ ॥

जिस प्रकार इन्द्र धनरो तानुको भी नीचे डराना है, उसी प्रकार मैं तारा अपने तानुको नीचे डराने चकूँ ॥ ८ ॥

अत्रैनानिन्द्र प्रवृत्तुमो मर्मणि विष्य । अत्रैवैनांभि त्रिमुन्द्रं मेर्युइं तर्ष ।
अनु त्वेन्द्रा रंभामहे स्याम सुमतौ तर्ष

॥ ९ ॥

अर्थ — हे (वृषहन् इन्द्र) अनुनासक इन्द्र ! (अथ उग्रः एनान् मर्मणि विष्य) यहां धुर होकर इनके मर्मोंको छेद दे । हे इन्द्र ! (अथ एव एनान् अभितिष्ठ) यहीं इन पर चडाई कर । (अनुं तव मेदी) मैं तेरा निध होकर रहता हूं । हे इन्द्र ! (त्वा अनु आरभामहे) तेरे अनुकूल हम कार्यात्म करे और (तव सुमतौ स्याम) तेरी सुमतिमें रहें ॥ ९ ॥

भाषार्थ — हे प्रभो ! तू उग्र होकर यहां अनुके मर्मस्पर्शोंको छेद, इन अनुओंपर चडाई कर । मैं तेरा निध होकर तेरे अनुकूल कार्य करता हूं और तेरी सुमतिमें स्थिर रहता हूं ॥ ९ ॥

शत्रुकी दवाना

शत्रुका नाश

यह सुप्त शत्रुके नाश करनेका उपदेश देनेवाला है। इसके पहिले वो मंत्रोंमें परमेश्वरको प्रार्थना करके बल प्राप्त करनेका उपदेश किया है—

ईश प्रार्थना

शक्तिमें घृतकी आहुतियां देकर यजमान प्रार्थना करता है कि— ' मैं देवताओंको लक्ष्य करके ये आहुतियां इस यज्ञमें दे रहा हूं, ये आहुतियां देवताओंको प्राप्त हों और इससे देवता समुष्ट होकर मेरी प्रार्थना सुनें । प्रभुकी भी मैं प्रार्थना करता हूं कि वह मेरी प्रार्थना सुने और सब वस्तुकी शक्तियां मेरे अनुकूल हों और मुझे बहुत बल प्राप्त हो । '

(म १-२)

नास्तिकोंकी असफलता

जिस पुरुषके मनमें परमेश्वरको भक्ति नहीं होती, वस्तुकी नास्तिक अथवा भक्तिहीन यदुष्ट कहते हैं। यदुष्ट उपस्थित होनेपर दोनों पक्षके लोग प्रभुकी प्रार्थना करते हैं। तात्परी अर्थात् अपने यज्ञके लिये प्रभुकी प्रार्थना करता है, उतरी प्रकार बुद्ध पक्षके लोग भी जिसके लिये प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार दोनों ओरके संनिक विजय प्राप्तिके लिये प्रार्थना करने लगे और यज्ञयाग करने लगे, तो प्रभु किस पक्षकी सहायता करता है और किसकी नहीं करता, इस विषयमें सुतीय मंत्रका उपदेश लघुप्रबन्धके अन्तमें योग्य है—

' जिस समय नास्तिक भक्तिहीन बुद्ध यदुष्ट अपने विजयके

लिये यज्ञयाग अथवा ईशप्रार्थना आदि करता है, उस समय अग्नि उलकी आहुतियां देवताओंके प्रति नहीं पहुंचाता और देवता भी उसके यज्ञमें नहीं जाते, क्योंकि देवता केवल नास्तिक भक्तोंके यज्ञमें ही जाते हैं । ' (मं. ३)

इस मंत्रमें स्पष्ट ही बताया है, कि दोनों पक्षके लोग प्रार्थना करें भी, तो भी वास्तविक लोचोंकी ही प्रार्थना परमेश्वर सुनता है, बुद्धोंकी प्रार्थनाएं कभी नहीं सुनता । इसलिये सत्यपक्षके लोग ही प्रार्थनासे ईश्वरीय बल प्राप्त करते हैं और वह बल अत्यंत पक्षके लोगोंको नहीं प्राप्त होता। इस कारण धरा अत्यंत सत्यपक्षकी ही विजय होती है । इसलिये अतुल्य मंत्रमें कहा है कि— ' प्रभुकी आज्ञाके अनुसार यज्ञपर हस्तका करो, शत्रुको मार डालो, बीईं शत्रु सुम्हारे हस्तमें जाता न सके । ' (मं. ४) यह बल सत्यपक्षकी ही प्राप्ता होता है, इसलिये सत्यपक्ष अथवा अग्नि बुद्धिसे सहायता प्रतीत हो तो भी वह नास्तिक वस्तुकी बुद्धिसे शक्तिमंत्रमें होनेके कारण अन्तमें विजयी होता है । अत्यंतपक्षोंके परमेश्वरको भक्तिसे लाभ नहीं होता, यही अज्ञानके लिये पंचम और षष्ठ मंत्रोंमें उपदेश है—

' जो अत्यंतपक्षका आश्रय करनेवाले लोग अपनी विजयके लिये आहुतियोंकी भी अग्नि अथवा नास्तिककारक कर्ममें अर्पण उपासनादि कार्य करनेके लिये वाचित करते हैं, उनकी परमेश्वर अवनत करता है और मृत्युकर पहुंचाता है । जो बुद्ध देवजन्तुके अग्रगण्य हस्तका शत्रुके अपनी विजयके लिये उपासनादि कर्म करते रहते हैं और समझते हैं कि इससे अग्रगण्य

रखा होगा और हम सुरक्षित होंगे, ये भ्रममें रहते हैं, क्यों। कि उनके ये सब प्रयत्न विफल हो होनेवाले हैं ।' (मं. ५-६)

अर्थात् असाफल्यकी विनय कभी नहीं होगी । तदा सत्यका पक्ष ही जय प्राप्त करेगा । यह वैदिकयज्ञका शिक्षालाभापित-सिद्धान्त है । जोई इसको अग्यपा कर नहीं सकता ।

अन्तिम तीनों मंत्रोंमें यही बात निम्न रीतिले कही है—
' जो बृष्ट शत्रु अपने तैदिकोंको साथे बढ़ाकर बेगले हमला करता है, उसका यह कार्य अन्तमें उसके विप्लव हीजाता है । (मं. ७)' अर्थात् पहले धर्मद्वयें आकर शत्रु सत्त्वके भास करनेकी जैसी जंजी तैसा ? करता है, बंता बेसा बहु अधिकसे अधिक धिरेता जाता है । यद्ये बड साप्रान्य इतो बृष्ट भायके कतरण नाशकी प्राप्त बृष्ट हें और ये कभी पुनः उठे नहीं, यह जान कर लोभोंको उचित है कि ये कभी अयमंभयसे न धलें और बूढरकि नाशसे अपनी उन्नति करनेके कार्य न करें । क्योंकि ऐसे कार्योंमें कदापि सफलता प्राप्त नहीं होगी ।

' ऐसे यमंडो और धडबड करनेवाले शत्रुको नीचे खाला चाहिये, यह सदा फलन करने योग्य नियम है ।' (मं. ८)

अर्थात् सज्जनोंको भी शत्रुको उभेसा नहीं करनी चाहिए ।

शत्रुके नाशका उपाय

नवन मंत्रमें शत्रुका नाश करनेका उपाय बताया है—

(१) उग्रः अथ मर्मणि यिभ्य- दूर होकर पशु शत्रुके मर्मस्थानोंपर देव कर । (मं. ९)

(२) अथैव एनान् अभितिष्ठ- यहाँ उनका सामना कर अर्थात् उन शत्रुओंपर बेगले हमला कर (मं. ९)

(३) अहं तव भेदी । तव सुमतौ स्याम । स्या अन्वारभामदे- मैं तेरा मित्र होकर रहूँ, तेरी सुमतिमें में रहूँ और तेरे अनुकूल कार्य करूँ । (मं. ९)

परमात्मके अनुकूल कार्य करनेका तत्पर्य अर्थात्कूल व्यवहार करना है । इस प्रकार धार्मिक व्यवहार करते हुए धार्मिक बल पढाकर, परमात्मके प्रेमी बनकर रहना और शत्रुका हमला उलटा देनेका सामर्थ्य भी अपने पास रखना, अर्थात् अपने पक्षको कमजोर न रखना चाहिए । इस प्रकार धार्मिक और धार्मिक बलसे युक्त होनेसे सब युद्धमें विजय अवश्य ही प्राप्त होती है ।

शत्रुओंको दूर करना

कांड ४, सूक्त ३

(धिया - अथर्व । देवता - स्या, श्यामः ।)

उदितस्त्रयै अक्रमन्व्याघ्रः पुरुषो घृकः ।

हिरुषि यन्ति सिन्धुको हिरुषुको वृत्स्पतिर्हिरुङ्मन्तु शर्षवः ॥ १ ॥

परैतु पथा घृकः परमेणोत् तस्करः । परेण दुस्वती रज्जुः परेणाघापुरंतु ॥ २ ॥

अर्थ— (व्याघ्रः, घृकः, पुरुषः शयः) राघ, भेंडिया और चोर मनुष्य ये तीनों (इतः उदकमन्) यहूति भाग जायें । (सिन्धयः हिरुष्क यन्ति) नदिपान नीचेकी ओर घटिते जानी है, (वृत्ः घनस्पतिः हिरुष्क) दिव्य वनस्पति भी लोगोंकी नीचेकी घटिते भगा बेतो है, इसी प्रकार (शशयः हिरुष्क मन्तु) शत्रु नीचे होकर सुके रहें ॥ १ ॥

(परेण पथा घृकः यतु) दूरके मार्गसे भेंडिया चला जाये । (उत परमेणोत् तस्करः) और उलते भी दूरसे चोर चला जाये । (परेण दुस्वती रज्जुः) दूरसे बाँधवाली रस्सी अर्थात् सापित चली जाये और (अघातुः परेण अर्थात्) पापी दूरसे भाग जाये ॥ २ ॥

भावार्थ— राघ, भेंडिया, और चोर यहूति भाग जायें । जिस प्रकार नदियोंके प्रवाह नीचेकी ओर जाते हैं, और दिव्य वनस्पतियोंके रोग दूर होते हैं, इसी प्रकार शत्रु हमसे दूर हो जायें ॥ १ ॥

भेंडिया, चोर, राघ और पापी बृष्ट हम समसे दूर भाग जायें ॥ २ ॥

अध्वयैचि ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि । आत्सर्वाग्निशक्तिं नृरात् ॥ ३ ॥
 व्याघ्रं द्रवत्वां वयं प्रंधुमं जम्भयामसि । आर्दुं ऐनमथो अहिं यातृधानमथो वृकंम् ॥ ४ ॥
 यो अद्य स्तेन आयति स संविष्टो अपायति । पृथामंपभ्रुंसेनेस्विन्दो वज्रैण हन्तु वम् ॥ ५ ॥
 मूर्णा भ्रुगस्य दन्ता अविष्ठीर्णा उ पृष्टयः । निमुक्तं गोधा भवतु नीचायच्छत्रपुम्भिः ॥ ६ ॥
 यत्संयमो च वि यमो वि यमो यत्र संयमः । इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् ॥ ७ ॥

मर्थ—हे व्याघ्र ! (ते अध्वयै) तेरी बीतों आँखोंको, (च ते मुखं) तेरे मुँहको, (आत् सर्वाग्नि शक्तिं) नखान् (नृरात्) और तेरे सब बीतों नखोंको हम (जम्भयामसि) नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

(द्रवत्वां प्रघमं व्याघ्रं) दंतबालोंमें पहिले बाघका, (आर्दु उ अहिं) और ताँपका (अथो वृकं) और भेंड़ियेका, (स्तेन अथो यातृधानं) चोर और सूटेरेका (वयं जम्भयामसि) हम तान करते हैं ॥ ४ ॥

(अद्य यः स्तेन आयति) आज जो चोर आवे, (संविष्टः सः अप आयति) घूर घूर हुआ हुआ वह हम जावे और वह (पया अप ध्यंसेन एतु) मागिकि बिनाजाले अर्थात् मागकी मूलकर जला जावे और (इन्द्रः वज्रेण स हन्तु) इन्द्र वज्रसे उसे धार डाले ॥ ५ ॥

(सुगन्ध दन्ताः मूर्णाः) हिल पशुओंके दंत तोड़ दिए गये (अपि पृष्टयः शीर्षा उ) और उसकी पसलियां तोड़ दीं । (ते गोधा निमुक्तं भवन्तु) तेरी गोहू नीचे हो जावे और (सृगः शशयुः नीचा अयत्) हिल पशु सेटता हुआ नीचे भाग जावे ॥ ६ ॥

(यत् संयमः न वियमः) जिसका संयम किया जा चुका हो उसको विलोप दबायमें न रखो, परंतु (यत् न वियमः संयमः) जिसको विलोप दबायमें न रखा हो उसको अच्छी प्रकार संयममें रखो । यह (इन्द्रजाः सोमजाः) इन्द्रसे और सोमसे उत्पन्न हुआ हुआ (आथर्वणं जम्भनं असि) अथर्वविद्यासे व्याघ्रारिणी बनावेला उपाय है ॥ ७ ॥

भाषार्थ— बाघकी आँखें, मुँहके दाँत और उसके बीस नखान हम नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

शीघ्र दाँतबालोंमें बाघको, भेंड़ियेको और ताँपको तथा वृद्धोंमें और और सूटेरेको हम नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

आज जो चोर हनपर हमला करे उसका पूर्य नारा हो और यदि वह बड़े तो घबरकर धपका मार्ग भूल जाए । फिर घूर घूरकर अपने घरसे उसको काट दे ॥ ५ ॥

हिल पशुके दाँत तोड़े जाएँ और पसलियाँ काटो बाधूँ ताकि सब हिल पशु नीचे मुल करके डरते भाग जावें ॥ ६ ॥

जिसको उत्तम प्रकारसे काबूमें किया जा चुका है, उसको और अधिक दबायमें न रखो; परंतु जिसको काबूमें नहीं किया है, उसको अच्छी प्रकारसे दबायमें रखो । यह इन्द्र, सोम और अथर्वानि वृद्धोंको हनन करनेका उपाय है ॥ ७ ॥

शत्रुओंको दूर करना

दुष्टोंका दमन करनेका उपाय

अथर्वविद्याका नियम

इस सूक्तमें दुष्टोंको दमन करनेका उपाय कहा गया है । यह सूक्त सब व्यापक अर्थवाला है इसलिये इसके पठनेके समय अपना दृष्टिकोण आध्यात्मिक रखना चाहिये, तभी इससे योग्य फल हो सकेगा । अब इस दुष्टोंके दमनका उपाय देखिये—

१ यत् सं-यमा, न वि यमा,

२ यत् न वि यमा; सं-यमाः ॥ (सं. ७)

* जिसका संयम किया हो, उसको और विलोप न दबाया जावे; परंतु जिसका दमन बिल्कुल न किया हो, उसका संयम अवश्य किया जावे । यह अर्थमें विद्याका नियम है—

आयर्षणं व्याघ्रजम्भनम् । (मं. ७)

' यह अथर्व वेदवा संभ्रमो व्याघ्रजिके वन विद्याका नियम है, ' यह दो प्रकारसे किया जाता है—

इन्द्रजाः सोमजाः । (मं. ७)

' इन्द्र अर्थात् इन्द्रियोंका अधिष्ठाता जो वन व्यवसाय-कारण अनुष्ठित है उससे उत्पन्न होनेवाली (इन्द्र-जाः) अंतःकालसे एक वन हीता है और (सोमजाः) सोम आदि शोधियोंकी शक्तिसे एक वन किया जाता है । ' बुद्धिके वनके ये दो मार्ग हैं :

इस संघर्ष सूक्तमें ' (१) व्याघ्रः (बाघ), (२) वृकः (भेड़िया), (३) अहिः (साँप), (४) दत्तवती रज्जुः (बाँतवाली काठनेवाली रस्सी अर्थात् साँपिन), (५) तथा अन्य बाँतवाले, मातृनीपाले हिंसाः मुग्गः (हिल पशु) और गोघा (गौह) ' इन बुद्ध प्रशिक्षणके काम भी गिनाये गए हैं । तथा ' तस्करः, स्तेनः पुरुषः (चोर मनुष्य), अधायुः (पानी), धातुघानः (लुटेरा), दात्रुः (बंदी) ' बुद्ध मनुष्योंके नाम भी गिने गए हैं । इससे स्पष्ट होता है कि बुद्ध मनुष्योंको समाजसे दूर हटाना आवश्यक है, उसी प्रकार हिल पशु शोधियोंको भी दूर करके समाजको सुखी करना चाहिये । यहाँ जिनकी पिठती नहीं हुई ऐसे जो अन्य बुद्ध हों उनको इहाँ बिचिसे काटने करना चाहिये और समाजसे दूर करना चाहिये और समाजको सुखी करना चाहिये । यह सूक्तका भाष्य है ।

बाघ, साँप और साँपिन के दाँत उखाड़कर उनको शीघ्र वनकेका उपाय तीसरे मंत्रमें बताया है, यह उपाय सभी पशु जो दाँतों और नाखूनोंसे हिंसा करते हैं उनके वनके लिये बला जाने योग्य है ।

साँप, बाघ, भेड़िया आदि हिंसक प्राणी भायें तो उनको पीटना चाहिये, उनको पतलापानी तोड़नी चाहिये, उनको इतना मारना चाहिये कि वे मर जायें यह बात मंत्र ३ से ६ तक के चार मंत्रोंमें बताया है । तथा इन्हीं मंत्रोंमें चोर लुटेरा डाकू बुद्ध आदि समाज घातक लोग समाजमें आकर उपद्रव मचावे लिये तो उनको भी उसी उपायसे शांत करना चाहिये, ऐसा कहा है ।

इस वण्डेकी मारसे इन सब बुद्धों हिंसकों और शत्रुओंको मारत मर दूर करना चाहिये, यह इस सूक्त द्वारा उपदेश दिया है । परंतु बाघ, शेर, चोर, लुटेरे ये बाह्यके समाजमें ही रहते हैं, ऐसा मानना बड़ी भारी भूल है । ये भी बाह्य हैं

वंधे ही मनुष्यके अंदर भी हैं और इस सूक्तमें बाघ, भेड़िया, चोर आदि बाह्यके शत्रुओंके शसनके उपदेशके बहाने बहुतों आंतरिक हिंस न्युओंका और आंतरिक शत्रुओंका ही शसन करनेका उपदेश किया है । शसन सूक्तके ' संघर्ष ' शब्दसे यह बात स्पष्ट हो रही है ।

मनुष्यके अंतःकरणके दोषमें काम शोध, सोम, मोह, मर और मत्सर ये छः अशु हैं और इनको धेवमें पशुही गिना है—

उल्लूक्यातुं शुशुलूक्यातुं
जहि श्वयातुमुत कोक्यातुम् ।

सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं

दृपदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥ (ऋग्वेद ७।१०।१२२)

' (सुपर्ण-यातुं) गडबके समान चातचतन अर्थात् यमंत्र, (गृध्रयातुं) गीधके समान व्यवहार अर्थात् लोभ, (कोक्यातुं) चिड़ियोंके समान भाषार अर्थात् काम, (श्वयातुं) कुत्तेके समान वार्ता अर्थात् स्वकीयता मत्सर या श्रेय, (उल्लूक्यातुं) उल्लूकेके समान शान्दार अर्थात् शूद्रता, (शुशुलूक्यातुं) भेड़ियोंके समान कृष्ण ये छः पशु मनुष्यके अंतःकरणमें रहते हैं, इनका नाश ऐसे ही करना चाहिये जैसे पर्यटन पशियोंका करते हैं । ' काम, शोध, सोम, मोह, मर और मत्सर ' ये छः अशु हैं, ये पशु हैं, उनको दूर करना चाहिये । इनके संघर्ष करनेका यह उपाय समाज मंत्रमें कहा है—

१ जिनका संघर्ष हो जाय, उस पर और विशेष दबाव नहीं डालना चाहिये ।

२ और जिनका संघर्ष न हुआ हो, उनको संघर्ष के अंदर लाना चाहिये ।

यह बात समाजमें मानिके लिये एक उदाहरण लेते हैं । गाड़ीके घोड़े पहिले केवल पशु होते हैं, परन्तु उनको सिखाया जाता है, सिखावेपर वे गाड़ीमें बोलते भाते हैं । जो घोड़े अच्छे नियम से चलनेवाले सुधील होते हैं यदि उनको बिना कारण अधिक दबाया, सताया, या पीड़ित किया जाय तो वे विरग्न बंधते हैं । अति दंडव इस प्रकार पातक होता है । इन्द्रियोंके विषयमें भी यही बात है । जो इन्द्रियें संयमित होती हैं, यदि उनको और कड़े नियमोंमें रखा जाय तो उनमें प्रतिक्रिया शून्य हो जाती है और इस कारण उनके विनाश जानेकी संभावना हो जाती है । इसलिये संघर्षमें रहकर योग्य कार्य करनेवाली इन्द्रियोंको भी उचित स्वतंत्रता देनी चाहिये, परंतु साथ ही साथ उनपर बलात्के साथ अपनी बुद्धि

रखती चाहिये और उनका आधरम देसना चाहिये ताकि ये कुमारपंजर न जाय और संयममें ही स्थिर रहें। इस प्रकार संयमित इन्द्रियों और वृत्तियोंमें बर्ताय करना चाहिये। परंतु जो संयममें स्थिर नहीं हैं उनको नियमोंमें बांध कर प्रयत्नसे उनको बन्धमें करना चाहिये और जब यशमें या आर्थमें सब उनकी पूर्णतः रीतिसे अनुसार योग्य स्वतंत्रतामें रखते हुए संयमके मार्गमें सुरक्षित चलाना चाहिये।

बोलोंमें जो सिंह व्याघ्रादियोंको बरामें रखते हैं वे भी इसी प्रकार बरामें रखते हैं। पहिले प्रेमसे उनके साथ व्यवहार करते हुए उनमें अपने विषयमें विद्वान् उत्पन्न करवाते हैं, बरघाह् योग्य रीतिसे शिक्षा देते हैं। निश्चित हो जानेपर उनपर बाहरसे बहुत बन्धन न डालते हुए, परंतु किसी भी प्रकार से न्यायादिका जल्लंघन न कर सकें, ऐसी व्यवस्थासे उनकी शासन करते हैं। संयमके पूर्व और बरघाह् व्यव-

हार करनेकी जो यह सूचना इस सूक्तमें दी है यह यही उपयोगी है।

मनुष्यके अंत कारागृहों में बन्धु हैं, उसी प्रकार अन्य रिशु, भेरी, सुट्टेरे बहुतसे भाव हैं। इन सबको अपने स्वाधीन करना अपना दूर करना चाहिये। यह संयम अपनी अंतः-प्रकृतियोंमें करना चाहिये, सब ही साथ भीषणियों प्रयोगमें भी कुछ अंतक सह्यता ही आ सकती है। जैसे राजगृहों आदिमें सेवन करनेसे कामकोय् कुछ अंतक काम होते हैं और रत्नोगुणी या सधोगुणी यत्न सेवन करनेसे वे बड़ जाते हैं। मध्यमोपासनासे कामकोय् बड़ते हैं और जब परामर्शसे सेवनसे निवृत्त होजानेपर उनसे बच जानेकी बहुत सम्भावना रहती है। इसी प्रकार सोमविषी भीषणिय रख सेवनसे भी पक्ष काम होने संभव है।

इतना होनेपर भी अपनी अंत प्रकृतियोंमें कामादियोंका संयम करनेका अनुष्ठान अतिथोष्ठ है।



दुष्टोंका संहार

कांड ७, सूक्त १०८

(ऋषि - मृगः । वेत्ता - अग्निः ।)

यो नस्तुपदिस्सति यो न आविः स्वो विद्वानर्षो वा नो अग्ने ।
 प्रथीन्ये त्वरणी दुत्वती वान्मैर्षामग्ने वास्तु भूमो अर्षदयम् ॥ १ ॥
 यो नः सुप्ताज्ञार्षवो वाभिदासात्तिष्ठंतो वा चरंतो जातवेदः ।
 पैश्वानरेर्ण सुधुजां सुजोषास्तान्प्रवीचो निर्देह जातवेदः ॥ २ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (यः नः ताप्यत् दिस्सति) जो हमें छिपकर सताता है तथा (यः नः आविः) जो हमें प्रकट रूपसे कुछ बताता है। वह चाहे (नः स्वः विद्वान् अरघः) हमारा अपना संबंधी विद्वान् ऋषि परकीय जो हमें न हो (तान् परवती अरणी प्रतीची यतु) उनपर बान्बाली सोटी जलटी बले। हे अग्ने ! (यर्षां वास्तु मा भूत्) इनका कोई घर न हो और (मा अयस्यं उ) न उनकी कोई सत्ता हो ॥ १ ॥

हे जाननेर आने ! (यः नः सुप्तान् जाग्रतः वा अभिदासात्) जो हमारा भोले हुए या जागते हुए भाग करे, (यः तिष्ठतः वा चरतः) जो ठहरे हुए या चलते हुए भाग करे। हे (जातवेदः) अग्ने ! (पैश्वानरेण सयुजां सुजोषाः) विश्वके नेता अपने मित्रके साथ मिलकर तु (तान् प्रतीचः निः देह) उन प्रतिकूल चलनेवालोंको भ्राम कर ॥ २ ॥

जो छिपकर हमारा भाग करे, या प्रकट रूपसे हर्षेताये। वह हमारा संबंधी हो, मित्र हो, स्वकीय ही या परकीय हो, उक्त सतानेवालेका भाग भिना आवे।

सेते, जापते, छडे हुए या शतते हुए किसी व्यवस्थामें हम हों, जो हमारा धात करता है, उसका भी नाम किया जावे ।

मरने मतानेवाले वस्तुकी वपेसा न को कार्य, यह इस सूक्तका तात्पर्य है ।

दृष्टका निष्कारण

कांड ७, सूक्त १०

(श्रुतिः - धारिताः । वेयता - मन्त्रोक्ताः ।)

अपि वृक्ष पुराणवद् भ्रतवैरिव गुण्पितम् । ओजो द्वाप्तस्य दम्भय ॥ १ ॥

वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि मजामहे । म्हापयामि भ्रजः शिभ्रं वरुणस्य भ्रतेन ते ॥ २ ॥

यथा श्रेयो अपायते स्त्रीषु चासदनावयः ।

अवस्थस्य ऋदीवतः शार्ङ्गुरस्य नितोदिनः यदातंमव तत्तनु यदुत्तं नि तत्तनु ॥ ३ ॥

अर्थ— (भ्रततेः पुराणवद् गुण्पितं इव) क्ताओंकी पुरानी वृक्षी सखिपोकै सामान (द्वाप्तस्य ओजः अपि-वृक्ष दम्भय) हिसकके बचको काटो और बचाओ ॥ १ ॥

(वयं अस्य तत् संभृतं वस्तु) हम इसके उत एकचित पनको (इन्द्रेण विमजामहे) प्रभुके साथ बंट देते हैं । तथा (वरुणस्य भ्रतेन) वरुण देवके भ्रतके साथ (ते भ्रजः शिभ्रं म्हापयामि) तेरे तेजके धर्मको सिद्धा देते हैं ॥ २ ॥

(अवस्थस्य ऋदीवतः) नीच जाती देनेवाले, (शार्ङ्गुरस्य नितोदिनः) कटक जैसे व्यवहार करनेवाले और पीडा देनेवाले वृष्ट मनुष्यका (यत् आततं) जो कैंसा हुआ दुष्टत्व है, (तत् अव तनु) मिट जावे, (यत् उत्ततं तत् नितनु) जो ऊपर उठा ही वह नीचा हो जावे । { यथा श्रेयः स्त्रीषु अपायते } जिस रीतिसे इनका दुष्कर्म त्रिपोकै विषयमें न होवे उस प्रकार उनतक ये दुष्ट (अनापयाः आसत्) न पहुँचनेवाले हों ॥ ३ ॥ ।

भाषार्थ— हे ईश्वर ! वृष्ट और उपद्रव देनेवाले मनुष्यका बल घटा दो ॥ १ ॥

वृष्ट मनुष्यका पन लेकर ईश्वरके शुभ कर्ममें लगा दो ॥ २ ॥

पीडा देनेवाले वृष्ट मनुष्य त्रिपोकै कभी कष्ट न बँ ऐसा प्रबंध करो ॥ ३ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है अतः इसका विशेष विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं । वृष्टोंके आक्रमणसे त्रिपोकै बचाव करना शक्य है । त्रिपोकै पाल भी कोई वृष्ट मनुष्य न पहुँच पावे ।

यातुधान् नक्षत्रान्

कांड १, सूक्त ७

(श्रुतिः - घातनः । वेयता - जीतः (यातयेताः), मन्वीश्वरी ।)

स्तुवानमम्र आ वंह यातुधानं किमीदिनम् । त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्पोर्विभूर्विथ ॥ १ ॥

अर्थ— हे जाने ! (स्तुवानं) स्तुति करनेवाले (यातुधानं किमीदिनं) घातक मन्त्रोंको भी (या घट) यहाँ ले जा । (हि) क्योंकि हे देव । (वन्दितः त्वं) मन्त्रको प्राप्त हुआ तू (दस्पोः) दस्तूका (हन्ता) हनन करने-वाला (विभूर्विथ) होता है ॥ १ ॥

आन्व्यस्य परमेष्ठिन् जावेवेदुस्तनूवाग्निम् । अग्ने तौलस्य प्राधानं यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥
 वि लेपन्तु यातुधानां अत्रिणो ये किमीदिनः । अयेदमये नो हविरिन्द्रश्च प्रति हयवत् ॥ ३ ॥
 अग्निः पूर्वं आ रमतां प्रेन्द्रो जुदत बाहुमान् । अर्वातु सर्वो यातुमानयमुस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥
 पश्याम ते वीर्यं जातवेदुः प्र णो ब्रूहि यातुधानाञ्चक्षः ।
 स्वया सर्वे परिवृताः पुरस्ताच्च आ यन्तु प्रनुवाणा उपेदम् ॥ ५ ॥
 आ रमस्य जातवेदोऽस्माकापीय जज्ञिषे । द्रवो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥
 स्वमीय यातुधानानुपयद्वो इहा बह । अथैपामिन्द्रो वृजेणार्पिं क्षीर्षाणि वृषतु ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (परमेष्ठिन्) श्रेष्ठ स्थानमें रहनेवाले (जातवेदः) ज्ञानको प्राप्त करनेवाले और (तनु-वादिन्) शरीरका संयम करनेवाले धने ! तू (तौलस्य आन्व्यस्य) तोले हुए धो जाविका (प्राधानं) भोजन कर और (यातुधानान्) दुष्टोंको (वि लापय) छला ॥ २ ॥

(ये) जो (यातुधानाः) दुष्ट (अत्रिणः) भक्षणनेवाले और (किमीदिनः) घातक हैं, वे (विलपन्तु) विलाप करें (अथ) और अब, हे धने ! (इदं हविः) यह हवि तू और (इन्द्रो च) इन्द्र (प्रतिहयवत्) शीकार करो ॥ ३ ॥

(पूर्वः अग्निः आरमतां) पहिले अग्नि आरंभ करे, तथा पश्चात् (यातुमान् इन्द्रः प्र जुदतु) यातुमान्वाला इन्द्र विशेष प्रेरणा करे, जिते (सर्वाः यातुमान्) सब दुष्ट लोग (परत्य) जाकर (अर्वातु) योके, कि (अर्थ अग्नि इति) यह मैं हूँ ॥ ४ ॥

हे (जातवेदः) धनी ! (ते वीर्यं पश्याम) तेरा पराक्रम हम देखें । हे (नृ-वृषतः) मनुष्यके मर्तावर्गक । (यातुधानान्) दुष्टोंको (नः) हमारा आदेश (प्र ब्रूहि) विशेष रूपसे कहूँ । (स्वया) तुमसे (पुरस्तात्) पहिले (परितताः) तपे हुए (ते सर्वे) वे सब (इदं वृषाणाः) यह कहते हुए (उप आयन्तु) हमारे पास आये ॥ ५ ॥

हे (जातवेदः) धनी ! (आरमत्) आरंभ कर (अस्माकनभ्रयाय) हमारे प्रयोजनके लिये तू (जज्ञिषे) उत्सव हुआ है । हे धने ! (नः दृतः भूत्वा) तू हमारा दूत बनकर (यातुधानान् वि लापय) यातुधानोंको विलाप करा ॥ ६ ॥

हे धने ! तू (यातुधानान्) दुष्टोंको (उपरहान्) धाँपकर (इहा आ बह) यहाँले जा (अथ) और इन्द्र अपने वरसे (एषां क्षीर्षाणि) इनके मस्तक (वृषतु) काट बाँटे ॥ ७ ॥

यातुधान नाशन

इसका भावार्थ हम सबसे पीछे लिखने के बराबर इस सूत्रके कई शब्दोंके अर्थोंका विचार पहिले करना चाहिये । इस सूत्रके कई शब्द भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं और जबतक इनका निश्चित अर्थ अर्थ प्दानपे न आजाय, तब तक इस सूत्रका उपरोक्त समझाने नहीं आसकता । सबसे प्रथम ' अग्नि ' कौन है ? इसका निश्चय करना चाहिये—

अग्नि कौन है ?

इस सूत्रमें अग्निवशसे हिताका ग्रहण करना चाहिये,

इसका निश्चय करनेवालेसे तब इस सूत्रमें है— ' जात-वेदः, परमेष्ठिन्, तनुवादिन्, नृवृषतः, यन्दिता, दृतः, देव, अग्निः । ' इन शब्दोंका अर्थ देखकर अग्नि का स्वरूप सबसे प्रथम हम देखें—

१ जातवेदः— (जातं धेत्ति) जो बनी हुई पृथिवीको ठीक ठीक जानता है । (जात-वेदः) जिसने ज्ञान प्राप्त किया है । सृष्टिक्रिया और भावविचारका यथावत ज्ञाननेवाला ।

२ परमेश्चिन्- (परमे पदे स्थाना) परमपदमें रहकरने-
वाला अर्थात् सामाधिकी अंतिम अवस्थाको जो प्राप्त है,
आत्मानुभव सिद्धने प्राप्त किया है, तुर्या- चतुर्थ अवस्थाका
यत्नभय करनेवाला ।

३ तनूयश्चिन्- (तनू-यश्चिन्) अपने शरीर और इन्द्रि-
योंको स्वाधीन करनेवाला, इन्द्रिय संयम और मनोनिग्रह
करनेवाला, आसनादि योगाभ्याससे जितने सबको आयासिद्धि
को है । उक्त मनुष्यका ' परमे-श्चिन् ' हीला संभव है ।

४ नू-चक्षः- ' चक्षस् ' शब्द स्पष्ट शब्दों द्वारा उपदेश
देनेका भाव धरता रहा है । मनुष्यको जो योग्य धर्म मार्गका
उपदेश देता है ।

ज्ञानी उपदेशक

ये चार शब्द जिनके गुण धर्म बता रहे हैं । इन शब्दोंको
देखतेसे स्पष्ट होता है, कि यहाँका जनि ' धर्मोपदेशक
पण्डित ' ही है । तृष्टिविद्या जाननेवाला, अध्याप्यशास्त्रमें
प्रयोग, योगाभ्याससे शरीर, इन्द्रिय और मनको घसमें रखने-
वाला, सामाधिकी सिद्धि जितने प्राप्त है, वही ब्राह्मण पण्डित
' नू-चक्षः ' अर्थात् लोगोंको धर्मोपदेश करनेके योग्य है ।
उपदेशक बननेके पूर्व उपदेशकको संघारो कंठो होनेसे चाहिये
इसका योग यहाँ प्राप्त हो सकता है । ऐसे उपदेशक हूँ, तो
धर्मका ठीक प्रकार होना संभव है ।

५ चिन्तः- इस प्रकारके उपदेशककी ही सब योग्य
योजना कर सकते हैं ।

६ दूतः- जो सन्देश पहुंचाता है वह दूत होता है । यह
उपदेशक पण्डित धर्मका सन्देश सब जनता तक पहुंचाता है
इसलिये यह ' धर्मका दूत ' है । दूत शब्दका दूतका अर्थ
' नीकर, भूष्य ' है वह अर्थ यहाँ नहीं है । धर्मका सन्देश
स्वान स्थानपर पहुंचानेवाला यह दूत धर्मका उपदेशक ही है ।

७ देवः- प्रकाशमान, तेजस्वी ।

८ अग्निः- प्रकाश देकर सम्पत्कारका नाश करनेवाला ।
ज्ञानकी रोशनी बढाकर अज्ञानान्धकारका नाश करनेवाला ।
उपगत (यमों) उत्पन्न करके हलचल करनेवाला ।

ये सब शब्द योग्य उपदेशक ही वर्णन कर रहे हैं । इस
प्रकार वेदमें ' अग्नि ' शब्द ज्ञानी उपदेशक ब्राह्मणका वाचक
है । तथा ' इन्द्र ' शब्द क्षत्रियका वाचक है ।

ब्रह्म क्षत्रिय

' ब्रह्म क्षत्रिय ' शब्द ब्राह्मण और क्षत्रियका बोध कराता

है । वेदमें ये दो शब्द इन्द्रके कई स्थानपर आये हैं । यही
भाव ' अग्नि-इन्द्र ' में दो शब्द वेदमें कई स्थानोंपर स्थान
कर रहे हैं । अग्नि शब्द ब्राह्मणका और इन्द्र शब्द क्षत्रियका
वाचक है । अग्नि शब्दका ब्राह्मण अर्थ हमने देखा, अब इन्द्र
शब्दका अर्थ देखेंगे—

इन्द्र कौन है ?

स्वयं इन्द्र शब्द ध्रिय वाचक है, क्योंकि इसका अर्थ ही
यत्नवाचक है—

१ इन्द्रः- (इन्द्रः) यत्नवाचक उपदेशक करनेवाला ।

२ यादुमान्- यादुवाला, भूजावाला, अर्थात् यादुवाले
लिये सुप्रसिद्ध । हरएक मनुष्य भूजावाला होता ही है, परंतु
क्षत्रियको ही ' यादुमान् ' इत्यलिये कहा है, उत्तरात् शब्द ही
यदुवाचक होता है ।

३ इन्द्रः घञेण शीर्षाणि वृद्धन्तु- क्षत्रिय तलवारसे
शत्रुओंके शिर काटे । यह क्षत्रियका कार्य इस सूक्तके अन्तिम
मंत्रमें वर्णित है । यद्युमें शत्रुओंके शिर काटनेका कार्य तथा
दुष्टोंके शिर काटनेका कार्य क्षत्रियोंका ही प्रसिद्ध है ।

इससे स्पष्ट है, कि इस सूक्तमें ' इन्द्र ' शब्द क्षत्रियका
भाव सूचित करता है । अग्नि शब्दसे ब्राह्मण उपदेशक और
इन्द्र शब्दसे शासनका कार्य करनेवाले क्षत्रियका बोध लेकर
इस सूक्तका अर्थ देना चाहिये ।

धर्मोपदेशक श्रेय

पाठक यह न समझे, कि प्रागैतिक वा धार्मिक जलस्रोतोंमें
ध्यातवान् देना ही धर्मोपदेशकका कार्यक्षेत्र है । वहाँ तो
धार्मिक लोच ही थाते हैं । पहिलेसे जिनकी प्रवृत्ति धर्ममें
होती है, वे ही धार्मिक लोच जलस्रोतोंमें जाते हैं; इसलिये ऐसे
धार्मिकोंको धर्मोपदेश देना धर्मोपदेशक के लिये श्रेयके
समान ही है । वास्तवमें मलिन कपड़ेको ही धोकर स्वच्छ
करना चाहिये, इसी तरह अधार्मिक दूतिके लोगोंको ही
धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यही सच्चा धर्मोपदेशक है,
यह बतातेके लिये इस सूक्तमें धर्मोपदेशक करने योग्य लोगोंका
धर्मोपदेशक श्रेयके लिये कहा है— ' यादुमान्, किन्मी-
दिन्, वरुण, अग्निम् । ' अब इनका आगम देखेंगे—

१ यादु- ' यादु ' भटकरनेवाले का नाम है । जितका
परवार कुछ भी नहीं है और जो वन्य पशुके समान इधर
उधर भटकता रहता है उसका नाम ' यादु ' है । भटकनेका
अर्थ बतातेवाली ' या ' यादु इसमें है ।

२ यातुमान्- यातुमान्, यातुवान्, यातुमत्, शब्दका भाव यातुवाला ' है अर्थात् जिसके पास बहुतसे यातु (भटकनेवाले) लोग होते हैं । अर्थात् भटकनेवालोंके समापका मूलिदा ।

३ यातुमानवान्- बहुतसे यातुवालोंको अपने कक्षमें रखनेवाला ।

४ यातुधान्- यातुओंका धारण पीपण करनेवाला, अर्थात् भटकनेवालोंको अपने पास रखकर उनको पीपण करनेवाला । ' यातु धान्य ' भी इसी भावका वाचक है ।

जिसके घरदार स्त्रीपुत्र आदि होते हैं, और जो कुटुम्बमें रहता है, वह जतना उपद्रव देनेवाला नहीं होता, जितना कि न घरदारवाला और भटकनेवाला होता है । वह सदा भूखा रहता है, किसी प्रकारका मजका समाधान उसकी नहीं होता, इसलिये हर्षक प्रकारका उपद्रव करनेके लिये वह तैयार होता है, इसी कारण ' यातु ' शब्द ' भूरी मूतिवाला ' इस अर्थमें प्रयुक्त होता है । दुष्ट, डाकू, चोर, लुटेरे, बटमार आदि इसी शब्दके अर्थ लाये जाकर गये हैं । ये चोर, डाकू अदक अकेले रहते हैं, सब तक उनका नाम ' यातु ' है, ऐसे ऐसे बोधार्थ डाकुओंको अपने घरमें रखकर डाका चालनेवाला ' यातु-मान्, यातु-वान्, यातुमत् ' अर्थात् यातुवाला किंवा डाकुवाला कहा जाता है । पहिलेकी कल्पना इससे समाजकी अधिक कष्ट पहुँचते हैं । इस प्रकारके छोटे डाकु-ओंके अनेक सपत्तीं अपने आपीन रखनेवाला ' यातुमा-धान् ' अर्थात् डाकुओंकी कई सपत्तींको अपने आपीन रखनेवाला । यह पूर्वकी कल्पना अधिक कष्ट प्राप्तों और प्रीतियोंकी भी पहुँचा सकता है । इसीके नाम ' यातु-धान्, यातुधान्य ' हैं । ये वैदिक दाय जो कि वेदमें कई स्थानोंमें आते हैं, हीन और दुष्ट लोगोंके वाचक हैं । अब और देखिये—

५ अयिद्- अयि (अयिदि) जल भटकता रहता है । यह शब्द भी पूर्व शब्दका ही भाव प्रकटता है । इसका दूसरा भाव (अयि) लाने वाला, सब अपने पीपणके लिये दूसरोंका घना काटनेवाला । जो पीपेले धनके लिये लूट करतो है, इस प्रकारके दुष्ट लोगोंका वाचक यह शब्द है ।

६ किर्मादिन्- (किर् इदानीं) अब बरा लीय, इस प्रकारकी मूतिवाली मूले किंवा पेटके लिये ही दूसरोंका घात-पतल करनेवाले दुष्ट लोग ।

७ हस्सु- (हस् उपसृजे) घातवात करनेवाले, दूसरोंका घात करनेवाले, हर प्रकारके दुष्ट लोग ।

ये सब लोग समाजके दुष्टका भाग करते हैं, इनके कारण समाजके लोगोंकी कष्ट होते हैं । ये धारमें आकर चोरी, चकती, लूट, छटमार करते हैं । स्त्री विपणक अत्याचार करते हैं, सरजनोंकी अनेक प्रकारके कष्ट होते हैं इसलिये इन लोगोंको यमोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यह इस मुक्तका आवेग है । जो घरबारे हीन है, जो जलों और जलोंमें रहते हैं, जो चोरी, चकती आदि दुष्ट कर्म करते हैं । उनको यमोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये । अर्थात् जो नाप-रिक्त है, जो पहिलेसे ही धर्मके प्रेमी है, उनमें धर्मकी जागृति करनी योग्य है, परन्तु जिनके पास ' धर्मकी धारणा नहीं पहुँकी और जिसका जीवनकर्म ही धर्मबिनाश मार्गमें सरा चलता रहता है, उनका सुधार करके ही उनको उत्तम नगरिक बनाना चाहिये । यमोपदेशक यह धरणा कर्म लैय देवें ।

यमोपदेशकके दुष्ट, दाखल कर्ममें निपुण बनिये गृह, और जिन लोगोंमें धर्म प्रचारकी अत्यंत आवश्यकता है उनके दुष्टकर्म हमने इस सूक्तके आधारों देसे । अब इन शास्त्राधिक प्रकाशमें यह सूक्त देखना है—

दुष्टोंका सुधार

प्रथम मन्त्र- ' हे यमोपदेशक ' तेरे प्रशंसा करनेवाला दुष्ट उन्तोंको यहाँ से या, यमोपि तू पचना प्राप्त करनेपर दस्युओंका नाशक होता है—

(१) स्तुति करनेवाले डाकुको यहाँ से या, और

(२) उनका ममत्कार प्राप्त करके उनका नाशक हो ।

इसका तात्पर्य यह है- ' यमोपदेशक ऐसे दुष्ट, डाकु, बटमार आदिकोंमें यमोपदेश करनेके लिये जाये, उनको कल्प धर्मका उपदेश करे, घोरि आदि धार कर्म हैं यह उनको ठीक प्रकार समझा दे, उन दुष्ट कर्मोंसे उनको बह निवृत्त करे, अब ये ठीक प्रकार ज्ञानमें गि चोरी आदि उनके व्यवसाय बुरे हैं और गानकोंकी रक्षा करनेवाला तथा धर्म इस यमोपदेशकके प्राप्त ही सकता है, सब ये इसके दात अय्य भक्तिसे आयेगे, इसकी प्रशंसा करेंगे और इसके तात्पर्य तिर मुक्त्यायेते अर्थात् इनको प्रणाम करेंगे । अब उनमें इतनी बढाभक्ति धरेगी, तब उनका डाकूपनका घना या हृदय स्वय हो ही जायगा । इसलिये सब कहता है कि ' यमोपदेशक दुष्ट अनुष्मोंको अपने उपदेश द्वारा अपनी प्रशंसा करनेवाले बनाकर अर्थात् अपने अनुष्मोंको बनाकर, अपने समाजमें से भावे और उनसे ममत्कार प्राप्त करके उनके दुष्ट गुणोंके घातक करें । '

‘जिनसे नमस्कार प्राप्त करना उनका ही घात करना’ प्रथम विचित्रता प्रतीत होता है, परंतु अथर्ववेदिक दृष्ट मनुष्यों के सुधार करनेवालेसे ऐसा ही बनता है। जब दृष्ट मनुष्य धार्मिक बन जाता है उस समय यह पहिले धर्मोपदेशकके सामने अपना विर झुकाता है और फिर झुकाते ही दृष्ट मनुष्यके रूपसे मर कर धार्मिक नवजीवन प्राप्त करनेके द्वारा वह मानो मया ही मनुष्य बनता है। यदि एक डाकू धर्मोपदेश सुनकर धार्मिक बन गया, तो उसका सामाजिक दृष्टिकोण सदा अपेक्षित ही है कि एक डाकू मर गया और एक सच्चा धार्मिक मनुष्य नया पैदा हुआ। अब दूसरा मंत्र देखिये—

मित्र भोजन करो।

द्वितीय मंत्र- ‘हे परम श्रेष्ठ अथर्ववेद रहनेवाले, शरीर पदार्थ रखनेवाले शान्ति धर्मोपदेशक ! धी आदि पदार्थ तोड़ कर अर्थात् प्रमाणसे भक्षण कर शीघ्र दुष्टोंको दला’ ॥ २ ॥

इस द्वितीय मंत्रमें दो भावने हैं—

(१) तोलकर धी आदि भोजन खा और

(२) दुष्टोंको दला।

धर्मोपदेशकोंको ये दोनों बल्ले ध्यानमें धरनी चाहिये। धर्मोपदेशक जिस समय वाहुर प्रचारके लिये जाते हैं, उस समय भगत लोग उनको सेवा, मिठाई, पी, मखान, दूध आदि पदार्थ आनन्दप्रकृतसे भी अधिक देते हैं। तथा जो नये धर्ममें प्रविष्ट होते हैं, उनकी भित्तकी तीव्रता अत्यधिक होनेके कारण वे ऐसे उपदेशकोंके अधिक ही आदर करते हैं। इस समय बहुत समय है कि जिल्दोंकी कालधर्म आकर उपदेशक धार्मिक साथे, और स्वास्थ्यके विनाशके कारण बीमार पड़े। इसलिये वे अपने उपदेश दिया कि धर्मोपदेशकोंको तोलकर ही खाना चाहिये। ये उपदेशक सदा भ्रमणमें रहनेके कारण जलवायुके तवा परिवर्तन होनेसे इनकी पाचन शक्तिमें बिगड़ होना संभव है; अतः मिलनी पाचन शक्ति होती है, उससे भी कम ही खाना इनके लिये योग्य है। इस कारण वेद कहता है, कि ‘उपदेशक तोलकर ही धी आदि पदार्थ खावें’ कान्ही अधिक न खावें।

मंत्रमें दूसरी बात ‘दुष्टोंको दलाने’ की है। यदि उपदेशक प्रभावशाली होगा, और यदि उसके उपदेशसे भोताभक्ति अपने दुराचारका पता लगा तथा उनके अंतःकरणमें धर्म स्थापना जायगी तो वह, तो उनके रो पकनेमें तथा अपने पूर्व दुराचारमय जीवनके विषयमें पूर्ण परश्चात्ताप होनेमें कोई

सन्देह ही नहीं है। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् अब तीसरा मंत्र देखिये—

दुष्टजीवनका पश्चात्ताप

तृतीय मंत्र- ‘दृष्ट लोग रो पड़ें, और हे धर्मोपदेशक ! तेरे लिये यह हमारा बान है, क्षमिय भी इसको स्वीकार करे’ ॥ ३ ॥

सचमें धर्मोपदेशकके धर्मोपदेश सुनकर दृष्ट लोगोंको अपने दुराचारका पश्चात्ताप होवे और वे रो पड़ें। तथा जनता ऐसे धर्मोपदेशकोंको तथा उनके सहायक क्षत्रियोंको भी प्रभावशक्ति दान देती रहे। जनताकी पनारिकी सहानुताही ही धर्मोपदेशका काम चलता रहे। अब चतुर्थ मंत्र देखिये—

धर्मोपदेशक कार्य चलावे

चतुर्थ मंत्र- ‘पहिले धर्मोपदेशक अपना कार्य आरंभ करे। पीछेसे क्षत्रिय उसकी सहायता करे। इसका परिणाम ऐसा हो कि सब दुष्ट आकर ‘मे यहाँ हैं’ ऐसा कहे’ ॥ ४ ॥

धर्मोपदेशक देशदेशान्तरमें, जहाँ जहाँ वे पहुँच सकें, वहाँ निरंतरतापूर्वक वे जाकर, अपना धर्मप्रचारका कार्य जोरसे करते जायें। कठिनसे कठिन परिस्थितिमें भी न डरते हुए वे अपना कार्य जोरसे चलावें। पीछेसे क्षत्रिय उनकी उक्ति सहायता करें। परन्तु ऐसा कभी न होवे कि धर्मोपदेशक पहिले ही क्षत्रियोंकी सहायता प्राप्त करके साम्रज्यके ओर-पर धर्मप्रचारक का कार्य चलावे, यह ठीक नहीं। इसलिये वेदका कहना है कि धर्मोपदेशक साहाय्य क्षात्रज्यके भरोसे तो अपने धर्मप्रचारक कार्य न करे, प्रत्युत धर्म प्रचारकी अपना सामर्थ्यक कर्तव्य समझ कर ही अपना कर्तव्य करता रहे। इस धर्मप्रचारका परिणाम ऐसा हो, कि सब दुष्ट दुराचारी मनुष्य अपना आचरण सुधारलें और धुले दिलसे उपदेशकोंके पास आकर कहें कि ‘हम अब आपकी शरणमें आये हैं।’ यही धर्म प्रचारका साम्य है। धर्म प्रचारसे दुराचारी डाकू सुपर जाय और लच्छे धार्मिक बनें, वे अपने पूर्व दुराचारका पश्चात्ताप करें, जब पूर्व दुराचारका उनको स्मरण जावे उस समय उनको रोना जावे। क्षत्रियके बलकी अपेक्षा न करते हुए केवल ब्राह्मण ही अपनी धार्मिक और आर्थिक शक्तिले यह कार्य करें। पीछेसे क्षत्रिय उनको मदद पहुँचावे। क्षत्रियके जोरसे जो धर्म प्रचार होता है, वह सत्य नहीं है, परन्तु ब्राह्मण अपने सात्त्विक वृत्तिले जो हृदय बलदा देता है, वही

सच्चा धर्मपरिवर्तन है। इस प्रकार अतुल्य भद्रका आशय पश्चात् शय भगला मत्र बेशिये—

दुष्टोंकी पश्चात्तापसे शुद्धि

पंचम मंत्र— ' हे शानी उपवेशक ! हम तुम्हारा पराक्रम देखेंगे। हे मनुष्योंकी सन्तानें यत्नलानेवाले ! तुम दुष्टोंको अपने धर्मका उपदेश करो। तुम्हारे प्रयत्नसे पश्चात्तापको प्राप्त हुए हुए सब दुष्ट लोग हमारे पाप भावों और बंसा हो कहें ' ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त प्रकारका सच्चा धर्मोपदेशक जिस समय धर्मोपदेशके लिये चलने लगता है, उस समय उसका गौरव कहते हुए लोग कहते हैं कि ' हे उपदेशक ! अब तू उपदेश करनेके लिये जा रहा है, हम देखेंगे कि तू अपने परिशुद्ध अनुपदेशके कितने लोगोंके हृदयोंको पलटवा है और कितनोंको सत्य धर्मकी ओरता देता है। इसीसे तेरे पराक्रमका हमें पता लगा जायगा। तू जा, हम वीरता गौरव करते हैं। सत्यधर्मका संदेश सत्य जनता तक पहुंचा। तेरे उपदेशकी शान्तिसे तबे हुए और पश्चात्तापको प्राप्त हुए लोग हमारे अंदर भावों और कहें ' कि हमने सब धर्मभ्रंत किया है। और अब हम आपके बने हैं '।

' सप्त, सतस, परितस ' ये शब्द पश्चात्तापके सूचक हैं। तप धन्य तपकर शुद्ध होनेका सूचक है। अग्नि तपावर सोना, चांदी, तांबा आदि धातुओंको शुद्ध करता है अर्थात् उनके भस्मोंको दूर करता है। इसी प्रकार यहाका अग्नि—जो शानी धर्मोपदेशक है—वह अपनी शान्तिसे सब दुष्टोंको तपता है और अन्तरी प्रकार उनके भस्मोंको दूर करता है। शुद्धिकी यही विधि है। भोवके शोधनको छोड़कर तपके शोधनमें आना ही धार्मिक बनना है। इस दृष्टिसे इस मंत्रका ' परि-तसः ' शब्द बड़े भावका सूचक है। अब छोटे मंत्रका भावार्थ देखिये—

धर्मका दृष्ट

॥ पञ्च मंत्र— ' हे शानी पुण्य ! अपना कार्य आरम्भ कर। हमारे कामके लिये ही तुम्हें आगे किया है। हे उपदेशक ! तू हमारा धार्मिक संदेश पहुंचानेवाला दूत बन कर दुष्टोंको पश्चात्तापसे रक्ष ' ॥ ६ ॥

धर्म प्रचारके लिये बाहर जानेवाले उपदेशकको लोग कहते हैं कि— ' अब तू अपना धर्म प्रचारका कार्य आरम्भ कर। बिना उसके देशेदेशंतरमें जा और वही सत्यधर्मका

प्रचार कर। यही हमारा कार्य है और इसी कार्यके लिये तुझे आगे भेजा जाता है, अपना आगे रखा जाता है। हमारा धार्मिक संदेश जगत्में फैलाना है, इस संदेशको स्वयं स्थान में पहुंचानेवाला दूत ही तू है। अब जा और धार्मिक संदेशको चारों दिशाओंमें फैला और इस समय तक जो लोग अधार्मिक भूलिसे रहते हैं, उनको अपने अनुपदेश द्वारा शुद्ध कर और उनको अपने पूर्व दुराचरका पुर्ण पश्चात्ताप होने दे। उनके दिलोंको ऐसा पलटा कि जिससे वे अपने पुर्णधर्मका स्मरण करके रोने लगें। ' इस प्रकार अन्तका सुधार करनेके लिये धर्मोपदेशकोंको भेजा जाता है।

डाकूओंकी दण्ड

इतने धर्मोपदेशके बावजूद भी जो नहीं सुधरें और अपना दुराचर जारी रखें अपना पूर्वोक्त प्रकारके भेद धर्मोपदेशकोंके पराक्रमके प्रयत्न करनेपर भी भी अपना दुष्ट व्यवहार नहीं छोड़ते और जनताको सोरी उर्बंती आदिसे अत्यंत दुष्ट बने ही रहें, उनको योध दण्ड देना ब्राह्मणका कार्य नहीं, यह कार्य क्षत्रियका है यह शासन अगले मंत्रमें कहा है—

सप्तम मंत्र— ' हे धर्मोपदेशक ! तेरे प्रयत्न करनेपर भी दुष्ट मनु आदि अपने दुराचर नहीं छोड़ते उनको बाधकर तू यहाँ जा और पश्चात् क्षत्रिय उनके सिर तलवारसे काट दे ' ॥ ७ ॥

धेक धर्मोपदेशक अपना धर्मोपदेशका प्रयत्न करे और दुष्टोंको पवित्र धार्मिक बनानेका यत्न करे। जो सारस्वती धर्म वे अपनेमें संमिलित हो जाय। परंतु जो बारबार प्रयत्न करनेपर भी अपना दुष्ट जाचार जारी रखें उनकी दण्ड देना आवश्यक ही है। क्योंकि जब शासन सत्य समाजकी शक्तिके लिये ही है। परंतु दुष्टोंको भी सपरनेका पुरा अवसर देना चाहिये। जब बारबार प्रयत्न करनेपर भी वे न सुधरें तो क्षत्रिय जाये दण्ड और अपना कठोर दण्ड आगे करे। क्षत्रिय उन अत्याचारी दुष्टोंको बाधकर उनके सिर ही काट दे, इससे अन्योको भी यह उपदेश मिल सकता है, कि हम भी धार्मिक बननेसे बच सकते हैं, नहीं तो हमारी भी यही अवस्था बनेगी।

ब्राह्मण और क्षत्रियोंके प्रयत्नका प्रमाण

इस सूत्रमें ब्राह्मणके प्रयत्नके लिये छ मंत्र हैं और एक ही मंत्रमें क्षत्रियका कठोर दण्ड माने करनेको सूचित किया है। इससे स्पष्ट है कि कमसे कम छ गुणा प्रयत्न ब्राह्मण अपने ऋषिपुत्रसे करें, इतने प्रयत्न करनेपर भी यदि वे न सुधरें, उनपर ही क्षत्रियका दण्ड प्रहार करना योग्य है।

इस प्रकार उसको धोयता बढ़ाई जाय और उसके धार्मिक भावना पोषण किया जाय । नहीं तो धर्मसंघर्ष प्रविष्ट हुआ मय मानव सत्संगियोंकी उदासीनताके कारण उदासीन होकर चला जायगा और अधिक विरोधी बनेगा; इसलिये मधीन प्रविष्ट हुए मनुष्यको अपनातेके विषयमें सत्संगियोंपर यह धडा भारी थीस है । इस विषयमें वेदके चार अविश ध्यात्ममें धरने योग्य हैं ।

१ यह बबोन प्रविष्ट हुआ है,

२ इसका गौरव करो,

३ प्रविष्ट होते हो शानी इसे नियममें बसानेकी शिक्षा दे और

४ अन्य विद्वान् उसका निरोधक करें ।

इस मंत्रमें ' चिधृतं ' शब्द है, उसका प्रसिद्ध अर्थ निशाना मारना है, निशाना मारनेका तात्पर्य उसपर घेपक वृष्टि रसना, उसकी विशेष निगरानी करना है । उसका विशेष स्थान रखना, उसका सब मत्सा करनेका पाल करना । अस्तु । अब तीसरा मंत्र देखिये—

दुष्टोंकी संतानका सुधार

तृतीय मंत्र— ' हे सोमवान करनेवाले ! कुछ लोगोंकी प्रजाको अर्थात् उनके बालबच्चोंकी प्राप्ति करो और उनको उत्तम मार्गसे चलानो । जो सुम्हारी प्रशंसा करेगा उसकी शोनी आँखें नीची करी ' ॥ ३ ॥

सोम-पाल करनेवाला अर्थात् पशुकर्ता ब्राह्मण यज्ञद्वारा धर्मप्रचारका बड़ा कार्य करता है । दुष्टोंका सुधार करनेके महत्त्वपूर्ण कार्यमें विशेष मत्स्यको बात यह है कि, धर्मके प्रचारक आप्तुते बड़े बूढ़ भावमियोंकी अपेक्षा नवयुवकोंके सुधारका अधिक पाल करें । नवयुवकोंके संघ बनाने, उनका आचार सुधारें, उनकी रीति सदाचारकी ओर करें अर्थात् हरएक रीतिसे उनको धार्मिक बनानेका सबसे पहिले उद्योग करें । क्योंकि आप्तुते बड़े लोग अपने दुराचारमें ही मस्त रहते हैं अथवा उनकी बड़ी व्यापार त्रिय और लाभदायक प्रतीत होता है, अतः उनको पलटाना कठिन कार्य है । परंतु नवयुवकोंके कोबल मन होते हैं, उनमें अपने बूढ़ कुसंस्कार नहीं होते, इसलिये नवयुवकोंका सुधार अति योद्ध हो सकता है । इसके अतिरिक्त यदि नवयुवक सुपर पाये, तो उनका भापेका बंधा ही एकदम सुपर जाता है । इसलिये नवयुवकोंकी

सुधारकेका प्रयत्न विशेष रीतिसे करना चाहिये । दुष्टोंके बालबच्चोंकी समा करके उनको धर्मनीति अर्थात् धार्मिक आचारकी शिक्षा देने चाहिये । उनमें जो सुम्हारे धर्मकी प्रशंसा करे उसको आँखें पहिले नीची करो, अर्थात् उनको जो आँखें जंघी होती हैं वह नीची हो जाय । इसका अर्थ यह है कि उनकी धर्मकी वृष्टि दूर करके उनमें नष्ट भाव-युक्त वृष्टि स्थापित करो । अधार्मिक वृष्टि लोगोंकी आँखें साफ और यदोमत्त होती हैं, भीहें टेढ़ी और चड़ी हुई होती हैं, दूसरे मनुष्यकी जान लेना उनके लिए एरुसहज बात होती है, यह टेढ़ी वृष्टिका भाव है । नीची वृष्टिका आराध चास-चलनकी नष्टता, श्रद्धा, भक्ति, आत्मपरीक्षा, आत्मसुधार आदि है (' प्राप्ति निपातय) अंग नीची करना, यह वृष्टिमें भेद है । साधारण मनुष्यको वृष्टि और प्रकारकी होती है, खोरकी वृष्टि और होती है, सापुकी वृष्टि और होती है तथा डाकूकी वृष्टि और होती है । बालककी वृष्टि तथा तरण और दुष्टोंकी वृष्टिमें भेद है । इसलिये धर्ममें बड़ा है कि उनको वृष्टि नष्ट कर दो । अस्तु । इस प्रकार तृतीय मंत्रका भाव बसानेके पश्चात् अतुपं मंत्रका आशय अब देखिये—

घरोंमें प्रचार

अतुपं मंत्र— ' हे शानो उपदेशक ! जहाँ कहीं गुणा-ओंमें श्रद्धा भटकरनेबालोंमेंसे किंचित् भले पुत्रोंके कुल या संतान हों, जहाँ पशुंय कर शानकी उनमें वृद्धि करते हुए, उनसे होनेवाले संकटों बर्तोंके दूर कर ' ॥ ४ ॥

घोर शक आदिजैके मुषारका विचार करते समय उनके संघोंमें उपदेश करना यह साधारण ही बात है, इससे अधिक परिणामकारक बात यह है, कि उनके परिवारमें जाकर बहा उनको धर्मप्रेषा करना चाहिये । ऐसा करनेके समय उन दुष्ट लोगोंमें जो कुछ भी भले भावों (सत्तां अग्रिणां) हों, उनके घरोंमें पहिले जाना चाहिये, क्योंकि उनके दिल किंचित् तरबले होनेके कारण उनपर शीघ्र परिणाम होता संभव है । इनके घरोंमें जाकर उनको, उनकी शिष्योंकी तथा उनके बालबच्चोंको योग्य उपदेश देना चाहिये । उनकी उन्नति (ब्रह्मणा चावृधानः) ज्ञान द्वारा करनेका पाल करना चाहिये, अर्थात् उनको ज्ञान देना चाहिये । सत्ता धर्मज्ञान देनेसे ही इनका उद्धार हो सकता है । एकदम धर्म-ज्ञानमें इनकी रीति बढ गयो, तो इनसे होनेवाले संकटों कष्ट दूर हो जायेंगे और इनका भी कल्याण होगा ।

शत्रुसेनाका समोहन

कांड ३, सूक्त १

(श्रुति: - लक्षणां । वेपता - सेनामोहनं, यदुर्वक्ष्यम् ।)

अभिर्नूः शत्रुप्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्भिर्शस्त्रिमरांतिम् ।

स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ।

॥ १ ॥

युयुमुग्ना मरुत ईदृशैः स्वाभिः प्रेतं मृणतु सहष्वम् ।

अभीर्मृणन्वसंवा नाधिता इमे अशिक्षेणं दूतः प्रत्येतु विद्वान् ।

॥ २ ॥

अभिःसेनां मघवन्नस्मान् छत्रूपतीभिः । युवं तानिन्द्र वृत्रहस्रिथं दहतं प्रति

॥ ३ ॥

प्रयत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रैः प्रमृणवैतु शत्रून् ।

जहि प्रतीचोऽनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेपांम् ।

॥ ४ ॥

अर्थ— (विद्वान् अभिः) विद्वान् अभि के समान तेजस्वी वीर (अभिर्शस्त्रिभिरांति) घातपात करनेवाले शत्रुको (प्रति दहन्) जलाता हुआ (नः शत्रून् प्रत्येतु) हमारे शत्रुओंपर चढ़ाई करे । (सः जातवेदाः) वह ज्ञानी (परेषां सेनां) शत्रुओंकी सेनाको (मोहयतु) मोहित करे । (च निर्हस्तांश्च कृणवत्) और उनकी हस्तरहित करे ॥ १ ॥

हे (मरु+उतः) मरुतोंके लिये तैयार वीरों । (ईदृशे युवं उग्रः स्य) ऐसे समयमें तुम बड़े वीर हो, इसलिये (अभि-प्र-इत, मृणतः, सहष्वम्) साथे बड़ी, काटो और जीत लो । (इमे नाधिताः वसवः) ये बलवान् बसनेवाले वीर (अभीर्मृणन्) काटते रहे हूँ । (एषां दूतः विद्वान् अभिः) इनका साहसकर्ता ज्ञानी भगिनके समान तेजस्वी वीर (प्रत्येतु) लिये चढ़ाई करे ॥ २ ॥

हे (मघवन् वृत्रहन् इन्द्र) धनवान् शत्रुनाशक सप्पाद तथा (च अभिः) हे ज्ञानी ! (युवं) तुम दोनों मिलकर (अस्मान् शत्रूयतीं अभिः-सेनां) हमसे शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको (अभि) पराभूत करके (तान् प्रति वृत्तं) उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे (इन्द्र) नरेज ! (प्रवता ते हरिभ्यां) वेगसे तेरे हरणशील वेगों द्वारा (प्रवृत्तः वज्रः) चलता हुआ वज्र (शत्रून् प्रमृणन् प्र-यतु) शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे । (प्रतीचः, अनूचः, पराचः) सम्मुख, पीछे और परे भागनेवाले शत्रुओंको (जहि) मार और (एषां चित्तं) इन शत्रुओंके चित्तकी (सत्यं विष्वक् कृणुहि) ठीक प्रकार चारों ओर घटक ॥ ४ ॥

भावार्थ— राजनीतिकी भावनेवाले विद्वान् वीर तेजस्वी युद्ध घात करनेवाली शत्रुसेनाको जलाते हुए शत्रुओंपर चढ़ाई करे । सेनासंमोहनकी विद्याको जाननेवाले ज्ञानी शत्रुसेनाको मोहित करे और उनको हस्तहीन वंशे बना देवे ॥ १ ॥

हे मरुतोंके लिये तैयार हुए वीरों । ऐसे युद्ध समयमें तुम बड़े वीर हो, इसलिये साथे बड़ी, शत्रुको काटो और उनको जीत लो । ये बलवान् अपने वेदानिवालों वीर शत्रुको काटते हूँ, इनका साथी ज्ञानी तेजस्वी वीर भी शत्रुको जलाता हुआ शत्रुपर चढ़ाई करे ॥ २ ॥

हे धनवान् शत्रुनाशक नरेज ! तथा हे तेजस्वी ज्ञानी वीर ! तुम दोनों मिलकर हमसे शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको पराभूत करो और उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे नरेज ! वेगसे चलता हुआ वज्रद्वारा शत्रुका समुदाय शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे । संभवते पीछे वीर चारों ओरसे भागनेवाली शत्रुसेनाका हनन करके उनके चित्तमें ऐसी घबराहट उत्पन्न करो कि जिससे वे चारों दिशाओंमें भाग लगे ॥ ४ ॥

इन्द्र सेनां मोहयामिब्राणाम् । अग्नेर्वीर्यस्य ध्राज्या ताम्निपूचो वि नाशय ॥ ५ ॥
 इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो मन्त्वोजंसा । चक्षूंष्यग्निरा दंक्षां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (इन्द्र) नरेश ! (अग्निघ्राणां सेनां मोहय) शत्रुओंकी सेनाको डरा । (अग्नेः वातस्य ध्राज्या) अग्निके और वातके प्रबल वेगसे (तान्) उन शत्रुतेरिकोंका (विपूचः विनाशय) चारों ओर मटकाकर नाश कर डाल ॥ ५ ॥

(इन्द्रः सेनां मोहयतु) नरेश शत्रुसेनाको मोहित करे, (मरु+जतः) मरुतोंके लिये सिद्ध हुए और (अोजसा मन्तु) वेगसे हवन करें । (अग्निः चक्षूंषि आदंक्षां) अग्नि वर्षान् प्रकार उनही अंशोंको ले लेवे । इस प्रकार शत्रुकी (पराजिता) पराभूत हुई सेना (पुन एतु) फिर भी पीछे हटे ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे नरेश ! अग्न्यश्रुके बाहसे और वायुश्रुके वेगसे शत्रु सेनाको ऐसा डराओ कि वे चारों दिशाओंमें भाग जाय और इस रीतिले उनका नाश करते ॥ ५ ॥

नरेश शत्रुके सैन्यको डरायें, शूर वीर वेगसे शत्रुसेनाका हवन करें और शत्रुसेनामें ऐसी घबराहट पैदा करें कि जिससे उनको कुछ भी न बौख पड़े और इस प्रकार शत्रुकी पूर्ण पराजय होकर उनका पूर्ण नाश हो जावे ॥ ६ ॥

इसो विषयका द्वितीय सूक्त है इसलिये उस सूक्तका भी अर्थ हम यहां पहले देखते हैं, और पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे ।



शत्रुसेनाका संमोहक

कांड ३, सूक्त २

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - सेनामोहनं, बहुवेद्यथम् ।)

अग्निर्ना दूतः प्रत्येतुं विद्वान्प्रतिदहन्नग्निशंस्तिमरातिम् ।
 स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्ताश्च कुम्बज्जातवेदाः ॥ १ ॥
 अथमग्निर्मुमुहृद्यानि चित्तानि वो हृदि । वि वो धमत्कोकंसुः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥

अर्थ— (नः दूतः विद्वान् अग्निः) हमारा दूत शानी तेजस्वी वीर (अग्निशंसित् अरातिं प्रतिदहन्) घात करनेवाले शत्रुको गलाता हुआ (प्रत्येतुं) चढ़ाई करे । (सः जातवेदाः परेषां चित्तानि मोहयतु) वह शानी शत्रुओंके चित्तोंको मोहित करे और उनको (निर्हस्ताश्च कुम्बज्जातवेदाः) हस्तहीन बना दे ॥ १ ॥

(यानि वो हृदि) जो दुम्हारे हृदयमें हैं उन (चित्तानि) चित्तोंको (अयं अग्निः अमूमुहत्) यह तेजस्वी वीर घबराहटमें डालता है । यह (वो ओषःसः विधमत्) तुमको-शत्रुको-घरसे निकाल देवे और (या सर्वतः प्रधमतु) तुमको-शत्रुको-सब ओर से हटा देवे ॥ २ ॥

भावार्थ— हमारे शानी स्वयंसेवक वीर घात करनेवाले शत्रुसेना पर चढ़ाई करें, शत्रुओंको घबराहटमें डालें और उनको हस्तहीन बंसे बना दें ॥ १ ॥

शत्रुके चित्तोंको मोहित करें, उनको घरसे निकाल दें और सब देगले उनकी हटा दें ॥ २ ॥

इन्द्रं चित्तानि मोहयन्नुवादाकृतया चर । अप्रेर्वातस्त्वं धान्या तान्निवृत्तौ वि नाशय ॥ ३ ॥
 ध्यात्कृतय एवाभितायो चित्तानि मुह्यत । अयो यदुपेयां हृदि तदेपां परि निर्जेहि ॥ ४ ॥
 अमीपां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृह्णाणाहान्यप्ये परेहि ।
 अभि ग्रेहि निर्देह हस्तु शोकैर्ग्राह्यमिश्रांस्तमसा विष्य शत्रून् ॥ ५ ॥
 असां या मेनां मरुयः परेषामस्मानैरुष्मजेषु स्वर्धमाना ।
 तां विश्वतः समसापन्नतेन यथेषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (इन्द्र) नरो ! शत्रुके (चित्तानि मोहयन्) चित्तोंको मोहयुक्त करता हुआ तू (आकृत्या अर्थात् चर) शमवत्कल्पते हुनादे पाल भा । (अयोः यातस्य धान्या) अग्नि और वायुके वेगसे (तान् विवृत्तः विनाशाय) उनको धारों ओरसे नष्टश्रष्ट कर दे ॥ ३ ॥

हे (एपां) इन शत्रुओंके (आकृतय .) सकल्पो ! (वि) तुम परस्पर विद्वष्ट हो जाओ, एपायान् तुम (इत) हट जाओ (अधो चित्तानि) और चित्तो ! तुम (मुह्यत) मोहित हो जाओ (अयो अय) और अज्ञ (यत् एपां हृदि) जो इनके हृदयमें लक्ष्य है (एपां तत् परि निर्जेहि) इनका यह लक्ष्य पूर्णतः नष्ट ही जाय ॥ ४ ॥

हे (अन्ये) ध्यामि ! (अमीपां चित्तं प्रतिमोहयन्ती) इनके चित्तोंको मोहने वालो हुई इनसे (अंगानि गृह्णाण) भवपदोंको पकड़ रख और (परा इहि) परेतक चली जा । (अभि प्र इहि) सब प्रकारसे आये वर । हस्तु शोकैः निर्देह) हृदयके शोकैके साथ शत्रुको जला दे । तथा (ग्राह्या तमसा) जकड़नेवाले रोपसे और मूर्च्छा रोपसे (अभिम्रान शत्रून् विष्य) बुष्ट शत्रुओंको प्रस्त कर दे ॥ ५ ॥

हे (मरु+उतः) मरुओंके लिये लिङ् बोरो ! (परेषां असां या सेना) शत्रुओंकी यह सेना (स्वर्धमाना मस्मान् औजसा अभि-आ पति) स्पर्धा करती हुई हम पर वेगसे चढाई करने आती है, (तां भवपतेन समसा विष्यत) उसको कर्महीन करनेवाले अथकारसे मोहित कर डालो, (यथा) जितने (एपां अन्यः अन्यं न जानात्) इनमेंसे एक दूसरेको जाल भी न सके ॥ ६ ॥

भाषार्थ— हे राजन् ! तू शत्रुसेनाके चित्तोंको मोहित कर, कल्पद्वय और वायुव्याप्तके वेगसे उनको धारों विसाओंमें भगा दे और परवान विजयपूर्ण गुण संकल्पते हुनादे पाल भा ॥ ३ ॥

शत्रुओंके संकल्प आपसमें एक दूसरेसे विरोधी हों, उनके दिलोंमें पन्नराहट पैदा हो और उनसे जितोंमें जो संकल्प प्राप्त हों वे सकल्प क्त तक भी स्थिर न रहें ॥ ४ ॥

ध्यायिष्यां तथा अन्य भय भी शत्रुके दिलको भयभीत कर दे, शत्रुसैनिकोंके भयप्रत्यय ध्यायिष्येमे लब्ध जाय, शत्रु-संग्य रोपोंसे और माना प्रकारसे भयोंसे प्रस्त हो जाय । सविवात और मूर्च्छा रोग शत्रुको बरा दें, ऐसे कतिन समयमें उन पर हस्तु हट और शत्रुके हृदयोंको शोकसे जला दे ॥ ५ ॥

हे वीर पुत्रयो ! जो सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हम पर चढाई करने आ रही है, उसको ऐसा मोहित करो कि वे सुरपार्थिव होकर मूर्च्छितते हों जाय और उनमेंसे एक मनुष्य दूसरेको जान भी न सके ॥ ६ ॥

शत्रुसेनाका संमोहन

सेनाका संमोहन

ये दो सूक्त शत्रुसेनाके संमोहनका विषय बता रहे हैं । जो शत्रुकी सेना मातों और बाटनी हुई अन्वरे राष्ट्रपर अथवा अपने सैनिकोंपर चढाई करने आ रही है, उसे मोहित

करके, हराकर पराधीन करना चाहिये और उनको भगा देना चाहिये । इसका नाम है ' सेना-संमोहन ' ।

कई लोग कल्पना करते हैं कि यह शत्रुकी सेनाका संमोहन मंत्रलाचार्यने होगा है, परंतु वास्तविक बात ऐसी नहीं

है। यह समोहन केवल व्यवहार ही है अर्थात् शत्रुसेना पर ऐसे हमले करने चाहिये कि शत्रुसैनिकोंको कर्तव्य मूढ बनकर भाग जाना ही एक मार्ग और बचानेके लिये अवशिष्ट रहे।

ये दोनों सूक्त स्पष्ट हैं इसलिये अधिक विवरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तथापि इन सूक्तोंमें कई शब्दप्रयोग ऐसे किये गये हैं, कि जिनका विशेष स्पष्टीकरण करना आवश्यक है, अथवा सदेह उत्पन्न होना सम्भव है। इन सूक्तोंमें 'अग्नि, इन्द्र, मरुत्' आदि शब्द हैं, जिनके अर्थ देवता प्रसंगमें अग्नि, विद्युत्, वायु आदि लिये जाते हैं, तथा अश्याम प्रसंगमें घापी, मनु, और प्राण लिये जाते हैं, इस विषयका स्पष्टीकरण पूर्व आ चुका है। ये दोनों प्रसंग इन दोनों सूक्तोंमें नहीं हैं। इन सूक्तोंका विषय युद्ध है, शत्रुसेना धोहनका सम्भव है, अपनी सेना और शत्रुसेनाके शगडका यह अवसर है, इसलिये यह न अश्याम का विषय है और ना ही अग्निदेवताका विषय है। प्रांगिधों ने परस्परके सम्बन्धका वर्णन आधिभौतिक प्रकरणमें हुआ करता है। इस कारण आधिभौतिक प्रकरणको प्रांगिसमष्टि विषयका प्रकरण कहा जाता है और इस प्रकरणमें उक्त शब्दोंके अर्थ प्राणविषयक होते हैं अर्थात् यहाँ मनुष्य-प्राणविषयक भाव समझना उचित है। अथ उक्त शब्दोंके अर्थ देखिये—

१ इन्द्र

(इन्द्र) शत्रुसेनाका भेदन करनेवाला, यह इसका धारार्थ है, परन्तु मूलतः इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है, जैसे— मृगेन्द्र = मृगोंका मुखिया, सिंह, खगेन्द्र = पक्षियोंका मुखिया वगैरे, नरेन्द्र = मनुष्योंमें मुख्य राजा अथवा सम्राट् इत्यादि। इन्द्र शब्दके ये अर्थ प्रसिद्ध हैं। इन दो सूक्तोंका अन्तः प्रसन्न करना उचित है। इस प्रसन्न से पता लग जायगा कि ऐसे प्रसंगोंमें मनुष्य विषयक ही इन्द्रादि शब्दोंका अर्थ सेना योग्य है। इस विषयको अच्छी प्रकार समझमें आनेके लिये इन दो सूक्तोंके कई वाक्य उदाहरणके लिये लेते हैं—

१ इन्द्र । ते प्रसूत राजा शत्रून् प्रसूधान् पतु ।

प्रतीच भन्नुच, जाहि ।

पदा चित्त विपन्नं वृष्टुहि ॥ (मृ १, म ४)

२ इन्द्र । अग्निप्राणां सेनां मोहय ।

आग्नेः घातस्य भाजया विपूचः तान् विनाशय ॥

(मृ १, म ५)

३ इन्द्र । सेनां मोहयतु ॥ (मृ १, म, ६)

४ इन्द्र । चित्तानि मोहयन् आकृत्या अर्षाद् चर ॥
(मृ २, म, ३)

'हे राजन् । मेरे द्वारा चलाया हुआ प्राण शत्रुओंको काटता हुआ आगे चले । तब ओरसे शत्रुओंका हलन कर । इन शत्रुओंके चित्तको चारों ओर भटकनेवाला कर ॥ (२) हे राजन् । शत्रुकी सेनाको मोहित कर । अग्नि और वायुके प्रवाहसे शत्रुसेनाको चारों ओर भगा दे ॥ (३) राजा शत्रु सेनाको डरा देवे ॥ (४) हे राजन् । शत्रुसेनाको मोहित करके अपने सुभ सकल्पसे हमारे पास चला आ ॥ '

इस प्रकारके ये संक्षेप शब्द द्वारा राजाका कर्तव्य बताया है। यहाँ 'राजा, नरेन्द्र, सम्राट्' आदि प्रकार का ही इस शब्दका अर्थ है। यहाँ इन्द्र शब्द आग्निविद्युत्वादि और राजाका वर्णन कर रहा है, स्वयं युद्ध भूमिमें उपस्थित रहकर अपनी सेनाको चलाता है, और केवल सेनापति पर ही निर्भर नहीं रहता है। इसी इन्द्रके अर्थ पर्याय भी इन सूक्तोंमें आये हैं ये अब देखेंगे—

२ मघवन्

' (मघ) धन (धन) वाला । जिसके पास धन है । जो राजा करने पास बहुत धन रखता है वही युद्धमें विजय पा सकता है। युद्धमें विजय प्राप्त करनेका यह एक बड़ा भारी साधन है, धनहीन राजा यदि युद्धका प्रारम्भ करेगा तो उसके पराभूत होनेमें कोई संदेह ही नहीं है। इस दार्ढ्यके बोध होनेवाला यह अर्थ पाठक वेत्ते और राजाका बल धनकोदामें होता है यह बात जान लें ।

३ वृषवन्

' (वृष) घेरनेवाले शत्रुको (हन्) हलन करनेवाला । अर्थात् जो शत्रु घेरकर हमला करता है अथवा मार्ग रोकता है। और उसके अपने शत्रुओंके प्रभावसे मारता है, उसका यह नाम है ।

इस प्रकार इन्द्र वाद्यक शब्द और उसके वर्णन परर मन्त्र और राजाके कर्तव्य बताया है। इन्द्रके साथ 'मरुत्' रहते ही हैं, इनके विषयमें अब देखिये—

४ मरुतः

(मरु+उत्) मरनेके लिये जो उठकर लड़े हुए हैं, मरनेके लिये जो लंगर हुए हैं, शत्रुका पराभव करनेके लिये अपने प्राणोंको बाहुनि देनेके लिये जो कटिबद्ध हुए हैं, य

वीरोंका यह नाम है। इन्द्रकी सेनाके मन्त्र नामक जो वीर हैं उनका वर्णन भी इस अर्थकी सार्थकता बता रहा है। यह शब्द सैनिकोंका उत्साह बता रहा है। इस प्रकारके उत्साही वीर जिन सेनामें होंगे, उनकी विजय निश्चय हो सकती है। इस शब्दका प्रयोग जिन मंत्रोंमें है उनके उदाहरण यहां देखिये—

- १ हे महतः । ईदुसो द्युयं उमाः स्थ ।
अभिमेत, मृणत, सहध्वम् । (सू. १, मं. २)
- २ महत बोजसा प्रन्तु । (सू. १, मं. ६)
- ३ हे महतः । या असौ परेषां सेना
स्पर्धमाना अस्मान् अभ्येति,
सां अपमतेन तमसा विध्वत,
यथा धर्षां अन्यः अन्यं न जानात् । (सू. २, मं. ६)
- ‘ (१) हे मन्त्रके लिये सेवार वीर । ऐसे प्रसंगमें तुम सब यही उग्र हो । इतलिये आगे बढ़ो, काटो और बंटियोंको परास्त करो ॥ (२) वीर लोग बलके साथ वीरोंको काटें ॥ (३) हे वीरों ! यह जो वीरोंकी सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर धावाकर रही है, उसको कर्षणीन मोह्यन समझे विद्ध करो, जिससे उनका एक मनुष्य इगारोंको पहचान न सके । ’

ये मन्त्रोंके मंत्र स्पष्टतया सैनिक वीरोंके कर्तव्य बता रहे हैं। युद्धमें सेनाके वीर कौंस उग्र कर्म करें, उसका उपदेश यहां इस प्रकार मिल रहा है। इसका मनन करके साथ तेजसे युक्त वीर युद्धोंको बड़ा उत्साह आ सकता है। इससे मन्त्र ‘ अस्तवः ’ शब्द देखिये—

५ अस्तवः

बसनेवालोंका नाम ‘ अस्तु ’ है। जो अपने राष्ट्रमें अपने अधिकारके बसना चाहते हैं, राष्ट्रके हमले होनेपर भी स्वयं अपने रथानसे हिलना नहीं जानते वे ‘ अस्तु ’ होते हैं । इन अस्तुओंके विषयमें अष्टवेदमें हो अग्य रथानमें कहा है—

प्रबलित वृषतके मंत्र भावका अर्थ विमल लिखित प्रकार होता है देखिये—

- इमे साधिता वस्तवः अमीमुषान् ।
एषां वृतः अग्निः विद्वान् प्रत्येतु । (सू. १, मं. २)
- ‘ ये प्रभावशाली राष्ट्रमुख्य वीरोंसेरको काटते हैं । इनका विद्वान् वृत अग्नि वीरोंपर बड़ाई करे । ’ इस मंत्रमें हमें बता लयता है कि बहोला अग्नि शब्द अस्तुओंमेंसे एक अस्तुका भावक है अर्थात् यदि उक्त प्रकार ‘ अस्तु ’ राष्ट्रमुख्य है, तो ‘ अग्नि ’ भी अस्तुओंमें तो एक राष्ट्रमुख्य अथवा राष्ट्रका वृत ’ है जो समपत्ता है और बड़ा अयुर भी है। इन्द्र वीर अग्निमें यह भेद है। इन्द्र स्वयं सभ्राट् अथवा राजा है, यह स्वयंसेवक या राष्ट्रमुख्य नहीं है, और अग्नि राजा नहीं है परंतु राष्ट्रमुख्य है। अग्नि विद्वान् है और इन्द्र धनवान् है ये भेद ही वैदिक राज्य पद्धतिका स्वरूप स्पष्ट बार बोलें हैं। इस प्रकार अस्तु शब्दका अर्थ देखनेके परन्तु वीर अग्निको उनमेंसे एक जाननेके परन्तु अथ अग्निका अर्थ बोलते हैं—

६ अग्निः

अस्तु शब्दके जो सभ्य दूर्ब शब्दके वर्णनके प्रसंगमें बताये हैं वे इसके साथ भी संगत होते हैं। यह प्रकाशका शेष है, अस्तुको जलता है और उपासकको तेज प्रदान करता है। यह (विद्वान्) शाली है, समपत्ता है, कर्तव्यको शोक प्रकार समझता है। यह (जात-येदाः=जातं धेत्ति) बने हुए बस्तुस्थितिको धपावत् जाननेवाला है। ऐसा योग्य राष्ट्रमुख्य (वृतः) राष्ट्रका वृत, कितना उपयोगी होगा और ऐसे शब्दके प्रसंगमें इस प्रकारके राष्ट्रवृतको सेवाका निश्चय साथ राष्ट्रको हो सकता है यह स्पष्ट है।

अग्नि ब्राह्मणोंके और इन्द्र कायतेज ध्यान करता है, जिस समय राष्ट्रपर आपत्ति आती है, उस समय ये वीरों मिल जुलकर राष्ट्रकार्य करें, इस विषयकी सूचना इन सूत्रोंमें मिलती है। इस विषयका मंत्र देखिये—

यद्ब्रुवक्यानृतं जिहया वृजिनं ब्रुह । राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणाद्ब्रुम् ॥ ३ ॥
मुञ्चामि त्वा वैश्वानरदर्शिवान्महत्तस्परि । सजातानुग्रहा वदु ब्रह्म चापं चिकीहि नः ॥ ४ ॥

अर्थ— हे मनुष्य ! (यत्) जो (अनृतं वृजिनं) अत्यन्त गौर पापवचन (जिहया) जिह्वासे (यद्ब्रु उचक्य) बहुतसा तू बोला है, उससे तथा (सत्यधर्मो) सच्चे न्यायी (राज्ञः वरुणात्) राजा वरुण देव ईश्वरसे (अहं) मैं (त्वा) तुझको (मुञ्चामि) छुड़ता हूँ ॥ ३ ॥

हे मनुष्य ! (त्वा) तुझको (महत्तः वैश्वानरात् अर्णवात्) बड़े सन्तुष्टके समान गंभीर विद्वानात्मक वेदसे (परि मुञ्चामि) छुड़ता हूँ । हे (उग्र) बौर ! (ब्रुह) यहां (सजातान्) अपनी जातिवालोंको (आ चत्) सय बहू वे बौर (नः) हमारा (ब्रह्म) शान (अप चिकीहि) तू भाग ॥ ४ ॥

भाषार्थ— हे पापी मनुष्य ! तू अपनी जवानसे बहुत सत्य और बहुत पापवचन बोलता है । इस पापसे दूसरा कोई तुझे बचा नहीं सकता । मैं तुम्हें उसकी शरणमें ले आता हूँ और उसकी कृपासे तेरा बचाव कर सकता हूँ ॥ ३ ॥

हे पापी मनुष्य ! तुझको विश्वेश्वरके श्रेयसे इस प्रकार छुड़ता हूँ । हे बौर ! तू अपनी जातिमें सय भाँते बहू और हमारे शानको भावकर सपना ॥ ४ ॥



असत्यभाषणादि पापोंसे छुटकारा

पापसे छुटकारा पानेका मार्ग

यद्यपि यह सूक्त अति सरल है तथापि पादकोंके विशेष सरल बोधके लिये यहां थोडासा स्पष्टीकरण किया जाता है ।

इस सूक्तमें पापसे छुटकारा पानेका जो मार्ग बताया है वह निम्नलिखित है—

एक शक्त ईश्वर

(१) 'देवानां असुरो विराजति'— ईश्वरविशेषों को विविध शक्ति देनेवाला एक प्रभु ईश्वर ही सब जगत्का परम शासक है । इससे शक्ति शक्तिशाली दूसरा कोई नहीं है । (मं. १)

(२) 'राशो वरुणस्य यदा हि सत्या'— उस प्रभु ईश्वरका सत्य दास्य है । उसकी इच्छा सर्वोपरि है । उसके अग्रिम शासनका कोई उत्संघन कर नहीं सकता । (मं. १)

(३) 'चिभ्यं ह्युग्र निचिकेगि दुग्धम्'— हे प्रभु ईश्वर ! तू हम सबके पापोंको यथावत् जानता है । अर्थात् कोई मनुष्य अपने पाप उससे छिपा नहीं सकता । क्योंकि यह सत्य है इसलिये हम सबके बारे भले काम बहू यथावत् उसी समय जानता है । (मं. २)

ईश्वरको सर्वोपरि मानना, सबसे सामर्थ्यशाली यह है यह

स्मरण रखना और उससे शिवाकर कोई मनुष्य कुछ कर नहीं सकता, यह निश्चित रीतिसे समझना, पापसे बचनेके लिये आवश्यक है । पापसे बचानेवाले ये तीन महत्त्वपूर्ण बिंदुयों इस सूक्तमें बड़े हैं, ये ही तीन भाव मनुष्यका पापसे बचाव कर सकते हैं ।

ज्ञान और भक्ति

मनुष्यको पापसे बचानेवाले ज्ञान और भक्ति ये दो ही हैं । इसका वर्णन इस सूक्तमें निम्नलिखित रीतिसे किया है—

(१) 'महाणा दाशदानः'— ज्ञानसे तोषण बना हुआ मनुष्य पापसे बच जाता है और दूसरोंको भी बचाता है । सुदिके तथा अदमाके धर्मार्थ विज्ञानको ' ब्रह्म ' कहते हैं । यह ब्रह्म अर्थात् सुद्विदिद्या और व्यावविद्याका उत्तम ज्ञान मनुष्यको तीक्ष्ण बनाता है । अर्थात् तेज बनता है । जिस प्रकार तेज दाश दानुका भाग करता है उसी प्रकार शासनका तेज दाश भी अज्ञान पाप अर्थात् मनुष्योंका भाग करता है । मनुष्यकी सच्चे उन्नतिका यही साधन है । (मं. १)

(२) 'नमस्ते राजन् वरुणास्तु गन्धये'— हे ईश्वर ! तेरे भोचके सामने हम नमन करते हैं, तेरे शासनमें सामने हम अपना शिर झुकाले हैं । अर्थात् हम तेरी शरणमें आकर रहते हैं, हम अपने सारथी तेरी इच्छामें समानित

करते हैं। तू ही हमारा सारनेवाला है। तेरे बिना हम किसी अन्यके सारण जाने योग्य समझते नहीं। (म १)

(३) 'दार्ते जीवाति शरदस्तथायम्' - तो यद्यत् भीवित रहेगा तो तेरा बनेगा। तो परमेश्वरका भक्त बनकर रहेगा उसका मात कौन कर सकता है। (म २)

इन तीन मन्त्रभावोंमें शान और ईश्वरहितसे पापमोचनकी संभावना देख सकते हैं। सृष्टिविधारे नियमोंको ज्ञानकर तबनुकूल आचरण करना, आत्मशिक्षाको ज्ञानकर परमात्माकी सार्येमीम सत्तापारी मानना, भक्तितसे ईश्वरके सम्मुख नम्र बनना और ईश्वरका भक्त बनकर आनन्दसे उतका होकर रहना यही पापमोचनका सीधा और निश्चित मार्ग है। इस सूक्तमें जिस मार्गमें पापमोचनकी संभावना कही है वह यही मार्ग है और यही निश्चित और सीधा मार्ग है—

प्रायश्चित्त

पापसे बचनेके लिये प्रायश्चित्त भी यहाँ कहा है और यह यहाँ बिलाने योग्य है—

(१) 'ब्रह्म अपाचिकीहि' - पूर्वोक्त शान ज्ञानकर अपना उत्तम शान प्राप्त करना, तथा सन्तोषसे जो नियम उपर बताये हैं उनकी जानना यह उपनिषत्का निश्चित साधन है। जब इस ज्ञानसे अपने व्यवहारोंका पता लगेगा, अपने दुराधारका ज्ञान होगा, तब पश्चात्तापसे क्षुद्धि करनेका मार्ग है, वह इस प्रकार है। (म ४)

(२) 'सज्जतानुप्रेदा यद्' - हे वीर! तू अपनी जातिके पुरुषोंके सामने अपने सब अपराध कह दे। यही प्रायश्चित्त है। अपने जातिके स्त्री पुरुषोंके सम्मुख अपने अपराधोंको न छिपाते हुए कहना, यह बड़ा भारी प्रायश्चित्त है और इससे मनुष्यके मनको क्षुद्धि होती है। (म ४)

ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् या जिस समय पश्चात्ताप हो उस समय अपने सब अपराध अपनी जातिके सम्मुख कहना

बड़ा परोपकार तथा मनकी पवित्रताका ही कार्य है। हृष्टक मनुष्य इस प्रकार प्रायश्चित्त नहीं कर सकता। प्रायः मनुष्य अपने अपराधोंको छिपातेका ही यत्न करते हैं, परतु जो सौग ज्ञानमें दोषोंको जनताके सम्मुख कह देते हैं वे शूद्र बनकर ही प्र हो बने महात्मा बन जाते हैं।

इस सूक्तमें 'यद्व्य' भावि शब्दों द्वारा परमात्माका वर्णन हुआ है, 'मुञ्चामि' भावि शब्दोंसे पापीको पापसे छुड़ानेवाले सहीपदेशकका वर्णन है और 'इमं' भावि शब्द से पापी मनुष्योंका भी वर्णन हुआ है। परोपदेशक पापियोंको पापसे बचनेका उपदेश परमेश्वर भक्तिका मार्ग बता कर कर रहा है, यह बात इस सूक्तके शब्दोंसे स्पष्ट होती है। अर्थात् परोपदेशक इसी मार्गसे स्वयं पापसे बचे और दूसरोंको पापसे बचारे।

पापी मनुष्य

पापी मनुष्य सहजों प्रकारके पाप करता है, परतु इस सूक्तमें कुछ मुख्य पापोंकाही उल्लेख किया है, वह भी यहाँ देजाने योग्य है—

(१) 'विभ्य दुःख' - सब श्रेष्ठ अर्थात् सब प्रकारका घोषा। घोषा देना, काया-वाचा-मनसे विषयासपात करना, बड़ा पाप है। इसमें बहुतसे पाप आ जाते हैं। (म. ९)

(२) 'यद्व्यवस्थानृतं विहया छुजिन यद्' विहयसे असत्य तथा पापभावसे युक्त वचन बोलना भी बड़ा पाप का कर्म है। (म ३)

श्रेष्ठ करना और असाध मोलना, इन दोषोंमें प्रायः सब पाप समा जाते हैं। इन पापों मनुष्योंका सुधार पूर्वोक्त रीतिसे ही होता परोपकार है। परोपदेशक तथा साधारण जन भावि इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनकी पापमोचनके विषयमें बहुत ही योग्य बोध मिल सकता है।

पापसे बचानेकी आर्येता

कांड ११, सूक्त ६

(श्रुतिः - आतातिः । देवता - अग्निः, मन्त्रोक्ता ।)

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोपधीकृत धीरुधः । इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्वदंसः ॥ १ ॥

अर्थ— अग्नि, वनस्पति, ओषधि, (पौष्टिक) सत्ता, इन्द्र, बृहस्पति और सूर्यकी (प्रमः) हम सब प्रार्थना करते हैं कि (ते) मे (मे) अहस्तः हम अपने पापसे (मुञ्चन्तु) बचारे ॥ १ ॥

ब्रूमो राजानं परुषं मित्रं विष्णुमथो भगम् । अंशं निर्वस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥
 ब्रूमो देवं संवितारं घातारमुत पूषणम् । त्वष्टारमग्निं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥
 सन्धर्वाप्सरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम् । अर्धमा नाम यो देवस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥
 अहोरात्रे इदं ब्रूमः धर्षाचन्द्रमसायुमा । विश्वानादित्वान्ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥
 वारं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः । आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥
 मुञ्चन्तु मा शपथ्यादिहोरात्रे अथो उषाः । सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति ॥ ७ ॥
 पार्थिषा विद्याः पशव आरण्या उत ये मुगाः । शकुन्तान्पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ८ ॥
 भवाश्रुर्विदं ब्रूमो रुद्रं पंशुपतिंश्च यः । इषुर्षा एषा संविभ ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥ ९ ॥
 दिवं ब्रूमो नर्षत्राणि भूमिं यद्यणि पर्वतान् । सुमुद्रा नवो विशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १० ॥
 सप्तर्षीन्वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम् । पितृन्यमथ्रेष्ठान्ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ११ ॥
 ये देवा दिविपदा अन्तरिक्षसदश्च ये । पृथिव्यां शुक्रा ये श्रितास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १२ ॥
 आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अर्धर्षाणः । अर्क्षिंसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥
 यज्ञं ब्रूमो यज्ञमानमृचः सामानि भेषजा । यजूमि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १४ ॥

अर्थ— राजा, बरुण, मित्र (अथो) और भग, अंश, निर्वस्वान् ॥ २ ॥ त्विता देव, पाता, पूषा, (अग्निं त्यष्टारं) पूष्य त्वष्टा ॥ ३ ॥ संधर्व और अप्सरण्य, अश्विनो देव, ब्रह्मणस्पति (यः अर्धमा नाम देवः) और नो अर्धमा नामक देव ॥ ४ ॥ अहोरात्र, सूर्य और चन्द्र (उषो) सोमो, (विश्वान् आदित्वान्) सब आवित्य ॥ ५ ॥ (घातः) धाम्, पूषण्य, अन्तरिक्ष (अथो) और विद्या, (आरण्याः) उपरिष्ठासी (ब्रूमः) हय सब प्रार्थना करते हैं कि (ते नः) अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ ६ ॥

अहोरात्र और उषाएँ (मा शपथ्यात् मुञ्चन्तु) मुझे शपथसे मुक्त करें, (यं चन्द्रमा इति आहुः) जिसे चन्द्रमा कहते जानते हैं, वह सोमदेव (मा मुञ्चन्तु) मुझे पापसे मुक्त करे ॥ ७ ॥

(पार्थिषाः विद्याः पशवः) पृथ्वीके ऊपरके पशु और आकाशमें रहनेवाले पक्षी (उत ये आरण्याः मुगाः) और जो धरन्धर्म रहनेवाले मृग हैं, शकुन्त पक्षी हैं उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ८ ॥

भव और वरुण (यः पशुपतिः रुद्रः) जो पशुपालक चन्द्र हैं, (य एषा इष्टः) जो इनके धाम (तं विद्याः) इष्ट स्थिति हैं (ताः) वे (नः सदा शिवाः सन्तु) हमारे लिये सदा कल्याणकारी हों ॥ ९ ॥

(दिवं) धूलोक, नक्षत्र, भूमि, (यद्यणि) मक्ष, पर्वत, समुद्र, नदियाँ, (चेष्टान्ताः) जलाशय, ॥ १० ॥ सप्तर्षिण्य, (आपः देवी) जल, प्रजापति, (यमथ्रेष्ठान् पितृन्) पितर और उनका अधिपति यम ॥ ११ ॥

(ये दिविपदा देवाः) जो धूलोकमें रहनेवाले देव हैं (य ये अन्तरिक्षसदः) और अन्तरिक्षमें रहनेवाले हैं (ये द्राक्षाः) जो समर्थ देव (पृथिव्यां श्रिताः) पृथिवीका आश्रय लिये हुए हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १२ ॥

आवित्य, चन्द्र, ऋषि (दिवि अ-धर्षाणः देवाः) धूलोकमें जो निरवत देव हैं तथा (मनीषिणा अंगिरः) मन-दोल अंगिरस हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १३ ॥

मा, यज्ञमान, (अचः) ऋषेय, साम, (भेषजा) मंत्रके साथ (यजूमि) यजुर्वेद (होत्राः) होमकरक ॥ १४ ॥

यश्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः । दुर्भो भ्रुङ्गो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १५ ॥

अरायान्ब्रुमो रक्षंसि सर्पान्पुण्यजान्पितृन् । मृत्पूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १६ ॥

ऋतुञ्जम ऋतुपवीनार्विवानुत हायुनान् । समाः संवत्सरान्मातांस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १७ ॥

एतं देवा दक्षिणतः पृथारप्राञ्च उदेव ।

पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १८ ॥

विश्वान्देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतवृषः । विश्वामिः पर्वीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १९ ॥

सर्वान्देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतवृषः । सर्वाभिः पर्वीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २० ॥

भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानांभूत यो वृशी । भूतानि सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २१ ॥

या देवीः पञ्च प्रदिशो ये देवा द्वादशैर्वचः । संवत्सरस्य दंप्रस्ते नः सन्तु सदा शिवाः ॥ २२ ॥

यन्मातली रथक्रीतममृतं वेदं भेषजम् । तदिन्द्रो आप्तु प्रावेशयत्तदापो दत्त भेषजम् ॥ २३ ॥

अर्थ— (वीरुधां सोमश्रेष्ठानि पञ्चराज्यानि) जितने सोम श्रेष्ठ है वेही औषधियोंके पांच राज्य, बर, (भ्रुङ्ग) भांग, (यवः) ओ और (महा) बलवाली धानकी (ब्रूमः) हम कहते हैं कि (ते) वे हंग सबको पापसे बचाने ॥ १५ ॥

(अरायान् रक्षंसि) अराजक राक्षसों, सर्पों, पुण्यजनों और पितरों (एकशतं मृत्युन्) एक सौ मृत्युओंको ॥ १६ ॥

ऋतुओं, ऋतुओंके पतिवों, (विश्वान् देवान् हायनान्) ऋतुओंके बननेवाले अपनों (समाः संवत्सरान् मातान्) सब वर्ष, संवत्सर और ऋतुओंको हम कहते हैं कि वे हमको पापसे बचाने ॥ १७ ॥

हे (देवाः) देवो ! (दक्षिणतः पृथ) दक्षिण दिशासे आओ, पश्चात् (प्राञ्चः उदेत) पूर्व दिशामें उदयको प्राप्त होओ, (विश्वे शक्राः देवाः) सब तमर्ष देव (पुरस्ताद् उत्तरात् समेत्य) सगले और उत्तर दिशामें एकट्ठे होकर (ते नः) हम सबको पापसे बचाने ॥ १८ ॥

(सत्यसंधान्) गायप्रतिज (ऋतुवृषः) ऋतुको बढानेवाला (विश्वान् देवान्) सब देवोंको (दं प्रूमः) यह कहते हैं कि वे (विश्वामिः पर्वीभिः सह) अपनी सब पत्नियोंके साथ शकर (नः) हम सबको पापसे बचाने ॥ १९-२० ॥

(यः वृशी) जो सबको बत करनेवाला है उस (भूतानां भूतपतिं) भूतोंके अधिपतियों तथा (भूतं) भूतको हम (ब्रूमः) कहते हैं कि (सर्वा भूतानि संगत्य) सब भूत मिलकर हम सबको पापसे बचाने ॥ २१ ॥

(याः पञ्च देवीः प्रदिशः) ओ वैश्व पांच दिशाएँ हैं, (ये द्वादश शतयः देवाः) जो बारह ऋतु भेग हैं, (ये संवत्सरस्य दंप्रः) जो बरके सबके तपल हैं (ते नः सदा शिवाः सन्तु) वे हम सबको सदा शुभ हों ॥ २२ ॥

(मातलिः) मातली (यत् रथक्रीते भ्रूमते भेषजं वेदं) जिस रथके द्वारा प्राप्त बनकर देनेवाले औषधको जानता है (इन्द्रः तत् आप्तु प्रावेशयत्) इन्द्रने उस औषधको जलोंमें प्रविष्ट किया है, हे (आपः) जलो ! (तत् भेषजं दत्त) उस औषधको हमें दीजिये ॥ २३ ॥

भाषार्थ— इन सब देवताओंकी सहृदयतासे मनुष्यमात्र पापसे बच जावे ॥ १-२३ ॥

पापसे बचनेकी प्रार्थना

इस सूक्तका विचार

इस सूक्तमें मानवीकी पापोंसे दूर करनेके लिये अपना उनको निष्काप करनेके लिये देवताओंकी प्रार्थना है।

इस प्रार्थनाकी विशेषता यह है कि यह प्रार्थना सांख्यिक अर्थात् सांघिक है। सब लोगोंके द्वारा मिलकर की जाने वाली यह प्रार्थना है, अतः इसमें 'ते नो मुञ्चन्तु अंहसः' ये हम सब प्रार्थना करनेवालोंको पापसे मुक्त करें, ऐसा बहु-वचन प्रयोग किया है। सांघिक प्रार्थनाका महत्व वैदिक सारस्वतमें विशेष है, क्योंकि उससे सघनचित्त बढ़ती है।

अथ इस सूक्तमें जिन देवताओंका नगमनिर्देश जाया है उनका वर्गीकरण इस तरह है—

पृथ्वीस्थानीय देवता

१ अग्निः १	२५ यजुः १४
२ वनस्पतिः १	२६ होमाः १४
३ ओषधिः १	२७ बीजयां पञ्च राज्यानि १५
४ वीर्यः १	२८ सोमः (वनस्पतिः) १५
५ अहोरात्रं ५, ७	२९ बर्मः १५
६ उपव्यं ७	३० भंगः १५
७ उषाः ७	३१ वयः १५
८ पाचिवाः परावाः ८	३२ सहः १५
९ आरव्याः मृगाः ८	३३ अरावः १६
१० भूमिः १०	३४ रक्षति १६
११ यज्ञः १०	३५ सार्वः १६
१२ पर्वतः १०	३६ पुण्यज्वलः १६
१३ समूहः १०	३७ मृगः (एकजंतुं मृग्यः) १४
१४ गदो १०	३८ ऋतुः (इन्द्रा) १७, २२
१५ घोरान्ताः १०	३९ अमुपतिः १७
१६ बुविभ्यां जात्राः भिताः १२	४० आर्तवः १७
१७ वसवः (अष्टौ) १२	४१ हायनम् १७
१८ उपवर्गः १३	४२ सवः १७
१९ अर्गिरसः १३	४३ संवत्सः १७
२० यशः १४	४४ भाताः १७
२१ पञ्चमानः १४	४५ विवरेवेवाः १८, १९
२२ ऋषः १४	४६ वेद्यपत्यः १९
२३ सामानि १४	४७ मूर्त् २१
२४ भेदजानि १४	४८ भूतानां भूतपतिः २१
	४९ भेद्यः २३

अन्तरिक्षस्थानीय देवता

१ यंयवेः ४	११ माहुताः ८
२ अम्सराः ४	१२ भवः ९
३ चंद्रमाः ५	१३ शर्यः ९
४ वायुः ६	१४ स्रः ९
५ पर्वतव्यः ६	१५ पशुपतिः ९
६ अन्तरिक्षं ६	१६ इयुः ९
७ दिशः ६	१७ यमः ११
८ सर्वाः आशाः ७	१८ पितरः ११, १६
९ सोमः ७	१९ अन्तरिक्षसराः देवाः १२
१० पक्षिणः ८	२० शत्रः (एकादश) १३

सुस्थानीय देवता

१ इन्द्रः १	१४ अरिपनी ४
२ ब्रह्मस्पतिः १	१५ ब्रह्मणस्पतिः ४
३ सूर्यः १, ५	१६ अर्चना ४
४ राजा वरुणः २	१७ विषये वादिव्याः (इन्द्राः) ५, १३
५ विश्वः २	१८ विध्यः पतवः (पक्षिणः) ८
६ विश्वः २	१९ शुः १०
७ भगः २	२० नवमानि १०
८ अंशः २	२१ सत्यबंधः ११
९ विभस्वान् २	२२ देवीं वाचः ११
१० सविता देवाः ३	२३ प्रजापतिः ११
११ घाता ३	२४ विविदशः देवाः १२, १३
१२ पूषा ३	
१३ त्वष्टा ३	

यहाँ तीन स्थानोंमें देवताओंको बाँटकर रखा है। देवताके नामके आगे जिन भक्तोंके देवता माने हैं उनके अंक पते गये हैं। और कई देवता अन्तरिक्षस्थानमें अथवा द्युस्थानमें रहने योग्य होनेके कारण भी उनका पृथ्वी स्थानीय स्थानोंके साथ संबंध माननेके कारण उक्त पृथ्वीस्थानमें रखा है। इतना भेद विचारकी सुबोधताके लिये किया है यह पाठक ध्यानमें रखें।

पृथ्वीस्थानमें	४९
अन्तरिक्षस्थानमें	२०
सुस्थानमें	२४
मिलकर कुल	९३ इतने देवता हुए।

इसमें ८ वसु, ११ इन्द्र, १२ सविता, ७ ऋषिगण, १००

मृत्यु, १२ मास, १२ अशु, ६ अशु, २ अपन, ६ अशुपति, भ्रिशा ४ उपदिशा में १८४ वेधता अधिक होते हैं। इनमेंसे १२ कुनदन्त होवेसे कम किये जाय तो मेष १७२ यह आते हैं। इनके साथ पूर्वोक्त ११ देवताओंको मिलानेसे २६३ देवता होते हैं।

इन देवताओंका मानकोंके साथ कंठा संबंध आता है यह बेलकर पापसे बचनेका यत्न साधकको करना उचित है।

इसमें कई देवता पापके लिये साधन भी होते हैं। जैसे भूमि, जल, वनस्पति, पशु, पक्षी इनके कारण ही मनुष्य मुड़ करते आये हैं, भूमिके कारण कितने मुड़ हुए हैं और कितने मानव काटे पडे हैं, यह इतिहासमें देखने योग्य है। मानकोंमें राक्षसभाव इनके कारण ही आता है। बचना तो इसी राक्षसभावसे है। स्पष्टतः ऐसा करना चाहिये कि

मानकोंका राक्षसभाव दूर हो और उनमें ईवीभाव स्थिर हो। इसीलिये कहा है कि—

ते नः सन्तु सदा शिवाः । (२२१९)

‘ ये सब देव [भारे लिये सदा शुभमार्ग प्रदानेवाले हों। ’ इस प्रार्थनामें अशुभवृत्ति होनेकी सम्भावना सूचित होती है। मन शान्त रखकर कितनी प्रकार भी अशुभवृत्ति मनमें न उठे ऐसा प्रबंध करना चाहिये।

इस तपह् मनुष्य पापसे बच सकता है। मन डोला रहेगा तो पाप होगा, यदि मन बलवान् होगा तो मनुष्य पापसे दूर रहेगा।

इसतरह विचार करके मानव पापसे बचनेका साधन करे और पवित्रात्मा हीकर यशस्वी बने।



एकैशतं लक्ष्म्योऽं मर्त्यस्य साकं तन्वां जनुपोऽधि जाताः ।

तासां पापिष्ठा निरित्तः प्र दिग्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ ॥ ३ ॥

एता एता व्याकरं खिले गा विष्टिता इष । रमन्तां पुण्यां लक्ष्मीर्वाः पापीस्ता अनीचम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (मर्त्यस्य तन्वा साकं) मनुष्यके शरीरके साथ (जनुपः अधि) जन्मते ही (एकशतं लक्ष्म्यः जाताः) एकसौ एक लक्षिमियां उत्पन्न हो गई हैं । (तासां पापिष्ठाः इतः निः प्रहिण्मः) उनमेंसे पापी लक्ष्मीको यहाँसे हथ डूर करते हैं । हे (जातवेद) गान्धी देव ! (शिवाः अस्मभ्यं नि यच्छ) और जो कल्याणमय लक्षिमियां हैं वे हमें प्रदान कर ॥ ३ ॥

(खिले विष्टिताः गाः इव) घराऊ भूमिपर घंठी हुई गोबोकें समान (एताः एताः वि-व्याकरं) इन इन वृत्तियोंको मैं अलग अलग करता हूँ । (याः पुण्याः लक्ष्मीः रमन्तां) जो पुण्यकारक लक्षिमियां हैं, वे यहाँ आनन्दते रहीं । (याः पापीः ताः अनीचरां) और जो पापी वृत्तियां हैं उनका नाश करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ— मनुष्यको जन्मके साथ एकसौ एक शक्तियां प्राप्त होती हैं, उनमें कई पापमय हैं और कई पुण्यमय हैं । पाप हमसे दूर हों और शुभ हमारे पास आवें ॥ ३ ॥

मैं इनको पृथक् करता हूँ । जो पुण्यकारक हैं वे मेरे पास रहें और जो पापकारक हों वह मुझसे दूर हो जायें ॥ ४ ॥

मनुष्यके उत्पन्न होते ही उसके शरीरमें संकरों शक्तियां स्वभावतः रहती हैं । उनमें कुछ पुरी हैं और कुछ अच्छी होती हैं । अच्छी शक्तियां धरवा वृत्तियां जो हों उनको अपने अन्दर रखना और बर्बाद न चाहिये, तथा जो बुरी वृत्तियां हों उनको दूर करना चाहिये । (सं. ३)

घराऊ भूमिमें अनेक गोबोकें बँधती हैं, उनमें कई श्वेत रंगकी हैं और कई काले रंगकी हैं, यह जैसे पहचाना जाता है, उसी प्रकार अपनी शक्तियों और वृत्तियोंको पहचानना चाहिये । और शुभवृत्तियोंकी वृद्धि और अशुभ होना, और हानि कारक वृत्तियोंका नाश करना चाहिये । (सं. ४)

' लक्ष्मी ' का अर्थ है ' चिह्न ' । अपने अन्दर कौनसे चिह्न बुरे हैं और कौनसे अच्छे हैं, इसकी परीक्षा करना प्रत्येक मनुष्यका धायम्भक कर्तव्य है । मनुष्यके वर्तमानमें वे चिह्न दिखाई देते हैं । वे वैतन्कर ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि जिससे उसमें शुभलक्षणोंकी वृद्धि हो और अशुभ लक्षण घट जायें । इस प्रकार करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है ।



फाफसे रुचन्त

कांड ६, सूक्त ११५

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - विरवेदेवाः ।)

यद्विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चक्रुमा वयम् । युयं नस्वस्मान्मुञ्चतु विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

अर्थ— (यद् विद्वांसः यद् अविद्वांसः) जब जानते हुए व्यक्ता न जानते हुए (ययं एनांसि चक्रुम) हम पाप करें, हे (विरवेदेवाः) सब देवों ! (युयं सजोषसः सस्मात् नः मुञ्चतु) तुम एक मतवाले होकर उस पापसे हमें मुक्त करो ॥ १ ॥

भावार्थ— जानते हुए अथवा न जानते हुए जो पाप मनुष्यते हो, उनसे छुटकारा प्राप्त करना चाहिये ॥ १ ॥

यदि जाग्रद्यदि स्वप्नेन एतस्योऽकरम् । भूतं मा तस्माद्भ्रूय च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥ २ ॥
द्रुपदादिव मुमुक्षानः स्विस्रः स्नात्वा मलादिव । पुतं पवित्रैर्जेवान्यं विश्वं शुम्भन्तु मेनेसः ॥ ३ ॥

अर्थ— (यदि जाग्रत् यदि स्वप्न) यदि जागते हुए अथवा सोते हुए (एतस्यः एतः अकरं) में पापी होकर भी पाप कल, तो (द्रुपदात् इव) सृष्टे में पशुको जैसे मुक्त करते हैं उसी प्रकार (भूत भव्यं च तस्मात् मा मुञ्चतां) भूत अथवा भविष्य कालका जो पाप है उससे मुझे मुझाओ ॥ २ ॥

(द्रुपदात् इव मुमुक्षानः) जिस प्रकार पशु अवनतभ्रमे मुक्त होता है अथवा (मलात् स्विस्रः स्नात्वा इव) जैसे मलसे स्नानके बाद मुक्त होता है (पवित्रेण पुतं आश्रय इव) अथवा जैसे छाननीसे घी पवित्र होता है उसी प्रकार (विश्वे मा एतसः शुम्भन्तु) सब मुझे पापसे पवित्र करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— जागते समय अथवा सोते समय जो पाप मनुष्यसे हो, यह भूत कालका हो अथवा वर्तमान कालका हो उससे छुटकारा प्राप्त करना चाहिये ॥ २ ॥

जैसे स्वयसे पशु मुक्तता है, शरीरसे स्नानके द्वारा मल दूर होता है और घीसे छानवेसे घृत पवित्र बनता है, उस प्रकार मैं निर्दोष हो जाऊँ ॥ ३ ॥

निष्पाप बननेके तीन प्रकार

शुद्ध होनेके तीन प्रकार हैं, अन्तःशुद्धि, बहिःशुद्धि और संबन्धशुद्धि । इसके तीन उदाहरण तृतीय पत्रमें दिये हैं वे हैं—

१ अन्तःशुद्धि— (पवित्रेण पुतं आश्रयं इव) छाननीसे जिस प्रकार घी शुद्ध होता है । घी छानते हैं, उससे घीके अवरके मल दूर होते हैं, इस प्रकार मनुष्यके अन्त करके मल दूर करने चाहिये । यह अन्तःशुद्धि है ।

२ यद्भिःशुद्धि— (मलात् स्नात्वा स्विस्रः इव) जैसे शरीरपर छोटे हुए मलको स्नान करनेसे शुद्धता होती है । यह यद्भिःशुद्धि है । मल शरीरपर बाहरसे लगता है उस प्रकार बाह्य दोषोंसे यह शुद्धता करनी होती है ।

३ संबन्धशुद्धि— (द्रुपदात् मुमुक्षानः इव) सर्पके अवनते जैसे पशुको छुड़ाते हैं अथवा फल परिपक्व होने से जिस प्रकार यह धूससे छूट जाता है । उस प्रकार सवन्धके छोमते मुक्त होना । यह संबन्धशुद्धि है ।

इस प्रकार ये शुद्ध होनेके तीन भेद हैं । मनुष्यको भी जो निर्दोषता प्राप्त करनी है, यह इन तीनों प्रकारकी है । मनुष्य अपने संबंधोंको शुद्ध करे और पापी संबंधोंको दूर करे, अपनी बाह्य शुद्धता करे और उसके लिये अपना रहना सहजा पवित्र रखे तथा अपनी अन्तःशुद्धि करे और उसके लिये अपने विचारोंको पवित्र करे । इस प्रकार मनुष्य परिशुद्ध होता है ।

मनुष्य जानता हुआ अथवा न जानता हुआ, जायता हुआ अथवा सोता हुआ पाप करता है, इन सब पापोंसे मुक्तता प्राप्त करनी चाहिये । परमेश्वरकी कृपा, शक्तियोंका उत्सर्ग और आत्मशुद्धिका प्रयत्न करनेसे पापसे छुटना संभव है ।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

कांड ४, सूक्त ३३

(अर्थ: - ब्रह्मा । देवता - परमपरात्मनः अग्निः ।)

अर्पं नः शोशुचदुधम् शुशुग्ध्या रयिम् । अर्पं नः शोशुचदुधम्	॥ १ ॥
सुशुक्षेत्रिया सुगातुया वंसुया च यजामहे । अर्पं नः शोशुचदुधम्	॥ २ ॥
प्र यद्भन्दिष्ट एषां प्रास्माकांसश्च सूरयः । अर्पं नः शोशुचदुधम्	॥ ३ ॥
प्र यत्तं अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् । अर्पं नः शोशुचदुधम्	॥ ४ ॥
प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति मानवः । अर्पं नः शोशुचदुधम्	॥ ५ ॥
स्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि । अर्पं नः शोशुचदुधम्	॥ ६ ॥
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेवं पारय । अर्पं नः शोशुचदुधम्	॥ ७ ॥
स नः सिन्धुमिव नावाति पर्पा स्वस्तये । अर्पं नः शोशुचदुधम्	॥ ८ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) प्रकाशक देव ! (नः अर्घं अथशोशुचत्) हमारा वाप धर होवे और हमारे वाप (रयि शुशुग्धि) धन शुद्ध होकर आने । (नः अर्घं अथ शोशुचत्) हमारा वाप धर होवे ॥ १ ॥

(सुशुक्षेत्रिया सुगातुया) उत्तम क्षेत्रके लिये, उत्तम भूमिके लिये, (च वसुया यजामहे) और धनके लिये हम यजन करते हैं । हमारा वाप धर होवे ॥ २ ॥

(एषां यत् भन्दिष्ट । प्र) इनके बीचमें जिस प्रकार अर्घ्य कल्याण दूत होऊँ (अस्माकांसः सूरयः च) और हमारे सानो जन भी उत्तम अक्षय प्राप्त करें । इसके लिये जैसा चाहिये वैसा हमारा वाप धर होवे ॥ ३ ॥

हे (अग्ने) तेजस्वी देव ! (यत् ते सूरयः) धैरे तेरे विद्वान् ही धैरे (ते ययं प्र जायेमहि) तेरे धनकर हम धैरे हो जायें, इसलिये हमारा वाप धर होवे ॥ ४ ॥

(यत्) जैसा (सहस्वतः अग्नेः) बलवान् अग्निकी (मानवः विश्वतो प्रयन्ति) किरनं चारों ओर फैलता है, उसी प्रकार हमारी फँसें, इसलिये हमारा वाप धर होवे ॥ ५ ॥

हे (विश्वतो-मुख) सब ओर मुखवाले देव ! (रयं हि विश्वतः परिभूः असि) तू ही सबसे धैरे है, धैरे धनके लिये हमारा वाप धर होवे ॥ ६ ॥

हे (विश्वतो-मुख) सब ओर मुखवाले देव ! (नाया ह्य) मौकाले सपान (नः द्विषः अतिपारय) हमें अशुभके समूहसे बच करा, और हमारे वाप धर कर ॥ ७ ॥

(नाया सिन्धुं ह्य) जैसे मौकाले सपानके पार होते हैं, उसी प्रकार (सः) यह तू (नः अतिपर्यं) हमें पार करा और (स्वस्तये) कल्याणके लिये (नः अर्घं अथ शोशुचत्) हमारे सब वाप धर हों ॥ ८ ॥

पापको दूर करना

इस सूक्तमें पापको दूर करनेके दो अनेक काम होते हैं उनका वर्णन है । पापको दूर करनेके धीरे शुद्ध होनेके (रयि) धन मिलता है, (सुशुक्षेत्र) उत्तम क्षेत्र प्राप्त होता है, (सुगातु) उत्तम मार्ग उन्नतिके लिये खुला होता है, (भन्दिष्टः) कल्याण प्राप्त होता है, (सूरयः) विद्वानोंकी संगति मिलती है, (सूरयः जायेमहि) ज्ञान संपन्नता प्राप्त होती है, (मानवः विश्वतः यन्ति) प्रकान चारों ओर फैलता है, (परिभूः) सबसे अधिक प्रभावशाली हो जाता है, (अतिपारयति) कुछ दूर हो जते हैं और (स्वस्तित) कल्याण प्राप्त होता है, ये काम पापको दूर करनेके होते हैं । जिस प्रमाणसे वाप धर होता और पवित्रता होगी, उस प्रमाणसे उन्नत काम हों ।



पापी विचारका त्याग करो

कांड ६, सूक्त २६

(ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - पाप्मा ।)

अथ मा पाप्मन्सृज वृथी सन्मृडयासि नः । आ मा मद्रस्य लोके पाप्मन्धेयाविवृतम् ॥ १ ॥

यो नः पाप्मन् अर्हासि तमुं त्वा जहिमो वृथम् । पथामनुं ध्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानुं पथताम् ॥ २ ॥

अन्यत्रास्मन्बुध्यतु सहस्राक्षो अमर्त्याः । यं देषाम तमृच्छतु यमुं द्विभस्वमिज्जहि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (पाप्मन्) पापी विचार ! (मा अचसृज) मुझे छोड़ दे । (वृथी सन् मृडयासि) बर्तने करता हुआ तू हमें कुछ बेला है ऐसा प्रतीत होता है । हे (पाप्मन्) पापी विचार ! (मद्रस्य लोके) कन्यापके स्थान-में (मा अविन्दुतं आघोहि) मुझे अकुटिल अवस्थामें रख ॥ १ ॥

हे (पाप्मन्) पापी विचार ! (यः नः न जहासि) जो तू हमें नहीं छोड़ेगा तो (सं त्वा उ पर्यं जहिमः) जब तुमको हम ही छोड़ देंगे । (पर्यां अनु ध्यावर्तने) मालां अनुकूल प्रभाव पर (पाप्मानुं अन्यं अनु पथतां) पापी-विचार दूसरेके पास चला जावे ॥ २ ॥

(सहस्र-अक्षः अमर्त्याः) हजार आँसुवाला और न मरनेवाला यह पापी विचार (अस्मात् अन्यथ नि उच्यतु) हमसे भिन्न दूसरे स्थानमें चला जावे । (यं देषामः सं तमृच्छतु) जिससे हम द्वेष करते हैं, उससे पास जावे, (यं उ द्विभः सं इत् जहि) जिससे हम द्वेष करते हैं उसका नाश कर ॥ ३ ॥

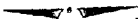
पापी मन

पापी मन होनेसे सब प्रकारके शारीरिक, इंद्रिय संबंधी तथा मानसिक आविर्भाव होते हैं । इसलिये मनसे पापी सत्त्व सबसे प्रथम दूर करने चाहिये, मन दृढ़ हुआ तो सब कुछ दूर हो सकेगा ।

पापी विचार मनमें उत्पन्न होते हैं, मनुष्यको पदमें बरते हैं और यों प्रयत्नसे अधिक गुण प्राप्त करा देनेके प्रलोभनेसे, अर्थात् गुण देनेके प्रलोभनसे पसलते हैं । इसलिये इनसे बचना चाहिये ।

यदि पापी विचार मनसे स्वयं दूर नहीं हुआ, तो उसको प्रयत्नसे दूर करना चाहिये, ऐसा करनेसे ही प्रगल्भ मार्गको अनुकूलता हो सकती है । तात्पर्य यह कि पापी विचार दूर करके चित्तको दृढ़ करनेसेही उन्नतिवा सच्चा मार्ग सुना हो सकता है ।

पापी विचार हजार आँसुवाला है, इसलिये वह हमारी स्मृता और बचचोरी सारथि जानता है और उस मार्गसे अन्ध प्रविष्ट होता है । सरीर क्षीण होनेपर भी वह पापी विचार क्षीण नहीं होता, इसलिये उसको प्रयत्नसे दूर करना चाहिये पापी विचारको दूर करनेसे अन्धको पवित्रता होगी और पवित्रतासे सब कष्ट दूर होंगे । यह आत्मदृष्टि द्वारा उन्नति प्राप्त करनेका मार्ग है ।



फाफ मोहन

कांड ४, सूक्त २६

(ऋषिः - ऋषा । देवता - द्यावापृथिवी)

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथामर्मिता योजनानि ।

प्रतिष्ठे ह्यर्भवतुं वसूनां ते नो मुञ्चतुमंहसः ।

॥ १ ॥

प्रतिष्ठे ह्यर्भवतुं वसूनां प्रष्टुद्धे देवी सुमगे उरुची ।

द्यावापृथिवी भवतं मे स्याने ते नो मुञ्चतुमंहसः ।

॥ २ ॥

असंतापे सुतपसौ हुयेऽहमुर्वा गम्भीरे क्विभिर्नमस्ये ।

द्यावापृथिवी भवतं मे स्याने ते नो मुञ्चतुमंहसः ।

॥ ३ ॥

ये अमृतं पिबुथो ये हवींषि ये स्रोत्या विभुथो ये मनुष्यान् ।

द्यावापृथिवी भवतं मे स्याने ते नो मुञ्चतुमंहसः ।

॥ ४ ॥

ये उक्षिया विभुथो ये वनस्पतीन्पयोर्वा विश्वा सुवंनान्यन्तः ।

द्यावापृथिवी भवतं मे स्याने ते नो मुञ्चतुमंहसः ।

॥ ५ ॥

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन यार्यामते न किं चुन शंक्नुवन्ति ।

द्यावापृथिवी भवतं मे स्याने ते नो मुञ्चतुमंहसः ।

॥ ६ ॥

अर्थ— हे द्यावापृथिवी । (सुभोजसौ सचेतसौ) तुम दोनों उत्तम भोग देनेवाले और उत्तम जानवाले हो; (वां मन्वे) तुम दोनोंका मैं मनन करता हूँ । (ये अमिता योजनानि अप्रथेथां) जो तुम दोनों अपरिमित योजनोंकी दूरोत्तक फंसे हो, (द्वि वसूनां प्रतिष्ठे अमघतां) क्योंकि तुम दोनों विद्यात कर देनेवाले प्राणी आदिकोंको क्षत्वार देनेवाले होते हो (ते नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

तुम दोनों (प्रष्टुद्धे सुमगे उरुची देधी) बड़ी विद्यात, उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त विस्तृत देवियां (वसूनां प्रतिष्ठे दि अमघतं) विद्यात करनेवालोंको आशय देनेवाली हो । ये (द्यावापृथिवी मे स्याने भवतं) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुखदायी हैं और (ते नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

(अहं) मैं (सुतपसौ अस्तपसे) उत्तम तेजस्वी परंतु सन्ताप न देनेवाली (क्विभिः नमस्ये उर्वा गम्भीरे) कृषियों द्वारा नमन करने योग्य यद्ये लंबो लोदी और बड़ी गम्भीर द्यावापृथिवीकी (हुये) प्रायणा करता हूँ । मैं (द्यावा०) मेरे लिये सुख देनेवाली हूँ और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

(ये अमृतं ये हवींषि विभुथः) जो तुम दोनों अमृतस्वी जल और अन्नको धारण करती हो (ये स्रोत्याः ये मनुष्यान् विभुथः) जो बड़ी आदि प्रवाहोंकी और जो मनुष्योंको धारण करती हो । ये तुम (द्यावा०) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुख देनेवाली बनो और हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

(ये उक्षियाः ये वनस्पतीन् विभुथः) जो तुम दोनों पौधों और वनस्पतियोंका धारण पोषण करती हो; (यथोः वां अन्तः विभ्या भुयनानि) जिन तुम दोनोंके बीचमें सब भुवन हैं, वे (द्यावा०) तुम द्यावापृथिवी मेरे लिये सुखदायक होवो और वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

(ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयथः) जो तुम दोनों अन्न और घृतसे सबको युक्त करती हो, (यार्यां अन्ते किंचन न शक्नुवन्ति) जिन तुम दोनोंके बिना कोई भी कुछ भी कर नहीं सकते, वे तुम (द्यावा०) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुखदायी बनो और हमको पापसे बचावें ॥ ६ ॥

यन्मेदमभिज्ञोच्चति येनयेन वा कुतं पौरुषेयाद्य दैवात् ।

स्तौमि घावापृथिवी नाधितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमहंसः

॥ ७ ॥

अर्थ— (येन येन वा पौरुषेयेण कृतं) जिस किसी कारणसे युद्ध प्रयत्नसे किया हुआ, (न वैचात्) ईश्वरी प्रेरणासे किया हुआ नहीं, (यत् इदं मे अभिज्ञोच्चति) जो यह मुझे शोकमें आता है, उसे कष्टको दूर करनेके लिये (घावा-पृथिवी स्तौमि) घावापृथिवीको मैं स्तुति करता हूँ और (नाधितः जोहवीमि) मैं उनसे शपथ होकर पुकारता हूँ कि (ते नः अहंसः मुञ्चन्तं) वे दोनों हम सबको पापसे बचावें ॥ ७ ॥



पाप मोचन

घावापृथिवी

यह सूक्त मृगार भूवर्तोंमें पापमोचन विषयका चतुर्थ सूक्त है और इसमें छलोक और पृथिवी लोकके योगसे पापको मुक्त होनेकी आकांक्षा की है। पृथिवी लोक वह है जिसके ऊपर हम रहते हैं और छलोक वह है जो तारेंति मुक्त आकाश है। अर्थात् यह सब ब्रह्मांड इनके बीचमें समाया हुआ है। कोई चीज इनसे बाहर नहीं है। अतिलो सब शक्तियाँ हैं इनके बीचमें आर्य हैं। इन सब शक्तियोंकी सहायतासे हमें अपना सुधार करनेके पापसे मुक्त होना है।

ये घावापृथिवी देवता (आमिता योजना । म. १) अगणित योजन विस्तृत हैं। ये कितने विस्तृत हैं इसका मापन नहीं हो सकता। आकाशका विस्तार ज्ञात नहीं जा सकता है और न मापा जा सकता है। सधैरे कहना हो तो इतनाही कहा जा सकता है कि ये दोनों (प्रजूदे उरुची । मं २; उची, गमीरे । मं ३) यदे विस्तृत, महान्, गमीर है अर्थात् यदे यहरे हैं। तथापि इनकी गहराईका किसीकी पता नहीं लग सकता।

ये दोनों हरएक वर्षाके लिये (प्रतिष्ठे) आचार देती हैं। इनकी शक्तियोंका विचार करनेसे (स-चेतसो) जलमें एक प्रकारका स्फुरण होता है, इसलिये (कविभिः समस्ये) ऋषि लोक इनके विषयमें बड़ा आदर धारण करते हैं। इनमें सुषाहितेजसो गोल (सु-तपसो) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं, तथापि ये किसीको (अ-सगतापे)

सन्तान नहीं देते, प्रस्यूत संतान हुबह सब इनकी ओर दृष्टि-क्षेप करता है तब उनके हुबहका कुछ बुर होता है और वहाँ शान्तिका राग्य होता है।

ये दोनों लोक (सु-भोजसी) उत्तम भोजन देते हैं। (क्रीलालेन तर्पयत) बससे संतुष्ट करते हैं और अब तथा लगती है तब भी (घृतेन) जलसे शान्त देते हैं। क्योंकि इनके अंदर (अमृतं हवींषि विधतः) जल और अन्न रहता है। इनके अंदर (उद्रियाः) गीँहें हैं जो उत्तम दूध देती हैं, तथा बनस्पतियाँ हैं जो उत्तम रस देती हैं। इस कारण इन दोनोंसे सबका पालन पोषण होता है। मनुष्योंकी जित्तसमय छोक हो उस समय मनुष्य पृथ्वी या आकाशके उत्तम दूध देणें और उनमें विष्यताका अनुभव करें। इससे उनका शोक पूर्णतया दूर हो सकता है। छलोक पिता है और पृथ्वी माता है। मानो, यह दोनों मिलकर एक गृहस्थीका परिवार है। देखो, ये कौंसे अपनी सब शक्तियोंसे परोपकार कर रहे हैं। ये अपनेसेकते हमें मार्ग प्रताते हैं, अग्निहवारी तृप्ति करते हैं, अग्निहवारी शान्ति यज्ञो हैं और अन्याय्य रीतिले हमारी सहायता करते हैं। इसी प्रकार हमें भी अपनी शक्तियोंका परोपकारार्थं ध्यय करना चाहिये, हमें अपना जल करके इनके समान विस्तृत और उबार बनाना चाहिये। अपना भी इन जनताको मलाईके लिये समर्पित करना चाहिये और सब जगत्की एक परिवार मानकर सबके पाप इनके तद्ग समान ध्ययहार करना चाहिये। यह है पाप मोचनका मार्ग।

पाप मीचन

कांड ४, सूक्त २३

(श्रुति - गृह्य - वेदता - प्रचेतसि ।)

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसुः पार्श्वजन्यस्य बहुधा यमिन्घर्ते ।

विशोविशः प्रविश्रिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वहंसः

॥ १ ॥

यथा ह्यन्य वदामि जातवेदो यथा यज्ञ कल्पयसि प्रजानन् ।

एषा देवेभ्यः सुमति न जा वह स नो मुञ्चत्वहंसः

॥ २ ॥

यामन्यामुन्नृष्युक्तं वहिष्ठ कर्मन्कर्मन्नाभगम् ।

अमिमीडे रक्षोहणं यज्ञवृषं घृताहुतं स नो मुञ्चत्वहंसः

॥ ३ ॥

सुजातं जातवेदसमधि वैश्वानरं विभुम् । इव्युवाहं इवामहे स नो मुञ्चत्वहंसः

॥ ४ ॥

अर्थ— (य बहुधा इन्द्रते) जिसको बहुत प्रकार प्रकाशित करते ह उस (पार्श्वजन्यस्य प्रचेतस प्रथमस्य अग्न) पत्र जलोमें निवास करनेवाले विषय तानी और सबमें प्रथमसे यत्मान प्रकाशक देवताका (प्र वे) म मनन करता ह । (विश विशः प्रविश्रिवांसमीमहे) प्रत्येक प्रजाजनमें प्रविष्ट हुएको हम प्राप्त करते ह (स न अहस मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

हे (जात-वेद्) अग्न हूए पदापमानको जाननवाले ! (यथा ह्यन्य वदामि) जिस प्रकार तू ह्यनको पढ़ता है और (प्रजानन् यथा यज्ञ कल्पयसि) जानता हुआ जिस प्रकार यज्ञको बनाता है (एषा देवेभ्य सुमति न जावह) जो प्रकार देवोंसे उत्तम यज्ञिको हमारे पास ले गा और (स न अहस मुञ्चतु) वह तू हमें पापसे बचा ॥ २ ॥

(यामन् यामन् उपयुक्त) प्रत्येक समयमें उपयोगी (कर्मन् कर्मन् आभग) प्रत्येक कर्ममें भजनीय, और (वहिष्ठ) शान्त बलवान (श्रिषो ईष्ट) सय प्रकाशक देवको म स्तुति करता ह । यह (रक्षोहणं यज्ञवृषं घृताहुत) राक्षसोंका नाशक यज्ञको घटानवाला यज्ञमें घतकी आहुतियां जिसके लिय भी जाता ह (स न अहस मुञ्चतु) यह हम पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(सुजातं जातवेदस) उत्तम प्रतिद वन हूए विभवने जायनवाले (विभु वैश्वानर) सधर्षनाक जिसके (इव्युवाह इवामहे) अहंके देवताके प्रभुई हूए प्राप्त करते ह कि (स न अहस मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

भावार्थ— पापों प्रकारके मनुष्योंमें जो चेतन देता है और विविध प्रकारसे प्रकट होता है उस प्रत्येकके हृदयमें ठहरकर प्रकाश देनवाले परमात्माको हम प्राप्त करते ह जो हम पापसे बचावे ॥ १ ॥

जिस प्रकार ह्यन किय हूए हवन द्रव्योंकी अग्नि सब देवोंके पास पहुंचता है उसी प्रकार यह महान देव सब देव भाववालोंके पास रहनवाली सुमति हमारे सत करणमें स्थिर करे और हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

प्रत्येक समय सहायता देनवाला हरएक कर्ममें ऐसा करव मोय बलवान प्रजापक बुद्धोंको डूर करनेवाला यज्ञकी वृद्धि करनेवाला और जिसके लिय यज्ञमें आहुतिया वी जाती ह वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

उत्तम प्रतिद, सबके सय ध्यायक सबको धत्तानवाला अग्नता दाता जो एक ईश्वर है उसीको हम प्रायना करते ह कि वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

येन ऋषयो बृलमघोतपन्पुजा येनासुराणामघुवन्त मायाः ।

॥ ५ ॥

येनाग्निना पृथीनिन्द्रो जिगाय स नो मुञ्चत्स्वहंसः

॥ ६ ॥

येन देवा अमृतमन्वाविन्दुन्येनौपथीर्मधुमतीरकुण्वन् ।

येन देवाः स्वश्रामरन्स नो मुञ्चत्स्वहंसः

यस्पेदं प्रदिशि धद्विरोचते यज्जातं जनितत्पुं च केवलम् ।

॥ ७ ॥

स्तौम्यग्निं नाधितो जौहवीमि स नो मुञ्चत्स्वहंसः

अर्थ— (येन युजा ऋषयः बलं अघोतपन्) जिसकी सहायतासे ऋषिलोग बल प्रकाशित करते आये हैं, (येन असुराणां मायाः अमुचन्त) जिसकी सहायतासे राक्षसोंको कष्टप्रकृतियोंको दूर किया, (येन अग्निना इन्द्रः पृथीन् जिगाय) जिस तेजस्वी देवताकी सहायतासे इन्द्रने आसुरी व्यवहार करनेवालोंको जीता था (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

(येन देवाः अमृतं अन्वविन्दुन्) जिसकी सहायतासे देवोंने अमृत प्राप्त किया, (येन ओपथीः मधुमतीः अकुण्वन्) जिसको सहायतासे शोधयिषीको मधुर रसपत्नी बनाया है, (येन देवाः स्वः श्रामरन्त) जिसके आध्यक्षे देवता लोग आत्मिक बल प्राप्त करते हैं। (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

(यस्य प्रदिशि इत् केवलं) जिसके शासनमें यह विश्व किसी अन्यकी सहायताकी अपेक्षा न करता हुआ स्थिर है (यत् विरोचते) जो इस समय प्रकट हो रहा है (यत् जातं जनितत्पुं च केवलं) जो पहिले बना था और जो भविष्यमें भी बनेगा, (नाधितो अग्निं स्तौमि जौहवीमि) स्तौत्य होकर मैं तेजस्वी देवकी स्तुति और पुकार करता हूँ (सः नः अंहसः पानु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

भाषार्थ— ऋषि लोग जिसके पाससे बल प्राप्त करते हैं, जिसकी सहायतासे वेद असुरोंका पराभव करते हैं तथा जिसके आधारेसे कृदित व्यवहार करनेवालोंका पराजय किया जाता है वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

जिसकी सहायतासे देवतालोग अमरत्व प्राप्त करते हैं, जिसने ओपथियां मधुर रसावाली बनायीं हैं, जिसने देवता लोकोमें आत्मिक बल भर दिया है वह देव हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

भूत भविष्य और वर्तमान समयमें प्रकाशित होनेवाला यह सपूर्ण विश्व जिसके शासनमें रहता है उसकी मैं स्तुति, प्रार्थना और उपासना करके पापना करता हूँ कि वह परमेश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

पाप मोचन

पापसे मुक्ति

मनुष्यमें पापका भाव रहता है जो हरएककी उन्नतिके पथमें रुकावटें उत्पन्न करता है। इसलिये पाप भावसे भक्तने का उपाय हरएकको करना चाहिये। यहाँ २३-२९ वे सूक्त सूक्त इसी उद्देशके आये हैं, इन सप्तोंका अर्थ 'मृगार' है। इस अर्थसे नगमका अर्थ 'आत्मपुष्टि करनेवाला' ऐसा है। इस २१ वे सूक्तमें अग्नि नामसे बोधित होनेवाले परमेश्वरकी सहायतासे पाप मूल्य होनेका उपाय है।

इस पञ्चोपर पहिली प्रत्यक्ष विद्याई देनेवाली शक्ति 'अग्नि' है। अग्निमें प्रकाशवताका गुण तथा अन्याय्य गुण जो विद्यमान है वे जिस परमेश्वरने रखे हैं वही सच्चा शक्तिका अग्नि है। इस दृष्टिसे यहाँ अग्नि पदका प्रयोग किया गया है। जो देव सबसे पहिला है अर्थात् जिससे पूर्वका कोई देव नहीं, जो जानी है, जो पञ्चजनोंके हृदयोंमें निवास करता है, हरएकके अंदर जो प्रकट हुआ है, जो यत्की बढानेवाला है, हरएक समयमें जिसकी सहायतासे ह्यारी स्थिति होती है, प्रत्येक कर्म जिसकी पूजाके लिये

बिधा जाता है, जो दुष्टोंको दूर करता है और यज्ञ द्वारा जो सज्जनोंका समतिकरण करता है, इस प्रकार दुष्टोंका बल घटाकर जो सज्जनोंकी रक्षा करता है, जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, सर्वत्र व्यापक होता हुआ सपूर्ण जगत्का जो आत्मर है, जिसके लिये जला अन्न आदिसे बना उसके लिये जो उत्पन्न करता है, शान्ति लोग जिससे बल प्राप्त करते हैं, क्षत्रिय और जिससे शत्रुपर विजय प्राप्त करते हैं, दुष्ट रीतिसि ध्वस्तकार करनेवालोंका जिसको ध्वस्तप्राप्ति परामर्श होता है, जो समको अप्रतल्य देता है, जिसने ओषधियोंमें विविध मधुर रस रखे हैं, जिससे आत्मिक बल प्राप्त होता है और जिसका शासन सब भूल, भविष्य, वर्तमान समारपर अबाधित रीतिसि चलता है क्योंकि जिसके शासनमें बाधा डालनेवाला कोई नहीं है वह एक ही प्रभु इस जगत्का पूर्ण शासक है, उसको उपासना हम करते हैं, वह हमें निश्चय पूर्वक पापसे बचावेगा। उसके गुणोंका मनन करनेसे और उसके गुणोंकी धारणा अपने अंदर करनेसे ही जो शुभ भावनाएं मनमें स्थिर होती हैं,

उससे पाप प्रमत्ति हट जाती है। इसलिये परमेश्वरकी उपासना मनुष्यकी अन्त प्रीति करती है ऐसा कहते हैं वह बिलकुल सत्य है।

इस अग्निकी विभूति मनुष्यके अंदर बाणिको रूप धारण करके रहती है ' अग्निर्वाग्भूत्या मुखं प्राणिशत ' ऐसा ऐतरेय उपनिषद्में कहा है। इससे बाणोंसे पाप न करनेका निश्चय करना चाहिये। बिचार, उच्चार और आचार यह धर्म है, मनसे विचार होता है, परचात् बाणोंसे उच्चार होता है और अनंतर शरीरसे कर्म होता है। मनुष्य अपने ही पापके छतारमें बसे हो उसको पता लग जायगा कि बाणी का प्रयोग ठीक रीतिसि न होनेके कारण ही जगत्में क्लेश सगडे और पाप हो रहे हैं। यह बात तो सबके परिचयकी है कि बाणोंका योग्य उपयोग करनेसे प्रचंड अनर्थ टल जाते हैं। इसलिये जो पापसे बचना चाहते हैं वे अपने पापोंको तथोसे पहले शूद्र करें और पापसे बचे।



फाफकी निकृति

कांड ३, सूक्त ३१

(अग्नि - देवता । देवता - पाप्मण ।)

वि देवा जरसावृत्तन्वि त्वमग्ने अरात्या । व्यं१इं सर्वेण पाप्मना वि यद्मेण समाधुषा ॥ १ ॥

व्यात्या पर्वमानो वि शुक्राः पापकृत्यथा । व्यं१इं सर्वेण पाप्मना वि यद्मेण समाधुषा ॥ २ ॥

अर्थ— (देवाः जरसा धि अचूतन्) देव वृद्धावस्थासे दूर रहते हैं। (अग्ने । त्वं अरात्या वि) हे अग्ने ! तु कभीसे तथा शत्रुसे दूर रह। (गह सर्वेण पाप्मना वि) मैं सब पापोंसे दूर रहू। तथा (यद्मेण वि) रोपते भी दूर रहू। और (आयुषा स) रोष आयुसे सञ्चल होऊ ॥ १ ॥

(पचमानाः आत्या वि) शूद्रता करनेवाला पुरुष पीछासे दूर रहता है, (शुक्राः पापकृत्यथा वि) समर्थ मनुष्य पापकर्मसे दूर रहता है, उसी प्रकार (गह सर्वेण) सब पापोंसे और सब रोगोंसे मैं दूर रहू और रोषवृत्तिसे तपस होऊ ॥ २ ॥

भावार्थ— जैसे देव वृद्धावस्थाको दूर करके सदा तरुण रहते हैं तथा अग्निदेव अरातानी पुरुषोंको दूर करके शान्ति पुरुषोंको पास करते हैं, इसी प्रकार मैं सब पापोंको और रोगोंको दूर करके पुरुषार्थसे रोष आयुष्य प्राप्त करू ॥ १ ॥

अपनी शूद्रता रखनेवाला मनुष्य रोगविषादांति दूर रहता है और पुरुषार्थी समयमें मनुष्य पापोंसे दूर रहता है, उसी रीतिसि मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर रोषायुष्य प्राप्त करू ॥ २ ॥

वि ग्राम्पाः पशुव आरुण्यैर्व्यापितृस्त्वृष्ण्यासरन् ।

व्यग्रुहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा

॥ ३ ॥

वीरुमे द्यावापृथिवी इतो वि पन्यानो दिशदिशम् ।

व्यग्रुहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा

॥ ४ ॥

स्वर्षा दुहिते बहत्तु युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि पति ।

व्यग्रुहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा

॥ ५ ॥

अग्निः प्राणान्तसं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः ।

व्यग्रुहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा

॥ ६ ॥

प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् । व्यग्रुहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ७ ॥

अर्थ— जैसे (ग्राम्पाः पशवः आरुण्यैः वि) धामके पशु अंगको पशुओंके दूर रहते हैं और (आपः तुष्ण्या वि असरन्) जल व्याप्तके दूर रहता है, उसी प्रकार (अहं सर्वेण०) में सब पापों और सब रोगोंके दूर रह कर बीर्षायुमे मुक्त होऊँ ॥ ३ ॥

जिस प्रकार (इमे द्यावापृथिवी वि इतः) ये ध्रुवको और पृथ्वी अलग हैं और (पन्यानः दिशं दिशं वि) में सब मार्ग प्रत्येक दिशामें अलग अलग होकर जाते हैं, उसी प्रकार (अहं सर्वेण०) में सब पापों और रोगोंके दूर रहता हुआ बीर्षायुमे मुक्त होऊँ ॥ ४ ॥

जैसे (स्वर्षा दुहिते बहत्तु युनक्ति) पिता अपनी कन्याको रहेज-रभी धन-धेनेके लिये अलग करता है और जैसे (इवं विश्वं भुवनं वि पति) यह सब भुवन अलग अलग चलता है, उसी प्रकार (अहं सर्वेण०) में सब पापों और रोगोंके दूर रहता हुआ दीर्घ आयुसे मुक्त होऊँ ॥ ५ ॥

जित रीतिले (अग्निः प्राणान् समदधाति) जाठर अग्नि प्राणोंको धारण करती है और (चन्द्रः प्राणेन संहितः) चन्द्रमा-मन-प्राणके साथ रहता है, उसी रीतिले (अहं सर्वेण०) में सब पापों और रोगोंके दूर रह कर बीर्षायुमे मुक्त होऊँ ॥ ६ ॥

जिस ढंगले (देवाः विश्वतो-वीर्यं सूर्यं) देव सब सामर्थ्यसे मुक्त सूर्यको (प्राणेन समैरयन्) अपने प्राणके साथ सामन्वित करते हैं उसी ढंगले (अहं सर्वेण०) में सब पापों और रोगोंके दूर रहके बीर्षायुमे मुक्त होऊँ ॥ ७ ॥

भावार्थ— जैसे धाँ आदि गाँवके पशु सिंह व्याघ्र आदि जंगलके पशुओंके दूर रहते हैं और जैसे जलके पास मुष्का नहीं जाती, उसी प्रकार में पापों और रोगोंके दूर रहकर बीर्षायुमे प्राप्त करूँ ॥ ३ ॥

जैसे शाकला भूमिले दूर है और प्रत्येक विद्याकी जाननेवाला मार्ग जैसे एक दूसरेसे पृथक् होता है, ऐसे ही मैं पापों और रोगोंके दूर रह कर बीर्षायुमे प्राप्त करूँ ॥ ४ ॥

पुत्रोंका पिता जैसे पुत्रीके विवाहके समय दामादकी देनेके लिये रहेज अपने दासके अलग करके दूर करता है और जित प्रकार में यह नक्षत्रादि गोचर अपनी गतिसे चलकर परस्पर अलग रहते हैं, उसी प्रकार में पापों और रोगोंके दूर रहकर बीर्षायु प्राप्त करूँ ॥ ५ ॥

जैसे धारीरथे जाठर अग्नि अन्नदिका पालन करती हुई प्राणोंको अलगवान् बनाती है और मन अपनी चक्षिते प्राणके साथ रहकर दरीर चलता है, उसी प्रकार में पापों और रोगोंके दूर रहकर बीर्षायु प्राप्त करूँ ॥ ६ ॥

जैसे सबको बल देनेवाले सूर्यको भी अन्य देव प्राण चक्षिते मुक्त करते हैं, उसी ढंगले में पापों और रोगोंके दूर रहकर बीर्षायु बनूँ ॥ ७ ॥

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ८ ॥
 प्राणेन प्राणतां प्राणैर्हैव भवं मा मृथाः । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ९ ॥
 उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥
 आ पर्जन्यस्य वृष्टघोर्दस्थामामृतां ययम् । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

अर्थ— (आयुष्मतां आयुष्कृतां प्राणेन जीव) दीर्घायुवाले और आयुष्यबढानेवाले जो होते हैं उनके प्राणके साथ जीता रह । (मा मृथाः) मत मर, उसी प्रकार (अहं सर्वेण०) में भी सब पापों और रोगोंको दूर करने दीर्घायुवाला बनू ॥ ८ ॥

(प्राणतां प्राणैत प्राण) जोकित रहने वालोंके प्राणतो जोकित रहू, (इह एव भय) यहाँ प्रभावशाली हो और (मा मृथाः) मत मर । उसी प्रकार (अहं सर्वेण०) में सब पापों और रोगोंको दूर करने दीर्घायु बनू ॥ ९ ॥

(आयुषा उत) आयुष्यसे उत्कर्ष प्राप्त कर, (आयुषा सं) दीर्घायुसे युक्त हो, (ओषधीनां रसेन उत) औषधियोंके रससे उपरति प्राप्त कर । इसी रीतिसे मैं भी सब पापों और रोगोंसे दूर होकर दीर्घायुवाला बनू ॥ १० ॥

(अथ पर्जन्यस्य वृष्टया) हम पर्जन्यकी वृष्टिसे (आ उत अस्थाम) उपरतिको प्राप्त करें और (अमृताः) अमर हो जायं । इसीरिसे मैं सब पापों और रोगोंको दूर करने दीर्घ आयुसे युक्त होऊँ ॥ ११ ॥

भाष्यार्थ— स्वभावतः दीर्घायुवाले लोगोंकी जैसी प्राणवृद्धि होती है और जनेक साथजति अपनी बोध आयु करने वालों की जैसी प्राणवृद्धि होती है, वैसी अपनी प्राणवृद्धि बल युक्त करने मनुष्य जोदे और जोस न मरे । मैं भी इसी रीतिसे पापों और रोगोंको दूर करने दीर्घायु युक्त बनू ॥ ८ ॥

प्राणधारण करनेवालोंके अंतर जो प्राणवृद्धि है, उसको बलवान् करने वू यहाँ यड, छोटी आयुमें ही मत मर । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करने दीर्घायु युक्त बनू ॥ ९ ॥

अपनी आयुसे उत्कर्षका साधन कर और उससे भी दीर्घायु प्राप्तकर, औषधियोंका रस पीकर नीरोग, पुष्ट और बलवान् बन । इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगोंको दूर करने दीर्घायुवाला बनू ॥ १० ॥

पर्जन्यकी वृष्टिसे जैसे वृष्टादि बढकर उन्नत होते हैं, उसी प्रकार हम उपरतिको प्राप्त करें और अमरत्व भी प्राप्त करें । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करने दीर्घायु से युक्त बनू ॥ ११ ॥

पापकी निवृत्ति

पापानिवृत्ति नैरोगता और दीर्घायु

इस सूक्तमें कहा है कि पापोंको दूर करनेसे आरोग्य और बोध आयु प्राप्त होती है और यह अनुष्ठान जिस रीतिसे करना चाहिये इसके उपर्य भी यहाँ बताया है ।

पाप और पुण्य

पाप और पुण्य क्या है, इसका यहाँ विचार करना आवश्यक है । पाप और पुण्य ये धर्मशास्त्रकी संज्ञाएँ हैं और धर्मशास्त्र अन्याय्य शास्त्रोंका साररूप शास्त्र है । अन्याय्य शास्त्रोंमें जिस धर्मशास्त्र मही है । अन्याय्य शास्त्र एक एक विषयके संबंधमें ज्ञान देते हैं और धर्मशास्त्र संपूर्ण

शास्त्रोंका निचोड लेकर मानवी उपरतिके सिद्धांत बनाता है, इसरिसे धर्मशास्त्रके विधिविधेय सर्वसामान्य होते हैं और अन्याय्य शास्त्रोंके विधिविधेय उक्त शास्त्रके विषयके साथ संबंध होनेके कारण विधेय होते हैं ।

पाप पुण्यका विषय इसी प्रकार है । पुण्य शास्त्रका धर्म है ' पवित्र बनना ' और पाप शास्त्रका धर्म है ' पतनका हेतु ' अन्याय्य शास्त्रोंमें जितने हीजिसे हीजा होता है ऐसा विज्ञा है वे सब धर्मों धर्मशास्त्रमें ' पाप ' शब्दों बताया जाता है और जो धर्मों उपरतिकारक समझी जाती हैं उनको पुण्यकारक धर्म शास्त्रमें कहा है । यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक जो उदाहरण लेकर इसी विषयको विस्तार करते हैं—

वैद्यशास्त्र

धर्मशास्त्र

१ मद्यपीनेसे यकृत और पेट विगड़ता है, मूत्रमें कपजोरी पंदा होती है इस कारण अनेक रोग होते हैं । इत्यादि

१ मद्य पीना पाप है ।

२ व्यभिचार करनेसे बीर्यनाश होनेके कारण मस्तिष्क कमजोर होता है और अनेक बीमारियाँ होती हैं । इत्यादि

२ व्यभिचार पाप है ।

आरोग्यशास्त्र

३ स्नान करके स्वच्छता करने, धर्मों तथा बाह्य स्वच्छता करनेसे रोग नहीं होते और आरोग्य बढ़ता है । इत्यादि

३ स्नान करना पुण्यकारक है । स्वच्छता करना पुण्य है ।

४ जल छाननेसे उसमेंसे रोगजन्य या अल्प रोगबीज दूर होते हैं और इस कारण छाना हुआ जल पीना आरोग्य कारक है ।

४ जल छानकर पीना पुण्यकारक है ।

समाजशास्त्र

५ सत्य बोलनेसे मनुष्यके व्यवहार उत्तम चलते हैं । इत्यादि

५ सत्य बोलना पुण्यकारक है ।

राजशासनशास्त्र

६ चोरी, मृत्यु आदि करनेसे राजशासनके नियमके धनुसार दण्ड होता है ।

६ चोरी मृत्यु आदि करना पाप है ।

पापको दूर करना

आध्यात्म शास्त्रोंमें प्रत्येक कृत्यके बुरे या बने परिणाम कारणके साथ बताया हुए होते हैं, परंतु उन सबका समीकरण करके धर्मशास्त्रमें 'पाप और पुण्य' इन दो शब्दों द्वारा बड़ी भाव कारण न देते हुए और परिणाम न बताते हुए कहा जाता है । इससे धर्मशास्त्रके पार पुण्य भी किस प्रकार शास्त्रविद्वद्द हैं इसका पता पाठकोंको लग सकता है ।

ये सब पाप ही रोग और अस्वास्थ्यके कारण हैं और पुण्य कर्म करनेसे ही निरोगता और दीर्घायु मिलनी है । यह बात मुख्यतया इस सूत्रमें ध्वजित की गई है । इस सूत्रमें प्रत्येक संशय उत्तरार्थमें यह है—

ध्वहं सर्वेण पाप्मना, वि यद्यमेण, समायुषा ॥
(मं. १-११)

'मे सब पापोंको दूर करता हूँ, उससे रोगोंको दूर करता हूँ और इसप्रकार दीर्घायुसे युक्त होता हूँ ।' इस संशय अर्थात्पत्तिसे भाव यह है कि—'मे पुण्य कर्म करनेसे निरोग होता हुआ दीर्घजीवी बनता हूँ ।' अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करनेका मूल उपाय पापोंको दूर करके पुण्य करना ही है, इससे स्वयं रोग दूर होंगे, निरोगता प्राप्त होगी और दीर्घायु भी मिलेगी । यह भाषा संशय दूर कर कह कर यह सदेन पाठकोंके ध्यानपर दिपर करनेका यत्न इस सूत्रमें किया है ।

सबसे पहले सब पाप दूर करनेका उपदेश दिया है (अहं सर्वेण पाप्मना वि। मं १-११) । यहाँ पाप सब कायिक, वाचिक, मानसिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सभी पापोंका निर्देशक है । ये सब दूर करने चाहिये । अपने मनके पापोंविचार दूर हटाने चाहिये, बालोंकी मूढ़ और पवित्र बनाता चाहिये, शरीरको कोई पाप कर्म करना नहीं चाहिये, ईश्वरोंको पाप प्रवृत्तिसे रोकना और उनको ऐसी गिफत देनी चाहिये कि उनकी प्रवृत्ति उस पापको ओर कभी न होवे । इसी प्रकार कुटुंब, जाति, समाज, राष्ट्रके व्यवहारोंमें अनेक पाप होते रहते हैं । उनको भी दूर करना चाहिये । यदि कोई कहे कि जाति और राष्ट्रके पापोंको हम दूर नहीं कर सकते तो उनकी चाहिये कि वे अपना-निजका-तो सुधार करें । अपनी निष्कल्पता सिद्ध हुई तो उसका योग्य परिणाम जाति पर भी होगा और न भी हुआ, तो भी उस व्यक्तिको तो पानसे बचनेके कारण उन्नतिका भाव अवश्य ही मिलेगा । जिसका पुण्यकर्म होगा उसका फल अवश्य मिलेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है । हरएक शास्त्रके अनुसार जो फलका हेतु है उसे दूर करके अशुभके हेतुको प्राप्त करने चाहिये । ऐसा करनेसे पाप और रोग दूर होकर दीर्घजीवन प्राप्त होगा ।

५. अथ पापों और रोगोंको दूर करनेके अनुष्ठान की रीति देखिये—

देवोंका उदाहरण

देवोंका नाम ' निर्जरा ' है, इसका अर्थ है ' जरा, वृद्धा-वस्था और वृद्धापा आदिको दूर रखनेवाले ' । देवोंने इस प्रकारके अनुष्ठान से वृद्धापेकी दूर किया था, और वही आयु होनेपर भी लक्ष्य जैसे बीछते थे । यह भारतमें मनुष्योंको अपने सम्मुख रखना चाहिये और जिस अनुष्ठानसे देवोंको यह सिद्धि प्राप्त हुई थी वह अनुष्ठान करके मनुष्योंकी भी यह सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये । यह बातोंके लिये प्रथम मन्त्र—

देवाः जरसा वि भृगृतम् । (मं १)

' देवोंने वृद्धापेको दूर रखा था ' यह बात कही है । मन्त्र आगे देखिये—

अदिका आदर्श

अग्नि भी (अग्ने ' एवं अरास्था वि । म. १) कजूसोंको दूर करता है । उदार मनुष्य ही जो अपने धन आदि द्वारा यह करना चाहते हैं, अग्निहोमादि करनेके लिये तथा अन्याय्य वस्तु वस्तु करनेके लिये अग्निके पास इकट्ठे होते हैं और जो कजूस होते हैं, वे अग्निसे दूर हो जाते हैं, योंकि वे अपना धन यतमें छपाना नहीं चाहते । इसका अर्थ यही है कि अग्नि कजूस मनुष्योंको दूर करती है और उदार मनुष्योंको इकट्ठा करके उनका साथ बनाकर उनका अशुभ्य करके उन्हें उन्नत करती है । जिध प्रकार यह अग्नि कजूसोंको दूर करती है, उसी प्रकार पापों और रोगोंको दूर करना मनुष्योंको उचित है । इसका अर्थ यह है कि मनुष्य पापियों और रोगियोंको दूर अपनेसे अलग रखे और पुण्यात्मा और नीरोग मनुष्योंका साथ बनाकर अपना आरोग्य बढ़ावे ।

जो पापी मनुष्य होता है उसको संततिमें जो जो मनुष्य जायेंगे वे भी पापी बनने, इसलिये पापीको समाजसे बाहर निकाल देना चाहिये, इसी प्रकार जो रोगी मनुष्य होते हैं उनके ससंगे भी अन्य मनुष्योंके रोग होनेकी सम्भावना होती है, इस कारण रोगियोंके लिये विशेष प्रबंध करके उनको अलग करना चाहिये, जिससे उनके रोग अधिक न फैले । इस प्रकार पुंसिते पापियों और रोगियोंको अलग रखनेका प्रथम करनेसे श्रेय समाजका निष्पाद और नीरोग रहना शक्य है, और यह प्रथम जितनी पूर्णतासे किया जाय उतना अधिक लाभ होगा ।

पवित्रताका महत्त्व

द्वितीय मन्त्रमें पवित्रता और शुद्धताके महत्त्वका वर्णन किया है । पवित्रतासे पाप और रोग दूर होते हैं—

(१) पवमानः आर्त्या वि । (१) शक्रः अपहृत्या वि । (मं २)

' (१) पवित्रता करनेवाला, रोगाधिकीके कष्टोंसे दूर होता है और (२) मनोमलते सम्पूर्ण मनुष्य पापसे दूर रहता है । '

ये दोनों सार्धपूर्ण मन्त्रभार हैं । स्वच्छता, पवित्रता और निर्मलता करनेवाले जो होते हैं उनके पास प्रायः रोग आते ही नहीं, अथवा वे अपनी शुद्धतासे रोगोंको दूर रखते हैं । शुद्धताका अर्थ यह है कि जल आदिसे शरीर निर्मल करना सत्यमें मनुष्यकी पवित्रता करना, धिंधा और तपसे अपनी श्रम श्रद्धि करना, श्रद्धा विचारों और प्रेमपूर्ण आचरणसे परिवारकी शुद्धता करना, घरकी पवित्रता सेपनाविसे करना, अग्निमें हुषन करके बायुकी शुद्धता करना, छान कर जलको शुद्ध बनाना, मलस्थानोंको शुद्ध करके नगरकी स्वच्छता करना, इसी प्रकार अन्याय्य क्षेत्रोंको शुद्धता करनेसे रोग बीज हट जाते हैं और मनुष्य रोगसे पीड़ित नहीं होता ।

इसी प्रकार साथ, परमेश्वरनिष्ठा, तप, धर्माचरण आदि द्वारा भक्त बल बढ़ानेसे जो सामान्य मनुष्यके शरर उत्पन्न होता है वह मनुष्यको पापोंसे बचाता है । ऐसा सम्पूर्ण मनुष्य पापाचरण नहीं करता और वह पवित्रतासे बनता हुआ जनताके लिये आदर्श बनता है । यह मनुष्य न केवल स्वयं पापों और रोगोंसे दूर रहता है प्रत्यक्ष अन्वियोंको भी दूर रखता है ।

ग्राम, नगर और राष्ट्रोंकी पचायतों द्वारा ग्राम, नगर और राष्ट्रमें उन्नत प्रकार पूर्ण स्वच्छता और पवित्रता बढ़ानेसे भी उन्नत क्षेत्रोंकी जनता पापों और रोगोंसे बची रहती है । यह द्वितीय मन्त्रका उपदेश प्रत्यक्ष फल देनेवाला होनेके कारण इसका अनुष्ठान सर्वत्र होना आवश्यक है ।

स्थानरक्षणमें बचाव

पापी मनुष्योंका और रोगोंका स्थान छोड़ देना इसकी स्थान त्यागसे बचाव करना कहते हैं । इसका वर्णन द्वितीय और तृतीय मंत्रों द्वारा हुआ है, देखिये—

१ प्राग्वाः पशुयः आरभ्यैः वि । (मं ३)

२ इमे पावापुचिषी वि श्तेः । (मं ४)

' (१) घ्राणके जो आवि वस्तु व्याघ्रादि आरव्यक वस्तु-
केति दूर रह कर बचाव करते हैं, (२) तथा चुल्लोक-
पुम्बोति अंसे दूर रहता है । ' ये स्थानापान करके बचाव
करनेके उपायहोते हैं । व्याघ्र, सिंह, भेडिया आदि जिस स्थान
में रहते हैं उस स्थानका त्याग करके जो स्थान प्रामोष्य वस्तु
अपना बचाव करते हैं । भूलोककी अशुद्धिसे बचनेके लिये
और अपनी प्रकाशमयता विचार रखनेके लिये चुल्लोक भूलोक
से बहुत दूरीपर स्थित है । इस प्रकार पानी लोपोति दूर रह कर
पापसे बचना और रोग स्थानसे दूर रह कर रोगोति बच
बचना योग्य है ।

स्वभावसे बचाव

जिनकी स्वभावसे ही पापसे बचनेकी प्रवृत्ति होती है
और जिनमें स्वभावसे ही रोग प्रतिबन्धक शक्ति होती है वे
पापों और रोगोंसे बचे रहते हैं, इस विषयमें सुक्तके कथन
देखिये—

१ अपः हृष्याया वि असरम् । (म. ३)

२ पश्यातः दिशो दिशं वि । (म. ४)

' (१) जब अपने स्वभावसे ही प्याससे दूर रहता है
और (२) विविध विद्याओंसे जानेवाले मार्ग स्वभावसे एक
दूसरेसे दूर रहते हैं । ' जलकी स्वभावसे ही प्यास नहीं
सगती । इस प्रकार जो लोग स्वभावतः पापों प्रवृत्त नहीं
होते वे पापरहित होते हुए पापके फलभोगसे बचते हैं ।
इसी प्रकार जिनके शरीरमें रोग प्रतिबन्धक शक्ति पर्याप्त
रहती है वे रोगस्वाभवे रहते हुए भी रोगोंसे बचे रहते हैं ।
यह स्वभावका नियम देखकर हरएकको उचित है कि यह
अपना स्वभाव उक्त प्रकार बनावे और पापों और रोगोंसे
अपना बचाव करके बीर्वाण भोरोम और अलवान् तथा
सखोल बनने ।

दान

जनताकी विधवा और नीरोव करनेके लिये धनी मनुष्य
अपने धनका कुछ भाग अन्न करके बान देवे जिस प्रकार—
त्यस्य दुहिते यदहं युजयि । (म. ५)

' धिता पुत्रीके यज्ञके लिये धन योजनापूर्वक देता
है । ' यह धन दामादके घरमें रहता हुआ स्त्रीधनके रूपमें
इष्ट कार्य करता है, इसी प्रकार धनी मनुष्य अपने धनका
कुछ भाग जनताको रोगमुक्त और पापमुक्त करनेके लिये
अर्पण करे और इस इच्छासे हुए धनसे ऐसे ब्रह्मण्य योजना

पूर्वक चलायी जाये कि जो जनताको पापप्रवृत्तिसे और
रोगसे रक्षा करे । इस प्रयत्नसे संपूर्ण राष्ट्र प्रतिदिन अधि-
काधिक विधवा, नीरोव, दीर्घजीवी, संतप्त, स्वस्थ और
सुखी बन सकेगा ।

अपनी गतिमें रहना

लोग एक दूसरेसे स्वर्ण करते हैं और अपना बुल बहाते
हैं । यदि वे अपनी गतिसे चकते रहें और दूसरेकी गतिके
साथ स्वयं स्वर्ण न करें तो भी पापसे और रोगोंसे बच
सकते हैं । इस विषयमें एक उदाहरण है—

इदं विश्वं भुयन्मं विपति । (म. ५)

' ये सब पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि गोल धरती अपनी
विशेष गतिसे चलते हैं । ' सूर्यको उगनासे घट स्वर्ण कर-
के स्वयं उगना अपना नहीं चाहता और चकती स्वर्ण बढ़ता
हुआ सूर्य स्वयं प्रीत बननेका इच्छुक नहीं है । इसी प्रकार
वे सब ग्रह अपनी अपनी गतिसे अपना अपना कार्य करते
हैं विविध भुवनोंकी विविधता उपदेश देते हैं कि विविधता-
से युक्त वे सब भुवन जिस प्रकार संपूर्ण जलचक्रे अग्न बन्-
कर परस्पर अतिरोगी हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी विविध
गुण धर्मोंसे युक्त होते हुए संपूर्ण राष्ट्रके सदस्य बनकर राष्ट्र
हित और संपूर्ण जनताका हित करनेको बुद्धिसे आपसमें
अवरोधी भावने रहे । इस प्रकार रहनेसे पूर्वसित प्रकार वे
उपायोंके अवलम्बन करके अपने आचरण पापों और रोगोंसे
बचा सकते हैं । ज-पया आपसमें लड़ते हुए रोगोंसे मरनेके
सूर्य ही एक दूसरेके सिर तोडकर स्वयं मर जायगे । ऐसा
नाश न हो, इसलिये वेब कहता है कि अपनी गतिसे चली
और परस्पर सहानुभूति बनकर अपनी उपतिक्रम साधन करो ।

पेटकी पाचन शक्ति

मनुष्यके शरीरमें रोग बीजोंका प्रवेश तब होता है जब
उसकी पाचन शक्ति बिगडी हुई होती है । इसकी सुधना
देनेके लिये षष्ठ यत्रमें कहा है—

अग्निः प्राणान् सदधाति । (म. ६)

' जाडर अग्नि-अन्नका पाचन करनेवाला उपर स्थानका
अग्नि ही-प्राणोंको सम्पन्नता प्राप्त करता है । ' अन्य
कोई साधन नहीं है जिससे प्राणोंका धारण अगती प्रकार हो
सके । इसलिये जो शीघ्र जीवनके इच्छुक हैं वे व्यायाम तथा
अन्यान्व योग साधनादि द्वारा अपनी पाचन शक्ति धरणी
प्रदोष्य करे । ऐसा करनेसे शरीरमें जो सम्पत्ता आयेगी वही
रोगोंसे दूर रखेगी और पाप जाने न देगी ।

दूसरी बात यह है कि जाकर अग्निके विगाइते पहुँचते, हृदय और मस्तिष्कका विगाइ होता है। मस्तिष्कके विगाइते विचारोंमें परिवर्तन होता है अर्थात् मनुष्य पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है। यदि पापक दणित होकर रहती, तो रोग आदि वैसे प्रवृत्त नहीं होते। इसलिये पापों और रोगोंसे बचनेके लिये तथा दीर्घायुके प्राप्तिके लिये मनुष्य अपने पापनाशकित उत्तम प्रवृत्त करे। इसी मन्त्रमें और कहा है—

चन्द्रः प्राणेन सहितः । (म ६)

' चन्द्र प्राणसे मिलता हुआ है। ' यहाँ ' चन्द्र ' शब्दके तीन अर्थ हैं- (१) वनस्पतिले उत्पन्न हुआ अन्न, (२) वनस्पतियोंके फलादिकोंका रस, (३) और मनः प्राणसे इन तीनोंका मण्डित सत्व है। यहाँ वनस्पतिले प्राप्त होनेवाला शुकुनोन्नत प्राणसे स्थितिकरणसे लिये आनन्दक यत्नानेसे माँसादि सेवन दीर्घायुवन्ने लिये मण्डित होनेका उपदेश स्वयं ही प्राप्त होता है।

सूर्यका दीर्घ

सूर्यमें शक्ति आने जोवन विद्युत् है, उसको अपने अन्तर सहित करनेसे नोरोधता और दीर्घजीवन प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें सप्तम मन्त्रका कथन यह है—

देवाः विश्वतोदीर्यं प्राणेन संगारयन् । (म. ७)

' देव शय प्रकारके दीर्घोंसे युक्त सूर्यको प्राणके साथ संश्लिष्ट करते हैं। ' इसी अनुष्ठानसे देव (निर्जरा) जराहित और (अ-मर) मरणरहित हुए हैं। ' इस लिये जो लोग अपने प्राणके अन्तर सूर्यकी जीवन विद्युत्को धारण करेंगे, वे भी उक्त सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य प्रकाशमें लम्बे होकर या चँडकर दीर्घशक्ति द्वारा सूर्यकी विद्युत् प्राणके अन्तर लेनेसे अपने अन्तर सूर्यका दीर्घ आजाता है; इसी प्रकार नगे शरीर सूर्यांतरणन करनेमें भी लम्बे के अन्तर शरीरविद्युत्का प्रवेश हो जाता है। इसी प्रकार विविध योवनानों द्वारा शरीरविद्युत्से लाभ उठाया जा सकता है।

दीर्घायु प्राप्त करनेवाले

जो (आयुष्मन्) दीर्घ आयुवाले मनुष्य हैं, सर्वाङ्ग विना

प्रयत्नसे जो दीर्घ आयुवाले हुए हैं, तथा जो (आयुष्मन्) प्रयत्नसे दीर्घ आयु करनेवाले हैं अर्थात् योगादि अनुष्ठानद्वारा जिन्होंने दीर्घ आयु प्राप्त की है (प्राणतं प्राणेन) प्राणकी प्रबल शक्तिसे युक्त युवावस्था प्राण कसे चलाता है इस सबका विचार करके मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपाय जान सकता है। ये उपर कहे मनुष्य अपना दैनिक व्यवहार कसे करते हैं, किस द्रव्यसे व्यवहारसे इन्होंने दीर्घ आयु बनाई, इसका ज्ञान प्राप्त करके, इनके उदाहरण अपने सम्मुख रखकर, उसनुसार अपना व्यवहार करना चाहिये। (इह पय भयं) इत प्रकार इस भूलोकमें दीर्घकाल तक रहना चाहिये और (मा मृश्याः) शीघ्र मरना उचित नहीं। यह उपदेश म. ८ और ९ में है।

अपने राष्ट्रमें तथा अन्य देशोंमें जहाँ जहाँ शौर्यायु, शीरोप, वनस्पान, निष्पाय और सखील लोग हों, उनके जीवन चरित्र देखकर उनके जीवनसे उचित दीर्घ आयु प्राप्त करना चाहिये और उचित लाभ उठाना चाहिये।

औषधिरस

दशम मन्त्रमें औषधिरसि रसका सेवन करके दीर्घायुकी प्राप्ति करनेका उपदेश है—

औषधीनां रसेन आयुषा सं उत् । (म १०)

' औषधियोंके रससे हम दीर्घायुवाले संवृत्त हों। ' इससे दीर्घायुवाले प्राणिका सब औषधियोंके रस प्राप्त करनेके साथ बताया है। इसी सूत्रमें छठे मन्त्रके विधानके साथ इसकी तुलना कीजिये।

अन्तिम मन्त्रमें कहा है कि जित प्रकार ' वृष्टि होनेसे दूध बनसर्पात आदि उगते हैं और उम्रतिका प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार हम पूर्वोक्त साधनसे (ययं अमृताः उड्डस्याम) अमरहोकर सब प्रकारकी उम्रति प्राप्त करें। (म ११)

यह साथ ही कि जो इस सूत्रमें लिखा अनुष्ठान करेंगे वे इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त करेंगे, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। वेदमें कम्युक्त अनुष्ठान कहा है ऐसे जो अनेक सूत्र हैं उनमेंसे यह एक है। इससे मनसे वेदकी उपदेश करनेकी संतोषा भी जान हो सकता है।

फफफसे कक्षफक्ष

कांड ७, सूक्त ६४

(ऋषिः - उक्त् : देवता - सन्नोक्ता, विष्वाँरि. ।)

इदं यत्कृष्णः शुकुनिरभिनिष्पतन्नर्षीपवत् । आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वहंसः ॥ १ ॥

इदं यत्कृष्णः शुकुनिरवामृष्यन्निक्रते ते मुखेन । अग्निर्षी तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

अर्थ— (इदं यः कृष्णः शुकुनिः) यह जो काला शुकुनी पत्थ (अभिनिष्पतन् नर्षीपवत्) सुरता हुआ गिरता है । (तस्मात् सर्वस्मात् दुरितात् अहंसः) उस सब विरायणके पापसे (आप. मा पान्तु) बल मेरे रक्षा करे ॥ १ ॥

हे (निक्रते) कुलेति ! (इदं यः कृष्णः शुकुनिः) यह जो काला शुकुनी पत्थ (ते मुखेन अयामृष्यत्) मेरे पास मुझके साथ गिरता है (गार्हपत्यः अग्निः) गार्हपत्य अग्नि (तस्मात् एनसः) उस पत्थके (मा प्रमुञ्चतु) मुझे छुड़ावे ॥ २ ॥

इन दोनों अर्थोंके प्रथम धरण बुझोचें । इनके धरणोंमें बल और अग्नि दोषमुक्त करके पापसे बचाते हैं यह बात सूचित की है । पहिले धरणसे प्रतीत होता है कि शुकुनिपत्थका गिरना या उड़ना अशुभ या शुभका सूचक है । परन्तु ये मान शोचने योग्य हैं ।



फफफसे मुक्तत्तफ

कांड ७, सूक्त ४२

(ऋषिः - प्ररुक्त्व. । देवता - सोमाश्री ।)

सोमाश्रुद्रा वि वृंहतं विपूचीमर्षीश या नो गर्गमाश्रिवेशं ।

वाघेषा दूरं निक्रति पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुञ्चतमस्मत् ॥ १ ॥

सोमाश्रुद्रा युवमेवान्यस्माद्विषां तनुषु मेपजानि धसम् ।

अर्षस्पतं मुञ्चतं यन्नो असत्तनुषु वद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥ २ ॥

अर्थ— हे सोम और द्य ! (या अर्षीश) जो रोष (नः गर्गं आश्रिवेशं) हमारे परमं प्रविष्ट हुआ है, उस (विपूचीं विवृहत्तम्) कंकनेवासे रोगको दूर करो । (निक्रति पराचैः दूरं वाघेषां) कुण्डलियोंके बिलोंसे रीकिते दूर हो रोके हो । (कृतं चिद्व एनः) हमारा किया हुआ भी जो पाप हो, वह (अस्मत् प्रमुमुक्त) हमसे छुड़ाओ ॥ १ ॥

हे सोम और द्य ! (युवमेवान्यस्मत् तनुषु) तुम दोनों हमारे शरीरोंमें (एतानि विष्या भेषजानि धसं) इन सब औषधियोंकी स्थापित करो । (यत् नः तनुषु वद्धं एनः अस्मत्) जो हमारा शरीरोंके सबधोंके द्वारा पाप है, जहासे (अर्षस्पतं) हमारा बचाव करो । (अस्मत् एतं एनः मुञ्चतं) हमसे किये हुए पापसे हमारी मुक्तता करो ॥ २ ॥

‘ अर्षीश ’ नाम उन रोगोंका है कि जो आम अर्षात् पचन न हुए अन्नसे होते हैं । वेधों को अन्न जाता है वट बहा हुआ न हुआ तो वहाँ ही उसका आम बनता है और उससे रोग उत्पन्न होते हैं । इन रोगोंके सोम और द्य से रोग

देव दूर करनेमें समर्थ है। 'सोम' शब्द वनस्पति और औषधियोंका पाषाण है, अर्थात् योग्य औषधिके सेवनसे आमका शोथ दूर होगा। यह एक उपदेश यह मंत्र दे रहा है।

'रुद्र' नाम प्राणका है, जीवन शक्ति को शरीरमें है। यह रौद्रीशक्ति आमका शोथ दूर करनेमें समर्थ है। प्राणायामसे एक तो रक्तकी शुद्धि होती है और अर्तमें योग्य गति होनेसे शोथशुद्धि होनेके कारण आमका शोथ दूर होता है।

शरीरको सब बुध्ति आम विकारके कारण होती है अतः योग्य औषधि सेवनसे तथा प्राणायामके अभ्याससे उक्त शोथ शरीरसे दूर करना योग्य है। शरीरसे कुछ नियमविरोधी आचरण होकर कुछ पाष भी हो जाए तो भी उक्त बेवता अर्थात् सहायतासे यह दूर होगा और पाषसे आनेवाली सब विपत्ति दूर होगी।

द्वितीय मंत्रमें (विश्वानि भेषजानि) संपूर्ण औषधियां सोम और दत्तसे प्राप्त होती हैं ऐसा कहा है। सोम तो औषधियोंका राजा ही है, अतः उसके घरमें सब औषधियां रहती ही हैं। दत्त भी जीवनशक्तिमय है इसलिये जहां जीवन-शक्ति होगी, वहां रोग कैसे आसकते हैं ? इस प्राणसे भी सब औषधियां मनुष्यको प्राप्त हो सकती हैं। इनसे पूर्ववत् शरीरके शोथ और सब पाष दूर हो जाते हैं। अतः सब मनुष्य इनसे अपना शरीरोग प्राप्त करें और नोरोग बनें।



इष्टान्से फफको दूर करन्तः।

कांड ६, सूक्त ११३

(श्रुति - अथर्व। वेपता - पूषा ।)

त्रिते देवा अमृजतैतदेनश्चित एनन्मनुष्येषु ममजे ।

ततो यदि त्वा प्रादिरानुशे वां तै देवा नक्षणा नाशयन्तु

॥ १ ॥

मरीचीधूमान्प्र विधानुं पाप्मश्चुद्वारान्गच्छोत वां नीहारान् ।

नदीनां फेनां अनु तान्वि नश्य भूषामि पूषन्दुरितानि मृक्ष

॥ २ ॥

अर्थ— (देवाः एतत् एनः त्रिते अमृजत) देवोंने-इन्द्रियोंने-यह पाष त्रितमें-मनमें-रक्षा और उक्तने (एनत् मनुष्येषु ममजे) यह मनुष्योंमें रक्षा है (ततः यदि त्वा प्रादिः भानशे) उसने यदि तुझे गठिया खादि रोगने पक्ष रक्षा हो, तो (देवाः ते तो प्रक्षणा नाशयन्तु) देव तेरी उन पीडाके क्षानके द्वारा दूर करें ॥ १ ॥

हे (पाप्मन्) हे पापी । (मरीचीः धूमान् प्रविश) सुयंत्रिणोंमें वा पूर्वमें घुस जा अथवा (उद्वारान् मनु गच्छ) वपर जाये आपने अनुकूलतासे जा, (उत वा नीहारान्) अथवा कोहरने सोन ही । (नदीनां ताद फेनान् अनुधितस्य) नदीके उन फेनोंमें छिप जा, हे पूषा । (भूषामि दुरितानि मृक्ष) गर्भपातकीमें पाषको रक्ष ॥ २ ॥

भाषार्थ— इन्द्रियोंका क्या पाष मनमें इकट्ठा होता है और मनमें एकत्रित हुआ पाष मनुष्यमें स्थान होता है। यदि इससे विविध रोग हुए तब क्षानसे उसको दूर किया जा सकता है ॥ १ ॥

सुयंत्रिण, अथर्वरा, कोहरा अथवा बसरे स्थान बहीं भी पापी जाए पर उक्तका पाष दूर नहीं होता। उक्तका जितना पाष होता है उतना सब गर्भपातकीमें रहता है ॥ २ ॥

द्वादशधा निर्दितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैर्नृणां ।

ततो यदि स्वाग्नाहिंशमशे तर्त्तं देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु

॥ ३ ॥

अर्थ— (त्रितस्य अपमृष्टं द्वादशधा निर्दितं) त्रितस्य घोषा हुवा पाप बारह प्रकारसे रत्ता है । यह (मनुष्य-पनस्रानि) मनुष्यके पाप हैं । (ततः यदि त्वाग्नाहिः आशशे) उसके पवित्र तुझे पाठना आदि रोगने परका ही तो (देवाः ते तर्त्तं ब्रह्मणा नाशयन्तु) देव तेरे उस रोगको ज्ञानके द्वारा नष्ट करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— भक्तका पाप बारह प्रकारका समझा जाता है यह मनुष्योंमें रहता है । उसके विविध रोग होते हैं जो ज्ञानपूर्वक उपाय करनेसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रियों द्वारा पाप किये जाने हैं वे सब सत्काररूपसे भक्तमें जमा होते हैं । उन पापोंका परिकार मनुष्यादीरमें रोगोंके रूपमें दिखाई देता है । ये पाप कभी छिपाये नहीं जाते । चाहे अधिक पाप गर्भका प्राप्त करनेसे होता है । इनसे पापोंको दूर करना ही तो ज्ञानकी वृद्धि करनी अर्थात् है । क्यों कि ज्ञानसे ही सब पाप दूर होते हैं ।

शापसे हानि

कांड ६, सूक्त ३७

(श्रुति - अथर्व [सप्तस्यवनकाण्ड] । ब्रह्मता - षण्णमा ।)

उप प्रागात्सहस्राक्षो युक्त्वा अपघ्नो रथम् । अक्षारमन्विच्छन्मम वृकं द्वाविंशतो गृहम् ॥ १ ॥

परि षो वृद्धि शपथ दृदभूमिरिवा दहन् । अक्षारमथ नो जहि दिवो वृक्षमिवाग्निः ॥ २ ॥

यो नः अपादशपतः शपते यश्च नः अपात् । शुभे पेट्रमिवांधामं तं प्रत्यस्वामि मृत्यवे ॥ ३ ॥

अर्थ— (सहस्राक्षः शपथः) हजार अर्थवाला पाप । रथं युक्त्वा) अपना रथ जोतकर (मम शतार अनिवच्छन्) मुझे पाप देनेवालेको दृष्टता हुआ (उप म अगमात्) उसके समीप जाता है । (वृकः अग्नि-मत्तः गृहं इव) जिस प्रकार भेड़िया भेड़वालेके घरके प्रति जाता है ॥ १ ॥

हे (शपथ) दुष्ट भाषण ! (दृदं अग्निः दृदं इव) जिस प्रकार जलनेवाला अग्नि जलनेवाली छोड़ देता है (नः परि वृद्धि) उसी प्रकार तू हमें छोड़ दे । (दिवः अग्निः वृक्षं इव) आकाशकी दिशको जिस प्रकार वृक्षका नाश करता है (अथ नः शतार जहि) उसी प्रकार यहाँ हमारे पाप देनेवालेका नाश कर ॥ २ ॥

(अपादपतः नः यः अपात्) पाप न देनेवाले हमको जो पाप देवे । यः यः अपातः मः अपात्) और जो पाप देनेवाले हमको पाप दें, (अथक्षासं तं मृत्यवे प्रति अस्यामि) उस हानिको मैं मृत्युके सामने उठा प्रकार कहता हूँ । (पेट्रं शुभे इव) जिस प्रकार दृक्का दुर्तके सामने कहते हैं ॥ ३ ॥

शापसे हानि

शापसे हानि

पाप देनेसे, दूसरोंको बन्धु बध्न करनेसे जो हानि होती है, उसका वर्णन इस सूक्तमें किया है । पाप हवार अर्थ-वाले अर्थात् महाकोपी अथवा महाभीषसे उत्पन्न होता है ।

२५ [अथर्व भा. २ पाण० द्वितीय]

जो पाप देता है, जोषके बध्न करता है, दूसरोंके कोषसे बुरा करता है, उसीका पाप उमरके हवार गुना भाषण होकर उसको दृष्टता हुआ उमीकर शापत आता है देविये—

सहस्राक्षं शपथं शतारं मन्विच्छन् उपागाम् । ४ ॥

' शाप हजार गुना बनकर शाप देनेवालेको डूबता हुआ उसीके पास जाता है । ' इसलिये शाप देनेवालेको हानि हजार गुना होती है । अंतः कोई किसीको शाप न देवे ।

शापथ ! नः परिसृष्टधि । (मं. २)

' शाप हमारे पास न आवे ' अर्थात् हमारे मुखसे कभी बुरा वचन न निकले, और कोई बुरा हमारे उद्देश्यसे बुरा पचन न कहे । अर्थात् हम कभी बुरा वचन न कहें और कभी हम धरे शब्द भी न सुनें ।

शापथ ! दासारं जहि । (म. २)

' शाप शाप देनेवालेका ही नाश करे । ' अर्थात् जिसका ओर कट्ट वचन होता है वह उसीका नाश करता है । इसलिये कोई कभी कट्ट वचन न बोले । कट्ट वचनसे अपना ही अधिक

नाश होता है । इसलिये क्रीधी मनुष्य अपने आपको बड़ी सावधानीसे बचा लेंके ।

अवक्षामं मृत्यये अस्यामि । (मं. ३)

' शाप देनेवाले हीन मनुष्यको मृत्युके प्रति भेता जाता है । ' अर्थात् शाप देनेसे आयुका नाश होता है इस कारण कोई किसीको शाप न देवे और बुरा वचन भी न कहे ।

' स्वस्वयन ' अर्थात् (स्वस्ति-अयनं) ' उत्तम कल्याण प्राप्त करते हुए जीवन व्यतीत करना ' इस सूक्तका उद्देश्य है । इस उद्देश्यको सिद्धिके लिये मनुष्यको उचित है कि वह कभी कट्ट वचन न बोले । इस नियमका पालन करता हुआ मनुष्य उन्नत होवे और अपना जीवन कल्याणमय बनावे ।



फाफ मौखन

कांड ४, सूक्त २७

(ऋषि - मृगारः । देवता - मरुतः ।)

मरुतां मन्वे अधि मे भ्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु ।

आशूनिव सुयमानह ऊतये ते नो मुञ्चन्स्वंहंसः

॥ १ ॥

उत्समक्षितं व्यजन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोपधीषु ।

पुरो दधि मरुतः पृथिमातृस्ते नो मुञ्चन्स्वंहंसः

॥ २ ॥

पयो धेनूनां रसमोपधीनां ज्वमर्षितां कवयो य इन्वय ।

शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्स्वंहंसः

॥ ३ ॥

अर्थ— (मरुतां मन्वे) मरुतोंका मैं मानन करता हूँ कि वे (मे अधि भ्रुवन्तु) मुझे उपदेश दें और वे (इमं वाजं वाजसाते अवन्तु) इस अश्वकी अग्रबानके प्रबंधमें रक्षा करें । (सुयमान् आशून् इव) उत्तम नियमोंके पालनेवाले घोड़ोंके समान इनको (ऊतये अह्ने) रक्षाके लिये मैं बुझता हूँ । (ते नः अंहंसः मुञ्चन्तु) वे हमको पापसे बचावें ॥ १ ॥

(ये सदा अक्षितं उत्सं व्यजन्ति) जो सदा अक्षय जलप्रवाहको फैलाते हूँ, (ये औपधीषु रसं आसिञ्चन्ति) जो औषधियोंके रस सौंभते हूँ इस प्रकारके (पृथिमातृः मरुतः पुरः दधे) अन्तरिक्षरूप मातासे उत्पन्न मरुतोंको मैं अपने समूह रक्षता हूँ, वे हमको पापसे बचावें ॥ २ ॥

(धेनूनां पयः) गोओंके दूधको (औपधीनां रसं) औषधियोंके रसको (अर्षितां जयं) और घोड़ोंके वेगको (ये कवयः इन्वय) जो हम कवि होकर प्राप्त करते हों, वे (मरुता नः शग्माः स्योनाः भवन्तु) मरुत हम हूँं रक्षित देने और मुझ देनेवाले होंगे और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

अपः समुद्रादिवसुर्दहन्ति द्विवस्पृधिबीभमि ये सृजन्ति ।
 ये अद्भिराशाना मरुतधरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥
 ये फ़ीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति ।
 ये अद्भिराशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥
 यदीदृदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेहपारं ।
 यूषमीशिष्वे वसवस्वस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥
 तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्षः घृतनासुग्रम् ।
 स्त्रीमिं मरुतो नाधितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (ये समुद्रान् आपः दिवे उग्रहन्ति) ओ समुद्रसे जलको घुलोक तक पहुँचाते हैं और ओ (दिवं घृधिमी भमि सृजन्ति) घुलोकसे पृथ्वीपर पुनः छोड़ते हैं (ये ईशानाः मरुतः अद्भिः चरन्ति) ओ समर्थ मरुत जतोंके साथ चिखरते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

(ये फ़ीलालेन ये घृतेन तर्पयन्ति) ओ अप और वेपते सबकी तृप्त करते हैं (ये वा वयोः मेदसाः ससृजन्ति) और ओ मरुतको पुष्टिकारक पदार्थके साथ उत्पन्न करते हैं, (ये ईशानाः मरुतः अद्भिः चरयन्ति) ओ समर्थ मरुत जतोंके घुष्टि करते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

हे (देवाः मरुतः) विष्य मरुतो । (यदि इदं मारुतेन) यदि यह जलम् वायुसे युक्त हुआ, (यदि दैव्येन ईदृक् आर) और यदि विष्य दक्षिणसे युक्त हुआ, तो हे (वसवः) निवासको । (तस्य निष्कृतेः यूषं ईशिष्वे) उसके उद्धारके लिये तुम ही समर्थ हो, वे तुम हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(मारुत मनीकं शर्षः) मरुतोंका तैलिक बल (घृतनासु तिग्मं) सेताओंमें तीव्र और (सहस्वत् उग्रं विदितं) बल युक्त प्रपञ्च शक्तिवाला शक्यो विदित है । इसलिये मैं (मरुतः स्त्रीमिं) मरुतोंकी प्रशंसा करता हूँ और (नाधितः जोहवीमि) उनसे सहाय होकर उनकी बुद्धता हूँ कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

पाप मोचन

मरुत् देवता

मरुत् नाम विदग्धं वायुका है, वैदग्ध्यं प्राण भी मरुत् कह-
 लाता है । इसका नाम मरुत् इसलिये है कि यह (मरु+उत्)
 मरनेवालोंको ऊपर उठाता है । शरीर मरनेवाला हो तो उस-
 को उठाकर सदा करनेवाला प्राणवायु ही है । मरनेवालेकी
 उठानेका कामकार प्राण ही करता है, जिसे अन्यमें यह शक्ति
 नहीं है । अति पशुओंमें घोड़े वेवायु होते हैं, उसी प्रकार
 बैलोंमें वायु वेगवान् है । इनके कारण ही रात्र प्रकाशका
 (चार्ज) बल, अन्न, ओषध आदि पदार्थोय रीतिसे अपने

अपने स्थानमें रहता है । वायु न केवल मनुष्योंका प्राण है
 अतिउच्च शक्तिवान् वायुमें भी बड़ी ओषधका संवार करना
 है और बनस्पतियोंमें ओ उतनीतम रस प्राण्य होता है वह
 सब इसी प्राणका काम है । बनस्पतियोंमें पौष्टिक रस,
 गीमोंमें अपूर्णसे समान रूप, आकाशमें सेधोंमें विरतिव जल
 रसनेवाला यह विदग्धवायु प्राण ही है ।

यह विदग्ध प्राण ही समुद्रसे अपने ऊपर के भाग है, वहाँ
 उसके वेध बनते हैं और घुष्टि द्वारा फिर मुक्त जल हमें
 प्राप्त होता है यह इसीका धमन्धार है । दुष्कीर्ति ऊपरने

सब अन्न और पेय इसीके कारण मिलते हैं, हर एक अन्नपान-भोजन जो पौष्टिक सत्वांग है वह इसी कारण है। यह जीवन देनेवाली प्राण शक्ति वायुमें है, इसीलिये वायुको सबका निदासक कहा है।

जो बीरोंमें तेज, बल, सामर्थ्य और शौर्य है वह सब इसीके कारण है; यह मस्तकोंका और प्राणोंका कार्य सबको देखना चाहिये। देखनेसे पता लगोगा कि पापसे बचनेका उपदेश मनु किस ढंगसे दे रहे हैं।

जन्ममें देखिये अन्ध सब देव अस्तको जाते हैं, परन्तु वायुको प्राण सदासमरत रहकर सबको जीवन देता है। इसी प्रकार शरीरमें सब अन्ध इन्द्रिय तथा अन्नभक्षण भोग लेते हैं और कार्य करनेसे बच भी जाते हैं और विधाम भी लेते हैं। परन्तु प्राण ही ऐसा एक है कि जो, स्वयं भोग नहीं लेता, न विधाम चाहता है और, न कभी चकता है। निस्वार्थ सेवा करनेका उपदेश इससे प्राप्त होता है। जो

जनताकी निस्वार्थ सेवा करेगा वे विधायक बन जायेंगे।

वेदमें 'मरुत्' श्रेयता द्वारा बीरोंका वर्णन होता है। मरते हैं और फिर ऊपर उठते हैं यह अर्थ इस (मरु+उत्) शब्दमें श्रुति देखते हैं। शरीरमें देखिये- प्राण शरीरमें जाता है, यहाँका कार्य करता है अर्थात् शरीरके लिये स्वयं मर जाता है और फिर उठता है यह भाव यहाँ प्राप्यक्ष है। प्रति-क्षणमें शरीरके लिये प्राण मरता है, इसीलिये शरीर जीवित रहता है। प्राणका परोपकार शरीरपर होता है, इसीलिये शरीर जीवित रहता है। अर्थात् इस प्राणके यत्ने शरीरकी स्थिति होती है। अपने साथ समाज अर्थात् राष्ट्रमें भी यही होगा चाहिये। राष्ट्रकी मलाईके लिये जब अनेकवीर शान्त-समर्पण रूप मर करते हैं तब राष्ट्र बरखावी होता है। जब स्वार्थी संघट मनुष्य राष्ट्रमें अधिक सम्ख्यामें होते हैं तब वह राष्ट्र गिर जाता है; मनुष्य इसी आत्मसमर्पणसे विधायक बनता है यह शेष यहाँ मिलता है।



फाफ म्नेचन

कांड ४, सूक्त २८

(श्रुतिः - मृगते उपर्षा वा । वेक्ता - अवाजवी इते वा ।)

मवांशवीं मन्वे वां तस्य विचं यथोवाभिदं प्रदिशि यद्विरोचते ।

यावस्पेशधि द्विपदो यौ चतुष्पदस्त्वौ नौ मुञ्चतमंहसः

॥ १ ॥

यथोरभ्यध्व उत यदुरे चिद्यौ विद्विताविपुमुतामसिष्ठौ ।

यावस्पेशधि द्विपदो यौ चतुष्पदस्त्वौ नौ मुञ्चतमंहसः

॥ २ ॥

अर्थ- हे (भय-शायी) जन्म उत्पन्न करनेवाले और जन्मका सब करनेवाले । (वां मन्वे) तुम दोनोंका मनन करता हूँ । (तस्य विचं) उसको तुम दोनों जानते हो । (यत् इदं प्रदिशि विरोचते) जो वह विज्ञानोंमें घमकता है वह सब (ययोः यौ) जिन तुम दोनोंका ही है (अस्य द्विपदः यौ इदाम्) इस द्विपद अर्थात् जो तुम दोनों स्वामी हो, (यौ चतुष्पदः) जो चार पांववालोंके भी स्वामी हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

(ययोः अभ्यध्वे उत यत् दुरे) जिन तुम दोनोंके समीप यह सब है और जो दूर भी है और (यौ चित् इपुमुतां असिष्ठौ विदितौ) जो निदरपते बाण धारण करनेवालोंके भाग फँकनेके समय तुम दोनों जाने जाते हो जो तुम दोनों द्विपद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

सहस्राक्षौ वृत्रहर्णा हुवेऽहं दूरेगन्धुती स्तुवन्मैत्रुमी ।	
यावस्येशाथे द्विपद्मे यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमर्हसः	॥ ३ ॥
यावस्माथे बृह् साकमग्रे य चेदस्तामभिर्भा जनेषु ।	
यावस्येशाथे द्विपद्मे यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमर्हसः	॥ ४ ॥
यथेविधानापपद्यते कञ्चनान्वदेवैपत मानुषेषु ।	
यावस्येशाथे द्विपद्मे यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमर्हसः	॥ ५ ॥
यः कृत्याकृत्यमूलकृष्णातुधानो नि तस्मिन्धत्तं वज्रंमग्नी ।	
यावस्येशाथे द्विपद्मे यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमर्हसः	॥ ६ ॥
अधि नो व्रूतं पृतनासुप्तौ मे वज्रेण सृजतं यः किमीदी ।	
स्तौमि भवाश्रवां नाथितो जोहवीमि तौ नौ मुञ्चतमर्हसः	॥ ७ ॥

अर्थ— (सहस्राक्षौ वृत्रहर्णा) तुम दोनों हजारों अस्त्रवाले और सब विनाशक हो (दूरे-गन्धुती उग्रौ) तथा द्रुतक गमन करनेवाले उग्र हो, तुम दोनोंको (अहं हुवे स्तुवन् येमि) मे पुकारता हूँ और स्तुति करता हुआ प्राप्त होता हूँ । जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पदोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ३ ॥

(अग्रे यौ साकं यद्दु आरेमाथे) पहिले जो तुम दोनोंने मिलजुल कर बहुत कार्य धारण किये और (जनेषु य अभिर्भा इत् प्र अस्तामग्ने) लोकमें तेजको उत्पन्न किया । जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पदोंके स्वामी हो वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

(यथोः यथात्) मिलके वच करनेके सामर्थ्यसे (देवेषु उत मानुषेषु अन्तः) दोनों और मनुष्योंके अन्तर (कञ्चन न अय-पद्यते) कोई भी नहीं बच सकता और जो द्विपाद और चतुष्पदोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

(यः कृत्याकृत्यं) जो हिंसा करनेवाला (यः यातुधानः मूल कृत्) जो यातना बढ़ानेवाला और मूलको काटनेवाला हो (तस्मिन्, उग्रौ, वज्रं निशत्तं) उत्तम, हे उत्तरीय । शाना वज्र विराओ । जो ऐसे तुम दोनों द्विपादों और चतुष्पदोंके स्वामी हो, वे हृषको पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

हे (उग्रौ) उत्तमभाववालो ! (नः पृतनासु अधिवृत्तं) हमसे सपूहर्षमें, सेनाओंमें योग्य उपदेश करो ! (यः किमीदी) जो स्वामी हो उस पर (यज्रेण संसृजतं) वज्रप्रहार करो । इसलिये मे (भवाश्रवां) भव और वज्रको (स्तौमि) स्तुति करता हूँ और (नाथितः जोहवीमि) उनसे सनाप होकर उनको पुकारता हूँ कि (तौ नः अहंसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ७ ॥

भव और शक्ति

वे दो शक्तियाँ हैं, एक ' भव ' सर्वात् बढ़ानेवाली शक्ति है और दूसरी ' शक्ति ' सर्वात् घातक शक्ति है । इस सब अर्थमें वे दो शक्तियाँ कार्य कर रही हैं । एकसे दृढ़ि हो रही है और दूसरेसे नाश हो रहा है । आत्मके विनाशक शक्तिका और कम रहता है और शर्षकशक्तिका अधिक रहता है, इस कारण बालक बड़ता है । बुढ़में यह बात उलटी हो जाती है इस कारण बुढ़ सीध होता है । अन्तमें इन दोनों परमात्मशक्तियोंका कार्य किस प्रकार चल रहा है यह बात इस सूत्रमें अच्छी प्रकार बताई है । मनुष्यमें भी ये दोनों शक्तियाँ हैं । जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है उसको उचित है कि वह

इस शक्तिपूर्विका ऐसा उपयोग करे कि जयतमें उससे घातपात न बड़े, अपितु शान्ति और सुख बड़े । इस प्रकार करनेसे मनुष्य पापसे बच सकता है ।

मनुष्यमें ' भ्रम ' शक्ति है जिससे यह माना प्रकारके सुलोपमेलके और दूसरे पदार्थ उत्पन्न करता है और मनुष्य में दूसरी ' शक्ति ' शक्ति भी है, जिससे यह लोभमयीय कर विघातक कार्य भी करता है । जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है, उसको उचित है कि वह अपनी भवशक्तिका उपयोग लोककल्याणके कल्याणमें करे । कर्मात् जनताका जिससे हिंस हो ऐसे श्रेष्ठ कार्य करनेमें उन्नत शक्तिका उपयोग करे । उसके पास दूसरी शक्तिशक्ति है, इससे घातपात किया जा सकता है यह बल सत्य है, परंतु इसका भी उपयोग जनताको भलाईके लिये किया जा सकता है । जो मानवोंकी उन्नतिका विघात करनेवाले दुष्ट हों उनको दूर करनेके कार्यमें इस शक्तिका उपयोग करनेसे यह विघातक शक्ति भी परोपकार करनेवाली बन सकती है । इस प्रकार इस शक्तिका भी उपयोग जब परोपकारमें होगा तब मनुष्यको दोनों शक्तियोंसे परोपकार होनेके कारण इसका संपूर्ण जीवन यशमय होगा और इसके पाप नष्ट होंगे और यह पुण्यात्मा बनता जाएगा । यह उपाय आत्मवृद्धिके लिये आवश्यक है जो इस सूत्र द्वारा सूचित किया है ।



पाप मोचन

कांड ४, सूक्त २९

(ऋषि - मृगार । देवता - मित्रावरुणौ ।)

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुहणो यौ नुदेधे ।

प्र सत्यावां नमवंधो भरेषु तौ नो मूञ्चतुमंहंसः

॥ १ ॥

सचेतसौ द्रुहणो यौ नुदेधे प्र सत्यावां नमवंधो भरेषु ।

यौ गच्छन्तौ नृचक्षंसौ वभ्रुणा सुतं तौ नो मूञ्चतुमंहंसः

॥ २ ॥

यावद्भिरसमवंधो यावदस्ति मित्रावरुणा जमदग्निभिर्मिम् ।

यौ कृदपमवंधो यौ वसिष्ठं तौ नो मूञ्चतुमंहंसः

॥ ३ ॥

अर्थ— हे (मित्रा-वरुणौ) मित्र और वरुण ! (यां मन्वे) में आप दोनोंका सतन करता हूँ, आप दोनों (ज्ञाताप्रधि सचेतसौ) सत्यकी वज्रनेत्राले और स्फूर्ति देनेवाले हूँ, (यौ द्रुहण नुदेधे) जो तुम दोनों रोहकारियों की हटा देते हो । (भरेषु सत्यावानं प्र मयध) स्वर्पाशोंमें सत्य पालन करनेवालेकी उत्तम रक्षा करते हो । (तौ नः अहस मुञ्चत) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

[यौ भरेषु सत्यावानं अवधः] जो तुम दोनों स्वर्पाशोंमें सत्यपालनको बचाने हो, (यां सचेतसौ द्रुहणः नुदेधे) जो दोनों सचेत होकर, मोहकारोही हटाते हो और (यौ नृचक्षन्तौ) जो मनुष्योंका निरीक्षण करनेवाले दोनों (वभ्रुणा सुतं गच्छन्तः) पीपक शक्तिसे आप दत्तसे प्रति पशुबन्धे हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

[यौ मित्रावरुणा] जो मित्र और वरुण तुम दोनों (अगिरदं अगस्तिं जमदग्निं अग्निं अवधः) अगिरद अगस्ति, जमदग्नि और अग्निरी रक्षा करते हो, (यौ कृदपमवंधो यौ वसिष्ठं) जो कृदप और वसिष्ठकी रक्षा करते हो, वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

यौ श्यावाश्वमवधो वध्पृश्च मित्रावरुणा पुरुमीढमार्त्रिम् ।

यौ विमदमवधः सप्तर्षिं तौ नो मुञ्चतुमहंसः

॥ ४ ॥

यौ भरद्वाजमवधो यौ गविष्टिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्संम् ।

यौ कृशीवंन्तमवधः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतुमहंसः

॥ ५ ॥

यौ मेधातिथिमवधो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणानुशनां काव्यं यौ ।

यौ गौतममवधः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतुमहंसः

॥ ६ ॥

ययो रथः सत्यवर्त्मसुरश्चिमिथुया चरन्तमभिपाति दुषयन् ।

स्तौमि मित्रावरुणौ नापितो जोह्वीमि तौ नो मुञ्चतुमहंसः

॥ ७ ॥

अर्थ— (यौ मित्रावरुणौ) जो मित्र और वरुण हुए दोनों (श्यावाश्वं, वध्पृश्च, पुरुमीढं, अर्त्रि मवधः) श्यावाश्व, वध्पृश्च, पुरुमीढ और अर्त्रिको रक्षा करते हो (यौ विमदं सप्तर्षिं अवधः) जो विमद और सप्तर्षिको रक्षा करते हो ॥ ४ ॥

(यौ मित्र वरुण) जो मित्र और वरुण हुए दोनों (भरद्वाजं गविष्टिरं विश्वामित्रं कुत्सं अवधः) भरद्वाज, गविष्टिर, विश्वामित्र और कुत्सकी रक्षा करते हो, (यौ कृशीवंतं कण्वं प्र अवधः) जो कृशीवंत और कण्वकी रक्षा करते हो, ये हुए दोनों हर्षे पाससे बचावो ॥ ५ ॥

(यौ मित्रावरुणौ) जो दोनों मित्र और वरुण हुए दोनों (मेधातिथिं, त्रिशोकं, काव्यं उशनां अवधः) मेधातिथि, त्रिशोक, काव्य उशनाकी रक्षा करते हो (यौ गौतमं उत मुद्गलं अवधः) जो गौतम और मुद्गलकी रक्षा करते हो, ये हुए दोनों हर्षे पाससे बचावो ॥ ६ ॥

(यथोः सत्यवर्त्मसुरश्चिमिथुया रथः) यिवका सत्यवर्त्मसुरा सरक रश्मिर्षोवाला रथ । मिथुया चरन्तं दुषयन् अभिपाति) मिथ्याचारिको सताता हुआ चलता है, जो (मित्रावरुणौ स्तौमि) मित्र और वरुणकी भे स्तुति करता हूँ और उनसे (नापितः जोह्वीमि) सत्त्व होकर उनकी पुकारता हूँ कि वे दोनों हर्षे पाससे बचावें ॥ ७ ॥

पाप मोचन

मित्र और वरुण

गृहण सूक्तोंमें यह सत्यम वा अन्तिम सूक्त है । २३-२९ में सात सूक्त पापमोचन विषयके हैं और इन सातों सूक्तोंका अर्थ सुधार है । ये सूक्त भाषाकी दृष्टिसे बहुत सरल हैं, परंतु पापमोचनके अनुष्ठानकी दृष्टिसे बड़े तीव्र हैं । इनका विषय ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये निम्न लिखित कोष्टक देखिये—

सूक्त	देवता	मपने शरीरमें शक्ति	अनुष्ठानविधि
२३	अग्नि	वायुस्थिति	मार्कामिम
२४	इन्द्र	बल	बलका अनुपयोग
२५	वायु, सविता	प्राण, वेद	प्राणायाम और नेत्रकी पवित्रता
२६	धामापूर्विकी	स्मृतस्मृतप्रवित्तवा	साकर्ममें अपनी शक्तिशैलीका उपयोग
२७	मरुतः	प्राण	प्राणायाम
२८	भवापत्नी, रुद्रः	बर्षक और घातक शक्तियाँ	अपनी इन शक्तियोंका उचित उपयोग करना
२९	मित्रावरुणी	मित्रभाव और श्रेष्ठभाव	दोनोंका अनुपयोग

इस कोष्टकका निरीक्षण करनेसे पता लग जायगा कि अनुष्ठान किस रीतिसे किया जाता है। इस अनुष्ठानका उद्देश्य समझनेके लिये एक उदाहरण लीजिये, एक मनुष्य कहता है कि 'सूर्यदेव हमें मार्ग दिखायेंगे' इस वाक्यके सूर्यका मार्ग विश्वामेका संबन्ध है यह बात निश्चित है। परन्तु यदि कोई मनुष्य अपने मास बंद करले और मार्गकी ओर अपनी दृष्टि न डाले तो सूर्य भगवान सहस्र किरणोंसे प्रकाश करता हुआ भी उसको मार्ग नहीं दिखा सकेगा। इससे अनुष्ठानका जो मार्ग निश्चित हुआ, यह वह है कि 'मनुष्य अपने अक्षरकी शक्तिकी सन्मार्गके बोध होने पश्चात् मार्गपर प्रेरित करे और प्राज्ञशक्तियोंकी सहायता प्राप्त करनेकी इच्छा करे।' ऐसा करनेसे ही उसको कामना पूर्ण हो सकती है।

किसी मनुष्यको किसी वपारकी जगता है, यह मार्ग जानना चाहता है। यदि वह अपने आँसु खोलकर अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर मार्ग देखनेका यत्न करेगा, तभी वह सूर्य देवताके प्रकाशसे अधिकसे अधिक लाभ उठा सकता है। इसीप्रकार अन्यत्र विषयोंके सम्बन्धमें जानना चाहिये। यहाँ प्रचलित विषय 'पापमोचन' है। भक्त अपने आपकी पापसे बचाना चाहता है, इसलिये उसको पूर्वोक्त उदाहरणके म्यापसे ही अपनी सब शक्तियोंका समय करके उनके समय द्वारा अपने अपकी पापसे बचानेका परम यत्न करना चाहिये, और उस प्रयत्नके करनेके समय बाह्यशक्तियोंकी सहायता प्राप्त हो, ऐसी इच्छा करनी चाहिये। स्मरण रहे की बाह्यशक्ति या तो पूर्ण रीतिसे सहायता देनेके लिये तैयार हो है, जो स्थिता है वह अपने प्रयत्नकी ही है। आँसु बंद करनेवाला मनुष्य सूर्यप्रकाशसे लाभ नहीं उठा सकता, प्रत्युत आँसु खोलकर देखनेवाला ही लाभ उठा सकता है, अर्थात् इस पुरुषका प्रयत्न अवश्य होना चाहिये। यही बात विषय स्मरण रखने योग्य है। अक्षरके सूर्य सत्ताँ सुकृतोंके से सत्ताँ प्राज्ञ शक्तियोंकी प्रायोजना की है और उनकी सहायता की वाचना की है यह अपने अनुष्ठानको तैयारोंके साथ ही को है अन्यथा अनुष्ठानके विषय से सुकृत कोई लाभ दे नहीं सकते।

'सूर्य हमें मार्ग दिखाये' ऐसा कहनेवाले को अपनी आँसु खोलकर मार्ग देखनेका यत्न करना चाहिये, 'अस हमारो तुषा दांत करे' ऐसा कहनेवालेको प्रथम जल अपने हाथ में लेकर पीनेका प्रयत्न करना चाहिये, 'अत्र ह्यारे शरीर की दुग्धि यथाये' ऐसी प्रायोजना करनेवालेको उचित है कि

वह उत्तम अन्न तैयार करे और उसकी सेवन विविधरूप रीतिसे करे और पश्चात् कहे की यह अन्न गेरा शरीर पुष्ट करे। हराएक प्रायोजना उसके पूर्व करने योग्य अनुष्ठानकी सूचना है यह बात ध्यानमें धारण करने योग्य है। प्रत्येक प्रायोजनाका अनुष्ठानपूर्वक उच्चारण होना चाहिये। अनुष्ठान पूर्वक की हुई प्रायोजना ही सफल होती है अर्थात् अनुष्ठान रहित प्रायोजना निष्फल होती है। वैदिक प्रायोजनाओंसे मनुष्यको जो उपरतिता मार्ग दिखाई देता है वह इस रीतिसे अनुष्ठान पूर्वक प्रायोजना करनेसे ही है अन्यथा नहीं।

अनुष्ठान अपने अक्षरके देवताओं द्वारा अर्थात् अपने इन्द्रियों और अक्षरोंद्वारा किया जाता है, इनका सबब जिन बाह्य देवताओंसे है उनके सहायतायें प्रायोजना की जाती है। अर्थात् कोई प्रायोजना अनुष्ठानके विषय नहीं की जाती। पहिले अपनेसे जितना ही सकता है, उतना अनुष्ठान करके अब अपनी शक्ति उत्पन्न होती है और अधिक शक्ति की प्रयत्न इच्छा उत्पन्न होती है, उस समय प्रायोजनाका समय होता है। इस रीतिसे इन सत्ताँ सुकृतोंका समय करनेसे पापमोचनके अनुष्ठानकी रीतिका स्वयं पता लग जाता है। ताराज्य रूपसे इन सुकृतोंसे बोधित होनेवाला अनुष्ठान यह है।

'बागोंकी पवित्र बनानेका प्रयत्न करना, अर्थात् मुखसे अपवित्र शब्दोंका उच्चारण न करना, अपने बलका उपयोग सत्कर्ममें करना और कभी दूतोंको पीडित न करना, अपने मार्गोंका कुन्दकाचि द्वारा ध्यायण करके मनको शांत और गभीर बनाना, गेसादि इन्द्रियोंको धुन कर्ममें लगाना और उनको अनुभू प्रवृत्तिसे हटाना, अपने अक्षर जो क्वेई सामर्थ्य हो उसको सत्कर्ममें लगाना और अक्षरकांसे दूर रहना, संपूर्ण दश प्रायोंका व्यवहार उत्तम चलानेका यत्न करना, अपने अक्षर जो धर्मक और दातक शक्तियाँ हैं, उनसे किसी का दातधात न करना, अपिष्ट उन शक्तियोंको सन्मार्गमें प्रयत्न करना, अपने अक्षरको मित्रभाव है और परिच्छाताका भाव है उसको प्रवृत्ति मगल कर्ममें करना और उनको समंजस करवोते दूर करना।' ताराज्यरूपसे यह अनुष्ठानकी विधि है। इसमें जित अपनी शक्ति द्वारा अनुष्ठान किया जा रहा हो, उसके साथ सबब रखनेवाली बाह्य देवताकी प्रायोजना अधिक शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे करनी चाहिये। अर्थात् अपना अनुष्ठान और प्रायोजना एक संघकी होनी चाहिये। पानी पीनेके समय अन्नको प्रायोजना न हो और भीजन करने के समय दूसरे किसी अन्य देवकी प्रायोजना न हो। प्रायणमें

अथवा सवय विरवकी विधातः शक्तिपूर्वसे किया जाता है। इस एकतावतासे बड़ा साम होता है।

२१ में मुक्तमें कहा है कि जो (सत्यवान्) सत्यका पालन करनेवाला होता है, उसको परमात्माकी शक्तिपूर्वकी सहायता मिलती है (म. १-२)। इन मंत्रोंमें यह कह कर आगे सत्यपालन करनेवाले अनुष्ठानी महात्माओंको किस प्रकार सहायता मिली है इसकी वामावली ची है। ये नाम एक एक विशेष गुणकी सूचना दे रहे हैं, इस कारण इन नामोंका विचार करनेसे कौन अनुष्ठानी मनुष्य ईशको सहायता प्राप्त कर सकता है इसका बोध होता है। इस-विषये इनका श्लोकार्थ देखते हैं—

- १ सत्यवान्- सत्यप्रतिष्ठ, भाषका पालन करनेवाला।
- २ अंगिरस्- अगोंमें जो श्रीकन रत्न है उसको विद्या जाननेवाला।
- ३ आगस्ति- (अग-वति) पापको दूर करनेके प्रयत्नमें जो वसवित होता है।
- ४ जमदग्नि - (जमद्+अग्निः) प्राण भादि अग्निओं को प्रश्रयित करनेवाला।
- ५ अग्निः- (अतति) भ्रमण करके उद्धारके लिये यत्न करनेवाला।
- ६ कश्यपः- (कश्यपः) सुखवर्षों।
- ७ घृषिष्ठः- सबका सुखपूर्वक निवास करानेवाला।
- ८ इयावाभ्या- (इयै गतौ) गतिशील, प्रयत्नशील।
- ९ मनुष्यध्व- (यग्नि) सत्य (अश्वः) धोड़ोवाला अर्थात् जिसके इन्द्रियक्षीण घोड़े चञ्चल नहीं हैं।
- १० पुनमीढः- (पुन) बहुत (भीढ) पतादि साम-संपन्न।
- ११ धिमद्- (धिगतः मद्) जिसका समस्त वस्तु ही गया है।
- १२ सप्तयग्निः- जिनोंने अपने सारों इन्द्रियोंको सत्य किया है।
- १३ भरद्वाजः- (भरत्+वाजः) जो भरका राज करता है।
- १४ गधिंष्टरः- (गधि) बाधोंमें जो स्थिर रहता है अर्थात् जो अपने बधनका लक्ष्य है।

- १५ विश्वामित्रः- (विश्वस्य मित्रः) सबका मित्र, शक्तिसे प्रेय न करनेवाला।
- १६ कुत्सः- बीषोंको निवार करनेवाला।
- १७ कश्विवान्- (कश्वी) गतिशील, प्रयत्नशील।
- १८ कश्यवः- शम्भुशिवों प्रवीण।
- १९ मेधातिथिः- (मेधा) बुद्धिको शान्त करनेवाला।
- २० विशोकः- स्पृह, हृदन और कारण इत तीन विषयोंके अज्ञानका निवारको शोक होता है।
- २१ उशाना फान्यः- सपरी कवि।
- २२ मोतमा- (मो) गतिशील, प्रयत्नशील।
- २३ सुद्रलः- (सुद्) भावदको पारण करनेवाला, मानव-दुस्तिसे रहनेवाला।

इन शर्तोंमें पता चलता है कि धाम-सुधारका प्रयत्न में कितने बगते करनेवाले हैं। इस प्रकारके प्रयत्न करनेवालोंको पूर्वोक्त देवता सब प्रकारकी सहायता करते हैं और उनकी उपरति होनेके लिये मदद देते हैं। जो लोग इनके समान प्रयत्न करेंगे उनको भी इन्ही प्रकार देवताओंसे सहायता प्राप्त होगी। परंतु जो लोग अपने उपरतिके प्रयत्नमें इस नहीं होते, उनको सहायता प्राप्त नहीं होती, इस विषयमें दो शब्द देखिये—

- (१) द्रुद्रन्- शोक करनेवाला, जातघत करनेवाला।
(म १-२)
- (२) मियुया चरन्- मिथ्या व्यवहार करनेवाला।
(म ७)

पाठक यहां स्मरण करें कि अग्नि, वायु, सूर्यदि देवता सब सहायता करनेके लिये संभार रहे हैं, परंतु उनसे सहायता प्राप्त करनेका यत्न मनुष्यको करना चाहिये। मनुष्यके यत्न न हुआ तो साम होगा असम्भव है। जो मनुष्य आत्म सुधारका यत्न करते हैं वे पूर्वोक्त श्रुतिपूर्विक समस्त उपरति प्राप्त करते हैं, अन्य लोग प्रयत्न न करनेके कारण शीते रहते हैं।

इस प्रकारके लो लोग होते हैं, उनकी अवगत होती जाती है। इसलिये पाठकोंको उचित है कि वे अपने उपरतिका अनुष्ठान करें, सम्मानसे करें, पूर्वोक्त श्रुतिपूर्विकों का ध्यान अपने सामुद्र रखें और उपरतिके पथके योग्य क्रम करें। कदापि अवगतिके मार्गमें न चढ़ें।



दुःखमोचन और विजयवाप्ति

कांड १६, सूक्त १

(ऋषि - अपर्षा । देवता - प्रजापतिः ।)

अतिष्ठो अपां वृषमोऽतिष्ठो अग्रयो दिव्याः	॥ १ ॥
रुजन्परिरुजन्मुष्णन्प्रमुष्णन्	॥ २ ॥
प्रोको मनोहा सुनो निर्दाह आत्मदूर्षिस्वनूषिः	॥ ३ ॥
इदं तमतिं सृजामि तं माम्पर्यनिधि	॥ ४ ॥
तेन तमभ्यसिसृजामो योऽस्मान्द्रेष्टि यं वयं द्विष्मः	॥ ५ ॥
अपामग्रमसि समुद्रं वोऽभ्यवसृजामि	॥ ६ ॥
योऽस्वभिरति तं सृजामि लोकं खनिं तनुदूर्षिम्	॥ ७ ॥
यो व आपोऽभिराविवेस स एष यद्वो घोरं तदेतत्	॥ ८ ॥
इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि विञ्चेत्	॥ ९ ॥
अरिप्रा आपो अपं रिप्रमस्मत्	॥ १० ॥
प्रास्मदेनो बहन्तु प्र दुष्वप्यं बहन्तु	॥ ११ ॥

अर्थ— [१] (अपां वृषमः अतिष्ठोऽपः) तपोंकी वर्षा करनेवाला मुखरुषा, (दिव्याः अग्रयोः सतिष्ठोऽपः) दिव्य सतिष्ठ मृत की गई ॥ १ ॥

(रुजन् परिदृजन्) तोड़ता हुआ, तार रीतिले फोड़ते हुए, (मुष्णन् प्रमुष्णन्) भारते हुए और माता करते हुए ॥ २ ॥

(प्रोकोः एनः) घातक और लोचनेवाले (निर्दाहः) बाह करनेवाले (मनो-हा) मनका ग्राह करनेवाले (आत्मदूर्षिः) आत्मवाको हृष्य देनेवाले और (तनु-दूर्षिः) शरीरको दूषित करनेवाले ॥ ३ ॥

(इदं तं अतिष्ठजामि) इस और उस शत्रुको मैं दूर करता हूँ (तं मा अभ्यवसृजामि) उसको मैं कष्टादि पुनः प्राप्त न होऊँ ॥ ४ ॥

(यः अस्मान् द्रेष्टि) जो हमसे डरे करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम डरे करते हैं, (तं तेन अभि सति सृजामः) उसको उसके द्वारा हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥

(अपां अग्रं सति) वृ जलोंका अग्रभाग हो (यः समुद्रं अभिग्रयसृजामि) तुमसे समुद्रके प्रति मैं छोड़ देता हूँ ॥ ६ ॥

(यः अपनु सतिः) जो जलोंमें सति है (तं सति सृजामि) उसको मैं मृत करता हूँ । (लोकं खनिं तनुदूर्षिं) घातक सारक और शरीरको दूषित करनेवालेको दूर करता हूँ ॥ ७ ॥

(यः सतिः आपः यः आविवेश) जो सति जलोंके प्रति प्रविष्ट हुई है (सः एषः) वह यह है, (एतत् यः घोरं तत् एतत्) जो आपके लिये भयंकर है वह यह है ॥ ८ ॥

(इन्द्रस्य इन्द्रियेण यः अभिविञ्चेत्) इन्द्रके इन्द्रियसे आपका अभिवेक किया जाने ॥ ९ ॥

(अरिप्राः आपः) जो विशेष बल है वह (अस्मत् रिप्रं अप) हमसे बल दूर करे ॥ १० ॥

(प्रास्मत् एनः प्रयहन्तु) हमसे पाप दूर करे तथा (दुष्वप्यं बहन्तु) दुष्ट (वपने हैतुको भी दूर करे ॥ ११ ॥

[५]

विद्य ते स्वप्न जनित्रं प्राज्ञाः पुत्रोऽसि यमस्य करणः	॥ १ ॥
अन्तकोऽसि मृत्युरसि	॥ २ ॥
तं त्वां स्वप्न तथा सं विद्य स नः स्वप्न दुष्पण्यात्पाहि	॥ ३ ॥
विद्य ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तको० । तं त्वां०	॥ ४ ॥
विद्य ते स्वप्न जनित्रं भूर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तको० । तं त्वां०	॥ ५ ॥
विद्य ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तको० । तं त्वां०	॥ ६ ॥
विद्य ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तको० । तं त्वां०	॥ ७ ॥
विद्य ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तको० । तं त्वां०	॥ ८ ॥
अन्तकोऽसि मृत्युरसि	॥ ९ ॥
तं त्वां स्वप्न तथा सं विद्य स नः स्वप्न दुष्पण्यात्पाहि	॥ १० ॥

[६]

अजैष्माद्यासनामाद्याभुमानांगतो वृषम्	॥ १ ॥
उषो यस्माद्दुष्पण्याद्दमैष्माप तद्वृच्छतु	॥ २ ॥
द्विपते तत्परां वह क्षपते तत्परां वह	॥ ३ ॥

अर्थ— [५] (स्वप्न ! ते जनित्रं विद्य) हे स्वप्न ! तेरो उत्पत्तिका हेतु हूँ पता है । तू (प्राज्ञाः पुत्रः असि) तू भगवोका पुत्र है और (यमस्य करणः) यमका साधन है ॥ १ ॥

तू (अन्तकः असि) अन्त करनेवाला है और तू (मृत्युः असि) मृत्यु है ॥ २ ॥

हे स्वप्न ! (तं त्वां तथा सं विद्य) उस तुमको संसा हूँ जानते हैं । हे स्वप्न ! (सः नः दुष्पण्यात् पाहि) वह तू हमें दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ ३ ॥

(स्वप्न ते जनित्रं विद्य) हे स्वप्न ! तेरो उत्पत्तिका हेतु हूँ पता है तू (निर्भूत्याः पुत्रः असि) निर्भूतिका पुत्र है और (यमस्य करणः) यमका साधन है ॥ ४ ॥

स्वप्नका हेतु हम जानते हैं तू (भूर्भूत्याः पुत्रः०) भूर्भूतिका पुत्र है ॥ ५ ॥ तू (निर्भूत्याः पुत्रः०) निर्भूतिका पुत्र है ॥ ६ ॥ तू (पराभूत्याः पुत्रः०) पराभवका पुत्र है ॥ ७ ॥ तू (देवजामीनां पुत्रः०) इन्द्रियविहृतिर्योका पुत्र है ॥ ८ ॥ (अन्तकः असि मृत्युः असि) तू अन्तक और मृत्यु है ॥ ९ ॥ (स्वप्न, तं त्वां तथा सं विद्य) हे स्वप्न ! उस तुमको संसा हम जानते हैं (सः नः दुष्पण्यात् पाहि) वह तू हमको दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ १० ॥

[६] (अथ अजैष्म) अन्त हमने ब्रिजय प्राप्त की है (अथ अतनाम) हमने प्राणस्थको प्राप्त किया है (ययं अनागसः अभूम्) हम विष्वाप हुए हैं ॥ १ ॥

हे (उपः) उपकात ! हम (यस्मात् दुष्पण्यात् अजैष्म) जिस दुष्ट स्वप्नसे हमने भय होता है, (तद् अय उच्छतु) वह हमसे दूर होवे ॥ २ ॥

(तद् द्विपते परा वह) वह द्वेषीके लिये दूर से जा (तद् क्षपते परा वह) वह प्राण देनेवालेके लिये दूर से जा ॥ ३ ॥

यं द्विष्मो यच्च नो द्वेष्टि तस्मा एतद्गमयामः	॥ ४ ॥
उषा देवी वाचा संविदानो वाग्देव्युं परा संविदाना	॥ ५ ॥
उपस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुपस्पतिना संविदानः	॥ ६ ॥
तेऽऽमुष्मै परा वहन्वरायान्दुर्णाम्नाः सदान्वाः	॥ ७ ॥
कुम्भीका दूपीकाः पीयकान्	॥ ८ ॥
जाग्रदुष्वप्यं स्वप्नेदुष्वप्यम्	॥ ९ ॥
अनामिष्यतो वरानविचैः संकल्पानमुच्यते द्रुहः पाशान्	॥ १० ॥
तदुत्सर्मा अमे देवाः परा वहन्तु बध्निर्यथासुद्विषुषो न साधुः	॥ ११ ॥

[७]

तेनैनं विष्याम्यभूष्यैनं विष्यामि निर्भूष्यैनं विष्यामि	
पराभूष्यैनं विष्यामि ग्राह्येन विष्यामि तमसैनं विष्यामि	॥ १ ॥
देवानामिनं घोरैः क्रूरैः प्रैपैरभिप्रेष्यामि	॥ २ ॥
वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि	॥ ३ ॥

अर्थ— (यं द्विष्मः) जिससे हम सब द्वेष करते हैं और (यत् च नः द्वेष्टि) जो हम सबसे द्वेष करता है, (तस्मै एतत् गमयामः) उसके पास हम इसको ले जाते हैं ॥ ४ ॥

(उषा देवी वाचा संविदाना) उषा देवी वाणीसे समितित हो और (वाक् देवी उपसा संविदाना) वाक् देवी उषा देवीसे समिलित हो ॥ ५ ॥

(उपस्पतिः वाचस्पतिना संविदानः) उषाका पति वाणीके पतिके साथ समिलित हो और (वाचस्पतिः उपस्पतिना संविदानः) वाणीका पति उषाके पतिके साथ मिले ॥ ६ ॥

(ते अरायान् दुर्णाम्नाः सदान्वाः) वे निर्पणता दुष्टनामवाले कष्ट और भय आपत्तियां (अमुष्मै परा वहन्तु) उस शत्रुके पास ले जावें ॥ ७ ॥

(कुम्भीकाः दूपीकाः पीयकान्) घटके समान बढनेवाले उदररोगों, शरीरमें बोग उदर करनेवाले रोगों और प्राणघातक रोगोंको ॥ ८ ॥

तया (जाग्रत् दुष्वप्यं) जाग्रतिके समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न और (स्वप्ने दुष्वप्यं) स्वप्नके समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न ॥ ९ ॥

(अनामिष्यतः वरान्) न प्राप्त होनेवाले श्रेष्ठ पदार्थ, (अविचैः संकल्पान्) बरिदत्तके संकल्प, (अमुक्याः द्रुहः पाशान्) न छूटनेवाले दुष्टोंके बाधोंको ॥ १० ॥

हे अग्ने ! उन सब विपत्तियोंको (तत् अमुष्मै) शत्रुके पास (देवाः परा वहन्तु) शत्रुके ले चले । (यथा) जिससे वह शत्रु (बध्नैः) निबल, (चिथुरः) व्ययपुस्त और (साधुः) न असत्) बुरा होवे ॥ ११ ॥

[७] (तेन एनं विष्यामि) उससे उसका वेष करता हूँ, (अभूष्या, निर्भूष्या, ग्राह्या, एनं विष्यामि) बुझाँ, बरिद और रोपसे इसको बिद्ध करता हूँ । (पराभूष्या) पराभवसे इसको पीडित करता हूँ (तमसा एनं विष्यामि) अतानसे इसको बिद्ध करता हूँ ॥ १ ॥

(देवानां घोरैः क्रूरैः प्रैपैः) देवोंके घोर क्रूर वृद्धों (एनं अभिप्रेष्यामि) इसको बुझाँ करता हूँ ॥ २ ॥ (वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोः एनं अपि दधामि) वैश्वानरकी दाढ़ीमें इसको भर देता हूँ ॥ ३ ॥

एवानेवाव सा गरत्	॥ ४ ॥
योत्रेस्मान्द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु	॥ ५ ॥
निद्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद्भ्रजाम	॥ ६ ॥
सुयामंश्चाक्षुष	॥ ७ ॥
दुदसहमांशुष्यायुणेकेमुष्वाः पुत्रे दुष्पृष्यं मृजे	॥ ८ ॥
यदुदोर्भदो अश्वभञ्छन्यदोषा यत्पूर्वां रात्रिम्	॥ ९ ॥
यज्ञाग्रयत्सुहो यद्विवा पन्नक्तम्	॥ १० ॥
यदहरहराभिगच्छामि तस्मादिन्मव दये	॥ ११ ॥
तं जह्नि तेन मन्दस्य तस्यं पृथीरपि शृणीहि	॥ १२ ॥
स मा जीवीचं प्राणो जहातु	॥ १३ ॥

[८]

जितमुस्माकमुद्भिन्नमुस्माकमृतमुस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वर्गिस्माकं	
यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।	॥ १ ॥
तस्माद्गुम् निर्मेजामोऽमुमांशुष्यायुणमुष्वाः पुत्रमसौ यः	॥ २ ॥
स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि	॥ ३ ॥
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधुराञ्चं दादयामि	॥ ४ ॥

अर्थ— (सा एव अनेव) वह आवति इस रीतिसे वा अन्य रीतिसे इस शत्रुको (अथ गरत्) निगत जाय ॥४॥
 (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है (तं आत्मा द्वेष्टु) उसके अत्मा द्वेष करे । (ये वयं द्विष्मः)
 जितते हम द्वेष करते हैं (सः आत्मानं द्वेष्टु) वह अपने आत्मासे द्वेष करे ॥ ५ ॥

(निद्विषन्तं) द्वेष करनेवालेका (दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः) शून्य, अन्तरिक्ष और पृथिवीके ऊपरसे
 (निः भ्रजामः) सामना करते हैं ॥ ६ ॥

हे (सुयामश्चाक्षुष) उसमें तियामक निरोधक ! ॥ ७ ॥ (दुदं अहं) यह मैं (अमुष्यायने अमुष्याः
 पुत्रे) इस गोषके इसके पुत्रमें (दुष्पृष्यं मृजे) दुष्ट स्वप्न भेजता हूँ ॥ ८ ॥

(यद् अद्ः अद्ः) जो यह गोष (अभिगच्छन्) में उसमें शान्त करता हूँ (यत् दोषा यत् पूर्वां रात्रिं)
 जो रात्रोमें अपना पूर्व रात्रोमें ॥ ९ ॥ (यत् जाग्रत्) जो जागते हुए, (यत् सुप्तः) जो सोये हुए (यत् दिव्या यत्
 नष्टं) जो निर्गम और जो रात्रोमें ॥ १० ॥ (यत् शहः अहं अभिगच्छामि) जो प्रतिदिन मैं वेष्टा हूँ (तस्मात्
 एनं अथ दये) उस गोषके कारण मैं उसको मारता हूँ ॥ ११ ॥

(तं जह्नि) उसको मार दे, (तेन मन्दस्य) उसके साथ बस, (तस्यं पृथीः अपि शृणीहि) उसकी पत्-
 तिमा तोड़ दे ॥ १२ ॥ (स मा जीवीत्) वह न जीवे, (तं प्राणः जहातु) उसके प्राण छोड़ दे ॥ १३ ॥

[८] (अस्माकं जितं) हमारा विजय ही, (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा उद्यम ही, (अस्माकं कृतं)
 हमारा कार्य ही, (अस्माकं तेजः) हमारा तेज बडे, (अस्माकं ब्रह्म) हमारा ज्ञान बडे, (अस्माकं स्याः) हमारा
 आश्रयप्रकार बडे, (अस्माकं यज्ञः) हमारा यज्ञ कर्तव्य ही, (अस्माकं पशवः) हमारे पाल पशु हैं, (अस्माकं
 प्रजाः) हमारी प्रजा-संतान-बडे, (अस्माकं वीराः) हमारे अंदर वीर हैं ॥ १ ॥

जितम् ० ।०। स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ५ ॥
जितम् ० ।०। सोऽभृत्याः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ६ ॥
जितम् ० ।०। स निर्भृत्याः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ७ ॥
जितम् ० ।०। स पराभृत्याः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ८ ॥
जितम् ० ।०। स देवजाग्नीनां पाशान्मा मोचि ।०	॥ ९ ॥
जितम् ० ।०। स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि ।०	॥ १० ॥
जितम् ० ।०। स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ११ ॥
जितम् ० ।०। स ऋषीणं पाशान्मा मोचि ।०	॥ १२ ॥
जितम् ० ।०। स अर्षियाणां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १३ ॥
जितम् ० ।०। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १४ ॥
जितम् ० ।०। स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १५ ॥
जितम् ० ।०। सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १६ ॥
जितम् ० ।०। स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १७ ॥
जितम् ० ।०। स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १८ ॥
जितम् ० ।०। स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १९ ॥
जितम् ० ।०। स ऋतूनां पाशान्मा मोचि ।०	॥ २० ॥
जितम् ० ।०। अर्तवानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ २१ ॥
जितम् ० ।०। स मासानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ २२ ॥
जितम् ० ।०। सोऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ २३ ॥
जितम् ० ।०। सोऽश्विनयोः पाशान्मा मोचि ।०	॥ २४ ॥
जितम् ० ।०। सोऽहोः संयतोः पाशान्मा मोचि ।०	॥ २५ ॥

अर्थ - (तस्मान् अमुं निर्भजामः) इस अपराधके कारण हम उस सबपर हुनला चाहते हैं (अमुं अमुंश्यायर्षं अमुभ्याः पुत्रं असौ यः) ओ इस गोत्रका इसका पुत्र हमारा सब है । २ ॥ (सः प्राज्ञाः पाशात् मा मोचि) वह रोगके पाशसे न छूटे ॥ ३ ॥ (तस्य इदं वर्चः तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि) उसका वह तेज बल प्राण और आयुको मैं चेरता हूँ और (इदं एन अधराद्धं पादयामि) वह मैं इसको नीचे गिराता हूँ ॥ ४ ॥ ० ॥ ० (सः निर्ऋत्याः पाशात् मा मोचि) वह निर्ऋतिके पाशसे न छूटे पावे ॥ ० ॥ ५ ॥ ० ॥ ० (सः अभृत्याः पाशात् मा मोचि) वह पराभृत्यके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ६ ॥ ० ॥ ० (सः निर्भृत्याः पाशात् मा मोचि) वह निर्भृत्यके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ७ ॥ ० ॥ ० (सः पराभृत्याः पाशात् मा मोचि) वह पराभृत्यके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ८ ॥ ० ॥ ० (सः देवजाग्नीनां पाशात् मा मोचि) वह देवजाग्नीके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ९ ॥ ० ॥ ० (सः बृहस्पतेः " प्रजापतेः " ऋषीणां " अर्षियाणां " अंगिरसां " आंगिरसानां " अथर्वणां " आथर्वणानां " वनस्पतीनां " वानस्पत्यानां " ऋतूनां " अर्तवानां " मासानां " अर्धमासानां " अश्विनयोः " अहो संयतः " श्यायपुदिग्योः

जितम् ० ।०। स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि ।०	॥ २६ ॥
जितम् ० ।०। स इन्द्रान्योः पाशान्मा मोचि ।०	॥ २७ ॥
जितम् ० ।०। स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि ।०	॥ २८ ॥
जितम् ० ।०। स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि ।०	॥ २९ ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकंमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरिस्माकं
यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकंम् ।

तस्माद्दुसं निर्भेजामोऽमुमात्तुष्यापुणममुष्याः पुत्रमसौ यः

स मृत्योः पद्वर्षीशत्याशान्मा मोचि ।

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वैष्टयामीदमेतमधराश्चं पादयामि

॥ ३०-३३ ॥

[९]

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकंमम्युष्टिं विश्वाः पृतना अरातीः	॥ १ ॥
तदुधिराह तद् सोम आह पूषा मां घास्तुकृतस्य लोके	॥ २ ॥
अगन्म स्वर्शः स्वरिगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषाम्गम	॥ ३ ॥
वस्योभूयाय वसुमान्यज्ञो वसुं वंशिपीथि वसुमान्भूयासं वसु मयि धेहि	॥ ४ ॥

...इन्द्रान्योः ...मित्रावरुणयोः ...वरुणस्य राज्ञः ...मृत्योः पद्वर्षीशाम् मा मोचि) ॥ १०-३२ ॥ षट्
मृत्युपति, प्रजापति, ऋषि, ऋषिर्गति उत्पन्न, अगिरत्, अगिरत्गति उत्पन्न, भयवं, भयपति उत्पन्न, ब्रह्मपति, ब्रह्मपतिर्गति
उत्पन्न, ऋतु, ऋतुर्गति उत्पन्न, महोत्ते, अर्धमात, ब्रह्मोत्पन्न, विन, धृ, पुषिषी, इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, राजा वरुण और
मृत्युके पायीते न बने ॥ १०-३२ ॥ (तस्य इदं वर्चः ०) उत्तमा पद तेज, कान्ति, प्राण, आयु आदिको सं पेरता हूँ
और उसको मोचे गिराता हूँ ॥ ३३ ॥

[९] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो (अस्माकं उद्भिर्षं) हमारा उद्वेग हो, (विश्वाः पृतनाः अरातीः)
सब जन्तुतोदाका निरोध किया है ॥ १ ॥

(अग्निः तद् आह) अग्निये तद् कहा है, (सोमः उ तद् आह) सोमने यह कहा है । (पूषा सुकृतस्य
लोके मां घात्) पूषा मुझे पुण्य लोकमें धारण करे ॥ २ ॥

हम (स्वः अगन्म) आगमकी ज्योतिषो प्राप्त होते हैं, (स्वः अगन्म) हम अपने तेजको प्राप्त होते हैं ।
(सूर्यस्य ज्योतिषय सं अगन्म) सूर्यको ज्योतिषे हम संयुक्त होते हैं ॥ ३ ॥

(वस्यः भूयाय) ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये (वसुमान् भूयासं) वसुमान् होऊँ (वसुमान् यज्ञः) ऐश्वर्य प्राप्त
हो है (वसु वंशिपीथय) ऐश्वर्य प्राप्त करूँ । (मयि वसु धेहि) मुझमें वसुकी धारणा कर ॥ ४ ॥



जितम् ० ।०। स निऋत्याः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ५ ॥
जितम् ० ।०। सोऽभृत्याः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ६ ॥
जितम् ० ।०। स निर्भृत्याः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ७ ॥
जितम् ० ।०। स पराभृत्याः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ८ ॥
जितम् ० ।०। स देवजामिनां पाशान्मा मोचि ।०	॥ ९ ॥
जितम् ० ।०। स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि ।०	॥ १० ॥
जितम् ० ।०। स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ११ ॥
जितम् ० ।०। स ऋषीणां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १२ ॥
जितम् ० ।०। स आर्यपाणां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १३ ॥
जितम् ० ।०। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १४ ॥
जितम् ० ।०। स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १५ ॥
जितम् ० ।०। सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १६ ॥
जितम् ० ।०। स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १७ ॥
जितम् ० ।०। स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १८ ॥
जितम् ० ।०। स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १९ ॥
जितम् ० ।०। स ऋतूनां पाशान्मा मोचि ।०	॥ २० ॥
जितम् ० ।०। आर्तवानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ २१ ॥
जितम् ० ।०। स मासानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ २२ ॥
जितम् ० ।०। सोऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ २३ ॥
जितम् ० ।०। सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि ।०	॥ २४ ॥
जितम् ० ।०। सोऽह्नोः संवतोः पाशान्मा मोचि ।०	॥ २५ ॥

अर्थ — (तस्मात् अमुं निर्भजामः) इत अवरापके कारण हृष उत तानुपर हुमला बकाते हे (अमुं अमुप्यायर्णं अमुप्याः पुत्रं असौ यः) जो इत बोधक्य इतका पुत्र ह्यारा तनु हे । २ ॥ (सः प्राह्याः पाशात् मा मोचि) वह रोपके पाशोति न छुटे ॥ ३ ॥ (तस्य हृद् यन्त्रं तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि) उसका यह तेज बल प्राण और आयुको मे घेला हूं और (हृद् एतं मध्वरात्रं पादयामि) यह मे इतको नीचे गिरला हूं ॥ ४ ॥ ० ॥ ० (सः निर्भृत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुर्गतिके पाशोति न छुटने पावे ॥ ० ॥ ५ ॥ ० ॥ ० (सः अभृत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुरवस्थाके पाशते न छुटे ॥ ० ॥ ७ ॥ ० ॥ ० (सः पराभृत्याः पाशात् मा मोचि) वह पराभवके पाशते न छुटे ॥ ० ॥ ८ ॥ ० ॥ ० (सः देवजामिनां पाशात् मा मोचि) वह इन्द्रियवेषिके पाशोति न छुटे ॥ ० ॥ ९ ॥ ० ॥ ० (सः बृहस्पतेः ... प्रजापतेः ... ऋषीणां ... आर्यपाणां ... आंगिरसां ... आथर्वणां ... आथर्वणानां ... वानस्पत्यानां ... अतूनां ... आर्तवानां ... मासानां ... अर्धमासानां ... अहोरात्रयोः ... मह्य संवतः ... यावापुष्यिनोः

जितम् ० ।०। स छावांशुधियोः पाशान्मा मोचि ०	॥ २६ ॥
जितम् ० ।०। स ईन्द्रान्योः पाशान्मा मोचि ०	॥ २७ ॥
जितम् ० ।०। स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि ०	॥ २८ ॥
जितम् ० ।०। स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि ०	॥ २९ ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकंमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वर्मास्माकं

यज्ञोद्भिन्नास्माकं पृथ्वोऽस्माकं वृत्रा अस्माकं वीरा अस्माकम् ।

तस्माद्वसुं निर्भजामोऽमुमांस्तृष्यावणमस्तृष्यां पुत्रमसौ यः

स मृत्योः पृथ्वीशत्पाशान्मा मोचि ।

तस्येदं बर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वैष्टयाग्नीदमेनमधुराञ्च पादयामि

॥ ३०-३३ ॥

[९]

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकंमृतमस्माकं विद्याः पृथ्वी अरातीः ॥ १ ॥

तदुगिराद् तदु सोम आद् पूषा मां धात्सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥

अगन्म स्वर्गः स्वर्गान्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥

वसुभूयाय वसुमान्यज्ञो वसुं वंशिपीथ वसुमान्भूवासं वसु मर्षिं वेदि ॥ ४ ॥

“ईन्द्रान्योः ... मित्रावरुणयोः ... वरुणस्य राज्ञः ... मृत्योः पृथ्वीशत् मा मोचि) ॥ १०-३२ ॥ यह महत्पत्नी, प्रजापति, ऋषि, ऋषियेति छापत्र, अंगिरस्, अंगिरसेति उत्पन्न, अथर्वं, अथर्वेति उत्पन्न, वनापति, वनापतिर्येति उत्पन्न, ऋतु, ऋतुर्भवे उत्पन्न, महोत्तरे, अर्षमात्, अहोरात्र, जित, द्यु, पृथिवी, इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, राजा वरुण और मृत्युके पाशोति न बन्धे ॥ १०-३२ ॥ (तस्य इदं वर्चः ०) उत्तका यह तेज, कान्ति, प्राण, भाष्टु भाविको मे धेरेता हूँ और उत्तको नीचे गिराता हूँ ॥ ३३ ॥

[९] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा धरम हो, (विद्याः पृथ्वीः अरातीः) सब जन्तुवैवाका निरोध किया है ॥ १ ॥

(अग्निः तत् आद्) अग्निने यह कहा है, (सोमः उ तत् आद्) सोमने यह कहा है । (पूषा सुकृतस्य लोके मां धात्) पूषा मुझे पुण्य लोकमें धारण करे ॥ २ ॥

हम (स्वः अगन्म) आत्माको ज्योतिको प्राप्त होते हैं, (स्वः अगन्म) हम अपने तेजको प्राप्त होते हैं । (सूर्यस्य ज्योतिषा सं अगन्म) सूर्यको ज्योतिने हम संयुक्त होते हैं ॥ ३ ॥

(वसुः भूयाय) ऐश्वर्यकी प्रतिके लिये (वसुमान् भूयाय) धनयुक्त होऊँ (वसुमान् यज्ञः) ऐश्वर्यं धन है (धत्तु वंशिपीथ) ऐश्वर्यं प्राप्त कर्ल । (मर्षिं वसुं वेदि) मुझमें धनको धारणा कर ॥ ४ ॥



दुःस्वभोजन और विजयप्राप्ति

विजयकी प्राप्ति

प्रत्येक मनुष्यको अपने विशयके लिये यात्र करना चाहिये। छोटेसे छोटा बालक भी अपना पराभव सह नहीं सकता, पराभवकी आलस्य होनेपर बालक भी रोता है, पीठता है और पराभवसे दूर भागनेकी चेष्टा करता है। इसी तरह मनुष्यके अन्दर भी पराभवका स्वागत करनेकी इच्छा नहीं होती। सवा अपनी विजय हो, अपना यश बड़े, अपनी कीर्ति दिग्गन्तमें फँके, यही इच्छा मनुष्य करता है। अतः मनुष्यको यह विजय कैसे प्राप्त हो सकना विचार करना चाहिये। इस विजय सूत्रके ९ पर्यायसूत्रोंमें विजयप्राप्तिके लिये आवश्यक तत्वोंका विचार किया है।

विजयके प्रकार

विजयके बहुत प्रकार हैं। एक आध्यात्मिक क्षेत्रमें विजय है, दूसरी आधिभौतिक क्षेत्रकी विजय है और तीसरी आधि वैश्विक क्षेत्रके सयधको विजय है। ये मुख्यतः तीन प्रकारकी विजय हैं। तथापि इत प्रत्येक क्षेत्रकी विजयके भी अनेक प्रकार हैं, उन सबका विचार यहाँ नहीं किया जा सकता, तथापि सुबोधताके लिये उनका पौडासा स्वरूप बताया जाता है।

आध्यात्मिक विजय

आध्यात्मिकक्षेत्रमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्मा, आत्मा, प्रकृति और सब प्रकारकी विकृति आदिका सबध है। इनकी निर्वोध रचना, इनको अपनी मूल प्रकृतिके परिपूर्ण करना और इन सबको आत्मोपनिषत्में निर्दिष्टतया लगानेसे आध्यात्मिक क्षेत्रकी विजय होती है। यहाँ श्रेयैक इन्द्रियकी प्रकृति, उनको विकृति, उद्वेग होनेवाले दोष शरीर, शरीर, उनके गुण आदि सबका विचार आता है। मानो सभी संशयशास्त्र, आरोपशास्त्र, मानसशास्त्र आदि शास्त्र, आध्यात्मिक विजयको सिद्धता करनेके लिये ही मनुष्योंके पास धोये हैं। इसकी सूचना देनेके लिये प्रथम पर्याय सूत्रमें कहा है कि—

निर्दाहः तनुदूषिः मना-हा आत्म-दूषिः इदं तं नातिरुज्जामि ।

' शरीरकी जलन, शरीरके सब दोष, मनके नाशकभाव और आत्मका घात करनेवाले सब विचार, इन सबको मं

दूर करता हूँ । ' इन चारोंमें प्रायः आत्मकी पराजय होनेके कारण बतयाए हैं, विविध रोगोंके कारण अपने शरीरमें दाह, पीडा, कष्ट अथवा दुःख होते हैं, शरीरमें जब दोषका संचय होता है सब ही कष्ट उत्पन्न होता है, तभी विविध रोग होते हैं। मनके दुरे भावोंसे मनकी निरंकता होती है और इस सबसे आत्मका अध पतन होता है। यदि ठीक प्रकार मनन किया जाय और इन चारोंके क्षेत्रोंकी स्थापितका विचार किया जाय, तो यह बात पाठकोंके मनमें ठीक प्रकार जग जायगी, कि मनुष्यके सब वैयक्तिक क्लेशोंको ये चार ही बरें हैं। यदि इनके विषयमें योग्य प्रतिबन्ध किया जाय, तो आध्यात्मिक क्षेत्रमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त होगी। पूर्वोक्त चार धर्मोंके प्रति शब्द जाननेसे ही विजयके साधन ज्ञात हो सकते हैं—

शमः तनुशुद्धिः मनःशुद्धिः आत्मशुद्धिः ।

ये चार धर्म हैं जिनसे पूर्वोक्त चार दोष दूर हो सकते हैं। इन्द्रियवचन, इन्द्रियशमन आदिसे शरीरका दाह दूर होता है और शरीरमें सर्वत्र शान्ति होती है, तनुशुद्धिसे शरीरके सब दोष दूर होते हैं, मनकी एविक्रमतासे मनका मल बह जाता है और आत्मशुद्धिसे आत्मोपनिषत् होती है। इस तरह विचार करनेपर ज्ञात होगा कि आध्यात्मोपनिषत्के ये चार साधन हैं और इसी लिये पूर्वोक्त चार रोगोंको दूर करनेकी सूचना प्रथम पर्याय सूत्रमें की है। धीमद्भूगव्योतामं इती ज्यैष्ठ्यसे कहा है—

ध्यायतो विषयान्बुंसः सगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते दामः कामात्कोषोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधोद्भवति लमोहः संमोहात्सुस्तिविश्रमः
स्मृतिश्रेयाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवद्वैविधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु मुक्तिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

(भ. गो. २)

' विषयोंके चिन्तनसे आसक्ति, आसक्तिसे कामना, कामनासे दोष, क्रोधसे मूढता, मूढतासे बुद्धिनाश और बुद्धि-नाशसे मनुष्यका सर्वनाश होता है। परंतु जिसका मन शान्त है और जिसकी इन्द्रियाँ रागद्वेषरहित हैं, वह इन्द्रियोंके कार्य करता हुए भी प्रसन्न रहता है, चित्त प्रसन्न रहनेसे सब

बुद्ध दूर होते हैं और उसकी वृद्धि भी स्थिर होती है। ' इन श्लोकोंमें आध्यात्मिक दुःखोंके कारण कहे हैं और उनके दूर करनेके उपाय भी कहे हैं। अतः ये श्लोक आत्मविनयके विषयका विचार करनेके समय बड़े बोधप्रद हो सकते हैं। वस्तु, इस प्रकारके जो जो बोध शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्मानें होते हैं वे क्या करते हैं देखिये—

दृग्जन्, प्रमृणन्, प्रोक्तः, खनः । (पर्याय सू. ११२-३)

कहाँ धीप होते हैं वहाँ वे ' सोचते हैं, मरोचते हैं, कुचलते हैं, खोदते हैं, काटते हैं, खोदते हैं, गढा करते हैं ' इस तरह अनेक रीतिले नाश करते हैं। काम और शोभते समय अपने अंदर देखने पर स्पष्टतया पता लग जायगा, कि ये काम और श्रेय मनुष्यके शरीरमें किय प्रकार सोचने, मरोचने, खोदने और नाश करनेके काम करते हैं। काम तो शरीरका आधारभूत जो बोर्य उसे ही नष्ट करता है, शोभते तो धूमके शोषणविशु ही नष्ट होते हैं; इसी प्रकार सय विकार सोचने, मरोचने और नाश करनेवाले होते हैं। इतलिये आध्यात्मिक भूमिकाके इन सब जड़ोंको दूर करना चाहिये। अतः कहा है—

यं वयं द्विष्मः, तं अवि अतिरुजाम । (मं. ११५)

प्रोक्तः खनिं तनूदुर्धि अतिरुजामि । (मं. ११७)

' जिस रोगरिसे और विविध बोधोंसे हम द्वेष करते हैं, अर्थात् उनको अपने पास रखना नहीं चाहते, उनको हम दूर करते हैं। पातक, जोषक और शरीरमें बोध बढ़ानेवाले सब बोधोंके हम दूर करते हैं। ' यह बोधोंको दूर करना इतलिये है कि अध्यात्मक्षेत्रके सब बोध दूर हों और प्रसन्नता विराजें। इसी विषयमें और देखिये—

यत् सः योरं तत् (अतिरुजामि) । (मं. ११८)

अतिप्राः व्यापः अस्मत् पचः प्रयत्नः । (मं. ११९-१०)

आप्रः क्षिप्रया तन्ना सा उपरुद्रातः । (मं. ११९३)

इन्द्रस्य इन्द्रियेण धीमपिञ्जैतः । (मं. ११९)

' जो आत्मके अवर भयंकर हानिकारक बोध हो उसको मैं सबसे प्रथम दूर करता हूँ। बोध दूर करनेके लिये जलसे चिकित्सा करना योग्य है। मूढ़ अल हमारे शरीरोंसे सब बोध और सब पापोंको दूर करे। जल अपने मृभगुणसे मेरे शरीरको स्वयं करे। इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्तिले अभि-
वेक घिया आवे। यहाँ जलचिकित्सासे शरीरके सब बोध दूर करनेका उपदेश है; यह अत्यंत महत्वका है। शरीरमें जो कोई बोध होंवे उसको जलके विविध प्रयोगोंसे दूर करनेका

नाम जलचिकित्सा है। शरीरको शीतजलका स्पर्श कुछ देने-
वाला जब सपता है, तब सपनाला चाहिये कि शरीर स्वस्थ है। जब मूढ़ शीतजल स्पर्श कष्ट देने लगता है, तब जानना चाहिये कि कुछ बोध शरीरमें हैं। ये सब बोध जलचिकित्सासे दूर करने चाहिये और इन्द्रकी शक्तिले जलसे स्नान करना चाहिये। जिस प्रकार जलके स्नानसे सब शरीर भोगता है, उसी प्रकार आत्माकी शक्तिले सब शरीर तंबा-
रित होना चाहिये। सब शरीरभर आत्मशक्तिका सुखसे संघार होगा चाहिये। इससे—

मयि क्षुभं वर्चः आघसतः । (मं. ११२३)

' मनुष्यमें क्षात्रबल और तेजस्विता बढ़ेगी। ' अल ही यह सब काम करेगा। अलचिकित्सासे ही बोर्य बढ़ेगा, बोध दूर होंगे और शरीरको कान्ति भी बढ़ेगी। इस प्रकार शरीर का उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होगा। यह स्वास्थ्य मनुष्योंको प्राप्त ही इसीलिये—

अपां वृषभ अतिरुष्टः ।

दिव्याः भग्नयः अतिरुष्टाः । (मं. १११)

' जलोंको वृष्टि करनेवाला शेष अपने स्वानसे मुक्त हुआ अर्थात् उससे वृष्टि होगयी, दिव्य अग्नि जो विनाशिया हूँ वे भी जलोंकी रीतिले प्रकाशित हो रही हूँ। ' अर्थात् विद्येय वृष्टि हुई है। परमेश्वरीय नियमसे जो वृष्टि हो रही है इसका हेतु यह है कि, मनुष्य उससे स्वास्व्य प्राप्त करे और अपनी आध्यात्मिक उन्नति सिद्ध करे। यहाँ आत्मिक उन्नति का उपदेश देते हुए मयके दुष्टान्तरे सब लोगोंको कहा है कि जैसे शेष जयत्की भलाईके लिये मूर्खतासे आश्रयनार्थन करता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको जगत्की भलाईके लिये आश्रयन करना चाहिये। इतने विचार इत मायके प्रथम पर्याय मुक्तमें मुख्यतः कहे हैं।

इंद्रियशुद्धि

आत्मोन्नतिके लिये इंद्रियको परिव्रताकी आवश्यकता होती है। परिव्रताके बिना किन्तोर्ये उन्नति होना संभवा असंभव है। अतः द्वितीय पर्यायमूकधमें अपनी परिव्र-
ताका विषय संक्षेपसे कहा है। सबसे पहिले सब मनुष्योंको एक आश्रय उत्तम उपदेश दिया है—

दुः-अर्मण्यः निः । (मं. २११)

' दुष्ट रीतिकी पति अर्थात् वृत्र भालचलन, दुष्ट व्यवहार दूर हो, हमसे निःशोषतया दुष्ट व्यवहार दूर हो। ' हमारे

अन्तर दुष्टगति करनेवाले भाव न रहे और हमारे समाजमें बुराचारी मनुष्य न रहें। इस प्रकार एक व्यक्तिका सुधार हो और उसी नियमसे समाजका भी सुधार हो। व्यक्तिके सुधारके और समाजके सुधारका नियम एक ही है। व्यक्ति के सुधारके लिये दुष्ट गुणोंको दूर करना होता है और समाजके सुधारके लिये दुष्टगुणसि युक्त मनुष्योंको दूर करना होता है। दुष्ट मनुष्योंको दूर करनेका अर्थ ही समाजसे दुष्ट गुणोंके आशयस्वान्न दूर करना, एव सर्वत्र उपरतिका नियम दुष्टकारको हटाना ही है। इस तरह सर्वसाधारण उपरतिका उपदेश करके पदचातु विशेष स्पष्टीकरण करनेके उद्देश्यसे कुछ इतिवृत्तोंका नामनिर्देश करके अन्तमसुधारका मार्ग दर्शाया है—

ऊर्जा मधुमती वाक् । मधुमती वाचं उद्वेयम् ।

(मं. २।१-२)

'वाणी मीठी हो और बलशालिनी हो, मनुष्य मीठी और बलयुक्त वाणीसे आपसमें बातचीत करें।' मनुष्योंके अन्तर जो झगड़े किंसाद होते हैं, उसका कारण कटु शब्दोंका प्रयोग है। मनुष्यके मनमें जो विष भरा रहता है, यह कटु शब्दों द्वारा बाहर आता है और सब स्थानमें विषैला वायुमंडल उत्पन्न करता है। इसलिये मनुष्य अपनी अन्त-शुद्धि करेगा, तो उससे कदापि कटु शब्दोंके प्रयोग नहीं किये जायेंगे।

मनुष्य ऐसे शब्दोंका प्रयोग करे कि वे मीठे हों, धाम्नीयोंके मित्रता ही और उत्पन्न हुए मित्रता सुख ही प्रायः। केवल शब्दोंकी मत्पूरता ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत शब्दोंमें (ऊर्जा) बल चाहिये। वक्ताहकी वृद्धि करनेवाले शब्द उच्चारने चाहिये। नहीं तो कई मनुष्य अपने ही पुत्रको 'मुलाम' करके पुकारते हैं, इतारको 'तू मरेगा' करके कहते हैं, 'तू बड़ा हुराम है' ऐसा कहते हैं। ऐसे शब्दोंसे अपनी वाणी तो मलीन होती ही है, परन्तु ये शब्द ओ ओ सुनते हैं उनके मनमें भी निर्विकलाका वायुमंडल उत्पन्न होता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह उक्ताहमूर्त बलशाली प्रभावपूर्ण शब्दोंका प्रयोग करे। अपने पुत्रको 'तू इन्द्र है' ऐसा कहे, 'तू अमर होगा' ऐसा बोलें, 'तू सत्यस्वरूप है' 'तू स्वयं आनन्दपान है' ऐसा कहें। ऐसा बोलनेसे सब सुननेवालोंके मनमें वक्ताहका वायुमंडल उत्पन्न होता है। मनुष्योंके नाम भी 'कूदराम' रखनेके स्थानमें 'निर्मलराम' ऐसे रखें। जिससे प्रायिक समय वह शब्द उच्चारनेसे दाम्निविचार उत्पन्न हों। प्रत्येक पाठक निश्चयपूर्वक ऐसा मन्त्र करे कि, अपनी

वाणीसे कदापि धमम विचार न प्रकट हों और सब उक्ताहम विचार हो प्रकट हों। इसलिये मनुष्यको क्या कला चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर यहाँ केवल ये ही शब्दों द्वारा 'गो-या और गो-पीयः' ये दो शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मनुष्योंका सपूर्ण सत्यपमं इन शब्दोंमें आचूक है। 'गोप' का अर्थ है, इन्द्रियोंकी रक्षा और 'गोपीयः' का अर्थ है इन्द्रियोंकी पालना। एकसे शक्तिवर्धन करनेका उपदेश मिलता है और दूसरेसे इन्द्रियोंके सत्यपमं बोध मिलता है। जैसे गोरक्षा करनेवाले गौको उत्तम पास आदि जानके लिये नेते हैं और दुष्ट करते हैं और उनको इतस्तत, घूमने नहीं देते, इसी तरह मनुष्य अपनी इन्द्रियोंकी शक्ति बचावे और उनको बसमें भी रखे। मनुष्यकी उपरतिके लिये इस प्रकार इन्द्रिय-सत्यपमं और मनोनिग्रहकी अत्यन्त आवश्यकता है। जो ऐसा सत्यपमं करनेवाले हों वे ही (उपहृतः) पास चलाने योग्य हैं और जो लोग अपने इन्द्रियोंकी स्वेच्छाचारी करते हैं, वे सत्पानमें आवरते चलाने योग्य नहीं हैं। आगे कानोंके विषयमें बड़ा उत्तम उपदेश दिया है—

मद्भ्रुतौ कर्णौ । सुध्रुतौ कर्णौ । भद्रं श्लोकं ध्रुतौसम् । सुध्रुतिः उपध्रुतिः च मा मा हासिद्याम् ।

(मं. २।४-५)

'मेरे कान अच्छे उपदेश सुनें, अच्छे उपदेशोंसे मेरे कान सुने हुए हों। कल्पान करनेवाली वाणी में सुनार कलः उत्तम उपदेश सुनने और दूसरे अच्छे शब्द सुननेको शक्ति मेरी कभी क्षीय न हो।' यहाँ कर्णोंकी सार्वकलाका स्थापन दर्शाया है। ईश्वरने मनुष्यको कान इन्द्रियोंके विषे है कि, उनसे मनुष्य सदा उत्तम उपदेश सुने कभी भ्रूरे शब्द न सुने। आदेश में भी कहा है—

भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

(ऋ. १।८१।८)

'हम कानोंसे कल्पानकारक उपदेश सुनें और आँखोंसे कल्पानकारक वस्तु देखें।' ये सब उपदेश इसीलिये हैं कि इनसे मनुष्यका सुधार हो, मनुष्य पवित्र बने और उत्तम हो। इस प्रकार कानोंके विषयमें कहनेके पदचातु नेत्रके विषयमें भी कहा है—

सौपर्णं शश्रुः अन्नम् । (मं. २।५)

'गडके समान मेरी तीक्ष्ण दृष्टि हो' और वह उत्तम कल्पानकी वस्तु देखे। इस प्रकार इन्द्रियशुद्धिके विषयमें इस पर्याप्तसुक्तमें कहा है। यही—

‘अपीनां प्रस्तरः अस्ति । देव्याय प्रस्तराय नमः ।
(म. २।६)

‘सू ऋषियोंका प्रस्तर है । इस दिव्य प्रस्तरके लिये नमस्कार है ।’ ऋषियोंकी षट्पान्ना जाता है । यही दिव्य षट्पान्ना है । इसके विषयमें प्रत्येकवे अपने अन्त करणमें मृत्प भाव धारण करना चाहिये । इसी भावनाकी उपासनासे सब का श्रित होनेवाला है । यहाँ तक उपदेश इस त्रितीय पर्याप्त-मूलतमें कहा है ।

आधिभौतिक विजय

पूर्वोक्त प्रकार मनुष्यकी आध्यात्मिक और वैश्ववित्तक उप्रति होनेके बदलात् उसकी अपनी आधिभौतिक विजय स्थापन करनेका यत्न करना चाहिये । इसका विचार इस १६ वें काण्डके तृतीय पर्याप्तमूलतमें किया है, वह बोधप्रद उपदेश पाठक शक वेले—

अहं रयीणां मूर्धा भूयासं ।
समानानां मूर्धा भूयासम् । (म. ३।१२)
अहं रयीणां नाभिः भूयास ।
समानानां नाभिः भूयासम् । (म. ४।१-२)

‘मैं धरतीका स्वामी और केन्द्र बनू । मैं समान दलोंके लोगोंमें मुखिया और उनका मध्य केन्द्र बनू ।’ अपनी योग्यता नेता बनने योग्य होनेकी चाहिये । प्रत्येक मनुष्य नेता नहीं हो सकता तथापि यदि बहुगुणसंपन्न बननेका यत्न प्रत्येक मनुष्य करेगा तो उसका अवश्य सुधार होगा । इस

सैनस्यो बने । (वेनः) इच्छा अर्थात् अपने वैश्ववित्तक, सामाजिक और राष्ट्रीय महत्त्वको इच्छा । इसी इच्छासे मनुष्य पुण्यार्थी होता है और विशेष श्रेष्ठ कर्म करता हुआ अपना और समाजका उद्धार करता है । (मूर्धा) शिर अर्थात् मस्तिष्क । मनुष्यकी योग्यता उच्च वा नीच होना उसके मस्तिष्ककी शक्तिपर निर्भर है अतः मनुष्यको बतित है कि वह अपनी मस्तिष्कको शक्ति बढ़ावे । (विधर्मो) विशेष धर्मसे युक्त बनना । साधारण गुणकर्मों और धर्मसे युक्त होनेसे मनुष्य साधारण ही हो सकता है, परंतु उसकी विशेष योग्यता होने हो, यदि वह समाजका और राष्ट्रका केन्द्र बननेका इच्छुक हो, तो उसको उचित है कि वह अपने अन्तर विदेव धर्मोंकी वृद्धि करे । सामान्य मनुष्यमें जो धर्म नहीं होते ऐसे धर्म तबस्थाविते अपने अन्तर बढ़ाने चाहिये । (उल्लः स्वामसः) ये यज्ञवान हैं, ये यज्ञके सब साधनोंके उपलक्षण हैं । सब प्रकारके यज्ञ करनेसे और यज्ञमय यत्नरूप जीवन होनेसे ही मनुष्यकी योग्यता बढ़ती है । मनुष्य क्रतुव्य होना चाहिये । शतक्रतु बनना मनुष्यका ध्येय है । (धर्ता) धारण करनेवाला, समाजकी धारणा, राष्ट्रको धारणा, धर्मकी धारणा करना मनुष्यका कर्तव्य है । दूसरे शब्दियोंकी अपनी शक्तिका आधार देना धर्ता होता है । (धरुण) इसका भी धारक हो अर्थ है, इसमें बल लयिक है । स्वयं शिपर उद्धार दूसरोंकी दुःख समुद्रसे पर करनेके लिये अपना आधार देनेका कार्य करना मनुष्यको योग्य है । मनुष्यको इतनी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये ।

ये बारह शब्द मनुष्यके विशेष कर्तव्य बता रहे हैं। मनुष्य ये कर्तव्य करें। ये कर्तव्य मनुष्यसे कदापि दूर न हों। इन कर्तव्योंके विषयमें मनुष्य कदापि विमूढ़ न हों। इन धर्मसि और इनके बोधित होनेवाले कर्तव्योंसे जो पुण्य युक्त होते हैं वेही भेद्य और उच्च होते हैं। यहां कई निर्बल मनुष्य कहेंगे कि हृद्य निर्बल है, हम इन गुणधर्मोंको धारण नहीं कर सकते, इनके लिये आत्माका रचनाय कंता है यह बात इसी सूक्तके मध्य स्थय कहते हैं—

आत्मा वृहस्पतिः नृमणः हृद्य । (म. ३।५)

विध्वंसना समुद्रः अस्मि । (म. ३।६)

मस्तेषु अमृतः स्या । (म. ५।२)

'आत्मा ज्ञानयुक्त है, मनुष्योंके हृदयमें निवास करता है, मनुष्योंके अन्दर मनन करनेवाला है, अपने विशेष धर्मसे वह समुद्र जैसा फेला हुआ धमीर है। मरण धर्मवाले शरीरमें यह अमर है और उत्तम तेजसे युक्त है।' ये अपनी आत्माके गुणधर्म हैं यह जानकर, दिवारसे और मनसे इन गुणोंका साक्षात्कार करे। इस ज्ञानसे मनुष्यकी निर्बलता दूर होगी और वह पूर्वोक्त गुणोंको अपने अंदर बसानेमें सफल होगा। इस तरह आत्मिक बल प्राप्त होनेसे—

अस्तापं हृदय । उर्ध्वं गच्छति । (म. ३।६)

'हृदय सतय रहित अर्थात् शान्त होता है और मोनाम इन्द्रियोंकी गति यही विशुद्ध होती है।' अपनी सब शक्ति बढ़ती है। प्रभावशाली जीवन ही जाता है। आत्माकी शक्ति उसके सब व्यवहारमें दीखती है और वह भयकर प्रतापमें भी शान्त और गभीर ही कार्य करता है, कभी अज्ञान नहीं होता। शरीरके नाश होनेपर भी मैं अमर हूं यह उसका विश्वास उसके निबर करता है और महान् संकर्म जतने करता है। ऐसी अवस्थामें सब देव उसके रक्षक होते हैं—

सूर्यं वायुं अग्निः यमः सरस्वती... पातु ।
(मं. ४४)

'सूर्य, वायु, अग्नि, यम और सरस्वती उससे रक्षा करते हैं।' सूर्य मंत्रस्थानमें, वायु प्राणके स्थानमें, अग्नि धारीके स्थानमें, यम शिस्तस्थानमें, सरस्वती बुद्धिस्थानमें रहकर उसकी हर एक प्रकारकी सहायता देते हैं और उसको अपनी विषय शक्तिते पवित्र करते हैं। आत्मशक्तिते युक्त पुण्यके इस तरह सब देव सहायक होते हैं। यह विषय इससे पूर्व भी आचुका है और यद्यपि यह धारवार कहा गया है। इच्छित्ये जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता है और अपना जीवन

यत्नरूप बनाता है उसको सब देवताओंकी सहायता होती है, यह विश्वास पाठक मनमें धारण करें। ऐसा मनुष्य विषय होकर व्यवहार करता है और इच्छित्ये यह मनुष्य सबका नेता बनने योग्य होता है। यह कहता है कि—

प्राण मा मा हासीत् । अपानः अघहाय मा परावात् ।
(म. ५।३)

'मेरा प्राण और अपान मुझे छोड़कर न दूर जाये।' यह ऐसा इच्छित्ये कहता है कि उसने अपना सब जीवन ईश्वरकी भक्ति और सेवाके लिये समर्पित किया होता है, यह अपने जीवनसे जनताकी सेवा करना चाहता है। अपना प्राण यह ईश्वरके लिये ही समर्पित करना चाहता है। अन्य कार्यका रक्षण भी नहीं है। यह जानता है कि—

भिन्नावरुणौ मे प्राणापानौ । शक्रः आयुः स्वस्ति ।
(म. ५।४)

'अपने प्राण और अज्ञान ये अब प्रत्यक्ष मित्र और वरुण देवता हैं और जल्के अन्दरका सब सामर्थ्य मेरा कल्याण करता है।' इस तरह वह देवता है और अनुभव करता है कि अपना सब देह और जीवन देवतामय हुआ है। इस समय वह शुद्ध कल्पनासे पूर्णतया दूर होता है, सब उन्नत देवतास्य स्वरूप बनता है, वह सहज ही भित्तिये प्रशस्त कार्य करता है, उसको बंधे, कार्य करनेके लिये कोई प्रयास नहीं होते, क्योंकि यह विश्वरूप बना होता है। इस समय यह अनुभव करता है कि—

आग्निं मे दक्ष । (म. ५।४)

'अग्नि सब धारण करता है।' अन्य देव मुझमें अन्याय सामर्थ्य धारण करते हैं। इसकी आत्मा प्रत्यक्ष ईश्वरीय गुणोंसे प्रभावशाली हुई होती है। ऐसे महत्तमा वन्य हैं, यही प्रभाव शक्तिये श्रेष्ठ हो शक्य है और यही लोकप्रभु करनेमें शर्म होता है और यही मनुष्य जगत्की सबका मार्ग बता सकता है। पुण्यमार्गमें ऐसे सत्यदेव आते हैं और जनतामें प्रत्यक्ष कार्य करते हैं और यद्यपि वे पढ़कर सबनेवालोंको प्रवृत्तियुक्तिता मार्ग बताते हैं।

स्वम

आगे पंचम और षष्ठ इन दो पर्यायसूक्तोंमें स्वयंका विषय कहा है। इस सूक्तमें मुख्य स्वयंके जो कारण दिये हैं वे ये हैं—

प्राज्ञाः निर्ऋत्याः अमृत्याः निर्ऋत्याः परा-
भृत्याः देयजामर्ता पुत्रः स्वमः । (म. ५।१-८)

‘ रोग, बुरबसा, चारित्र्य, दुर्गति, पराभव और इद्रियरोग इनके कारण बुद्ध स्वप्न आते हैं। ये बुद्ध स्वप्न मानो मनुष्य के सदेस हैं। इसलिये बुद्ध स्वप्न होते ही मनुष्यको उचित है कि अपने अन्तर भी रोगभीज हों, उनको दूर करनेका यत्न करें। बुद्ध स्वप्नके भी कारण यहाँ विद्ये हैं उनका भी पोषाता अधिक विचार यहाँ करना चाहिये। (प्राणी) भवान्क रोग जो शरीरमें जानेपर सहसा शरीरको छोडते नहीं और दूष देते देते अन्तमें प्राण हरण कर लेते हैं। ऐसे रोगोंके शरीरमें होनेपर बारबार बुद्ध स्वप्न होते हैं अतः यदि इन रोगोंके बुद्ध स्वप्न होते हैं तो उनको दूर करनेके लिये चिकित्सकद्वारा रोगबीजोंको दूर करना चाहिये। शरीर निर्दोष और निरोग करना चाहिये। इस कामके लिये इसी काममें पूर्वस्थातमें जलविक्रिस्ताका उपाय बताया है। (निर्भूति) श्रुतिका अर्थ है उन्नति, शम्भुत्व, सम्यक्ता और सामर्थ्य। इसके विरुद्ध अर्थ निर्भूतिका है। अवनति, क्षय प्राप्त, क्षीणता और निर्बलतासे भी बुद्ध स्वप्न आते हैं। इनको दूर करनेके लिये जो आवश्यक उपाय हों उनको काममें लाना चाहिये (अभूति) ऐश्वर्यमें होन होना और (निर्भूति) महासकटमें पडना तथा (पराभूति) पराभव होना, पराक्रम, पराधीन और परवस होना इन कारणोंसे भी बुद्ध स्वप्न आते हैं। इन कारणोंको दूर करनेके लिये बहुतसे उपाय हैं, प्रायेंकके लिये विभिन्न उपाय होते हैं। अतः उनका अवलम्बन योग्य रीतसे करना चाहिये। मुख्य उपाय स्वाध्यायसे स्वाधीनता प्राप्त करना है। (वैद्यज्ञानी) अपने शरीरमें देव नाम इन्द्रियोंका है, उनकी सक्तिप्राप्तिविधि हैं इनकी स्मृतिशक्ततासे भी बुद्ध स्वप्न आते हैं। इस कारण सपत्नारि द्वारा अपने इन्द्रियोंको निर्दोष, निरोग और स्वस्थ रखना अत्यंत आवश्यक है। अर्थात् इस तरह अपने अन्तर और अपने दायमें जो जो बुद्ध स्वप्नके कारण उत्पन्न हों, उनको दूर करना मनुष्योंका कर्तव्य है।

मनुष्यकी परीक्षा स्वप्नसे होती है। मनुष्यको कौन स्वप्न होते हैं, इसपर वह स्वप्न है या रोगी है, सवाचारी वा बुध-चारी है, सुभ विचारवाला है वा अधुभ विचारवाला है इत्यादि विनय्य होता है। मनुष्य यदि ‘ मे ईश्वर उपासना कर रहा है, श्रद्धाभावमें श्रद्धिपूर्वक धार्मिकताय गुन रहा है, सत्पुरुषोंका समागम हो रहा है।’ ऐसे गुन स्वप्न देते अथवा बिलकुल स्वप्न हो न वेसे तो समझना चाहिये कि उसका शरीर स्वस्थ है। अन्यथा बुरे स्वप्न आने लगे तो स्वास्वयमें कुछ न कुछ बिपाय है, ऐसा मानकर उसके गुणारका यत्न करना चाहिये। अतः कहा है—

यस्मात् दुःखयथात् अभ्यैत तत् अपउच्छतु ।
(म ६१२)

‘ जिस दुःखस्वप्नसे हमें भय होता है वह दुःखस्वप्नका कारण हमसे दूर होवे।’ यह कारण किसी बुरे स्वप्नवर जावे, (पारे पास न रहे। इस प्रकार अपने आपकी निर्दोष-ता सिद्ध करनेपर ही वह निर्दोष मनुष्य कह सकी है कि—
मय अजैभ्य, अथ असनाम, दय अनागस्य अभूम ।
(म ६११)

‘ आज हमने विजय प्राप्त की है, आज जो हमारा प्राप्तय था वह हमने प्राप्त किया है क्योंकि हम विजय ही चुके हैं।’ निव्याण होनेसे ही सब प्राप्तय प्राप्त हो सकता और विजय प्राप्त होती है। विजय प्राप्त करनेकी यह कुली है। पश्यते जो उन्नति प्राप्त होनेका भय होता है वह केजाड भासनाप्र है। उद्यमं पशुरी अवनतिके बीज रहते हैं, अतः पाठकोंको यह स्पष्ट रखना चाहिये कि वेबके ज्ञानाके अनु-सार विजय पश्चात्परसे जो उन्नति प्राप्त होती है वही प्राप्त करनी चाहिये और पशु चिरस्वायो होवी।

आगे सप्तम सूक्तमें इंधीको दूर करना अपना नाम करने का विषय कहा है। यह सूक्त स्पष्ट होनेके कारण उसके अधिक स्पष्टीकरणको कोई आवश्यकता नहीं है। यह दानु अत्यात्मभूमिकामें रोग, बुधिवार आदि हैं, जाविर्भीतिक भूमिकामें वृजं दानु हैं। दोनों स्थानोंमें जो भी दानु विनाश करता हो, उसको हत्याना चाहिये। तभी विजय प्राप्त हो सकती है।

विज्ञय

अटस सूक्तमें अपने विजयप्राप्तिका एक मंत्र है, यह मंत्रके चरित्रधर्मोंको कथ करके बोध है, वह मंत्र सब देसिये—

वस्माक जितं, उद्भिन्न, श्रुत, तेजः, प्रसू, स्या,
यसः, पशय, प्रज्ञा, यौराः ॥ (म. ८१)

इस मंत्रका मंत्रके अर्थ महासूक्तमें भावसे दूत होनेके कारण यहाँ प्रायेंक नामका विशेष विचार करते हैं—

(जितं) यह सब प्रकारके दानुओंपर विजय है। आत्मा-दिक, जाविर्भीतिक, श्रद्धिपूर्विक दानुओंपर विजय प्राप्त करना यह अपनी शक्ति बढानेसे ही हो सकता है। (उद्भिन्नं) यह अपने सब प्रकारके मनुष्यसे काम होने-वाली बात है, अपनी शपदना, अपना परिश्रमिकाम अपने अन्तरको प्राप्ति, अपनी तेजोवृद्धि आदिसे यह सिद्ध हो

सकता है। पहिला विजय शत्रुपर संपादन किया जाता है, यत् अपनी आंतरिक मुस्विपतिपर निर्भर होता है। (न्त) श्रुतका अर्थ है ठोक मार्ग, सरलता, योग्य व्यवहार जिसमें सेकायन नहीं है। प्रत्येक व्यवहारमें इस प्रकारकी सरलता रहेगी तो ही पूर्वोक्त विजय साध्य होगा। (तेजः) तेज विचिता, प्रभाव, उपरता आदि गुण भी विजयके सहचारी हैं। (ब्रह्म) सत्यतान, आत्मसामर्थ्य, वितान, वेदज्ञान यह तो नि सदेह ष्टके साथ ही रहेगा। अमृतके साथ इसका होना संबंधा असंभव है। (स्व. स्वर्) आत्माका प्रकाश, शक्ति यत्, अपने पुष्पकामसे प्राप्त होनेवाला पुष्पलोक। (यत्) श्रेयपूजा, सर्वाधिकरण और दास्य श्रेष्ठतम काम, यज्ञसे ही सचकी सिपति और उत्पत्ति होती है। (पशव.) घो, बिल, घोड़े आदि पशु मनुष्यका संभव बढ़ाते हैं। (प्रजाः) सतती, पुत्रपुत्री आदि अपवा प्रजाजन्त। (धीरा.) धीरपुत्र तथा धीर्यात् लोग अपवा श्रुदीर। पाठक विचार करेंगे तो उनके पता लग सकता है कि वे सब विजयके सहचारी गण हैं।

इस अष्टम पर्याप्तसूक्तमें जो आगे कथन है वे तो शत्रुको कुचलनेका प्रोत्साहन देनेवाले अर्थवाचके मन्त्र हैं, अतः उनके विषयमें विशेष लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसके परभाव अन्तिम नवम पर्याप्तसूक्तमें चार ही बचन हैं, परन्तु

वे निम्न स्मरण रखने योग्य महत्वपूर्ण हैं—

जित अस्माक, उद्भिन्न अस्माक,
विश्वा वरातीः पूतना । (म ११२)

'हमारी विजय, हमारा उदय और शत्रुकी सब सेनाओं का पूर्ण पराभव करनेका सामर्थ्य हम अपने अन्दर बढाते हैं।' तथा—

पूषा सुहृत्स्य लोके मा धात् । (मं ११२)

'ईश्वर मुझे पुष्पलोकमें पारण करे' ऐसा मैं सदापारो, दृढ, पूत और पवित्र बन्। तथा—

स्वः अगन्म, सूर्यस्य ज्योतिषा अगन्म ॥ (म. ११३)

'आत्माका तेज प्राप्त करे, सूर्यकी ज्योतिसे मिले।' तथा—

वस्योभूयाथ वसुमान् भूयासम् । वसुमान् यथा ।
धसु वशिपीय । (म ११४)

'बहुत धन प्राप्त करना चाहिये, मैं धनयुक्त हो जाऊँ। क्योंकि धनसे यत् होता है, इसलिये यत्में धन करनेके लिये मुझे धन चाहिये।'

ये सब चारोंके धारों मन्त्र इतने उत्तम भावसे परिपूर्ण हैं, इतने सरल हैं और इतने सुबोध हैं कि मानो यही इस सब कामका तार है।

अपने अभ्युदयके लिये अर्थना

कांड १७, सूक्त १

(श्वि - ब्रह्मा । देवता - अश्विण. ।)

विपासहिं सईमानं सासहान सहीयांसम् । सईमानं सहोजितं स्वजितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमाधुष्मान्भूयासम् ॥ १ ॥

विपासहिं सईमानं सासहानं सहीयांसम् । सईमानं सहोजितं स्वजितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियो देवाना भूयासम् ॥ २ ॥

अर्थ— (विपासहिं) अत्यन्त समर्थ, (सहमान) अत्यन्त बलवान्, (सासहानं) निम्न विजयो, (सहियांसं) शत्रुको बचानेवाले, (सहमान) म्हाबलिष्ठ, (सहोजित) बलसे विजयमय करनेवाले, (स्व. जित) अपने सामर्थ्यसे जीतनेवाले, (गो-जित) भूमि, इन्द्रियों और गोशौंकी जीतनेवाले (संधनाजित) धनको जीतकर प्राप्त करनेवाले, (ईड्यं नाम ह्व) प्रगतनीय यज्ञवाले प्रभुको मैं (ह्व) प्रशंसा करता हूँ, जिससे मैं (आयुष्मान् भूयास) दीर्घायु होऊँ ॥ १ ॥ ०।० (देवता प्रियः भूयास) मैं देवोंका प्रिय बन् ॥ २ ॥

विपासहिं सईमानं सासहानं सहीयांसम् । सईमानं सहोजितं स्वजितं गोजितं संघनाजितम् ।
ईदर्थं नाम ह्य इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥ ३ ॥

विपासहिं सईमानं सासहानं सहीयांसम् । सईमानं सहोजितं स्वजितं गोजितं संघनाजितम् ।
ईदर्थं नाम ह्य इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम् ॥ ४ ॥

विपासहिं सईमानं सासहानं सहीयांसम् । सईमानं सहोजितं स्वजितं गोजितं संघनाजितम् ।
ईदर्थं नाम ह्य इन्द्रं प्रियः सभानानां भूयासम् ॥ ५ ॥

उद्विष्ठादिहि सूर्यं वर्षसा माम्युदिहि ।
द्विपंध मधं रष्यतु मा चाहं द्विपते रंधं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।

त्वं नः पूर्णाहि पशुभिर्विधरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन् ॥ ६ ॥
उद्विष्ठादिहि सूर्यं वर्षसा माम्युदिहि ।

यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पूर्णाहि पशुभिर्विधरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन् ॥ ७ ॥

मा त्वां दमन्तलिले अप्सवन्तये पाशिनं उपतिष्ठन्त्यत्र ।
द्वित्वाश्रितं दिवमारुक्ष्यं पूर्वां स नो मृड सुमती तं स्वाम तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।

त्वं नः पूर्णाहि पशुभिर्विधरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन् ॥ ८ ॥
त्वं नः इन्द्र महते सोममायादध्वेभिः पयि पाशुक्तभिरस्त्वोद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।

त्वं नः पूर्णाहि पशुभिर्विधरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन् ॥ ९ ॥

अर्थ— ०१०० (प्रजानां प्रियः०) प्रजाओंका प्रिय होऊँ ॥ ३ ॥ ०१०० (पशूनां प्रियः०) पशुओंका प्रिय होऊँ ॥ ४ ॥ ०१०० (सभानानां प्रियं भूयासं) सभान योग्यतावाले पुरुषोंको भी प्रिय बनूँ ॥ ५ ॥

हे (सूर्य) सूर्य ! (उद्विहि उद्विहि) उदय हो, उदयको प्राप्त हो । (वर्षसा मा अभ्युदिहि) अपने तेजसे उदित होकर मनुष्य परां ओरते प्रकाशित हो । (द्विपन् च मधं रष्यतु) मुझसे द्वेष करनेवाला मेरे पशुमें ही जाय, परंतु (अहं च द्विपते मा रंधं) मैं द्वेष करनेवाले पशुके वध करी न होऊँ । हे (विष्णो) व्यापक ईश्वर ! (तय इत् बहुधा वीर्याणि) तेरे ही वीर्यं अनेक प्रकारके हैं । (त्वं नः विधरूपैः पशुभिः पूर्णाहि) तू हमें अनेकरूपवाले पशुभिः पूर्ण कर । और (परमे व्योमिन्) परम आकाशमें (मा सुधायां धेहि) मधुं अमृतसे स्थापित कर ॥ ६ ॥

(उद्विहि०) हे सूर्य ! उदयको प्राप्त हो, उदयको प्राप्त हो और (वर्षसा०) अपने तेजसे मुझे प्रकाशित कर (यन् च पश्यामि यान् च न) जिन प्राणियोंको मैं देखता हूँ और जिनको नहीं देखता (तेषु मा सुमतिं कृधि) उनके विषयमें मुझे सुपतिबाना कर । (तय इत् ०० इत्यादि पूर्ववत्) ॥ ७ ॥

(सलिले अप्सु मन्तः ये पाशिनः) जलके अन्तर में पाशवाले (अथ उपतिष्ठन्ति) यहां आकर उपस्थित होते हैं वे (त्वा मा दमन्) तुझे न डराने । (अश्रितं द्वित्वा पूर्वां दिवं आरुक्ष्यः) द्विष्णोको स्थावरकृत् एतौक पर आरुक्ष्य हो और (सः नः मृड) वह तू हमें मूली कर, (ते सुमती स्वाम) हम वही सुमतिमें रहें । (तय इत् ००) ॥ ८ ॥

हे इन्द्र ! (त्वं नः महते सोममाय) तू हम सबकोपडे सोमभाषके किये (अदध्वेभिः अपशुभिः परिपाहि) न करनेवाले प्रकानोते वह ओरते सुरभित रण । (तय इत् ००) ॥ ९ ॥

त्वं न इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शंतमो भव ।

आरोईस्त्रिदिवं दिवो गृणानः सोमपीतये प्रियधामा स्वस्तये तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि

त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायी मा धेहि परमे व्योमिन्

॥ १० ॥

त्वमिन्द्रासि विश्वजित्सर्ववित्पुरुद्वस्तमिन्द्र ।

त्वमिन्द्रेभं सुहृदं स्तोममेरयस्व स नो मृड सुमतौ तं स्याम तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि

त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायी मा धेहि परमे व्योमिन्

॥ ११ ॥

अदंबधो दिवि पृथिव्यामुतासि न तं आपुर्महिमानंमन्तरिक्षे ।

अदंबधेन ब्रह्मणा वावृधानः स त्वं न इन्द्र दिवि पंचमं यच्छ तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि

त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायी मा धेहि परमे व्योमिन्

॥ १२ ॥

या तं इन्द्र तनूरप्सु या पृथिव्यां वान्तरथौ या तं इन्द्र पवमाने स्वर्विदि ।

ययेंद्र तन्वाङ्मन्तरिक्षं व्यापिथ तथा न इन्द्र तन्वाङ्मं यच्छ तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि

त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायी मा धेहि परमे व्योमिन्

॥ १३ ॥

स्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सन्नं नि वेदुर्ऋषयो नाथमानास्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।

त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायी मा धेहि परमे व्योमिन्

॥ १४ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! (त्वं नः शिवाभिः ऊतिभिः शंतमः भय) तू कल्याणपूर्ण रक्षणोंके साथ हमें उत्तम कल्याण देनेवाला हो । (त्रिदिवं आरोहन्) पशुकोकर साथ होकर (दिवः गृणानः) प्रकाशको वेता हुआ (सोमपीतये स्वस्तये प्रियधामा) सोमपान और कल्याणके लिये प्रिय स्थान हो । (तव इत् ०१०) ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! तू (विश्वजित् सर्वजित्) जपवनेता और सर्वत है और हे इन्द्र ! तू (पुरहस्तः) बहुत प्रशस्त है । हे इन्द्र ! (त्वं इमं सुहृदं स्तोमं ऐरयस्व) तू इस उत्तम प्रार्थनवाले स्तोत्रको प्रेरित कर । (सः नः० तव इत् ०१०) ॥ ११ ॥

हे इन्द्र ! तू (दिवि उत पृथिव्यां अदंबधः गति) पशुकोर्म और इस पृथिवीपर क्लेशसे दयता नहीं । (अन्तरिक्षे ते महिमानं न भापुः) अन्तरिक्षमें तेरी महिमाको कोई नहीं प्राप्त हो सकता । (अदंबधेन ब्रह्मणा वावृधानः सन्) न बनेवाले शानसे यवता हुआ (दिवि नः त्वं शर्मं यच्छ) पशुकोर्म तू हमें शत्रु प्रदान कर । (तव इत् ०१०) ॥ १२ ॥

हे इन्द्र ! (या ते अप्सु तनूः) जो तेरा अंतर्गत है, (या पृथिव्यां या अग्नौ अन्तः) जो पृथिवीपर और जो अग्निसे ऊपर है, हे इन्द्र ! (या ते पवमाने स्याः-विदि) और जो तेरा अंतर्गत करनेवाले प्रकाशपूर्ण पशुकोर्म है, हे इन्द्र ! (यया तन्वा अन्तरिक्षं व्यापिथ) जिस तनूसे अन्तरिक्ष व्यापता है, (तथा तन्वा नः शर्मं यच्छ) उस तनूसे हम शत्रुको सृष्ट प्रदान कर । (तव इत् ०१०) ॥ १३ ॥

हे इन्द्र ! (त्वां ब्रह्मणा वर्धयन्तः) तेरी गर्भोंसे तुजि करते हुए (नाथमानाः श्रद्धयः सन्नं निवेदुः) प्रार्थना करनेवाले श्रद्धिगण सत्र नामक यागमें बँटते हैं (तव इत् ०१०) ॥ १४ ॥

- त्वं तूतं त्वं पर्येष्यत्सं सहस्रधारं विदयं स्वर्विदं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
 त्वं नः पृथीहि पृथुमिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन् ॥ १५ ॥
- त्वं रक्षते प्रदिशश्चतस्रस्त्वं शोचिषा नमसी वि भासि ।
 त्वमिमा विश्वा मुन्नानुं तिष्ठस्य अतस्य पन्थामन्वेपि विदास्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
 त्वं नः पृथीहि पृथुमिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन् ॥ १६ ॥
- पश्चमिः पराङ् तवस्पेकपावाङ्घ्रिस्तिमेपि सुदिने बाधमानस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
 त्वं नः पृथीहि पृथुमिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन् ॥ १७ ॥
- त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः ।
 तुभ्यं यज्ञो वि तापते तुभ्यं जुहति जुहंतस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
 त्वं नः पृथीहि पृथुमिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन् ॥ १८ ॥
- असति सत्प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम् ।
 भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि
 त्वं नः पृथीहि पृथुमिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमिन् ॥ १९ ॥
- शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि । स यथा त्वं भ्राजता भ्रजोऽस्पेवाहं भ्राजता आख्यासन् ॥ २० ॥

अर्थ— हे भगवन् देव ! (त्वं तूतं=दितं) तू हीनों स्थानोंमें मात् (सहस्रधारं विदयं स्वर्विदं उरत्सं) सहस्र-धारअति पुस्त ज्ञानमय प्रकाशपूर्ण ओतको (पर्येषि) व्यापता है । (तव इत् ०१०) ॥ १५ ॥

हे देव ! (त्वं स्वतः प्रदिशः रक्षसे) तू चारों दिशाओंकी रक्षा करता है । अपने (शोचिषा नमसी विभासि) तेजसे आकाशकी प्रकाशित करता है । (त्वं इमाः मुन्नानुं अनुतिष्ठसे) तू इन सब भूतोंके अनुकूल होकर उदरता है और (विदास्तवेद्विष्णोः पन्थामन्वेपि) जानता हुआ सत्यके मार्गका अनुसरण करता है । (तव इत् ०१०) ॥ १६ ॥

(पश्चमिः पराङ् तपसि) तू अपनी पाँचों शक्तियोंके तुर भी तपता है और (एकया अर्वाङ्) एकसे पक्ष भी तपता है और (सुदिने अशक्तिं बाधमानः पपि) उत्तम दिनमें अग्रस्तताको तुर हटाता हुआ चलता है । (तव इत् ०१०) ॥ १७ ॥

हे देव ! (त्वं इन्द्रः) तू इन्द्र है, (त्वं महेन्द्रः) तू बड़ा इन्द्र है, (त्वं लोकः) तू लोक-प्रकाशपूर्ण है, (त्वं प्रजापतिः) तू प्रजापालक है (यज्ञः तुभ्यं वितापते) पक्ष तेरे लिये फैलाया जाता है और (जुहतिः तुभ्यं जुहति) हवन करनेवाले तेरे लिये अहुतियाँ बेटे हैं । (तव इत् ०१०) ॥ १८ ॥

(असति सत् प्रतिष्ठितं) असत्में अर्थात् प्राकृतिक विषयमें सत् अर्थात् आत्मा स्थित है, (सति भूतं प्रतिष्ठितं) सत्में अर्थात् आत्मामें अर्थात् आत्मा जगत् स्थित है, (भूतं ह भव्ये आहितं) भूत होनेवालेमें आहित है, (भव्यं भूते प्रतिष्ठितं) होनेवाला भूतमें प्रतिष्ठित है (तव इत् ०१०) ॥ १९ ॥

(शुक्रः असिः) तू तेजस्वी है, (भ्राजः असिः) तू प्रकाशमय है, (स त्वं) यह तू (यथा आख्यासता भ्राजः असि) वैसे तेरा तपने है, (एव अहं भ्राजता आख्यासं) वैसे ही मैं तेजसे प्रकाशित हूँ ॥ २० ॥

रुचिरसि रोचोऽसि । सपथा त्वं रुच्या रोचोऽस्येवाहं

पशुभिश्च ब्राह्मणवर्चसेनं च रुचिपीय

॥ २१ ॥

उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः । बिराजे नमः स्वराजे सत्राजे नमः

॥ २२ ॥

अस्तंयते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः । बिराजे नमः स्वराजे नमः सत्राजे नमः ॥ २३ ॥

उदगादुयमादित्यो विश्वेन तर्पसा सुह ।

सपतान्महं रन्धयन्मा चाहं द्विपते रधं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याग्नि ।

त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधापां मा धेहि परमे व्योमन्

॥ २४ ॥

आदित्य नावमारुक्षः शतारिंशं स्वस्तये । अहमार्त्यपीपरो रात्रिं सत्रातिं पारय

॥ २५ ॥

सूर्ये नावमारुक्षः शतारिंशं स्वस्तये । रात्रिं मात्यपीपरोऽहं सत्रातिं पारय

॥ २६ ॥

प्रजापतेराधृतो ब्रह्मणा धर्मणाहं कद्रुषस्प ज्योतिषा वर्चसा च ।

जरदग्निः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतधरेपम्

॥ २७ ॥

अर्थ— (रुचिः अस्ति) तू प्रकाशमान है, (रोचः अस्ति) तू येशीयमान है (सः त्वं यया रुच्या रोचः अस्ति) यह तू जैसे तेजसे तेजसी है (एष अहं पशुभिः च ब्रह्मणर्वर्चसेन च रुचिपीय) बंसेही मैं पशुओं और तानके तेजसे प्रकाशित होऊँ ॥ २१ ॥

(उद्यते नमः) उदित होनेवालेको नमस्कार, (उदायते नमः) ऊपर आनेवालेके लिये नमस्कार, (उदिताय नमः) उदयको प्राप्त हुएको नमस्कार, (बिराजे नमः) विशेष प्रकाशमानको नमस्कार, (स्वराजे नमः) अपने तेजसे घमकनेवालेको नमस्कार, (सत्राजे नमः) उत्तम प्रकाशयुक्तको नमस्कार ॥ २२ ॥

(अस्तंयते नमः) अस्त होनेवालेको नमस्कार, (अस्तं व्यप्यते नमः) अस्तको जानेवालेको नमस्कार, (अस्तमिताय नमः) अस्त हुएको नमस्कार, (बिराजे, सत्राजे, स्वराजे नमः) विशेष तेजसी, उत्तम प्रकाशमान और तेजसे प्रकाशनेवालेको नमस्कार हो ॥ २३ ॥

(अयं आव्रित्यः विश्वेन तपसा उदगात्) यह सूर्य तपसे तेजके साथ उदित है । (मह्यं सपतान् रन्धयन्) मेरे लिये मेरे शत्रुओंको बध करता है, (अहं च द्विपते मा रधं) परतु मैं कभी बधमें न होऊँ । (त्वं इत् विष्णो बहुधा वीर्याग्नि) हे व्यापक देव ! तेरे ही वे सब पराक्रम हैं । (त्वं नः विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हम सबको अदन्त शर्मिलसे पशुओंसे परिपूर्ण कर । और (परमे व्योमन् सुधापां मा धेहि) परम आकाशमें विद्यमान अमृतमें मुझे पारण कर ॥ २४ ॥

हे आदित्य । (स्वस्तये शतारिंशं नावं आरुक्षः) हमारे कल्याणके लिये संकड़ों आरोंवासी नौकापर आरुक्ष हो । (मा अहः अति भपीपरोः) मुझे बिनके समय पार कर और (रात्रिं सत्रा अपिपारय) रात्रिके समय भी साथ रहकर पार पटुवा ॥ २५ ॥

हे सूर्य ! तू हमारे (स्वस्तये) कल्याणके लिये नौकापर चढ़ और हमें बिन और रात्रिके समय पार कर ॥ २६ ॥

(अहं प्रजापतेः ब्रह्मणा धर्मणा आवृतः) मैं प्रजापतिके भानरूप कवचसे आवृत होकर (कद्रुषस्प ज्योतिषा वर्चसा च) और सर्ववर्धक देवके तेज और बलसे युक्त होकर (जरदग्निः कृतवीर्यः) युद्धमत्परातक वीर्यवान् हुआ (विहायाः सहस्रायुः) विविध कर्मोंसे युक्त सहस्रायु-पूर्णाव-होकर (सुकृतः धरेयं) शुभ कर्मोंको करता रहूँ ॥ २७ ॥

परीवृतो ब्रह्मणा बर्मेणाह कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।

मा मा प्रापन् विभो देव्या या मा मानुषीरवसृष्टा बुधाय

॥ २८ ॥

ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भवेत्तत्र चाहम् ।

मा मा प्रापन्पामा मोत मृत्पूरन्तर्द्वेषेऽह सलिलेन वाचः

॥ २९ ॥

अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्सूर्या नुदता मृत्पुपाशान् ।

व्युच्छन्तीह्रस्वाः पर्वता भ्रुवा सहस्र प्राणा मरुवा यतन्वाम्

॥ ३० ॥

अर्थ— (ब्रह्मणा बर्मेणा परवृत) जावरूपी कवचसे अन्धे तरह इके हुए (या देवी मानुषीः इत्यत्र बुधाय अयमुष्ट) जो विन्ध और मानवी बाण बंधके सिधे भङ्ग यह हों वे (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) सत्वरसक देवके तजते और बलसे मुक्त हुए हुए (मा मा प्रापन्) मुझ न प्राप्त हों उनसे मेरा बंध न होवे ॥ २८ ॥

(ऋतेन गुप्त) संपके द्वारा रक्षित, सर्वैः ऋतुभिः च) सब ऋतुओं द्वारा रक्षित, (भूते । च भवेत्तत्र गुप्त अह) भूत और भविष्य द्वारा सुरक्षित हुआ न यहाँ दिखे (पाप्या मा, उत मृत्यु मा मा प्रापन्) परलभ्यवा मृत्यु मुझ न प्राप्त हो । (अह वाच सलिलेन भन्तर्द्वेषे) न जलनी जलीको-अथवा पथको पवित्र जोधनके अंदर कारण करता ह । वागीकी पवित्रता पवित्र जोधनसे करता ह ॥ २९ ॥

(गोप्ता अग्नि विश्वतः मा परिपातु) रक्षक अग्नि सब ओरसे मेरो रक्षक करे । (उद्यन् सूर्याः मृत्युपाशान् नुदता) उद्यम होनवाला धूप मृत्युपाशोंको दूर करे । (व्युच्छन्ताः उपस) प्रकाशपुस्त उभाए और (भ्रुवा पर्वता) विपरीयत (सहस्र प्राणा मयि आ यतन्ता) सहस्रों बतवाले प्राण मेरे अंदर कलाप रत ॥ ३० ॥



अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना

पहिले पांच मंत्र बताते हैं कि विजयच्छ पुण्यको अपने अन्दर कौनते पुण प्राप्त करन चाहिये और बढान चाहिये । उन्नति चाहनवाले मनुष्य अपनी ईच्छा इस प्रकार रखें—

लोकप्रिय यतना

(अह) वेचना, प्रजाना, समानाना एगुना मियः भूयास आयुध्मान् भूयासम् ॥ (म० १-५)

' म देवोंका प्रजाजनोंका, समान योग्यतावाले लोगोंका और एगुनोंका मिय होऊ और दीर्घायु बनू । ' सबसे मुख्य बात दीर्घायु बढनको है, क्योंकि आयु आरोग्य और बलसे मुक्त होने पर ही सब कुछ धन कम होना समभव है । अत उन्नतिशील मनुष्योंको उचित है कि वे पंचानुसार आचरण करके अपनी आयु दीर्घ करें, नीरोग रहनका यत्न करें और अपने अन्दर बल तिष्ठत रखें ।

इतना होनेके पश्चात् देव प्रजा समानलोग और एगु

इनके मिय होनेको महाशक्तता प्राप्त करनी चाहिये और इसकी सिद्धिके लिय मनुष्यको प्रयत्न करना चाहिये ।

' देव ' का अर्थ जल देवता है यत्ना ही भूदेव, अग्निदेव, धनदेव और कमरेव ये चार प्रकारके मानुष्यके अर्थ पुरुष भी देव कहलाते हैं । इनके समन इत मनुष्यके विषयम प्रम रहै, य अर्थ लोच इस पुरुषके विषयम कहें कि यह कलाता मनुष्य उत्तम है उसका प्रम होना चाहिये । प्रजा जन इत मनुष्यपर प्रम करें प्रजाजनोंका यह प्रमपात्र बन, सब जगता इसके ऊपर प्रीति करे अर्थात् यह लोकप्रिय बन लोकनाथ बन । समान लोगोंमें यह मिय हो अर्थात् जानियोंका प्रम विनाय क्षानोपर होता है योरोंका प्रम समय और पर होता है समानोंका प्रमभाजन होनेके लिये उनसे विनाय उत्कट पुण होत चाहिये । इन गुणोंका संपादन यह मनुष्य करे और समानोंका प्रमभाजन बने । एगुनोंका भी प्रेम संपादन करे । जब यह मनुष्य एगुनोंका पालन करेगा

कीर जनपर प्रेम करेगा, तब यश स्वयं इसपर प्रेम करने लगे। यहाँ इसकी भूतद्वयमें विशेषता होगी चाहिये। इस विवेचन से पाठक जान सकते हैं कि, देव, प्रजा, समाजलोग और मनुष्योंका विषय बननेका आशय क्या है, इस विषयमें विपत्त यह है कि मनुष्य जिनका प्रेम सपादन करना चाहता है, उनपर स्वयं प्रेम करे। इसके प्रेमको वेसकर नि सन्वेह वे भी इसपर प्रेम करो लग जायेंगे।

वीरके गुण

इस सूक्तके प्रथम अक्षरमें दस शब्दों द्वारा वीरके गुण दिये हैं। उन्नतिपक्ष मनुष्योंको ये गुण अपने अन्तर लाने चाहिये और बढाने चाहिये।

(१) गो-जित् - 'गो' शब्दका अर्थ 'इन्द्रिय और भूमि' है। ये अर्थ लेकर यहाँ विचार करना चाहिये, पहिला अर्थ है (गो-जित्) इन्द्रियोंको जीतनेवाला, अथवा इन्द्रियोंका सधम करनेवाला, मनोनिग्रह करनेवाला, अपना ध्यात्मसधम करनेवाला। सब उन्नतिपर प्रारंभ 'आत्म-विजय' से होता है। आत्मविजय सब अन्य विजयोंसे अधिक है, तथापि जो मनुष्य आत्मविजयका प्रयत्न करता है और सिद्ध बनता है, वह अन्य विजय सहजहोसे प्राप्त कर सकता है। भूमिका विजय इस शब्दका दूसरा अर्थ है। वीरतासे अपने मातृभूमिकी विजयी बना। यह इसका भाव है। मुख्यतया वहाँ आत्मविजय मुख्य है, क्योंकि सभी विजय आत्मविजय से प्रारंभ होती है।

(२) स्वः-जितं = (स्व-र्-जित) आत्मप्रकाशको प्राप्त करना, अपने तेजको जीतना, ध्यात्मसमानकी प्राप्त करना, अपने आध्यात्मिक तेजकी प्राप्त करनेका प्रयत्न करना, यह भी एक बड़ी भारी वीरता है।

(३) संधना-जित् = उत्तम धर्मोंको जीतकर प्राप्त करना, यह भी एक बड़ी भारी वीरता है। जिसके पासमें होमेसे मनुष्य अपने आत्मीय धर्म को धर सकता है, उसको धन कहा जाता है। अतः धन शब्दसे केवल रुपये पैसे समझना श्रुत भ्रम है। धोने भी धन है, राग्यक्रिया स्वरारण्य भी धन है, बल भी धन है, विद्या भी धन है, प्रतिष्ठा भी धन है और सहाचार भी धन है। इस रीतिसे अनेक धन हैं। इनको प्राप्त करना मनुष्यका आध्यात्मिक कर्तव्य है।

(४) सहमान = नारिक बल, तेज और जीवनेसे युक्त। और

(५) सहमान = शारीरिक बल और शक्तियुक्त युक्त होना।

ये दोनों शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त हैं, इसलिये ये भिन्नार्थक शब्द हैं। 'सहस्' शब्दका अर्थ 'बल' है और इसके अर्थ 'शक्ति, विजय, तेज और जीवन' हैं। इनमें से कुछ अर्थ एकके और अन्य दूसरेके मानना यहाँ योग्य है। इस प्रकार अर्थ करनेसे दोनों शब्द पुनर्दक्षिण रूपसे रहित और अन्वयार्थक प्रतीत होते हैं। अर्थात् ये दोनों बल मनुष्यको प्राप्त करने चाहिये। इस अर्थमें शब्दका बल भी अन्तर्भूत होता है।

(६) सहो-जित् = अपने बलसे शत्रुको जीतनेवाला। मनुष्य अपने अन्तर तथा राष्ट्र अपने अन्तर ऐसा बल प्राप्त करे कि जिससे शत्रुका विजय सहजहोमें हो सके।

(७) सहीदन्त् = शत्रुका हत्या करने भी वेदसे हो उससे न उरता हुआ, उसकी सहज करनेवाला। शत्रुके आक्रमण होनेपर भी अपने स्थानसे पीछे न हटता हुआ विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहनेवाला। शत्रुके आक्रमणका प्रतिहार करके शत्रुको परास्त करनेवाला।

(८) सासदात् - शत्रुके आक्रमण बारबार होनेपर भी जो अपना स्थान छोड़ता नहीं और विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहता है और अपने स्थानसे ही शत्रुको परास्त करता है और उसको वापस लौटा देता है।

(९) विपासात्ति = जिसके आक्रमण होने पर शत्रुको परास्त होकर भागना ही पड़ता है अर्थात् जिसका आक्रमण शत्रुके लिये असह्य होता है।

(१०) इन्द्रः नाम इन्द्रः = प्रथमवीर, यशस्वी, (इन्द्रः) शत्रुओंका पूर्ण नाश करनेवाला वीर।

उपास्यके गुण उपासकमें

ये दस शब्द यहाँ इन्द्र देवताके वाचक हैं। यह देवता मनुष्योंका उपास्य है। उपास्य देवताके गुण उपासकोंको अपने अन्तर धारण करने चाहिये, यह उपासनाका नियम है। इस नियमके अनुसार उपासना करनेवाले अपने अन्तर में वीरताके गुण बढावें और अपनी उन्नतिके मार्ग पर चलें और सब प्रकारका अन्धकार प्राप्त करें। पूर्वोक्त गुणोंकी प्राप्तिसे मनुष्यको अथवा राष्ट्रकी उन्नति नि सन्देह होगी, उपासनाके मार्गोंके केवल रटनेमात्रसे ही मनुष्यकी उन्नति नहीं होगी, अतः उन्नति बलित उपास्यके गुणोंकी धारणासे ही मनुष्यकी उन्नति होनेसे सम्भव है। जो मनुष्य अथवा मनुष्यों का संघ इस प्रकारकी धार्मिक और सामूहिक उपासना करता है वही अपना सब प्रकारका अन्धकार मिट्ट करेगा है। इन्द्रके विषयमें कहा है कि—

अभ्युदय

उदिहि, उदिहि, यर्चसा अभ्युदिहि । (म २)

'उदयको प्राप्त हो, अभ्युदय प्राप्त करो, तेजके साथ सब प्रकार अभ्युदय प्राप्त करो।' ये मंत्र पद्यपि उपास्य देव सूर्यके सद्यसमें कहे हं तथापि उपास्यके मृग उपासकको करने होते हैं, इस नियमके अनुसार प्रायः बहुतसे मन्त्र उपासकको आदेश देनेवाले होते हैं। इसी तरह ये मंत्र भी उपासकको अभ्युदयका संदेश दे रहे हैं। अभ्युदय किस मांमें से करना चाहिये, इसके सारासमें दो सूत्र हैं—

द्विपन्नं महां रक्षतु । अहं द्विपते मा रधम् । (म ६)

'द्वय भेदे वशमें आजाये पर में कभी शत्रुके वशमें न होऊँ।' 'द्वय अनेक प्रकारके हैं और रणक्षेत्र भी विविध हैं। उन सब रणक्षेत्रोंमें यही एक नियम है कि स्वयं शत्रुका पराजय करना और शत्रुके कभी पराभूत न होना। विजय, उदय और अभ्युदयकी यह कृष्णी है। जो लोग और जो राष्ट्र इस प्रकार अपनी तैयारी करेगा वही विजयको प्राप्त होगा।

पराक्रम

तव पशुधा वीर्याणि । (म ६)

'मेरे बहुत पराक्रम होने चाहिये।' तब विजयकी सभायना है। विलुप देव—व्यापक ईश्वर—को सर्वत्र विजय इसलिये है कि उसके जगत् पराक्रम होते हैं। अनेक पराक्रम न करने पर विजय प्राप्त होना अर्थात्ब है। विजयके लिये अनेक रण क्षेत्रोंमें उत्तरना पड़ता है और यहाँ बड़े पराक्रम करने पड़ते हैं। इसलिये—

सुमतिं क्षिपि । सुधाया घेदि । (म ६-७)

'अपने अक्षर सुमति धारण कर, उत्तम धारणामें अपने आपको और सबको स्थापित कर।' सुमतिके बिना ज्योतिष्यकेवक्त्रे विजय प्राप्त नहीं हो सकती और (सु-धा) उत्तम धारणाके बिना समालकी या संपत्की विजय नहीं हो सकती। यह नियम सदा ध्यातव्य रहना चाहिये। इस विज्ञानके अनेक बिन प्रयत्न होना चाहिये, यह सूचित करनेके लिये कहा है कि—

रडा सौभाग्य

इधं महते सौभाग्य अद्व्येभिः अक्षुभिः परिपादि ।

(मं ९)

'तू अपना सौभाग्य बढ़ानेके लिये न पकता हुआ और कितनी बढायसे न बढता हुआ वितप्रतिष्ठित सुरक्षित रहनेका

प्रयत्न कर' यह आदेश यदा उल्लाहवर्षक है। चाहे कितना ही मन्त्र दक्षिणतानी भी उमानेका पान करे, परंतु स्वयं उसके बढायसे न बढे ऐसा यत्न करना चाहिये। पातावी दक्षिणते न उमानेका निश्चय करना ही अत्यंत महत्वकी बात है। वास्तवकी दक्षिण इतनी प्रबल है कि सब जगत्को दक्षिण के विरोध करने पर भी वह बब गही सकता, परंतु मनुष्य निश्चय होना चाहिये। 'महासौभाग्य' जो ऊपरके मन्त्रमें कहा है वह तभी इसको प्राप्त होता है। अधिक उल्लाह बढानेके लिये और कहा है कि—

न दय जाना

शुभिव्या अद्व्यः अस्ति । ते महिमानं न जायुः ।

(मं १२)

'पृथ्वीपर तू आत्मा न बढनेवाला महाशक्तिमान् है, तेरी महिमा अन्य भौतिक जड़ पदार्थोंके प्राप्त नहीं हो सकती।' 'जड़ पदार्थ चाहे कितने भी सामर्थ्यवान् हों, परंतु उनकी दक्षिण आत्माके सामर्थ्यकी पराजयी कर नहीं सकती। अपने आत्माकी यह प्रबल दक्षिण जाननेके लिये ही सब धर्मानुष्ठान हैं। अपने परम पिताकी प्रबल दक्षिणता वर्णन इसी कारण उपासनाके लिये उपासकके सम्मुख देवचर्मों द्वारा रखा जाता है कि अपने अक्षर परमपिताके वीर्यका अनुभव करे और उनके मूर्तका धारण अपने अक्षर करनेका यत्न करे। यह ईशगुणोंकी धारणा किस प्रकार हो सकती है यह भी धार्ये कहा है —

अद्व्येन अद्रण्या वल्लुघानः । (मं १२)

'न सब जाननेवाले हलसे भाग्य बढ़ता हुआ' (वल्लुघा वीर्याणि) बहुधा पराक्रम कर। मनुष्यकी उन्नति ज्ञानसे हीनी है, यह बात यहाँ स्पष्ट कही है। यहाँ ज्ञानका महत्व वर्णन किया है। ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात्—

सत्यका मार्ग

विद्वान् अतव्य परम्या अनु यमि । (मं १६)

'विद्वान् होकर सत्यके मार्गके अनुकूल होकर जाता है।' सत्यका अप्रत्यक्ष साथ पालन करना चाहिये। सत्य ही मनुष्यका मार्गदर्शक और सब वर्णनोंको दूर करनेवाला है। सत्यके पालनसे ही सब प्रकारकी उन्नति होती है। इसी तरह—

अशस्तिं वाधमानः सुदिने पयि । (मं १७)

'अप्रशस्त विरतोप बातको दूर करनेसे तू उत्तम दिनेके

प्रकाशपूर्ण जीवनमें प्रतिबिम्बित करनेवाला होगा । ' जिस प्रकार मनुष्यको शापका पालन करना अभीष्ट है, उसी प्रकार अप्रशस्त निम्ननीच दुष्ट व्यवहारको सर्वथा दूर करना भी वास्तव इष्ट है । अन्यथा उच्च अवस्था मनुष्यको कदापि प्राप्त नहीं हो सकती । उत्तम गुणोंको अपने अन्दर बढ़ाना और हीन गुणोंको अपनेमेंसे दूर करना यही अभ्युदयका अनुष्ठान है । मनुष्य अपने अभ्युदयका मार्ग आक्रमण कर रहा है या नहीं इसकी परीक्षा भी उसके भूत भविष्यका व्यवहार देखकर हो सकती है । इसलिये कहा है कि—

आत्मा और संसार

असति सत् प्रतिष्ठितम् । सति भूतं प्रतिष्ठितम् ।
भूतं भव्ये भव्यं भूते च प्रतिष्ठितम् । (मं० १९)

' अस्तमें सत् और सत्में भूत उहरा हुआ है ' यह पहिला कथन है । यह सत्कार नाशवान् होनेसे अस्त है, और अस्मा त्रिकालाव्ययित होनेसे सत् है । ये दोनों परस्पर संगत होनेसे कहा जाता है कि एक दूसरेमें उहरा हुआ है । यही विषय दूसरे शब्दोंमें ऐसा कहा जा सकता है— ' शरीरमें आत्मा और आत्मामें शरीर स्थित है । ' इसोपनिषद्में भी इसी भावसे निम्नलिखित मंत्र आया है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येषानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

(या. यज. ४०१६)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येषानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिक्विसति ॥

(ईश. उ. ६; काथ. यज. ४०१६)

तथा भागवतमें—

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमास्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्पयि चात्मानि ॥

(श्री. भाग. १।१२।४६)

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भूतान्नास्ति च आत्मनः ।
भूतानि भगवत्प्राप्तमप्येव भागवतोत्तमः ॥

(श्री. भाग. १।१।४५)

इन सब स्थानोंमें यही कहा है कि ' आत्मा- (सत्) सब भूतोंमें (असत्में) है और सब भूत (असत्) आत्मामें हैं । यह जो जानता है और इसका जो अनुभव करता है वह बड़ा भक्त कहलाता है, वह भेष्ट पुण्य होता है, यही शोकमोहते परे होकर परमसिद्धिको प्राप्त होता है।

इसमें पहिली परीक्षा सर्वत्र परमेश्वरको उपस्थितिका अनुभव आना है, ऐसा अनुभव हो तो समझना चाहिये कि उत्तम हो गयी है, और यदि केवल शब्दोंसे ही ' परमेश्वर सर्वव्यापक ' होनेका शब्दिक ज्ञान हुआ है, तो समझना चाहिये कि अभी अथवा मनन विविधप्राप्तका अनुष्ठान होना बाकी है ।

ऊपरके मंत्रमें दूसरी परीक्षा यह कही है कि (भूतं भव्ये, भव्ये भूतं आहितं) भूत भविष्यमें और भविष्य भूतमें है । इसका अनुभव देखनेके लिये मनुष्य अपना विचार प्रयत्न करे । मनुष्यका वर्तमान और भविष्य उसके भूतकालके कर्ममें होता है और उसके भूतकालके कर्मके साथ उसका भविष्यकाल जगजा हुआ होता है । उदाहरणके लिये देखिये— यदि एक मनुष्य प्रयत्न आद्यमें उत्तम जहाजमें पालन पूर्वक धर्मानुष्ठानसे अपना आद्युष्य स्वतीत करता है, तो समझना चाहिये कि उसका जीवन और कार्यक्षम सुखसे व्यतीत होंगे, क्योंकि उसका भूतकाल भविष्यसे संबन्धित है । इसी प्रकार राष्ट्रमें भी यही बात देखिये— जिस राष्ट्रके भूतकालके लोगोंमें उत्तम पुण्यार्थ किया हो, उस राष्ट्रका वर्तमान और भविष्यकाल भी आनन्दमें व्यतीत होगा और जिस राष्ट्रके लोगोंमें भूतकालमें परातंत्र्य प्राप्त किया हो, उसका भविष्यकाल कष्टोंमें जायागा, क्योंकि (भूतं भव्ये, भव्यं भूते आहितं) भूत भविष्यमें कलता है और भविष्यका उत्तम भूतमें होता है । यह वेदका उपदेश जैसा व्यक्तित्वमें देता ही राष्ट्रमें प्राप्त हो सकता है । इस सत्यका अनुभव करता हुआ, तथा अपने भूत भविष्य वर्तमानका विचार करता हुआ, मनुष्य अपने भविष्यकालमें कुछ प्राप्त होनेके बीज साधनेके कालमें अपने ही प्रयत्नसे न बी बड़े । परंतु उसको चाहिये कि वह इस समय ऐसे धृष्ट कर्म करे कि जिससे धुन फल उसका भविष्य कालमें प्राप्त हो । आजका हमारा स्थिति हमें अपने ही भूतकालके कर्मोंसे प्राप्त हुई है और इस समय हम ही अपना भविष्यकाल बना रहे हैं । इसी उद्देश्यसे वेदमें कहा है—

भूत भविष्य वर्तमान

पुरुष एवेदे सर्वं यज्जतं यच्च भान्यम् ।
उतामृतस्यस्येशानः ॥

(ऋ. १०।१०।२, वा. यज. ३०।२)

पुरुष एवेदे सर्वं यज्जतं यच्च भान्यम् ।
उतामृतस्यस्येश्वरः ॥ । अथर्व. १।१।४)

'वर्तमानकालमें जो पुण्य है वही उसके भूत और भविष्यका रूप है और वह अमृतत्वका स्वामी है अर्थात् किसी पुण्यका वर्तमानकाल उसके भविष्यका बीज और भूतका परिणाम विद्यमान है। मनुष्यको तादृश्य अवरपाते पता लग सकता है कि उसने अपना भालयन कंसा अर्थात् किया था और उतीते पता चलता है कि उसका भविष्य कैसा होगा। राष्ट्र पुण्यके विषयमें भी यही व्यवस्था है, राष्ट्रके वर्तमानकालकी परिस्थितिमें उसके भूतकालीन पुण्य-दायं या पुण्यार्थहोनाके परिणाम देखते हैं, और उसी वर्तमानकालमें वह जो करता है उस अपने पुण्यार्थमें ही वह अपने भविष्यकी भविष्यताके बीज बो देता है क्योंकि प्रत्येक पुण्य भूतकालका परिणाम और भविष्यकालका बीज पारय करता है। इस विचारसे भी मनुष्य अपनी परीक्षा कर सकता है।

आत्मतेज

अहं भ्राजता भाज्यासम् । (मं. २०)

'मैं अपने तेजसे तेजस्वी बनूँ।' इससेके तेजसे तेजस्वी बननेमें पराधीनता है। प्रत्येकको अपने तेजसे तेजस्वी बनना चाहिये। प्रत्येकको अपने सामर्थ्यसे रक्षा होने चाहिये, अपने शानसे प्रत्येकको विवेक करना चाहिये, प्रत्येकको अपने धनका भोग तेजस योग्य है, इसी प्रकार अन्यत्र विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये। जिसकी यथा दूसरेके बलसे होती हो, जो स्वयं अपने ज्ञानसे विचार नहीं कर सकता, जिसके पास ज्ञानसे शोषण करनेके आवश्यक पदार्थ नहीं होते हैं, उसको शोचनीय अवस्था होती है। अतः अपने प्रकाशसे प्रकाशनेका उपदेश यहाँ इस मंत्र द्वारा दिया है। इसी प्रकार और भी कहा है—

अहं ब्रह्मवर्चसेन दक्षय रोचः (भूया) सचिर्वीर्य । (मं. २१)

'मैं अपने ज्ञानके प्रभाशये प्रभाषित और अपने तेजसे तेजस्वी होकर प्रकाशित होऊँ।' इस मंत्रमें भी वही भाव कुहराया है और ज्ञानकी आवश्यकता उपस्थित किये जल्पत है, यह बात पुनः स्पष्ट की है।

आगे उदयको प्राप्त होनेवाले, प्रकाशित होनेवालोंको नमस्कार करनेको कहा है और जो इस प्रकार प्रकाशित होकर अपना जीवनकम समाप्त करके अस्तको जाते हैं, उनको भी नमस्कार करनेको कहा है। यहाँ सूर्यको सम्मुख रखनेको कहा है। मनुष्यका आद्यमं सूर्य है, सूर्यके सामान्य

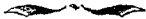
मनुष्य अपना अभ्युदय प्राप्त करे, सूर्यके ध्यान इस जगत्में प्रकाशित होवे और प्रदीप्त रहता हुआ तथा सूर्यकी प्रकाशका मार्ग बतलाता हुआ आत्ममें कृतकृत्य होकर अस्तको प्राप्त होवे। इस प्रकार अस्त होना भी आवश्यक है। इस तरह सब मनुष्य सूर्यको अपना आदर्श मानें। और उससे यह बोध प्राप्त करें। इसके अनंतर एक महत्वपूर्ण मंत्रनाम है वह प्रत्येक मनुष्यको दिव्य स्मरणमें पारय करना योग्य है, वह अब देखिये—

अपना यज्ञ

अहं ब्रह्मणा वर्मणा ज्योतिषा वर्चसा च आवृतः
 छतर्षाभिः विहाया। अरवृष्टिः सहस्रायुः
 सुकृतः चरेयम् ॥ (मं. २७)
 अहं ब्रह्मणा वर्मणा ज्योतिषा वर्चसा च परिवृतः।
 अस्तेन गुप्तः... भूतेन भग्येन च गुप्त (चरेयम्) ॥
 (मं. २८-२९)

पाप्मा मा मा प्रापत्, मृत्युः मा मा प्रापत् ।
 अहं चाचः सलिले अन्तर्दधे । (मं. २९)
 'मैं ज्ञान, आत्मरक्षाके सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर पराजय करता हुआ, विविध पुण्यार्थका लालन करता हुआ, सौम्य भाप प्राप्त करके, सदाचारसे व्यवहार करूँ। मैं ज्ञान, आत्मरक्षाके सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर, सत्यसे सदा सुरक्षित होता हुआ, भूत भविष्य वर्तमानकालमें होनेवाले कर्मोंसे सुरक्षित होता हुआ, सदाचारसे व्यवहार करूँ। पाप मेरे पास न आवे, पापी मेरे सविध न आवे, मृत्युका भय मुझे न प्राप्त हो, मैं अपनी वाणीको गुप्त भीकनसे मुक्त करता हूँ।'

इसमेंसे प्रत्येक वाक्य इतना स्पष्ट, इतना तेजस्वी, इतना शोषण और इतना मार्गदर्शक है कि उसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी यहाँ आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती। इसी विद्यार्थियोंके स्मरणमें मनुष्य विनयी होगा और अभ्युदय प्राप्त करेगा और अन्तमें पाप भी होगा। इसके प्रत्येक मंत्रमें युक्त ज्ञान भरपूर भरा है। केवल मात्र अर्थके प्राप्त करनेसे ही पाठकोंको यह नहीं समझना चाहिये कि हमने मंत्रका आशय समझ लिया है, मंत्रका आशय तो जाये पीछेकी इन्द्रोक्ति लाल और विधानोंके साथ संगति देखकर बनव करनेसे ही ध्यानमें आकरता है।



परिक्रमसे विजय

कांड ८, सूक्त ८

(श्रयिः = भुवश्चिराः । देवता - इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहनन च)

इन्द्रो मन्धतु मन्धिता शक्रः शूरः। पुरंदुरः । यथा हनाम सेनां अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥

पुत्रिरज्जुरुषध्मानी पूति सेनां कृणोस्वभूमि । धूमममिं परादृश्यामित्रां हृत्स्वा दधता भयम् ॥ २ ॥

अमूनमस्य निः शृणीहि साद्रामुन्खदिराजिरम् ।

ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान्वधको वधैः ॥ ३ ॥

परुपान्मूर्परुपाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान्वधको वधैः ।

क्षिप्रं शूर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिवाः ॥ ४ ॥

अन्तरिक्षं जालंमासीज्जालदृषडा दिशो महीः ।

तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥

अर्थ— (पुरं-दुरः शूरः शक्रः मन्धिता इन्द्रः) शत्रुके नगरोंको तोड़नेवाला शूर समर्थ शत्रुसंघनाक मन्थनकर्ता इन्द्र (मन्धतु) शत्रुसेनाका मन्थन करे । (यथा) जिसको कसितसे (अमित्राणां सहस्रशः सेनाः) शत्रुओंके हजारों सैनिकोंको (हनाम) हम मारे ॥ १ ॥

(उषध्मानी पूति-रज्जुः) मुलगाई हुई गुंथवस्तु रहती (अमूं सेनां पूति कृणोतु) इस सेनाको दुर्गन्ध-युक्त करे । (धूमं अमिं परादृश्य) धूम और जलिको बूरसे बेरकर (अमित्राः हृत्सु अर्थ आत्घतां) शत्रु हृदयोंमें भय पारण करे ॥ २ ॥

हे (अश्व-रथ) घोड़े पर चढ़े वीर ! (अमून निः शृणीहि) इनको भाव । हे (खदि-र) शत्रुको साने-वाले वीर ! (अमून अजिरं खाव) इनको क्षीप्र खा । (ताजद्-भङ्ग इव) क्षीप्र भंजन करनेवालेके समान (भज्यन्तां) भय किये जाय और वधः वधैः एतान् हन्तु) वध करनेवाला शस्त्रोंसे इनकी मारे ॥ ३ ॥

(परुप-प्राह्वः) कठोर आह्वान करनेवाला वीर (अमून परुपान् कृणोतु) इनको कठोर मनावे । (वधको वधैः एतान् हन्तु) वधकर्ता शस्त्रोंसे इनका वध करे । (बृहत्-जालेन संदिवाः) बड़े जालसे बंधे हुए शत्रु (शूर इव क्षिप्रं भज्यन्तां) तरकंडेके समान क्षीप्र टूट जाय ॥ ४ ॥

(अन्तरिक्षं जालं आसीत्) अन्तरिक्ष जाल है और (महीः दिशाः जालदृषडाः) विद्युत् दिशाएं जालके बंधे हैं । (तेन दस्यूनां सेना अभिधाय) उससे शत्रुकी सेनाको पकड़ कर (शक्रः अप जवपत्) शूर वीर भगता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— शूरवीर शत्रुओंके किलोंको तोड़ें और शत्रुसंघको मथ डाले । हम भी सहस्रों शत्रुघोरोंको मारें ॥ १ ॥ शत्रुसेना पर हमला करनेकेलिए मुलगाई हुई बाकूदकी बत्ती शत्रुसंघमें धरबूवाला धुवां उत्पन्न करे । जिस धुवेको और ज्वालाको बेरकर शत्रु भयभीत होयें ॥ २ ॥

धुदसवार शत्रुकी मारें । हमारे वीर शत्रुको साजायें, क्षयात् उनका नाश करें । हमारे वीर अपने शत्रुओंसे शत्रुका नाश करें । ॥ ३ ॥

हमारा सेनापति अपने भायपसे हमारे सैनिकोंको धीरज बेर कर कठोर मनावे । हमारे वीर शत्रुसेनाका मारा करें । बड़े जालके अन्तर शत्रुसैनिकोंको पकड़कर नाश करें ॥ ४ ॥

यह अन्तरिक्ष बड़ा जाल है, इसके बंधे में बड़े विद्युत् हैं । इस जाससे शत्रुको पकड़कर शूर वीर उनका नाश करें ॥ ५ ॥

पृष्टदि जाले बृहवः शक्रस्य वाजिनीवतः ।

तेन शर्वान् शत्रून् अभिन्युञ्ज यथा न मुच्यते कतमश्नैषाम्

॥ ६ ॥

बृहते जाले बृहत् इन्द्र शूर सहस्रार्धस्य शतर्धार्धस्य ।

तेन शतं सहस्रमपुतं न्यर्षुदं जघान शक्रो दस्यूनापमिघाय सेनया

॥ ७ ॥

अयं लोको जालेमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।

तेनाहमिन्द्रजालेनामंस्वर्मसाभि दंधामि सर्वान्

॥ ८ ॥

सेदिह्या न्यर्षुद्विरार्तिशानपवाचना । भ्रमस्तन्द्गीशु मोहंश्च तैरमूनभि दंधामि सर्वान्

॥ ९ ॥

मृत्युपेदेमून्प्र येच्छामि मृत्युपाश्रीमी सिताः ।

मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान्प्रति नयामि यद्वा

॥ १० ॥

अर्थ— (वाजिनीवत बृहवः शक्रस्य) तेनाके साथ रहनेवाले बृहत् इन्द्रका (बृहत् हि जाले) बरा जाल है । (तेन शर्वान् शत्रून् अभिन्युञ्ज) उससे सब शत्रुओंसे सब ओरसे तू आधीन कर, (यथा न मुच्यते कतमः च न न मुच्यते) कितने इनमेंसे एक भी न छूट सके ॥ ६ ॥

हे (शूर इन्द्र) शूर इन्द्र ! (सहस्रार्धस्य शतर्धार्धस्य बृहतः ते) तूओं मनुष्योंके द्वारा पूजित और संकरो सामर्थ्यवाले तथा महान् दुम इन्द्रका (जाले बृहत्) जाल बरामो है । (तेन अभिघाय) उस जालसे घेरकर तथा (सेनया) अपनी सेनाके द्वारा (शक्रः) इन्द्र (दस्यूनां शतं सहस्रं अयुतं न्यर्षुदं अभिघाय जघान) शत्रुओंके संकरो हजारों लाखों और करोड़ों संनिकोंको मारता है ॥ ७ ॥

(महतः शक्रस्य) महान् इन्द्रका (अयं महान् लोको) यह महान् लोक (जाले आसीत्) जाल था । (तेन इन्द्रजालेन) उस इन्द्रके जालसे (अमून शर्वान् समसा अह भविष्यामि) इन सब मनुष्योंको अपनेसे मैं घेरता हूँ ॥ ८ ॥

(जगत् सेदिः) बड़ी पक्षाघट, (न्युद्विः) निर्वन्तता, (अनपवाचना भातिः च) अकथनीय कष्ट, (भ्रमः) कष्ट, परिभ्रम, (तन्द्गीः मोहः च) आलस्य और मोह (तैः अमून शर्वान् अभिघामि) उनसे इन सब शत्रुओंको मैं घेरता हूँ ॥ ९ ॥

(अमून मृत्युपेदे मयच्छामि) इन शत्रुओंको मैं मृत्युके लिये बाँध देता हूँ (मृत्युपाश्रीः शमी सिताः) मृत्युके पाशोंसे ये बाँधे गए हूँ । (मृत्योः ये अघ-लाः दूताः) मृत्युके जो पाशो मारनेवाले दूत हैं (तेभ्यः पजान् यद्वा प्रति नयामि) उनके पास इनको बाँध कर ले जाता हूँ ॥ १० ॥

भाषार्थ— तेनाके साथ हजला करनेवाले इन्द्रके पास बरा जाल है । उससे शत्रुसंग बाँधा जाता है और कोई बच नहीं सकता ॥ ६ ॥

अनेक पराक्रम करनेवाले वृद्धनीय इन्द्रदेवका बड़ा जाल है उस जालमें शत्रुवैतिक बाँधे जाते हैं और उनके हजारों और लाखों मारे जाते हैं ॥ ७ ॥

बड़े इन्द्रका यह विशाल लोक ही बड़ा जाल है । इस इन्द्रजालमें सब शत्रु अन्धकारसे बाँधे जाते हैं ॥ ८ ॥

पक्षाघट, निर्वन्तता, कष्ट, परिभ्रम, आलस्य, अज्ञान इत्यादिसे शत्रुओंको घेरते हैं ॥ ९ ॥

उन शत्रुओंको मृत्युके पास भेजता हूँ । मृत्युपाशोंसे ये बाँधे गये हैं । मृत्युके ये मारक दूत हैं उनके पास शत्रुओंको ले जाता हूँ ॥ १० ॥

नयंतामूनमृत्युदत्ता यमदत्ता अपोम्भत । परासहस्रा हन्यन्तां तृणेद्वेनान्मर्त्यं भवस्य ॥ ११ ॥
 साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्यं यन्त्योजसा । रुद्रा एकं वसवं एकमादित्यैरेकं उद्यतः ॥ १२ ॥
 विश्वे देवा उपरिष्टाद्वज्रन्तो यन्त्वोजसा । मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥ १३ ॥
 वनस्पतीन्वानस्पत्यानोपधीरुत वीरुषः । द्विपाचतृष्पादिष्यामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १४ ॥
 गन्धर्वाप्सरसः सर्पान्देवान्पुण्यजनान्पितृन् । दृष्टान्दृष्टानिष्पामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १५ ॥
 इम उता मृत्युपाशा यान्नाक्रम्य न मुच्यसे । अमुष्यां इन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥ १६ ॥
 धर्मः समिद्धो अग्निनाथे होमः सहस्रहः । भवश्च पृथिव्याहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥

अर्थ— हे (मृत्युदत्ताः) मृत्युके दूतों ! (अमून नपत) इनको ले चलो । हे (यमदत्ताः) यमके दूतों ! (अपोम्भत) इनको समाप्त करो । (परा-सहस्राः हन्यन्तां) हजारोंसे अधिक मारे जाय । (यतान् भवस्य मर्त्यं तृणेदु) इनका ईश्वरके मतानुसार नाश करो ॥ ११ ॥

(साध्याः एकं जालदण्डं उद्यत्य) साध्य देव एक जालके दण्डको उठाकर (ओजसा यन्ति) बलके साथ जाते हैं (रुद्राः एकं) षड्देव एकको, (वसवः एकं) वसुदेव एकको पकड़ते हैं और (आदित्योः एकः उद्यतः) आदित्य देव एकको उठाते हैं ॥ १२ ॥

(विश्वे देवाः उपरिष्टात् उज्रन्ताः) विश्वे देव ऊपर ही ऊपरसे दृष्टोंको दबाते हुए (ओजसा यन्ति) बलसे चलते हैं (अंगिरसः मध्येन महीं सेनां घ्नन्तः) आंगिरस बीचमें बसी सेनाका नाश करते (यन्तु) जायें ॥ १३ ॥

(वनस्पतीन् वानस्पत्यान्) वनस्पति और उनसे बने पराश्रय, (ओपधीः उत वीरुषः) ओपधियाँ और लताएँ, (चतुष्पाद् द्विपात्) चार पाँववाले और दो पाँववाले इन सबको (दिष्यामि) मैं प्रेरित करता हूँ, (यथा अमूं सेनां हनन्) जिससे इस सेनाका नाश करते हैं ॥ १४ ॥

(गन्धर्वाप्सरसः सर्पान्) गन्धर्व, अप्सरा, सर्प (देवान् पुण्यजनान् पितृन्) देव, पुण्यजन और पितर इन (दृष्टान् दृष्टान् इष्यामि) देखें और न देखें हुआँनो मैं प्रेरित करता हूँ (यथा अमूं सेनां हनन्) जिससे इस सेनाका नाश करते हैं ॥ १५ ॥

(इमे मृत्युपाशाः उताः) ये मृत्युके पाश रखे हुए हैं (यान् नाक्रम्य न मुच्यसे) जिनपर आक्रमण करते तो नहीं छूटोगा । (अमुष्याः सेनायाः) इस सेनाके (इदं कूटं) इस केन्द्रको (सहस्रशः इन्तु) सहस्र प्रकारसे हनत करे ॥ १६ ॥

(अयं धर्मः होमः) यह प्ररोध होम (अग्निना सहस्रहः समिद्धः) अग्नि द्वारा सहस्रों प्रकारसे प्रबलित हुआ है । (भवश्च पृथिव्याहुश्च शर्वः) भव और विचित्र बाहुवाला शर्व ये तुम दोनों (अमूं सेनां हतम्) इस सेनाको मारो ॥ १७ ॥

भावार्थ— मृत्युके दूत हमारे शत्रुओंको पकड़ें, यमदूत उनको समाप्त करें । इस प्रकार हजारों शत्रु मारे जाय ॥ ११ ॥ साध्य, रुद्र, वसु और आदित्य ये इस जालके चारों छंभोंको पकड़कर देखते बैठते हैं ॥ १२ ॥ विश्वदेव ऊपरसे हमला करते हैं और आंगिरस शत्रुसेनाके मध्यभागमें हमला करते हैं ॥ १३ ॥ वनस्पति, वनस्पतिसे बने पराश्रय, ओपधि, लता, द्विपाद और चतुष्पाद भाबि सव, मेरे सहायक हों और इनकी सहायतासे मैं शत्रुका नाश करूँ ॥ १४ ॥

गन्धर्व, अप्सराएँ, सर्प, देव, पुण्यजन, पितर, परिचित और अपरिचित मेरी सहायता करें, जिनकी सहायतासे मैं शत्रुका नाश करूँ ॥ १५ ॥

ये मृत्युपाश फँसारे हुए हैं, इनमेंसे कोई नहीं छूटोगा, शत्रुसेनाके उस केन्द्रका सब प्रकारसे मैं नाश करूँ ॥ १६ ॥ यह मत अग्निसे प्ररोध हुआ है । इस मतके द्वारा शत्रुसेनाका नाश होवे ॥ १७ ॥

मृत्योराप्ता पंचन्तां क्षुधं सेदि वधं भयम् । इन्द्रंश्चाहुज्जालाभ्यां श्वे सेनांममू इतम् ॥ १८ ॥

पराजिताः प्र प्रसवामिवा नुचा भावतु ब्रह्मणा । बृहस्पतिवणुवानां मामीषां भोचि कश्चन ॥ १९ ॥
अवं पचन्तामेपापुंभानि मा शकन्प्रतिधामिपुंम् ।

अथैषां बहु विभ्यतामिपंचो जन्तु मर्मणि ॥ २० ॥

सं क्रौञ्चतामेनान्यावांपृथिवी समन्तरिक्षं सह देवातामिः ।

मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उवं यन्तु मृत्युम् ॥ २१ ॥

दिश्यतस्त्रोऽघृतयो देवरथस्य पुरोडाद्याः श्रुता अन्तरिक्षमुद्दिः ।

द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीश्वोऽन्तर्दुषाः किंकरा वाक्पारिरथ्यम् ॥ २२ ॥

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्यो विराडीपाथी रथमुद्यम् ।

इन्द्रः सव्यष्टाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

अर्थ— (मृत्योः) आपं धुदं सेदि वधं भयं) मृत्युसे कष्ट, भूष, बंधन, धम और भयको (आपघन्तां) प्राण होओ । हे वधं । तुम (इन्द्रः च) और इन्द्र योरो (अमूं सेनां इतं) इस सेनाको मारो ॥ १८ ॥

हे (अमिषाः) शत्रुओ । तुम (पराजिताः प्र प्रसवत । पराजित होकर प्रसव होओ । (ब्रह्मणा नुचाः धावत) ब्रह्मसे प्रेरित होकर भाग जाओ । (बृहस्पति-प्रणुप्तानां अमीषां) ब्रह्मकी द्वारा प्रेरित हुए इनसे (कश्चन मा भोचि) कोई भी न बचे ॥ १९ ॥

(एषां आयुषानि भयपय-तां) इनके जन्मसम गिर जायं । (प्रतिष्ठां श्चुं मा दाकन्) प्रतिपक्षसे मामे हुए बाणको ये न सह सके । (अथ एषां बहु विभ्यतां) अब इनको बहुत डर लगे । इनके (मर्मणि ह्ययः) जन्तु) मर्मोंमें बाण मरें ॥ २० ॥

(द्यावापृथिवी पचान् संक्रोदान्तां) धूलोक और पृथिवी इनकी विना करें । (अन्तरिक्षं देवतामिः सह सं) अन्तरिक्ष देखेंके साथ इनकी विना करें । (ज्ञातारं मा) जानीको ये न प्राप्त करें (मा प्रतिष्ठां विदन्त) प्रतिष्ठाको भी ये प्राप्त न करें । (मिथो विघ्नानाः मृत्युं उपयन्तु) परस्पर बिग्न करते हुए ये सब मृत्युकी प्राप्ता हों ॥ २१ ॥

(उतद्यः दिशः) चार दिशाएं (देवरथस्य अन्तर्दुषः) देवरथको घेरिवां हैं (पुरोडाद्याः श्रुता) पुरोडास गुरु हैं । (अन्तरिक्षं उद्दिः) अन्तरिक्ष ऊपरका भाग है । (द्यावापृथिवी पक्षसी) धूलोक और पृथिवी ये दोनों पक्ष हैं । (ऋतवः अभीश्वः) ऋतु रक्षिवां हैं । (अन्तर्दुषाः किंकराः) घोषके प्रदेः रथस्यक हं और (वाक् परिदध्यं) वाणी रथका कथ भाग है ॥ २२ ॥

(संवत्सराः रथः) धर्म रथ है, (परिवत्सराः रथोपस्यः) परिव्रजित रथमें बंठनेका स्थान है, (विराट् रथः) विराट् जीतनेका रथ है, (अग्निः रथमुत्तं) अग्नि रथका मुख है । (इन्द्रः सव्यष्टाः) इन्द्र बाई ओर बंठने-वाला है और । चन्द्रमाः सारथिः) चन्द्र सारथी है ॥ २३ ॥

भाषार्थ— मृत्युसे कष्ट, श्रुता, बंधन, धम और भय मृत्युको प्राप्त होवे और इस प्रकार भयभीत हुए मृत्युका नाश होवे ॥ १८ ॥

तनु पराजित हो, ये भाग जायं । ब्रह्मसे जानी और द्वारा प्रेरित हुए तनु किसी प्रकार भी न बचें ॥ १९ ॥ तनुके साथ गिर जायं, ये तनुके ब्रह्मसत्त्वोंको न सह सके, ये डर जायं और इनके मरें देखे जायं ॥ २० ॥ सब लोक इन शत्रुओंकी विना करें, हमारे शत्रुको किसी तानीकी सहायता न प्राप्त हो, ये किसी स्थानपर न ठहर सके । ये आपसमें एक दूसरेसे टकराते हुए मर जायं ॥ २१ ॥

देवरथकी घेरिवां चारों दिशाएं हैं, उस रथके विविध भाग पुरोडास, उपरका भाग अन्तरिक्ष और दोनों बाजू धूलोक, पृथिवी हैं । छः ऋतु घेरिवांके लगाम हैं, घोषके स्थान-संरक्षक नीकर हं और वाणी ही मध्यस्थान है ॥ २२ ॥

संवासर, परिव्रजित, विराट्, अग्नि ये क्रमताः रथ, बंठनेका स्थान, रथ और रथमुख है, इन्द्र इस रथमें बाई ओर बंठता है और चन्द्रमा सारथ्य करता है ॥ २३ ॥

इतो जयितो वि जय सं जय जय स्वाहा । इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहृभ्यो दुराहामीभ्यः ।
नीळलोहितेनामृन्म्यवतनोमि

॥ २४ ॥

अर्थ— (इतः जय) महासे जय प्राप्त कर (इतः विजय) महासे विजय हो । (संजय जय) अच्छी प्रकार जय प्राप्त कर (स्व-स्वाहा) आत्मसमर्पण कर (इमे जयन्तु) वे हमारे घोर जय प्राप्त करें । (अमी पराजयन्तां) वे अनु-सैनिक पराभवको प्राप्त हों । (पृथ्यः स्वाहा) इनके लिये शुभवचन (अभीभ्यः दुराहा) इन शत्रुओंके लिये बुरा वचन । (नीळलोहितेन अमृन् अभि भवतनोमि) नील और लोहित-रक्तसे इन शत्रुओंको सब प्रकारसे विराता हूँ ॥ २४ ॥

भावार्थ— इस प्रकार जय प्राप्त कर, विजय स्थापन कर । आत्मसमर्पणसे ही जय मिलता है । वे हमारे घोर जय प्राप्त करें । शत्रु पराजय हो । अपने लोचोंको शुभ आलोचन । शत्रुको घाय । सब शत्रुओंको विराजत हो ॥ २४ ॥



परिक्रमसे विजय

युद्धकी नीति

युद्धनीतिका वर्णन करनेवाले सूक्त वेदमें अनेक हैं, परंतु इस सूक्तमें 'जाळ-युद्ध' का वर्णन है, यह इस सूक्तकी विशेषता है । जाळमें शत्रुसैन्यको पकड़कर उनका उचित छान्नापनीति वच करनेका नाम जाळयुद्ध है । प्रायः मछलियाँ पकड़नेवाले घोंघरलोग सूयके जाळ बनाते हैं और उसमें मछलियाँ पकड़ते हैं । ये सूयके जाळ युद्धमें उपयोगी नहीं होते, क्योंकि शत्रुके सैनिक यदि इस सूयके जाळमें पकड़े गये, तो वे अपने तीक्ष्ण दाँतोंसे जाळ काटकर बाहर भासकते हैं । अतः यहाँका युद्धका जाळ ऐसा होना चाहिये कि, जो सहजहीमें फाटा न जासके ।

जाळकालके युद्धोंमें तारोंके जाळ, अथवा कटचित तारोंके जाळ बँतते हैं । बहुत समय है कि जिस इन्द्रजाळका वर्णन इस सूक्तमें किया है, वह इसी प्रकारके लोहेके केंद्रकित अथवा अन्य तारोंका ही जाळ हो । इन्द्रके शत्रु राक्षस हैं, वे बलाघ्न और शस्त्रास्त्रसयन होते हैं, वे सूत्रके जाळसे बांधे जासके और सहजहीमें मारे जा सकेंगे यह संभव नहीं है । इस सूक्तमें इन्द्रने इस जाळके द्वारा ह्यारों और सार्यों शत्रुओंको बांधा और मारा ऐसा वर्णन है, अतः यह जाळ नि सन्देश लोहेका होगा चाहिये । इसका वर्णन इस प्रकार है—

पृथ्व्यालेन संदिताः क्षिप्रं भज्यन्ताम् । (मं. ४)

शक्रस्य अन्तरिक्षं जाळं सासीत् ।

मर्हो विशः जाळवपुडः ।

तेन अभिधाय दस्यूनां सेनां अपायवत् । (मं. ५)

पाणिनीवतः शक्रस्य पृथक् जालम् ।

तेन सर्वान् शत्रून् स्युज्ज,

यथा एषां कृतमन्धनं न मुच्यते ॥ (मं. ५)

हे शक्र इन्द्र ! शतधीर्षस्य ते पृथक् जालम् ।

तेन दस्यूनां सहस्रं अयुत्वं जघान ॥ (मं. ७)

' इन्द्र स्वयं बड़ा मूर्ख है, उसके पास संय भी बहुत है ।

यह स्वयं सेकड़ों प्रकारके पराक्रम करता है । उसका बड़ा-बारी जाळ है । मैंने उसका जाळ इस अन्तरिक्ष जंता विस्तृत है । चारों दिशाओंमें उसके जाळके स्तंभ सड़े क्रिये होते हैं । इस विस्तृत जाळमें शत्रुको सेना पकड़ी जाती है और एकबार सेना इस जाळमें पकड़ी गयी, तो जन्मसे एक भी नहीं बच सकता । इस रीतिसे इस इन्द्रके जाळयुद्ध द्वारा इन्द्र ह्यारों और सार्यों शत्रुओंका संहार करता है ।' इन मंत्रभागोंमें यह वर्णन बड़ा मनोरम है और जाळयुद्धका महत्त्व भी इससे प्रकट होता है, एकबार शत्रु जाळ में बांधे गये, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी हतनाश भी बन्द हो जाती है । इस प्रकार जाळसे बांधे गये शत्रुओंका वध करना बड़ा सहज काम होता है क्योंकि इन्द्र एक बार शत्रुको जाळमें पकड़कर परवाप्त अपने सैनिकोंसे ही उनका वध करता है, ऐसा इसी सूक्तमें कहा है—

शक्रः क्षेपया तेन (जाळेन यद्) दस्यूनां

सहस्रं जघान । (मं. ७)

' इन्द्र अपनी सेनाद्वारा उस जाळसे बांधे गये शत्रुके ह्यारों सैनिकोंको मारता है ।' इस वर्णनसे स्पष्ट हो जाता

हे कि जालमें बंधे शत्रुसैन्यका बंध करना सहज बात है।
यह बड़ा जाल पृथ्वीपर फैलाना जाता है इस विषयमें निम्न-
लिखित मन्त्र देखिये—

अयं महान् लोकाः शक्रस्य जालं आसति ।
तेन इन्द्रजालेन सर्वात् तमसा अभिदधामि ॥
(म ८)

साध्याः रुद्राः यस्यचः जालदण्ड
उचम्य भोजसा यन्ति ।

आदित्यैः एकः (दण्ड) उच्यतः ॥ (मं. १२)
विश्वेदेवाः भोजसा उपरिष्टान् यन्तु ।
अंगिरसः मघेन सेनां हन्तः यन्तु ॥ (मं १३)

इस पृथ्वी भर इन्द्रका जाल फैला हुआ है। इस इन्द्रके
जालमें सब शत्रुसैन्यको बन्धेरेसे घेरते हैं। साध्य, रुद्र, वसु
और आदित्य ये सब देव जालका एक एक स्तम्भ पकड़ कर
वेगते बौधते हैं। विश्वेदेव और अंगिरस भी शत्रुसैन्यके बन्ध-
में और ऊपरसे हमला करते हैं। इतना विस्तार इस
जालका होता है। इस जालमें सब पृथ्वी और अन्तरिक्ष
भर जाता है, अर्थात् शत्रुका सब संन्य चारों ओरसे इस
जालके द्वारा घेरा जाता है। इन मंत्रोंसे ऐसा प्रतीत होता
है कि जिस प्रकार शत्रुका संन्य घूमता है, उसी रीतिले यह
जाल भी घुमाया जाता है। इसीलिये जालके दण्ड पकड़कर
वसु, रुद्र, आदित्य और साध्य वेगते भ्रमण करते हैं। विश्व-
देव अपने संन्यके ऊपरसे आगसे हमला करते हैं और अंगि-
रसोंकी सेना बन्धमें हमला करती है। इस प्रकार शत्रुसैन्य-
को युद्धमें दबकर वसु, रुद्र और आदित्य जालकाओंके पकड़
कर बौध बौध कर शत्रुके इर्दगिर्द जालकी दण्डोंके आधार-
पर ऐसे वेगसे जाल रखते हैं, कि शत्रु न जानते हुए स्वयं ही
जालमें भाकर फस जाय। यह युद्धकीजालकी बात है और
यों युद्धविद्या जानते हैं उनके ही श्रावणमें यह बात भासकती
है। यही मंत्रों द्वारा उक्तविषय प्रकट हुआ है। यही श्राव्य,
वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और अंगिरस ये सेनाविभागों
और सेनाध्यक्षोंके नाम हैं। इनके विशेष कार्य युद्धभूमिमें
होते हैं, अतः ये अलग अलग नाम इनके होते हैं। इन सब-
का मुख्य इन्द्र है, इसका कार्य (इन्द्र+जु) शत्रुका विदारण
करना है। इसका कार्य प्रथम भगवते इस प्रकार कहा है—

मन्थिता शूरः शक्रः पुरदरः इन्द्रः मन्थयतु ।
(म. १)

' शत्रुसैन्यका मन्थन करनेवाला इन्द्र शूर और समर्थ

होकर (पुर-दरः) शत्रुके किलोंका भेदन करे।' इसमें
प्रत्येक शत्रु इन्द्रका कार्य करता रहा है। शत्रुके किलोंको
तोड़नेका कार्य इन्द्र करता है, किलोंसे शत्रुसैन्यको बाहर
निकालकर, उनको अपने जालोंमें बंधकर मारता है। इस
प्रकार यह जालयुद्धकी नीति है।

इस रीतिके जालयुद्धके सामान्य परिपाक हों तो शत्रुपर
बिजय प्राप्त करनेका विश्वास अपने सैनिकोंमें जाता है और
वे लड़ते हैं—

अभिजाणां सहस्रश सेनाः हनाम । (मं. १)
यवका घघे एतान् हन्तु । (मं ३, ४)
अमून नि. शृणोहि । अमून अजिरे खाद । (म १)
मृत्यवे अमून प्रयच्छामि ।
अमी मृत्युपाशैः सिताः ।
मृत्योः ये अधला दूताः तेभ्य
एतान् वदन् प्रतिनयामि ॥ (म १०)
मृत्युदूता अमून नयत । यमभूता भयाम्भत ।
पर.सहस्रा हृष्यन्ताम् ॥ (म. ११)
यथा वसु सेनां हनन् । (म. १४, १५)
उताः मृत्युपाशाः यान् आक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्याः सेनायाः इदं कूटं सहस्रदाः हन्तु ।
(म १६)

' शत्रुके हजारों सैनिकोंको हम मारेंगे। उनके साथियोंसे
इनको मारें। इन शत्रुसैनिकोंको विजय मारो। इनको
मृत्युको शोषा देता हू। ये मृत्युके पागले पाये हैं। इन
शत्रुसैनिकोंका नापकर मैं मृत्युके दूतोंके हवाले करता हू। यम-
दूत इनको ले चले, यमदूत इनको शोष लें और हजारोंका
घघ किया जाने। इस शत्रुसैन्यका नाम किया जाये। ये
मृत्युके पाश बंधाये हैं, इनसे नहीं छूटोये, इस शत्रुसैन्यके
इस केन्द्रको प्राप्त करके उनके हजारों सैनिक मारे जाय।'

इस प्रकारकी भाषा तमो चोली जा सकती है कि जब
शत्रुको पकड़कर उसका बंध करना निश्चितसा हो। उसमें
बड़े शत्रुका बंध करना निश्चित और सहज होता है। इसी
लिये जालयुद्धी और इस प्रकारके विरचयामक वाच्य बोल
सकते हैं। इसी प्रकारके वाच्य और बोलचाल—

पराजिताः अभिजाः प्र प्रसन्तां,
अपणा नुष्ताः धारस ।
युद्धरपतिमशुचानां अर्भपां कथन मा मोधि ॥

(मं १९)

' पराजित हुए दास प्राप्तको प्राप्त हों, भगवते शत्रु तेजोसे भाग जावे, भवाये गये इन शत्रुओंसे भी कोई न बचे । ' ये शब्द दासपराजयका निश्चय बता रहे हैं । जालपुत्रका यह महाव है कि एक बार उसमें फसे हुए शत्रुका बचना अर्थात् भय है । ज्ञानमें फसे शत्रुकी भयस्या कंती बनती है देखिये—

एषां आयुधानि जघपयन्ताम् ।

इयुं प्रतिधां मा शकन् ।

एषां बहु विभ्यतां इपवः मर्भणि स्रन्तु । (मं. २०)

' इन शत्रुओंके आयुष गिर जाय । हमारे दासोंको तह न सकें । इन बहुत पनराये शत्रुओंके मर्भोंमें हमारे दास प्रायात करें । ' तथा और देखिये—

ज्ञान्तरं प्रतिष्ठां मा विदन्त ।

मिथो विप्रानाः मृत्युं उपयन्तु । (मं. २१)

' शत्रु भयभीत होकर भी आश्रयको न प्राप्त हों, उनको कोई उत्तम सत्ताह देनेवाला न मिले । ये क्षापसमें एक दूसरे को मारते हुए मृत्युको प्राप्त हों । ' यह अवस्था शत्रुको तब होगी जबकी अपने निश्चित विजयकी संभावना हो ।

इन्द्रः शर्वः च अक्षुजालाभ्यां अमूं सेनां हतम् ।

(मं. १८)

' इन्द्र और शर्व अशु और जालोंके द्वारा इस सेनाको मारे । ' इस मंत्रमें जालपुत्रकी उक्ति बताई है । सपूर्ण शत्रु सेनाको मारना केवल जालपुत्रसे ही संभव है । ज्ञानमें पकड़े गये शत्रुसेनापर कितनी भयानक आपत्ति आती है इसकी कल्पना आपसे मंत्रभावसे ही सकती है—

मृत्योः आर्यं श्रुधं सेदिं चधं भये आपयन्ताम् ।

(मं. १८)

ज्ञानमें पकड़े गये शत्रुओंपर ' मृत्युके समान कष्ट, भय, बंधन, वध और भय ' आ पडते हैं । शत्रुका कोई भी मनुष्य इनसे बच नहीं सकता । शत्रुसेनापर ऐसी भयानक आपत्ति आती है इसलिये यह जालपुत्र शत्रुको बहुत बर उत्पन्न करनेवाला होता है । इसी मंत्रके साम निम्नलिखित मंत्र देखिये—

सेदिः उमा श्रुदिः आतिः

अनपयाचनां श्रमः तन्वी मोहः

च तैः अमून् सधेन् अमिदधामि । (मं. ९)

' बंधन, उप विपत्ति, न कहने योग्य कष्ट, श्रम, आतस्य, धीहृ इनसे ये सब हमारे शत्रु जबर हो जाय । ' इसकी सिद्धि होनेके लिये यज्ञमें जालप्रयोग नि.तन्वेह उपकारक है । ज्ञानमें पकड़े और कितना भी बलवान् हो तो भी यह कुछ भी

प्रतिकार करनेमें असमर्थ होजाता है । इसलिये पुरहिते शत्रुको ज्ञानमें बंध देनेसे उनका पुर्णतया नाश हो जाता है । इस यज्ञमें और दुर्गंधात्रका प्रयोग बर्णन किया है वह भी बड़ा घोर प्रयोग है देखिये—

दुर्गंधयुक्त धुंवां

पूतिरज्जुः उपयमानि अमूं सेनां पूर्तिं कृषोतु ।

(मं. २)

' दुर्गंधयुक्त, रस्ती जलाकर इस सेनामें सर्वत्र दुर्गंधीको फैला देवे । ' कुछ विशेष रासायनिक पराधीने यह रस्ती भिगोयी रहती है । इस रस्तीको जलाकर उसको शत्रुसेनामें फैलानेसे शत्रुसेनामें ऐसी दुर्गंधी फैलती है कि उससे प्रसन्न हुए शत्रुके सैनिक मृष्ट करनेमें असमर्थ हो जाते हैं । इससे कितना भय प्राप्त होता है देखिये—

धूममग्निं पराहृष्य अमिथा हृत्स्वाद्घृतां भयं ।

(मं. २)

' पूर्वोक्त धूममय अग्नि बूरसे देखकर शत्रुके सब लोग हृदयमें भय धारण करते हैं । ' इतना यह दुर्गंधात्र महा-भयंकर है । एकबार यह (पूतिरज्जुः) दुर्गंधकी रस्तीका जलना प्रारंभ होकर दुर्गंध फैलाने लगा तो सब सैनिक कितने भी कार्यके लिये बड़े निकम्मे हो जाते हैं और मारने लगते हैं कि अब अपने नाशका समय आ पडा है । परिजाल प्रयोग और यह दुर्गंध प्रयोग इन दोनोंके प्रयोग किये जाय, तो शत्रुका शीघ्र नाश करना बिल्कुल भासनीति हो सकता है । इस प्रकार इन दोनोंके प्रयोग करनेसे अपनी विजय होती है अतः कहा है—

विजय

इतो जय विजय संजय जय स्याद्वा ।

इमे जयन्तु परानी जयन्तां स्वाहैभ्यो युवाहामीभ्यः ।

(मं. २४)

' इस पूर्वोक्त पुरहिते जय और विजय प्राप्त करो, यह तुम्हारी उत्तम अवस्था है । ये तुम्हारे सैनिक विजयी हों, तुम्हारे शत्रु पराजित हों । तुम्हारा उत्तम कल्याण हो, तुम्हारे शत्रुओंका अकल्याण हो । ' इस प्रकार अन्तमें इस जालपुत्र करनेवालोंको शुभ आशीर्वाच दिया है ।

इस प्रकार वेदमें उपरोक्त किये जालपुत्रका वर्णन है । वेदकी यज्ञोक्ति जानें ।

' इन्द्र जाल ' नाम माध्याह्निक बन्धनका भी भाव बताता है । इस यज्ञसे इस युक्तका विचार कीई करे । यह विषय भव्येययोग है ।

विजय सूक्त

कांड ७, सूक्त ११८

(ऋषिः - अथर्वङ्गिराः । देवता - चन्द्रमा, वरुण, देवः ।)

मर्माणि ते वर्मणा छाद्यामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तु त्वानु देवा मदन्तु

॥ १ ॥

अर्थ— (ते मर्माणि वर्मणा छाद्यामि) तेरे मर्मस्थानोंको कवचसे सं ढकता हूं । (सोमः राजा त्वा अमृतेन अनुपस्ता) सोम राजा तुझे अमृतसे आभूषित करे । (वरुणः ते उरोः वरीयः कृणोतु) वरुण तेरे लिये बड़े बड़े वज्र स्पन्द देवे । (जयन्तु त्वा देवाः अनुमदन्तु) विजय पानेवाले तुझे बेशक सय देव जानकर ॥ १ ॥

युद्धके लिये बाहर जानेके समय बीर लोग अपने शरीर पर कवच धारण करें । इस प्रकार तैयार होकर बीर अतन्वते शत्रुपर हमला करनेके लिये चले और विजय प्राप्त करें । मनमें विजय रखें की, तत्क्षममें रहकर सम्भवसे बीरका सब देव सहाय्य करते हैं और उसके विजयसे आनन्दित भी होते हैं । जिनकी विजयके कारण देवोंकी मान्य हो ऐसे ही बीर अपनेमें बलाने चाहिये ।

विजय सूक्त

कांड १, सूक्त २

(ऋषिः - अथर्व । देवता - प्रथम्यः, पृथिवी, इन्द्रः, अश्विनारण्य ।)

विद्या शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् । विद्यो भ्वस्व मातरं पृथिवीं भूरिवर्षसम् ॥ १ ॥
उषां क्रि परिं षो नमाश्मानं तन्वं क्रुधि । वीदुर्वरीयोऽरातीरप देवांस्या कृधि ॥ २ ॥

अर्थ— (शरस्य पितरं) शरका, बाणका पिता (भूरि-धायसं पर्जन्यं) बहुत प्रकारसे पालन पोषण करनेवाला पर्जन्य है यह (विद्य) हम जानते हैं । उषा (अस्य) इसकी माता (भूरि-वर्षसं) बहुत प्रकारकी कुशलताके लिये युक्त पृथिवी है, यह हमें (सुविद्य) उषाम प्रकारसे पता है ॥ १ ॥

हे (उषाके) माता । (नः) हम सब पुत्रोंकी (परि नाप) परिपालन कर अपात् हुनारे (तन्वं) शरीरको (अश्मानं) पत्थर जैसा सुबुद्ध (कृधि) कर (वीदुः) बतवान् बनकर (अ-रातीः) महानके भावोंको तथा (देवांसि) देवोंको अर्थात् सब शत्रुओंको (वरीयः) पूर्ण रीतिले (अप कृधि) दूर कर ॥ २ ॥

भाषार्थ— धारण-पोषण उत्तम प्रकारसे करनेवाला पिता पर्जन्य है, कुशलतासे अनेक कर्म करनेवाली माता पृथ्वी है, इन दोनोंसे शर-सकल-दुष्ट उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

माता पुत्रके शरीरपर ऐसा परिपालन करावे कि जिससे वह बतवान् बनकर शत्रुओंको पूर्ण रीतिले दूर करनेमें समर्थ हो सके ॥ २ ॥

पृथं बद्धार्थः परिपश्यजाना अनुस्फुरं शरमचैन्त्युभुम् । शकस्मसद्योषय विद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥
यथा धां च पृथिवी चान्तस्तिष्ठति वेर्जनम् । एवा रोर्गे चास्त्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

अर्थ— (यत्) जिस प्रकार (पृथं) बुझके साथ (परिपश्यजानाः) लिपटी हुई या बंधी हुई (गायः) पीरें अपने (ऋभुं शरं) तेजस्वी पुत्र शरको (अनुस्फुरं) फुलके साथ (मर्चन्ति) चाहती हैं, जगो प्रकार हे इन्द्र ! (अस्त्रम्) हमसे (दिशुं शरं) तेजपुत्र कागको (यावय) दूर भगा ॥ ३ ॥

जिस प्रकार (धां) दुलोक और पृथ्वीके (अन्तः) बीचमें (तेजनें) तेज (तिष्ठति) होता है, (एव) इसी प्रकार यह (मुञ्जः) मूल (रोर्गे च आस्त्राधं च) रोग और ज्ञावके (अन्तः) बीचमें (इत् तिष्ठतु) निरखगते रहे ॥ ४ ॥

भाष्यार्थ— जिस प्रकार बुझके साथ बंधी हुई गौमें अपने बछड़ेको सेगसे प्राप्त करना चाहती हैं, उसी प्रकार हे ईश्वर ! तेज शर हमसे जागे पड़े ॥ ३ ॥

जिस प्रकार दुलोक और पृथ्वीके बीचमें प्रकाश होता है, उसी प्रकार रोग और ज्ञाव-पान-के बीचमें शर दहरे ॥ ४ ॥

विजय सूक्त

प्रथम काण्डके प्रथम सूक्तमें 'मेधाजनन' अर्थात् बुद्धि-का संवर्धन करके मूलभूत नियम बताये हैं। युद्ध, शिष्य तथा विद्यालय आदिका संबंध किस रीतिले करना चाहिये, युद्ध किस प्रकार पढ़ाये, शिष्य किस ढंगसे पढ़े और दोनों मिलकर राष्ट्रको उन्नति किस रीतिले करें इसका विचार किया गया है।

इसके पश्चात् विद्याकी पढ़ाई शुरू होती है, जिसमें अष्टादशित एषका सूक्त 'विद्या शरस्य पितरे' यह है। अष्टम-वेदमें यह द्वितीय सूक्त है। तृतीय सूक्त भी इसी वाक्यसे प्रारंभ होता है। इन दोनों सूक्तोंका विचार अब करेंगे।—

यह भावार्थ भी परिपूर्ण नहीं क्योंकि इन मंत्रोंके हर एक अंगे पीछेका संबंध देसकर जो भाव व्यक्त होता है, वह जानकर ही मंत्रोंका सच्चा भावार्थ जानना चाहिये। वह भाव देसनेके लिये जगोका स्पष्टीकरण देखिये—

(१) वैयक्तिक विजय

इस सूक्तमें पहिले वैयक्तिक विजय प्राप्त करनेके उपदेश दिव्य प्रकार बताये हैं—

१ उत्तम मातापितासे जन्म प्राप्त हो, (मं. १)

२ शरीर बलवान् बनाया जाये, (मं. २)

३ रोगादि शत्रुओंको दूर रखा जाये, (मं. ३)

४ शरीरमें फुलें लाई जाये, (मं. ४)

५ जगत्में अपना तेज फैलानेका यत्न किया जाये, (मं. ५)

६ शोधनोंसे रोगोंको दूर किया जाये। (मं. ६)

पाठक विचारकी दृष्टिले इन मंत्रोंका विचार करेंगे जो उनको उक्त छः भाव वैयक्तिक उन्नतिके साधन पूर्वोक्त चारों मंत्रोंके अन्तर गुप्तरूपसे दिखाई देंगे। इनका विशेष विचार होनेके लिये यहाँ मंत्रोंके तात्पर्य और स्पष्टीकरण दिये जाते हैं—

(२) पिताके गुण-धर्म-कर्म

पूर्वोक्त मंत्रोंमें पिताके गुणधर्म बतानेवाले ये शब्द आये हैं— " पिता, पजंय, भूरिधायम्, पुश, धौः " इनके

मर्वाका बोध होनेसे पिताके गुण-धर्म-कर्माका बोध हो सकता है। इसलिये इनका आशय देखिये—

- १ पिता- (माता) रक्षक, संभालनेवाला ।
- २ पञ्चन्यः- (पूर्ति+जन्यः) पूर्ति करनेवाला, पूर्णता करनेवाला । मृतताकी दूर करनेवाला ।
- ३ भूरिधावस्- (भूरि) बहुत प्रकारसे (धावस्) धारण पोषण करनेवाला, हाता, उदारस्वरित ।
- ४ वृक्षः- भाषार, स्वयं धूप सहकर दूसरोंकी छाया देनेवाला ।
- ५ द्यौः- प्रकाश देनेवाला, अदकारका नाश करनेवाला ।

मुष्णतः ये पांच शब्द हैं जो उक्त भर्तृमें पिताके गुणधर्म कर्माका प्रकाश कर रहे हैं । इनका आशय यह है- ' पिता ऐसा हो जो अपने पुत्राधिकारोंका उत्तम रक्षण करे उनके अन्दर जो जो मृतताएँ हों उनकी पूर्णता करे अर्थात् अपनी सततकी पूर्ण उच्च गुणोंसे युक्त बनानेमें अपनी पराकाष्ठा करे, उनका हर प्रकारसे पोषण करे और उनको हृष्टवृष्ट तथा बलिष्ठ बनावे, वह स्वयं कष्ट सहन करके भी अपनी संतानकी उन्नति करे, तथा अपने पुत्रों और लक्ष्मियोंकी शान देकर उनको उत्तम नागरिक बनावे । '

(३) माताके गुण-धर्म-कर्म

“ माता, पृथिवी, भूरिवर्षस्, ज्याका, गो ” ये पांच शब्द पूर्वोक्त भर्तृमें माताके गुण-धर्म-कर्माकी प्रकट कर रहे हैं । इनका अर्थ देखिये—

- १ माता- बालकोंका हित करनेवाली ।
- २ पृथिवी- ललाटोक्त, सङ्गतशील, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये आवश्यक कष्ट सहन करनेवाली ।
- ३ भूरिवर्षस्- (भूरि) बहुत (वर्षस्) कुशलतासे कर्म करनेमें समर्थ, कर्ममें अत्यन्त कुशल, तथा कर्म करनेमें बध, परिवारकी उन्नतिके लिये उत्तम कर्म करनेवाली ।
- ४ ज्या, ज्याका- (ज्या-जया) अपना साधन करनेवाली, माता, पृथिवी, रक्षी, बलशालिनी ।
- ५ गो- प्रगतिशील, गुणवर्धि द्वारा पुत्रोंको पुष्टि करनेवाली ; किरण, स्वयं, रत्न, प्राणी, सरस्वती, माता, जल, नेत्र, आकाश, सूर्य आदिके सुभगुणोंसे युक्त ।

माताके गुणधर्म इन शब्दों द्वारा स्पष्ट हो रहे हैं । अर्थात्- ' बालकबन्धुका हित करनेवाली, क्षमाशील, पुत्रोंकी उन्नतिके

लिये करनेयोग्य कर्मामें सदा दल रहनेवाली, बहुत ही कुशल-वासी अपने कुटुम्बकी उन्नति करनेमें समर्थ, बलशालिनी, योके समान दुग्धादि द्वारा बालकोंको पुष्टि करनेवाली, किरणोंके समान प्रकाश करनेवाली, स्वयंके समान सुखरायिनी, एनके समान घरकी धोभा बढानेवाली, शुभ भाषण करनेमें बहुत, विदुषी, जलके समान शक्ति धरनेवाली, नेत्रके समान मार्ग दर्शावेवाली, आकाशके समान सबको आश्रय देनेवाली, सूर्यके समान अन्तान्तरकार दूर करनेवाली माता हीनी चाहिये । '

पिताके गुण-धर्म-कर्म पहिले बताये और यहां माताके गुण-धर्म बताये हैं । ये आपस में माता पिता हैं, इनसे जो पुत्र पैदा होगा और पला तथा बढाया जायगा, यह भी सच्चा और पुत्र ही होगा तथा पुत्री भी जो प्रकट होकर बनेगी इसमें क्या संदेह है ?

(४) पुत्रके गुण-धर्म-कर्म

पूर्वोक्त भर्तृमें पुत्रके गुण-धर्म-कर्म बतानेवाले ये शब्द हैं- ' शरः, अश्मा-तनुः, धीदुः, तनुः, शरः, दिद्युः, तेजसः, सुश्रुः " इनके अर्थ ये हैं—

- १ शरः- (श्रुणति) जो शत्रुका नाश कर सकता है ।
- २ अश्मा-तनुः- अस्त्रके समान सुदृढ़ शरीरवाला ।
- ३ धीदुः- बलिष्ठ, दूर ।
- ४ तनुः- बुद्धिमान्, कुशल, कारीगर, तेजस्वी ।
- ५ शरः- शत्रुका नाश करनेवाला ।
- ६ दिद्युः- तेजस्वी ।
- ७ तेजसः- प्रकाशमान् ।
- ८ सुश्रुः- (सुजति मार्जयति) सुदृढ़ता और पवित्रता करनेवाला ।

पुत्र ऐसा हो कि जो ' शत्रुका नाश करनेमें समर्थ हो, सुदृढ़ अयस्त्राला हो, दूर, बुद्धिमान्, कुशल, कारीगर, तेजस्वी, पशुस्त्री और पवित्र आश्रयवाला हो । ' माता पिताकी उन्नति है, कि ये ऐसा बल करें कि पुत्रमें ये गुण-धर्म और कर्म बड़ें और इन गुणोंके द्वारा कुलका पत धरें ।

यह बात स्पष्ट ही है कि पूर्वोक्त गुण-धर्म कर्मासे युक्त पलायिता होंगे ही उनके पुत्रों और पृथिवीमें ये गुण-धर्म आसकते हैं ।

या राष्ट्रके विजयकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबकी सुस्थिति-पर तथा भुज्जा निर्माणपर ही अवलंबित है। जो लोग राष्ट्रकी उपरति चाहते हैं, वे अपनी उपरतिकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबमें रखें। आदर्श कुटुंब-व्यवस्था ही सब विजयका मूल्य साधन है।

(७) पूर्वापर-सम्बन्ध

बहिले सूक्तमें विद्या पढ़ानेका उपदेश दिया है। इस त्रितोय सूक्तमें पढाईका प्रारम्भ हो रहा है। विद्याका प्रारम्भ बिलकुल सामारण बातोंसे ही किया गया है। पातली उत्पत्तिका विषय हरणुक स्वामिके मनुष्य जलते हैं। ' मेवसे पानी गिरता है और पृथ्वीसे घास उगता है इसलिये घासका पित्त भेप और माता भूमि है। ' इसका ही विषय इस सूक्तके प्रारम्भमें बताया है। इसीसे सामारण व्यवस्था उपदेश करते हुए ' पिता-माता-पुत्र ' रूपी कुटुंबकी उपरतिकी शिक्षा किया ईंगले वेदमें बताया है यह पाठक यहां वेस चुके हैं। घासके अंदर मूज्ज या दार एक जासीकी घास है। यह हर-रुंदा स्वयं घासका बंध करनेमें समर्थ नहीं होता। क्योंकि कीमत् रहता है। परंतु जब उसको सावकडिन लोहेका सयोग किया जाता है और पीछे पर लगाये जाते हैं, तब वही कीमत् सरकड़ा घनुष्यपर चढकर डोरीकी गति प्राप्त करके अशुका मान करनेमें समर्थ होता है। इसी प्रकार कीमत् घालक गुण-पूहकी कडिन दपस्था करता हुआ बहलचर्म पालनरूपी कडिन बचसे मुक्त होकर उपरतिके विषयमें बालकसे अपने गतिकी एक मार्गमें रचता हुआ अपने, कुटुंबके, जातिके तथा राष्ट्रके शत्रुओंको भया देनेमें समर्थ होता है।

बहिले सूक्तके तृतीय मंत्रमें घनुष्यकी उपना देकर बताया है कि ' गुण-शिव्यरूपी घनुष्यकी दो कोटियां विद्यारूपी डोरीसे तनी हैं। ' प्रथम सूक्तमें यह अलकार भिन्न उपदेश दे रहा है और इस अलकार घनुष्यका दृष्टान्त भिन्न उपदेश दे रहा है। दृष्टान्तमें एकदेशी बातको ही देखा जाता है, इसलिये एक ही दृष्टान्तसे भिन्न उपदेश देना कोई बंध नहीं है। प्रथम सूक्तके दृष्टान्तमें भी डोरीका स्थान विद्या माता अर्थात् सरस्वती देवीको दिया है उसमें मातृत्वका सादृश्य है।

बचलर्में वृक्षके साथ भरी हुई गाय भी अपने बछड़ेका स्पर्श करती रहती है, गायका बछड़ेके अंगरका प्रेम सबसे बढ़िया प्रेम है। इस प्रकारका प्रेम अपने बालकके विषयमें माताके हृदयमें होना चाहिये। अपना बालक अति तेजस्वी हो, अति यशस्वी हो, यही भावना माता मनमें धारण करे

और इस भावनाके साथ यदि माता अपने बालकको पूर्ण विश्वासयोगी, ती उक्त गुण पुत्रमें नि बंदेह उत्तरेंगे। इस विषयमें तृतीय मंत्र मनन करनेके योग्य है।

(८) कुटुंबका आदर्श

सत्रुपं मंत्रमें आदर्श कुटुंबका नमूना समुच्च रखा है। दूल्हकी विता, भूमि माता और इनके बीचका तिसरयो मोलक इनका पुत्र है। अपने घरमें भी यही आदर्श होवे। धाकान और पृथ्वीमें अंसा सूर्य होता है, उसी प्रकार विता और माताके मध्यमें बालक प्रभवता रहे। कितना उच्च आदर्श है। हर-एक गृहस्थी इसका स्मरण रखें।

(९) औषधिप्रयोग

मूज्ज घास अपने रस आदिते अनेक रोगों और अनेक प्राणीको दूर करता है, क्योंकि मूज्ज शोधक, शुद्धता तथा निमंलता करनेवाला है। इसलिये स्पष्ट है कि यदि शोधकता और पवित्रताका गुण अपने अंदर बढाया जाय तो रोगरहित बूद रहा करते हैं। हरएकके लिये यह सूचना अगनामें योग्य है।

मूज्ज या दार औषधिकी प्रयोग करके सारके रोग तथा मूधापात आदि रोग दूर होते हैं। इस विषयका सूचक उप-देश इस सूक्तके अन्तमें है। ब्रह्म लोग इसका विचार करें।

(१०) राष्ट्रकी विजय

व्यक्ति, कुटुंब, जाति, देश तथा राष्ट्रके विजयपूर्ण सम्प-दके निपटोमें समानता है। पाठक इस बातको मज्जी प्रकार जानते ही हैं। व्यक्तिका कार्यक्षेत्र छोटा और राष्ट्रका विस्तृत है, छोटेपन और विस्तृतपन को घालको छोड़नेसे दोनों स्थानोंमें नियमोंकी एकरूपताका अनुभव था सकता है।

कुटुंबका ही विस्तृत रूप राष्ट्र है, ऐसा मान ले और पुत्रं स्वाम्ये एक घर या एक परिवारके विषयमें जो उपदेश बताया है, यही विस्तृत रूपसे राष्ट्रमें देखेंगे तो पाठकोंको राष्ट्रीय उपरतिका विषय पूर्वोक्त रीतिले ही ज्ञात हो जायगा।

घरमें पिता शासक है, राष्ट्रमें राजा शासक है, घरमें माता प्रबन्धकमें है, राष्ट्रमें प्रजादरल चुनो हुई राष्ट्रसभा प्रबन्धकमें है। घरमें पुत्र और बनावया जाता है और राष्ट्रमें बालवयुगोंमें वीरता बढाई जाती है। इसलिये साम्य देखकर पाठक जान सकते हैं कि यह सूक्त राष्ट्रीय विजयका उपदेश किस इंगले देता है। पूर्वोक्त स्वानामें वर्णन किमें हुए पिता, माता और पुत्रके पुण-धर्म-कर्म पहां राष्ट्रीय क्षेत्रमें मति-विस्तारसे देखनेसे इस क्षेत्रकी बात पाठकोंकी अतिस्पष्ट हो

जायगी। इस भावको ध्यानमें धारण करनेसे इस वृत्तका राष्ट्रीय भाव निम्नलिखित प्रकार होगा—

‘ प्रजाका उत्तम धारण पोषण और पूर्णता करनेवाला राजा ही शूरका सच्चा पिता और उसको माता बहुत कर्मोंको प्रेरणा करनेवाली मातृभूमि ही है ॥ १ ॥ हे मातृभूमि ! हम सबके शरीर अति मुदुह हों, जिससे हम तब उत्तम बलवान्

जनकर अपने शत्रुओंको भया डे ॥ २ ॥ जिस प्रकार भी अपने बच्चेका हित सदा चाहती है, उसी प्रकार हे ईश्वर ! मातृभूमिके प्रेमसे बड़े हुए वीर आगे बढ़ें ॥ ३ ॥ जिस प्रकार आकाश भीर भूमिके दोषमें तेजोगोचक होते हैं, उसी प्रकार राजा भीर प्रजाके मध्यमें भीर घमकते रहें तथा वे पवित्रता करते हुए रोषादि भयसे दूर हों ॥ ४ ॥

विजय—अभिषि

कांड २, सूक्त २७

(ऋषिः - कविः—श्वेतः । देवता - १-५, वनस्पतिः, ६, ७, ८, ९ इन्द्रः ।)

नेच्छुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कुंभोपधे	॥ १ ॥
सुपर्णस्त्वान्विन्दत्सूकरस्त्वाखनञ्जसा । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कुंभोपधे	॥ २ ॥
इन्द्रो ह चके त्वासाहावसुरेभ्य स्तरीतवे । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कुंभोपधे	॥ ३ ॥
पाटामिन्द्रो व्याभ्रादसुरेभ्य स्तरीतवे । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कुंभोपधे	॥ ४ ॥
तयाहं शत्रून्साक्ष इन्द्रः सालावुकाँ इव । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कुंभोपधे	॥ ५ ॥

मर्थ— (शत्रुः प्राशं न इत् जयाति) प्रतिपक्षी मेरे प्रत्यक्ष विरुद्धते विजय प्राप्त नहीं कर सकता। क्यों कि तू (सहमाना अभिभूः आसि) जपशूल और प्रभावशाली है। (प्राशं प्रतिप्राशः अक्षि) प्रत्येक प्रत्यक्ष प्रतिपक्षीको जीत। (ओपधे । भरसान् कुणु) हे औपधे ! तू प्रतिपक्षियोंको नीरस कर ॥ १ ॥

(सुपर्णः त्वा अनु अविन्दत्) गहकने तुझे प्राप्त किया है और (सूकरः त्वा नसा अखनत्) घूमरने तुझे नाकसे छोड़ा है ॥ २ ॥

(इन्द्रः असाहुरेभ्यः स्तरीतवे त्वा चाहो ह चके) इन्द्रने असुरोंसे अपनी रक्षा करनेके लिये तुझे साहुर पराण किया था ॥ ३ ॥

(असाहुरेभ्यः स्तरीतवे) असुरोंसे बचाव करनेके लिये (इन्द्रः पाटो व्याभ्रात्) इन्द्रने इस पाटा वनस्पति को खाया था। ० ॥ ४ ॥

(अहं तथा शत्रून् साक्षे) मैं उस वनस्पतिसे शत्रुओंको परास्त करता हूँ (इन्द्रः सालावुकान् इव) जैसे इन्द्र भेड़ आदिओंको दूर करता है ॥ ५ ॥

भाषार्थ— मेरे प्रत्यक्ष प्रतिपक्षीको पराजय हो। क्यों कि मेरो यह शक्ति जयशक्तिके और प्रभावशुक्त है। इसीलिये प्रत्येक प्रत्यक्ष प्रतिपक्षीका पराजय हो। औपधि भी प्रतिपक्षियोंको शुक बनावे ॥ १ ॥

इस वनस्पतिके गहकपक्षी प्राप्त करता है और घूमर छोड़ता है ॥ २ ॥

इन्द्रने यह औपधि असुरोंके पराभव करनेके लिये अपने शरीरपर पारण की थी ॥ ३ ॥

तथा उसीने इसका सेवन भी किया था ॥ ४ ॥

उसीसे शत्रुओंको भया डेता हूँ ॥ ५ ॥

हृद् जलापमेव नीलशिल्पण्ड कर्मकृत् । प्राशं प्रतिप्राशो जहारसान्कृष्योपधे ॥ ६ ॥
 तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति । आबिं नो न्नाहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥७॥

अर्थ— हे (जलाप-भेषज) बलसे चिकित्सा करनेवाले (नील-शिल्पण्ड) मोल शिखावाले (कर्मकृत् हृद्) पुष्पायी वर ! (प्राशं प्रतिप्राशः) प्रायक प्रश्नके प्रति प्रतिवादीको (जहि) जीत ले । (औपधे जरहान्कृषु) हे औपधे ! तू प्रतिपक्षीको मूक कर ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! (यः नः अभिवासति) जो हमें वास बनाना चाहता है (तस्य प्राशं त्वं जहि) उसके प्रश्नको तू जीत (शक्तिभिः नः अधिशूहि) शक्तिमयोंके साथ हमें कह ओर (प्राशि मां उत्तरं कृधि) प्रश्नप्रतिप्रश्नमें मुझे अधिक उत्तर कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे जल चिकित्सक नील शिखावाले उत्तम पुष्पायी वरदेव । प्रति प्रश्नके प्रतिवादीको परास्त कर और हे औपधे ! तू प्रतिपक्षीको मूक बना दे ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! जो हमें वास बनानेकी चेष्टा करता है उसको प्रतिप्रश्न में जीत, प्रतिप्रश्नमें मेरी विजय कर और शक्तिमयोंके साथ हमें कथन कर ॥ ७ ॥

विजय-प्राप्ति

विजयके क्षेत्र

एक विजय वाच-विवाचमें होता है, दूसरा युद्धमें होता है । इन दोनों विजयोंकी प्राप्ति करनेके लिये विभिन्न शक्तियोंकी आवश्यकता रहती है ।

वादी और प्रतिवादी

प्रश्न करनेवाला 'प्राश' अर्थात् वादी होता है और उसके प्रतिपक्षीको 'प्रति प्राश' कहते हैं । 'वादी और प्रतिवादी' इन दो शब्दोंके समान ही वे 'प्राश और प्रतिप्राश' शब्द हैं । पहला मंत्र तथा आगे भी कई मंत्रोंमें कहा है कि प्रश्नकर्ता वीं सम्प्रतिषे कि उत्तरवाता भी अपने पक्षका ज्ञान इतना रखे और इस प्रकार कुशलतासे प्रश्न करे कि एक से या थोड़ेसे प्रश्नोंसे ही प्रतिपक्षीका मुख ढीका पड़जाय । कई चतुर लोग ऐसे होते हैं कि वे प्राशसे एक से प्रश्न ऐसे ढंगसे पूछते हैं कि उन प्रश्नोंकी उत्तर देते देते प्रतिपक्षी स्वयं परास्त हो जाते हैं । अपने विषयका ज्ञान इतना प्राप्त करना और प्रश्न पूछनेका कौशल्य अपनेमें देना बढाना चाहे कि जिससे सहजहीमें वाद विवादमें विजय प्राप्त हो सके । इस युद्धके मंत्र भागोंमें ऐसी तैयारी करनेकी सूचना कई बार दी है । वाच-विवादमें विजय प्राप्त करनेका आमविश्वास अपने अंदर हो और किसी प्रकारका संदेह न हो । यह वाद विवादकी विजयके विषयमें हुआ ।

युद्धमें विजय

यह दूसरी विजय युद्धमें शत्रुबोँपर प्रभुत्व करनेकी है इसमें भी अपनी आवश्यक पूर्व तैयारी करनी योग्य ही है ।

जिस तैयारीसे अपने विजयका निश्चय हो सके और कवाचि संदेह न रहे ।

दोनों युद्धोंमें पूर्व तैयारी अर्थात् आवश्यकताओं और जितनी पूर्व तैयारी अधिक होगी उतनी ही विजयकी संभावना अधिक होगी ।

पाठा औपधि

इस युद्धमें उक्त विजयके लिये एक औपधि प्रयोग निषा है । इस औपधिक नाम 'पाठा या पाठा' (म. ४) है इस औपधिके गुण ये हैं—

तिक्ता युद्धरूपान् वातपित्तज्वरहरा ।

भससंभानकरो पित्तदाहातीसारशूलघ्नी च ।

राज नि० व. ६

धेयसी मुखचाचिका । कफकण्ठरुजावहा । भावप्र० ।

'यह पाठा या पाठा वनस्पति तिक्त, गूढ, उष्ण है; वात, पित्त, बदरलाजक, टूट टूटकी बीजनेवाली; पित्त, बाह्य, मति-सारका मात्र करनेवाला है । यह शंफकारिणी, गुल्ममें वापीके रोग दूर करनेवाली, तथा कण्ठकी पीडाको हटाने-वाली है । ' भाषामें इस पाठा वनस्पतिको ' चम्पदाटा, आकनानी, निगुला ' कहते हैं ।

वाद-विवादके समय यह वस्ती मुखमें धरनेसे या कण्ठपर बाँधनेसे शोकनेके समय कण्ठ उत्तम रहता है और वस्तुवसे होनेवाले कण्ठ नहीं होते । यह वात, भावप्रकासादि, पंचोंमें भी कही है । कण्ठमें कफ होने वा अन्य प्रकार सम्ब द्रव्य न होने आँसुके जो कण्ठ होते हैं वे इसके प्रयोगसे नहीं होते । इसलिये इस औपधिले वादविवादमें विजय प्राप्त होनेका

वर्षन इस युवतमें किया है। इसके अतिरिक्त यह और उत्ते-
लक होनेसे यकावट भी नहीं होती। इससे भी विजय होनेमें
सहायता होती है।

युद्धमें भी यह वनस्पति इसलिये उपयोग है कि इससे
दूरे हुए अवयव जोड़े जाते हैं, पात्र शीघ्र भर जाते हैं।
महाभारतमें भी देखते हैं कि यहुँके और युद्धसमाप्तिके मंतर
कुछ वनस्पति सेवन करते थे तथा शरीरपर लेपन भी करते
थे। जिससे राजा व्यतीत होते हो और पुनः युद्ध करनेके
लिये सिद्ध होजाते थे। नहीं तो पहिले दिनेके युद्धमें प्रायः
दूध और दूसरे दिन फिर किस प्रकार युद्ध कर सकते थे, इस
संकाशा उत्तर इस वेद मंत्रने बताया है। महाभारतमें कहीं
श्रीषधिका नाम नहीं दिया, केवल श्रीषधि जगो बूझी सेवन
की जाती थी इत्यादि लिखा है। इस सूक्तने 'पाठा' नाम
दिया है। ज्ञानी वैश इसका अन्वेषण करें। कि यह वनस्पति
कौनसी है और उसका उपयोग कैसा किया जाता था।

यह श्रीषधि अपने पास रखना, बाहुवरया यत्नेमें सद्रक्षणा,
मूत्रमें धारण करना मयबा वेदमें सेवन करना उक्त रीतिसे
साधकरी है, प्रेषिये—

१ इन्द्रः चाहौ चने । (म. ३)

२ इन्द्रः पाटां व्याध्नात् । (म. ४)

इन मंत्रभागोंमें शरीरपर धारण करने और सेवन करनेकी
बात लिखी है। यदि ज्ञानी वैश इस वनस्पतिकी योग्य छोन
करेंगे और सेवनविधिका निश्चय करेंगे तो बड़े उपकार हो
सकते हैं। भारतीय युद्धके समय और लोग इसका उपयोग
करते थे और काम उठाते थे। दारुणि रक्त पूरित दूध और
तथा घोड़े सायंकाल इसके सेवन करनेसे पुनः दूसरे दिन युद्ध
करनेमें समर्थ हो जाते थे। यदि यह केवल कविकल्पना न
होगी और यदि इस मंत्रमें श्री यही बात हम देखते हैं तो
इसका अन्वेषण होना योग्य है।

शक्तिके साथ पदवृत्त्य

सप्तम मंत्रमें एक वात प्रियेय महत्त्वकी कही है वैशिये—
शक्तिभिः अधिग्रूहि । (मं. ७)

'अनेक शक्तिमोंको अपने साथ रखकर ही जो मोलना
हो सो बोलो'। अपने पास शक्तियाँ न रहते हुए मोलना
और बड़ा वक्तृत्व करना कुछ प्रयोजन नहीं रखता, उस
शक्तिहीन वक्तृत्वसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इस-
लिये अपने पास और अपने पीछे कार्यकारिणी शक्ति बितनी
है, इसका विचार करके ही जो कुछ वक्तृत्व करना हो तो

यह उस शक्तिके प्रमाणसे हो करना योग्य है। अपनी शक्तिके
आधुनिक किया हुआ वक्तृत्व न शत्रुपर प्रभाव उत्पन्न कर
सकता है और नहीं अपना बल बढ़ा सकता है। इसलिये
वेदकी यह महत्त्वपूर्ण सूचना पाठक अवश्य स्मरण रखें।
तथा—

यः नः अभिदासति तं जहि । (मं. ७)

'जो हमें दास बनाना चाहता है उसे जीत लो।' यह
उपदेश भी पूर्वोक्त आदेशके अनुसंधानसे कार्यमें लाया जाय
तो बड़ा लाभकारी हो सकता है। अपना बल बढ़ाना, उतना
ही मोलना कि बितना करके दिखाया जा सकता है, इतना
होनेके पश्चात् अपनेको दास बनानेवालेका पराभव करना।
यह अपनी शक्ति बढ़ाकर अपने कार्यक्षेत्रका विस्तार करनेका
योग्य मार्ग है।

अभिदासनका निषेध

वेदमें हथ देखते हैं कि अभिदासनका पूर्ण और तीव्र
निषेध स्पष्ट स्पष्टान्वय किया है। यहाँ तक यह निषेध है
कि 'अभिदास' का अर्थ 'विनाश' ही माना है। पूर्ण
नाश होना और दास बनना यह वेदकी दृष्टिके एक ही बात
है। किवी भी अवस्थामें वेद दास-गुलाम-बनना पसंद नहीं
करता।

जलचिकित्सक

युद्ध मंत्रमें जलचिकित्सक, नीलशिष्यावाते, पृथ्वार्षो छका
धर्यंन है। 'जलाप-मेरज' शब्द जलचिकित्सकका भाव
बता रहा है। जलाप का अर्थ जल ही है। नील शिष्याका
अर्थ नील शिष्यावाते है, यह शब्द जवान आरोग्यपूर्ण
मनुष्यका बोध करता है। युद्धकी शिखा श्वेत होती है।
तथ्यकी ही नीली या काली होती है। 'कर्म-कृत्' शब्द
पृथ्वार्षीका वाचक है। अपने चिकित्सा कर्ममें कुशल।
'रद्र' शब्दका अर्थ ही (रद्र + द्र) बलानेवाले रोगियोंकी
हृदानेवाला है। ये सब शब्द उत्तम चिकित्सकका भाव बताते
हैं। यह चिकित्सकका नाम यहाँ इसलिये ध्याया है कि यहाँ
युद्धमें प्रतिशत शरीरको आरोग्य प्राप्त करानेका संघ्य है।
तथा पाठा श्रीषधिका प्रयोग भी करना है। इसलिये युवित
वेदकी आवश्यकता है।

यह सूक्त जिस विषयका प्रतिपादन कर रहा है यह प्रत्यक्ष
अनुभवका विषय है, इसलिये ज्ञानी मंत्रोंकी ही इसकी
प्रशंसना करनेका दास करना चाहिये, अन्यथा यह विषय
केवल मंत्रोंमें ही रहेगी।

विजय-प्राप्ति

कांड ५, सूक्त ३

(ऋषिः - बृहद्दिशोऽथर्षी । देवता - अग्निः, विन्देदेवताः ।)

ममग्निं वर्षीं विह्वेष्वस्त्वु वयं त्वेन्धानास्तुन्वुं पुषेम ।	
मह्यं नमन्तां प्रदिशध्वतं वस्त्वयाभ्यक्षेण पृथना जपेम	॥ १ ॥
अग्नें मुन्युं प्रतिनुदन्परेषां त्वं नो गोपाः परि पाहि विश्वतां ।	
अपांश्चो यन्तु निवतां दुरस्ववोऽमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत्	॥ २ ॥
मम देवा विह्वे संन्तु सर्वु इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः ।	
ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामांयास्मै	॥ ३ ॥
मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकृतिः सत्या मनसो मे अस्तु ।	
एनो मा नि गां कतमश्नानाहं विश्वे देवा अभि रंशन्तु मेह	॥ ४ ॥

अर्थ— हे अग्नि ! (विह्वेषु मम वर्षाः अस्तु) सब मूढ़ने मेरा तेज प्रकाशित होवे । (वयं त्वा इन्धानाः तन्वुं पुषेम) हम तुझे प्रदोष करते हुए अपने गरीरको पुष्ट बनावें । (अतस्माः प्रदिशः मह्यं नमन्तां) भारी विद्या मेरे सम्मुख नये । (त्वया अभ्यक्षेण पृथनाः जपेम) तुझ अभ्यक्षके साथ रहकर हम तीसामीने विजय प्राप्त करें ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (परेषां मभ्युं प्रतिनुदन्) अशुभके शोकको दूर करना हुआ (त्वं गोपाः सन्) तू रक्षक होकर (नः विश्वतः परिपाहि) हमारा सब ओरसे पालन कर । (दुरस्ववः पराश्रः निवताः यन्तु) दु खदायी दूर हवाने योग्य नीच लोग दूर चले जायें । (एषां प्रबुधां चित्तं अमा विनेशत्) ये मूढ़ प्रबुद्ध हुए तो भी उनका चित्त साथ ही साथ नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

(सर्वे देवाः इन्द्रवन्तः मरुतः विष्णुः अग्निः) सब देव अर्थात् इन्द्रके साथ मरुत् विष्णु और अग्नि (विह्वे मम सन्तु) मूढ़ने मेरे पक्षमें हों । (मम अन्तरिक्षं ऊरुलोकं अस्तु) मेरा अन्तरिक्ष विद्याल स्थानवाला होवे । (वातः मह्यं अस्मै कामाय प्रवतां) वायु मेरे इस कार्यके लिये बहुत रहे ॥ ३ ॥

(मम यानि ह्यष्टा मह्यं यजन्तां) मेरे जो अभीष्ट हैं वे मुझे प्राप्त हों । (मे मनसः आकृतिः सत्या अस्तु) मेरे मनका सद्गुण सत्य होवे । (अहं कतमश्नान एनः मा नि गां) मे कितनी भी प्रकारके पापको न कर । (विश्वे देवाः इह मा अभिरंशन्तु) सब देव यहाँ मेरी रक्षा करें ॥ ४ ॥

भाषार्थ— हे ईश्वर ! सब प्रकारकी स्वर्धाओंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे । तुझे अपने अवर प्रकाशित करते हुए अपने गरीरको पुष्ट और बलवान् करें । मेरे सम्मुख सब दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाले लोग नष्ट हों । तेरी सम्पत्ताओंमें हम सब प्रकारकी स्वर्धाओंमें विजयी हों ॥ १ ॥

हे देव ! अशुभोंका शोक दूर करने में हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर । दु ख देनेवाले नीच लोग हमसे दूर हो जायें । यदि वे शत्रु मुद्दिमान् हों तो उनकी मूढ़ बुद्धि भी नाश साथ ही नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

सब देवोंकी सहायता हमें स्वर्षिके समय प्राप्त हो । इन्द्र, विष्णु, अग्नि, मरुत् तथा अन्योन्य देव हमें सहायक हों । मेरा अन्तःकरण बहुत विद्याल हो, तथा वायु आदि देव हमारी आवश्यकताके अनुकूल चलें ॥ ३ ॥

मेरी सब कामनाएँ पूर्णतया सिद्ध हों । मेरे मनके सद्गुण सत्य हों । यत्ने कोई पापकर्म न हो और मेरी रक्षा सब देव करें ॥ ४ ॥

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहृतिः ।

देवा होतारः सनिपश्च एतदरिष्टाः स्याम तुन्वा सुवीराः ॥ ५ ॥

दैवीः पृथ्वीकुरु नः कृषोतु विश्वे देवास इह मादयध्वम् ।

मा नो विददभिमा नो अशस्तिर्मा नो विदद्वृजिना द्वेष्या या ॥ ६ ॥

तिस्रो देधीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वेडु यच्च पुष्टम् ।

मा हांस्महि प्रजया मा तनुभिर्मा रधाम द्विपते सोम राजन् ॥ ७ ॥

उरुष्यचा नो महिषः शर्म यच्छत्यस्मिन्हवे पुरुहूतः पुरुक्षु ।

स नः प्रजायै हर्यश्च मृडेन्द्र मा नो रीरिपो मा परा दाः ॥ ८ ॥

धाता विधाता भुवन्नस्य यस्पतिर्वेवः सन्निवामिमातिपाहः ।

आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात् ॥ ९ ॥

अर्थ— (देवाः मयि द्रविणं आयजन्तां) देव मेरे लिये पन देवें । (मयि आशी, मयि देवहृतिः अस्तु) मुझमें आशीर्वाद और मुझमें देवताओंकी पुकारनेकी शक्ति रहे । (देवा होतारः नः एतत् सनिपन्) विश्व होतापन हमें यह देवें । ह्य (तन्या अरिष्टाः सुवीराः स्याम) अपने शरीरमें भीरोग और उत्तम भीर बनें ॥ ५ ॥

(दैवीः पृथ्वीकुरु) हे विश्व छः बड़ी दिशाओं । (नः उरु कृषोत) हमारे लिये विशाल स्थान बनाओ । हे (विश्वे देवासः) सब देवों । (इह मादयध्वं) यहाँ हमें आनंदित करो । (अभिमाः नः मा विदत्) निस्तेजता हमें न प्राप्त हो । (अशस्तिः मा नः) अकोति हमारे पास न आवे, (या द्वेष्या वृजिना नः मा विदत्) जो द्वेष करने योग्य पाप हैं वे हमारे पास न आवें ॥ ६ ॥

हे (तिस्रः देवीः) तीन देवियों ! तुम (नः महि शर्म यच्छत) हमें बड़ा सुख प्रदान करो । (यत् च पुष्टं नः तन्ये प्रजायै) जो कुछ पोषक पदार्थ हैं वे हमारे शरीरके लिये और प्रजाके लिये दो । (प्रजया मा हांस्महि) हम तांतिले हीन न हों और (मा तनुभिः) शरीर भी कुछ न हो । हे (राजन् सोम) राजा सोम ! (द्विपते मा रधाम) शत्रुके कारण हम पीड़ित न हों ॥ ७ ॥

(उरुष्यचा पुरुहूता महिषः अस्मिन् हवे नः पुरुक्षु शर्म यच्छतु) विशाल शक्तिवाला प्रवर्धित देव हत यत्नमें हमें बहुत अभिपूजित सुख देवे । हे (हर्यश्च इन्द्र) रसहरणशील फिरणवाले देव ! (नः प्रजायै मृडे) हमारी प्रजाके लिये मुझ से (नः मा रीरिपः) हमारा नाश न कर । (मा परा दाः) हमें मत त्याग ॥ ८ ॥

(धाता विधाता) धारक और निर्माण करनेवाला, (यः भुवन्नस्य पतिः अमिमातिपाहः सन्निवामि देवः) जो भुवनका पातक सञ्चालक धर्मही शत्रुको जीतनेवाला देव है, (आदित्या रुद्राः) आश्विन और रुद्र, तथा (उभा अश्विना) दोनों अश्विनोकुमार ये सब देव (निर्ऋथात् यजमानं पान्तु) विनाशसे यजमानको बचावें ॥ ९ ॥

भाचार्य— सब देव मुझे पश्य यथायं, उनका आशीर्वाद मेरे ऊपर हो, देवोंकी उपासना करनेकी निष्ठा मेरे मर्त्य स्थिर हो । यह निष्ठा देवोंकी कृपासे हमें प्राप्त हो । हम अपने शरीरमें भीरोग और स्वस्थ होते हुए उत्तम भीर बनें ॥५॥

विश्व दिशाओं हमारे लिये विस्तृत स्थान देवें । सब देव हमें आनंदित करें । निस्तेजता, अकोति तथा घृणित पातक हमसे दूर हों ॥ ६ ॥

तीन देवियाँ हमें बड़ा सुख देवें । हमारा शरीर और हमारी प्रजा पुष्टिको प्राप्त हो । हमारी प्रजा और शरीर नष्ट न हों और शत्रुवापे हम पीड़ित न हों ॥ ७ ॥

विशाल शक्तिवाला ईश्वर हमें उत्तम सुख देवे । हमारी प्रजा सुखी हो, कभी हमारा नाश न हो और हम कभी विभक्त न हों ॥ ८ ॥

ईश्वर तथा अमिता धानि सब अन्य देव हमें पारसे बचावें ॥ ९ ॥

ये नः सपत्न्या अप ते भवन्तिवन्द्रामिभ्यामव वाधामह एनान् ।

आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेतारंभिरात्रमक्रु

॥ १० ॥

अर्वाशमिन्द्रंमृष्टो हवामहे यो गोजिद्धंनुजिद्धंश्चजिघः ।

इमं नो यज्ञं विद्वे शृणोत्वस्माकमभूर्द्वयश्च भेदी

॥ ११ ॥

अर्थ— (ये नः सपत्न्या. ते अप भवन्तु) जो हमारे बंदी है वे दूर हो जायें, (इन्द्रामिभ्यां पत्न्या अप वाधामहे) इन्द्र और अग्निकी सहपत्न्याले इनको हन दोकते हैं । (आदित्याः रुद्राः उपरिस्पृशः) आदित्य, रुद्र और ऊपरके स्वामको स्पृश करनेवाले सब देव (नः उग्रं चेतारं भिरात्रं अक्रुत) हमारे लिये उग्र चेतना देनेवाले कुछ भयिदातको बरतते हैं ॥ १० ॥

(यः गोजिद्धं धनजित् यः अभ्वजित्) जो गो, धन और घोडोंको जीतनेवाला है उस (अर्वाशुं इन्द्रं अमुतः हवामहे) पातवाले इन्द्रकी बहाइ स्तुति करते हैं । वह (नः विद्वे इमं यज्ञं शृणोतु) जित्ने स्पृशमें लिये गये हमारे इस प्रकृति सुने । हे (ह्यर्वाश्च) रसहरणशील किरणवाले देव ! (अस्माकं भेदी अभूः) तू हमारा स्नेही हो ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो हमारे बंदी है वे हमसे दूर हों, इतलिये शत्रुओंको हम रोकते हैं । तथा आदित्य जादि सब देव हमारे लिये उत्तम तेजस्वी और बुद्धिमान् राजा हैं ॥ १० ॥

जो गी, घोडे, ज.वि विविध धनोंकी देनेवाला है, उस प्रभुकी हम अपने अन्त.करणसे स्तुति करते हैं । हे प्रभो ! वह हमारी प्रार्थना सुनकर हरएक स्पर्धामें हमारी सहायता कर और हमारा स्नेही बन ॥ ११ ॥



विजय-प्राप्ति

अपने विजयकी प्रार्थना

इस सुकृतमें अपने विजयके लिये ईश्वरकी शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा प्रकट की है । मनुष्य प्रायः हरएक समय किसी न किसी स्पर्धामें लगा पड़ता है । यह जीवन ही एक प्रकारकी स्पर्धा है । इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करनेकी इच्छा हरएक मनुष्यमें पड़ती है, परंतु उस विजयको प्राप्त करनेके लिये कित प्रकारके विचार मनमें धारण करने चाहिये, बुद्धिमें मौनसे संकल्प स्थिर करने चाहिये और शरीरसे कौतले कर्म करने चाहिये, इसका विचार मनुष्य नहीं करता बन, बुद्धि, चित्त जादि अन्त.शक्तिमोंके तथा शरीरादि माया शक्तिधर्मोंके उत्तम सहकर्मों और उत्तम प्रभावसे ही मनुष्यकी विजय हो सकती है । इससे स्पष्ट होता है विजय प्राप्ता होता सत्त्वा न होना अपनी शक्तिपर ही निर्भर है । बुद्धि, मन और चित्तमें जो विचार प्राप्त होते हैं उनके ही परिणाम रूप मथवा पराजय है । अर्थात् मनमें विजयो विचारोंके होनेसे विजय और हीन विचारोंके होनेसे पराजय होती ।

इसका संबंध ऐसा है कि, मनके शुभानुभ विचारोंके अनु-सार शरीरसे शुभानुभ कार्य होते हैं और उनका अन्तिम परिणाम बरमेजरीय निष्फलताए विजय अथवा पराजयमें मिलता है । इतलिये विजयो विचार मनमें तब धारण करने चाहिये, जिससे विजय प्राप्तिकी संभावना हो । इस सुकृतमें विजयो विचार दिये हैं, जिनको मनमें धारण करनेसे मनुष्यकी नि.सन्धेह विजय होगी, ये विचार इस प्रकार हैं ।

विजयी विचार

विजयो विचार मनमें धारण करने चाहिये, हीन और शूद्र विचार रुपाणि भागें जाने नहीं देने चाहिये । इस दूरतमें प्रारम्भसे अन्ततक विजयी विचार रहें हें । इतलिये इस सुकृतके मनमें मनमें विजयो विचार स्थिर रह सकते हैं और मनुष्यकी विजय नि.सन्धेह ही सकती है । ये विजयो विचार अब देखिये—

१ विद्वेषेणु मम वर्धः अस्तु । (मं. १)

२ पृतना जयेम । (मं. १)

‘घृष्टानि मेरा तेज प्रकाशित होवे और हम युद्धोंमें शत्रुओंकी सेनाओंको पराजित करें।’ यह मनका निरन्धय होता चाहिये। मनमें ऐसे विचार रखने चाहिये कि मैं शत्रुका पराभव अवश्य ही करूँगा और विजय संभारन करूँगा।

३ एतान् जय याधामहे । (मं. १)

‘इन शत्रुओंका हम पूर्ण प्रतिबंध करेंगे।’ अर्थात् किसी भी मार्गसे शत्रुको ज्ञानसे रोकेंगे और भावे बंधने नहीं देंगे। इस मंत्र भागसे अपनी युद्धविषयक तैयारी कंठो रहनी चाहिये, इस विषयकी सूचना मिल सकती है। हरएक मार्गसे आनेवाले शत्रुओंको रोक रखनेके लिये अपनी विजय ही तैयारी चाहिये। मनुष्यको अपने शत्रुओंको इस प्रकार रोक रखनेके लिये जितनी तैयारी रखनी चाहिये उतनी तैयारी हरएक मनुष्य रखे और शत्रुसे अपना बचाव करे। जिसकी इतनी तैयारी रहेगी वही युद्धोंमें विजय प्राप्त कर सकेगा। इस विजयके विषयमें व्यक्तिके लिये रक्षा और राष्ट्रके लिये रक्षा दोनोंके कार्यक्षेत्रोंके छोटे और बड़ेके अनुसार शत्रुको रोक रखनेकी तैयारी विद्यमान हो रखनी आवश्यक है। इस प्रकारकी पूर्ण तैयारीसे विजय प्राप्त होनेपर ही शत्रु शक्तता है कि—

४ चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्ताम् । (मं. १)

‘घारों विनाशोंमें रहनेवाले लोग मेरे सामने नम्र होकर रहें’ अर्थात् हमारे ऊपर हमला करनेकी शक्ति और इच्छा जगमें अवशिष्ट न रहे। इस प्रकार—

५ मम अन्तरिक्षं उचलोकं अस्तु । (मं. ३)

‘मेरा अन्तरिक्ष विस्तृत स्थावरात्मा होवे।’ हरएक मनुष्यके लिये अपना अपना अन्तरिक्ष छोटा या बड़ा उसको कर्तृत्व शक्तिके अनुसार रहता है। जो प्रयत्न पुरुषार्थों होते हैं उनके लिये संपूर्ण उपयुक्त समाप्त विनाश अंतरिक्ष होता है और आत्मको तथा आत्ममातृकी लोगोंके लिये बहुत ही छोटा अन्तरिक्ष होता है। अपने अधिकारके ऊपर कितना अन्तरिक्ष है और अपना शासन कितने अन्तरिक्षपर है, इसको देखकर मनुष्य अपने योग्यताका निरन्धय कर सकता है। मानो, यह एक अपने परीक्षाको उत्तम कसौटी ही है। पाठक इन वाच्यों वाच्योंकी परस्पर संपत्ति देखेंगे, तो उनके विजय प्राप्त करनेके विषयमें बहुत बोध प्राप्त हो सकता है। इस विजयके लिये अपने शत्रुको दूर करनेकी अपेक्षा आवश्यकता है, इस विषयके लिये निम्नलिखित आदेश देखिये—

शत्रुको दूर करना

शत्रुको दूर करना, उसकी छायामें स्वयं न जाना, शत्रु बना कर रखना और उसको उठने न देना, यह विजय लिये मनुष्यको अर्थात् आवश्यक है, इस विषयमें य मंत्रमें देखिये—

६ सपाना अप भधन्तु । (मं. १०)

७ दुरस्थयः निवृत्ताः अपाङ्गः यन्तु । (मं. २)

‘वैरी दूर हों, तथा दृष्ट लोग नोच गलिते नोवेको अं पले जायें।’ अर्थात् ये अपना तिर ऊपर न करें। तथा अं देखिये—

८ अभिभाः अशस्तिः द्वेष्या पूजिना मानो विद्वत्
(मं. ६)

‘निराजता, शकीति और द्वेष करने योग्य कुटिला हमारे पास न जायें’ अर्थात् ये आन्तरिक शत्रु दूर रहें इनमेंसे कोई भी शत्रु अपना तिर ऊपर न कर सके। ई मंत्रभागोंमें व्यक्तिके व्यक्तित्व और राष्ट्र तथा समाज जनगत और राष्ट्रके सब शत्रुओंको दूर करनेको सूत्र मिलती है। सच्चा विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यको यह है कि वह इन सब शत्रुओंको अपने प्रयत्नसे दूर करे जो अपने सम्बन्धका मार्ग सुझा करे।

कामनाकी वृष्टि

अपनी विजय करना और शत्रुको दूर करना यह सब अपनी कामनाकी वृष्टिके लिये ही है। मनुष्यके अन्तःकरण कुछ विशेष कामना होती है, उसको पूर्णतः ही जीवन सार्पकता है ऐसा प्रतीत होता है; अन्यथा वह अपने जीवनके निरर्थक समझता है। इस विषयमें मनुष्यकी इच्छाएं कि प्रकार होती हैं यह देखिये—

९ मह्यं अस्मि कामाय यातः पयताम् । (मं. ३)

१० यानि मम इष्टानि मह्यं यजन्ताम् । (मं. ४)

११ मे मनसाः आकूतिः सतया अस्तु । (मं. ४)

१२ देवा मयि द्रविषं, धाशीः,

देव्युतिः च अः यजन्ताम् । (मं. ५)

१३ तिम्रो वेषाः नः महि शर्म यच्छत । (मं. ७)

१४ नः प्रजाये मृद । (मं. ८)

‘मेरी इस कामनाके अनुकूल वायु धरवा प्राप्त पते। जो मेरे इष्ट मनोरथ हं, वे परिपूर्ण हों। मेरे मनके सब संकल्प सत्य हों। सब वेव भूने घन, आशोपाद और देव-

भक्ति में। तीन देवियां अर्थात् मातृभूमि, मातृभावा और मातृसहायता भूमे बड़ा सुख देवें। ईश्वर हमारी सब प्रजाको मुखी करे।' इस प्रकारकी कामनाएं प्रायः हरदम मनुष्यके अंदर मूनाधिक प्रमाणसे रहती हैं। मनुष्यका सुख और दुःख इन कामनाओंकी मूनाधिक प्रतिपर अवलंबित है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह अपनी कामनाएं शुभ ही रखे और उनमें कोई अशुभ वाक्य न रहे, ऐसी मन्त्री उचित अवस्था बना दे। उन्नतिके लिये इसकी बड़ी भारी आवश्यकता है। इस प्रकार भावनाकी सुदृढ़ताके लिये ईश उपासना करना आवश्यक है, इस हेतुसे कहा है—

ईश्वर उपासना

१५ इन्द्र हवामहे । (म ११)

'प्रभुकी प्रार्थना और उपासना हम करते हैं। ईश्वर सब भेष्ट गुणोंसे मण्डित है, इसलिये उसके गुणोंका मदन करनेसे मनुष्यके मनको भावना शून्य होती है, कामना निर्दोष होती है और सकल्प शून्य होते हैं। यही बात निम्नलिखित मंत्रभावोंमें बनी है—

निष्पाप ज्ञाना

१६ अह क्तमश्चन पन' मा नि नाम् । (म ४)

'मैं कितने प्रकारका छोटा या बड़ा पाप न कुछ अवश्या पापके पास भी नहीं जाऊ।' मंत्रमें कहा है कि 'पापके पास नहीं जाऊ' यह बड़ा भारी उच्च विषय है। जो मनुष्य ऐसा विषय करेगा वही उन्नतिके पथपर चल सकता है। स्वयं पाप करना और बात है और पापके पास जाना भिन्न बात है। स्वयं पातक करनेकी अवस्था पापके पास जाना शून्य है। मनुष्य प्रथम पापकर्मका वर्णन सुनता है, परन्तु तुरन्तकी क्रिया पापकर्म देखता है, तदनन्तर स्वयं प्रयत्न होता है। यह पापकी वरपरा है, अतः मंत्रमें उपदेश दिया है कि पापकर्मकी ओर ही मनुष्य न जाये। इस प्रकार निष्पाप होकर मनुष्य ईश्वरकी प्रार्थना करे कि—

ईश प्रार्थना

१७ इमं पञ्च निह्वे शृणोतु । (म ११)

'इस उपासना रूप स्तुति प्रार्थनामय यज्ञको ईश्वर सुने।' अर्थात् जो प्रार्थना से कर रहा हू उसको परमेश्वर सुने। यहाँ पाठक स्मरण रखे कि परमेश्वर उसकी ही प्रार्थना सुनता है जो प्रार्थना प्रकार निष्पाप होकर श्रद्धाधारी रहते हुए उन्नतिके भागसे जाना चाहता है। इस प्रकारके मनुष्यको

देवताओंको सहायता अवश्य मिलती है, इन्हींका अधिकार है कि वे देवताओंकी सहायता पाते, इस समय इन उपासकोंका विद्वान् किस प्रकारका होता है यह बात निम्नलिखित मंत्रभावोंमें देखिये। हरदम मनुष्य अक्षरि यज्ञका भागी बननेके लिये देवताओंकी सहायता चाहता और प्रार्थना करता है, तथापि पूर्वोक्त प्रकार शून्य और विज्ञान बने हुए मनुष्यकी ही वह सहायता मिलती है।

देवीकी सहायता

प्रायः मनुष्य संकट समयमें देवताओंको सहायता माहता ही है। यदि पूर्वोक्त प्रकार आत्मवृद्धि करके देवताओंकी सहायता मनुष्य चाहेगा, तो नि संकट उसको वह सहायता मिल सकेगी। इस विषयमें इस सूक्तके कथन देखने योग्य है—

१८ निह्वे सर्वे देवा मम सन्तु । (म १)

१९ इह विश्वेदेवाः मा अभिरक्षन्तु । (म ४)

२० विश्वेदेवासः इह मादयन्तु । (म ६)

२१ धाता विधाता भुवनस्य वस्यतिः अम्ये च देवाः निर्देयात् पान्तु । (म ७)

२२ अस्मिन् ह्वये पुष्यतः मरिह्यः

पुष्यधु शर्म यच्छतु । (म ८)

२३ अस्माक मेदी नभू । (म ११)

२४ देवीः पद् उर्वीः नः उरु कृणोत । (म ६)

२५ परेषां मनुं प्रतिनुदन् नः विश्वतः परिपाहि । (म २)

'युद्धके प्रसंगमें सब देव मेरे हों। सपुत्र देव मेरी रक्षा करें। सब देव यहाँ मेरा आलम्ब बढ़ायें। धाता, विधाता, भुवनस्पति और अन्य देव तुलसे हमारी रक्षा करें। इस युद्धके समय बहुत प्रसन्नित समर्थ प्रभु बहुत भोगयुक्त सुख हमें दें। प्रभु हमारा सहायक हो। विश्व छ विज्ञान हमारे लिये बड़ा विद्वान् कार्योत्तम बनाये। शत्रुओंकी शोष करके हमारी सब प्रकारसे रक्षा करें।'

शत्रुओंको दूर करनेके विषयमें यही इच्छायें मनुष्यके मनमें सदा रहती हैं। विजय प्राप्त करनेके लिये मनुष्यकी भी अपने मनमें यही इच्छाएं धारण करनी चाहिये। पूर्वोक्त वाक्योंमें अन्तिम वाक्यमें 'अशुओंका शोष दूर करनेकी प्रार्थना' है। यह प्रार्थना विशेष महत्त्वकी है। 'प्रभुका शोष दूर करके उन्की सुदृढ़ता कर' यह मांगय इस प्रार्थना में है। शत्रुके नाश करनेकी अवस्था शत्रुके शोषादि दुष्टभाव दूर कर उसे भला भावनी बनाना अर्थात् है। इस वृष्टिसे यह उपदेश मनन करने योग्य है।

राजप्रबंध

अपने राजप्रबंधकी सतततासे विजय प्राप्त होनी है और राज्यशासनको अक्षय्यस्थिति में स्थिति होती है, इसलिये शासक राजाके गुणधर्म कैसे होने चाहिये इस विषयमें दशम मन्त्रका एक वाक्य धनपूर्वक देखने योग्य है—

२६ देवा चेत्तारं उग्रं अधिराजं भक्त । (म १०)

'सब देव सेतना देनेवाले और और राजानो हमारे लिये बनार्ये' अर्थात् हमारा राजा ऐश्वर्य हो, कि यह प्रजापति सेतना और नरजीवन सम्भारित करे और सब और और, प्रतापी और तेजस्वी हो। राष्ट्रमें तेजस्विताका स्वरूप उत्पन्न करनेवाला राजा हो, प्रजाका तेज रूप करनेवाला राजा बरापि राजगद्दीपर म आवे। विजय प्राप्त करनेके मार्गपर चलनेवालोंको इस उपदेशका महत्व सहजहीसे ध्यानमें आ सकता है।

शारीरिक बल

विजय प्राप्तिके लिये शारीरिक बलघटना और मानसिक तथा बौद्धिक शक्तिका विकास करना अत्यन्त आवश्यक है।

इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग देखिये—

२७ तन्वं पुषेम । (म १)

२८ तन्वा अधिराः सुधरिः इयाम् । (म ५)

२९ नः सन्धे प्रजायै पुष्टम् । (म ७)

३० तनूभिः प्रजया मा हासिपम् । (म ७)

३१ नः मा रीरिपः । (म ८)

'अपने शरीरका बल बढ़ायें और उनको पुष्ट करें। शरीरसे दुर्बल न होते हुए हम उत्तम शरीर बनें। हमारे शरीर और सन्तान पुष्ट हों। हमारे शरीर और सन्तान हीन और वीन न हों। हम दुर्बल न हों।' इस प्रकार शारीरिक बल और पृष्टि बढ़ानेकी सूचना देनेवाले मन्त्रभाग इस सूत्रमें है। इस सब मन्त्रभागोंका क्रमपूर्वक मन्त्र करनेसे ध्यानमें यह या सकता है कि इस सूत्रमें विजय प्राप्तिके साधन किस प्रकार कहे हैं। व्यक्ति, समान और राष्ट्रके विजयके साधनका इस सूत्रमें किया हुआ उपदेश यदि मनमें धारण किया जाय और इन उपदेशोंके अनुकूल आचरण किया जाय तो विजयका मार्ग सराके लिये सुलभ और भयरहित हो सकता है।

निर्जरायव की प्रारम्भ

कांड १, सूक्त २७

(ऋषिः - अथर्व । देवता - इन्द्रदेव ।)

अम् पूरे वृद्धाकस्त्रिपत्ता निर्जरायवः ।

वासो जरापुंनिर्ममक्षयावृषिं व्ययामस्यवायोः परिपुंन्धिनः ॥ १ ॥

विपुंन्धेतु कन्तती पिनाकमिन् विभ्रती । विष्वङ्पुनर्भुजा मनोऽसपृद्धा अयायवः ॥ २ ॥

अर्थ— (अम् पूरे) वह पारमे (निर्जरायवः) तिलनीले विकली हुई (त्रि- स्वप्ता) तीन गुना छत अर्थात् इन्द्रदेव (वृद्धाकः) धर्मिनियोंके समान सेनाएँ हैं । (वासो) उनकी (जरापुंनि-) कृष्णत्विकी (व्यं) हम (अया- योः परिपुंन्धिनः) पापों दुष्कृतियों (अक्षयै) दोनों धर्मों (अपि व्ययामसेल) एक देते हैं ॥ १ ॥

(पिनाक इव विभ्रती) प्रतुष्य धारण करनेवाली और धनुको (कन्तती) काटनेवाली शरीरेना (विपुंन्धी पनु) चारों ओरसे आगे बढ़े । जिससे (पुनर्भुजाः) फिर इन्द्रदेवों की हुई धनुषेनाका (मनः विष्वङ्) मन इतर उपर हो जाने और उतने (अयायवः) पापों धनु (असपृद्धाः) निर्धन हो जाने ॥ २ ॥

भावार्थ— बंधुकोसे बाहर आये हैं सर्वकोसे समान धन सेनाएँ तीन गुने छत विजयोंमें विभक्त होकर युद्धके लिये सिद्ध है, उनको हलचलोंसे हम सब पापों दुष्टोंकी आँखें बंद कर देते हैं ॥ १ ॥

धनुष धारण करनेवाली और धनुको काटनेवाली शरीरोंकी सेना चारों दिशाओंमें आगे बढ़े, जिससे धनुषेनाका मन तितर तितर हो आवे और सब पापों धनु निर्धन हो जायें ॥ २ ॥

न बहवः समशकुनार्मुका अभि दाधुपुः । वेणोमद्रा इवमितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥
 प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वदंतं पृणतो मुहान् । इन्द्राप्येतु प्रथमाजीनार्मुपिता पुरः ॥ ४ ॥

अर्थ— (बहवः न समशकुन) बहुत शत्रु भी उनके सामने डर नहीं सकते । फिर (अर्मुकाः) जो बालक हूँ वे (न अभि दाधुपुः) धैर्य ही नहीं कर सकते (वेणोः अष्टाः द्य) मातके अंकुरोंके समान (अमितः) सब ओरसे (अघायवः) पाषाणिक (असमृद्धाः) निर्धन होंगें ॥ ३ ॥

हे (पादौ) दोनों पांवों ! (प्रेतं) सागे बड़ो, (प्र स्फुरतं) फुट्टीं करो, (पृणतः पृहान् वदंतं) मनोव देवेंवाले घरोंके प्रति हमें पशुंवासी ! (अजीता) बिना जीती, (अनुपिता) बिना लुटो हुई और (प्रथमा) मुखिया मनो हुई (इन्द्राणी) महारानी (पुरः प्तु) सबके आगे बड़े ॥ ४ ॥

भाषार्थ— ऐसी धूर वीरानी सेनाके सम्मुख बहुत शत्रु भी डर नहीं सकते फिर कबजोर बालक जैसे उदर तकेंगे । मातके कोमल और अशक्त अंकुरके समान चारों ओरसे पाषो शत्रु धनहीन होकर नाशको प्राप्त हों ॥ ३ ॥

विजयी अपराजित और न लुटी गई धीर स्त्री महारानी मुखिया बनकर आगे बड़े, इसर लोग उसके पीछे चले, हुएक धीरके पांव आगे बड़े, शरीरमें फुट्टीं बड़े और सब लोग संतोष बढ़ानेवालोंके घरोतक पहुंच जाय ॥ ४ ॥

विजयी स्त्रीका पराक्रम

इन्द्राणी

‘ इन्द्र ’ शब्द राजाका वाचक है वंसा परेष्ट (मनुष्यो-
 का राजा), मृगेष्ट (स्तुर्गोका राजा), वपेष्ट (पक्षि-
 योका राजा) इत्यादि । केवल इन्द्र शब्द भी राजाका ही
 वाचक है, और ‘ इन्द्राणी ’ शब्द इन्द्रकी रानी, राजाकी
 रानी, महारानी, राणी ’ का वाचक है । यह इन्द्रानी सेनाकी
 प्रेरक देवी है यह मात संतिरीय संहितामें बहो है—

इन्द्राणी वै सेनायै वेषता । (तं. च. २।२।८।१)

‘ इन्द्राणी संन्यकी वेषता है । ’ क्योंकि इसकी प्रेरणासे
 सैनिक अपना पराक्रम बिलाते और विजय प्राप्त करते हैं ।

धीर स्त्री

‘ इन्द्राणी अर्थात् रानी सेनाकी मुखिया बनकर सेनाको
 प्रोत्साहन देती हुई आगे चले, हुएकके पांव आगे बड़े, हुए-
 कका मन उत्साहसे घुलत रहे, संतोष बढ़ानेवाले तजजनोंके
 घरोमें ही लोग थाय । ’ परंतु जो लोग संतोषको कम करने
 वाले, उत्साहका नाश करनेवाले, और मनको आशाका घात
 करनेवाले हों उनके पास कोई न जाये, क्योंकि ऐसे लोग
 अपने हीन भावसे मनुष्योंको निश्चिन्ताहित ही करते हैं । यह
 भीसे संन्यका भाव विचार करने योग्य है ।

जिस राष्ट्रमें स्त्रिया भी ऐसी धूर और दसा होंगी, वह
 राष्ट्र सदा विजयी ही होगा इसमें क्या संदेह ? जिस देशमें
 स्त्रिया सेनाकी घला सकेगी, उस देशके पुष्य कितने धूर और
 कंसे धीर होंगे । क्या ऐसी धीर स्त्रियोंको कोई हीन धनवाला
 आसानी पसका सकता है और ऐसी धूर स्त्रियोंको किसी
 स्थानपर कोई बेइज्जती कर सकता है । इसलिये सामसमान
 रखनेकी इच्छा करनेवालोंको उचित है, कि वे स्वयं धर
 अपने और अपनी स्त्रियोंकी भी ऐसी शिक्षा दें कि वेभी धूर-
 वीर बनकर अपने समानकी रक्षा कर सके ।

‘ हायमें सत्य पारण करती हुई, शत्रुको काटती हुई
 आगे बड़े, जिसका कोय देखकर शत्रुका मन उल्लाहुरहित होये
 और शत्रु निर्धन अर्थात् परास्त हो जायें । ’ यह द्वितीय मंत्रका
 भाव भी अतुर्थ मंत्रके साथ रखने योग्य है । क्योंकि यह
 मंत्र जो धीर स्त्रीका पराक्रम ही बता रहा है । यह सेनाका
 वर्णन करता हुआ भी धीर स्त्रीका वर्णन करता है । (अं. २)

वीरस्त्रियोंकी उपमा के तुल्यसे निचली हुई स्त्रियोंसे इस
 तुल्यमें ही है । स्वभावतः स्त्रियोंको बड़ो तेज रहती ही है और
 अति कुतिले पापुपर हमला करती है । परंतु जिस समय यह
 केबुलीसे ब्याह्र आती है उस समय अतितेजस्वी और अति-
 चपल रहती है क्योंकि इस समय यह स्वबीचनेसे घुलती होती

है। और एसी ऐसी ही होती है। एसी स्वभावतः व्यपन्न होती है, परन्तु जिस समय कार्यवशात् राष्ट्रीय आपत्तिते प्रेरित होकर, आत्मसमानकी रक्षाके लिये कोई बीरा एसी अपने अतृणरूपी केचुलीते बाहर आती है, उस समय उसकी तेजस्विताका वर्णन क्या करना है? वह उस समय सचमुच सर्पिणीकी भाँति चमकती हुई, बिजलीके समान तेजस्विनी बनकर बीरतेनागनोंको प्रेरित करती है। उस समयका उल्लाह और पुरस् हो कल्पनामें जान सकते हैं। 'उसके तेजसे शत्रुकी आँखें ही अंधी बन जाती हैं' और उसके सर शत्रु नि सत्व हो जाते हैं। (म १)

जहाँ ऐसी बीरांगनाएँ तमचं हैं उन लोगोंके सामने बड़े बड़े शत्रु भी डहक नहीं सकते, फिर अल्पशक्तिवाले कमजोर मनुष्योंकी बात ही क्या है? यासके अक्षुरोंके सामान उनकें शत्रु नष्टभष्ट हो हो जाते हैं। (म. ३)

शत्रुवाचक शब्द

इस सूक्तमें शत्रुवाचक कुछ शब्द हैं उनका विचार यहाँ करना आवश्यक है—

- १ अघायुः= आयु भर पाप कर्म करनेवाला।
 - २ परिपन्थिनः= बटमार, बुरे भावसे चलनेवाला।
- पापोधोय धे हं और इनके बुरे आचरणके कारण ही वे शत्रुत्व करने योग्य ह। 'असमृद्धाः अघायवः' यह शब्द प्रयोग इस सूक्तमें बीबार आया है। 'पापो सम्प्रिते रहित होते हैं।' यह इसका भाव है। पापसे कभी बूझ नहीं होयों; पापसे मनुष्य गिरता ही जाता है। यह भाव इसमें देखने योग्य है। जो मनुष्य पाप कर्म द्वारा बनाइय बनना चाहते

हैं उनको यह मंत्रभाग देखना योग्य है। यह मंत्र उपदेश दे रहा है कि 'पापो कभी उन्नत नहीं होगे, ' यदि किसी भवत्पासे वह धनवान् हो नी जाए तो वह उसका धन उसके नाशका ही हेतु बनगा। तात्पर्य, परिणामकी दृष्टिसे यह स्पष्ट ही समझना चाहिये कि पापों से भय भवत्य ही नाशको प्राप्त होंगे।

तीन गुणा सात

सेनाके तीन गुणा सात विभाग हैं। रथयोधी, राजयोधी, अश्वयोधी, पदाती, तुर्गयोधी, जलयोधी तथा कूटयोधी ये सात प्रकारके सैनिक होते हैं। प्रायःकर्म अधिकारी, प्रायःक मूढकारी और सहस्रक इन् तीनों गुणा सात सैनिक होते हैं।

निर्जरायु

'जरायु शब्द तिलको, जलोका वाचक है, परन्तु यहाँ श्लेषागते प्रयुक्त है। यहाँ इसका अर्थ (जरा+प्रायु) बुढ़ावस्था जयना योग्यता किंवा पकावट, तथा आयु (नि.+जरा-आयु-) जो योग्यता, पकावट, बुढ़ावस्था शयवा आयुको पर्याय न करके लड़ते हैं, जो अपनी भवत्पाको तथा मुजतुय की पर्याय न करते हुए अपने यमके लिये ही लड़ते रहते हैं उनको 'निर्जरायु' अर्थात् 'जरा और आयुके बिचारसे मृत' कहते हैं। जीवितकी आशा छोड़कर लड़नेवाले सैनिक।

इस सूक्तके मंत्र बीरा एसी विषयक तथा सेना विषयक अर्थ बताते हैं, इसलिये मंत्र विशेष मन्त्रके साथ पढ़ने योग्य है। तथा इसमें कई शब्द श्लेष अर्थके ध्यानवाले भी हैं जैसा कि उपर बताया है।

कर्म और विजय

कांड ७, सूक्त ५०

(अथि. - अगिरा. । देवता - इन्द्र. ।)

यथा वृषमशनिर्विधाडा इन्त्यप्रति । एवाहमय किंतुवानसैर्विध्यासमप्रति

॥ १ ॥

अर्थ— (यथा अशनि.) जिस प्रकार विष्टु (वृक्ष विधादा अशनि इन्ति) वृक्षका सर्वथा पूर्ण रातिले नाश करती है, (एव मह अशनिः कितपान्) वने में आज पानोंके साथ अशनिर्विको (अशनि यध्यास) पूर्ण रातिले पाक्या ॥ १ ॥

भाषाये— जिस प्रकार बिजलीसे वृक्षोंका नाश होता है, उस प्रकार अशनिर्विको रातिले वृक्षोंका नाश करता है ॥ १ ॥

तुराणां महतराणां विद्यामर्षंक्षीणाम् । समैतुं विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥

इदं अग्निं स्वावंसुं नमोभिरीह प्रसक्तो वि चंपत्कृतं नः ।

रथैरिव प्र भेरे वाजपयज्ञिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृष्याम् ॥ ३ ॥

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशुमुदेवा भरेभरे ।

अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कुंधि प्र शत्रूणां मघवन्वृष्यां ह्य ॥ ४ ॥

अजैषं त्वा संलिसिखिमजैपमुत् संरुध्म् । अग्निं वृको यथा मधेदेवा भंभामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

उत् प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव क्षाती वि चिनोति काले ।

यो देवकामो न घनं रुणद्धि समित्तं रायः संजति स्वधामिः ॥ ६ ॥

अर्थ— (तुराणां अतुराणां) त्वरा करनेवाली तथा मग्य किया मुक्त और (अमर्षुषीणां पिशां) बुराईका धर्म न करनेवाली प्रजाओंका (भगः विश्वतः समैतुं) ऐश्वर्य सब धोरते इकट्ठा होये और वह (मम अन्तर्हस्तं कृतं) मेरे हस्तके आधीन होवे ॥ २ ॥

(स्वयं अग्निं नमोभिः इडे) अपने विजय धरते युक्त प्रकाशक देखके मयस्कारों द्वारा युक्त करता हूँ । (इह प्रसक्तः नः कृतं विश्वत्) यहा रहता हुआ यह देव हमारे किये कर्मको उजो प्रकार संघोहित करे, जैसे (वाजपयज्ञिः रथैः इय प्रभेरे) प्रदक्षिण रथोंसे स्थान भर देते हैं । पश्चात् मं (मरुतां प्रदक्षिणं स्तोमं अश्यां) मरुतोंका शोध स्तोत्र सिद्ध करता हूँ ॥ ३ ॥

(वयं त्वया युजा वृतं जयेम) हम तेरी सहायतासे युक्त होकर धरनेवाले शत्रुको जीते । (भरे भरे अस्माकं अंशं उद् मघ) प्रत्येक युद्धमें हमारे कार्यनामको जाह्लाव रक्षा कर । हे शत्रु ! (अस्मभ्यं वरीयः सुगं कुंधि) हमारे किये बरिष्ठ स्थान सुधसे जाने योग्य कर । हे (मघवन्) जनवान् इन्द्र ! (शत्रूणां वृष्या प्र ह्य) शत्रुओंके बर्तोंको तोड़ ॥ ४ ॥

(संलिसिखितं त्वा अजैषं) हरएक रीतिसे धरनेवाले तुम शत्रुको मं जीत लेता हूँ । (उत् संरुधं अजैषं) और रोकनेवाले तुझ जैसे शत्रुको भी मं जीतता हूँ । (यथा अग्निं वृको मघत्) जैसे भेड़को भंत्रिया मघता है (पदा ते कृतं भंभामि) ऐसे ये तेरे किये शत्रुभूत कर्मको मं मय बालता हूँ ॥ ५ ॥

(उत् अथेदीवा प्राहां जयति) और अथैत विजयेच्छु वीर प्रहार करनेवालेको भी जीत लेता है । (श्वघ्रीं [स्व-घ्रीं] काते कृतं इव विचिनोति) अपने धरका नाम करनेवाला मूढ़ समयपर अपने किये हुए कर्मको ही विशेष रीतिसे प्राप्त करता है । (या देवकामः घनं न रुणद्धि) जो देवको तुष्टिकरी इच्छा करनेवाला धनको केवल अपने किये ही रोक रखता है । (ते इत् रायः स्वधामिः संजति) बर्तोंको सब धन अपनी धारक धनितयोंसे उत्तम प्रकार संयुक्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— किसी कार्यको त्वरासे समान करनेवाले, मुश्किले समान करनेवाले और बुराईको दूर न करनेवाले प्रजाजन होते हैं । उन सब प्रजाजनोंका धन एक स्थानपर जमा होवे और वह भेरे हाथमें रहे ॥ २ ॥

मं ईश्वरको भक्ति और उपासना करता हूँ । यह देव हमारे कर्मोंका निरीक्षण करे और जिस प्रकार रथोंसे धन इकट्ठा करते हैं उस प्रकार हमारे सब सत्कर्मोंका कल इकट्ठा होवे । उसका उपयोग करते हुए हम उत्तम स्तोत्रोंका गायन करके वातधरते रहें ॥ ३ ॥

हम ईश्वरकी सहायतासे सब शत्रुको जीते । ईश्वरको कृपासे हरएक युद्धमें हमारे प्रदान सुरक्षित हों । हे देव । हमारे शत्रुओंका सब काम करो और हमें बरिष्ठस्थान सुधसे प्राप्त हो ॥ ४ ॥

पीडा देनेवाले और भायंमें दकावट पैदा करनेवाले शत्रुको मं जीतता हूँ । जिस प्रकार भेड़िया भेड़को घेरारहित करता है, वैसे मं शत्रुके किये उत्तमसे उत्तम प्रयत्नको बेकार बनाता हूँ ॥ ५ ॥

गोभिर्दुरेवामर्ति दुरेवां चवेन च ध्रुवं पुरुहूत विश्वे ।

वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिंशासो वृजनीभिर्जयेम

॥ ७ ॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जपो मे सव्य आदितः । गोजिर्भूयासमभ्यजिद्धंनंजपो हिरण्यजित् ॥ ८ ॥

अक्षा फलवती ध्रुवं दत्त गां क्षीरिणीमिव । सं मा कृतस्य धारया धनुः स्वाश्वे नखत ॥ ९ ॥

अर्थ—(दुरेवां अमर्ति गोभिः तरेम) दुर्बलित्वन कुमतिको गोभोले पार करे । हे (पुरुहूत) बहूतों द्वारा प्रदत्त देव ! (विश्वे यवेन वा ध्रुवं) और हम सब जोते मूलको पार करे । (वयं राजसु प्रथमाः अरिंशासः) हम सब राजाओंमें उत्कृष्ट होकर विनाशको न प्राप्त होते हुए (वृजनीभिः धनानि जयेम) निज शक्तिबोले पत्नोंको जीते ॥ ७ ॥

(कृतं मे दक्षिणे हस्ते) पुरुषार्थ मेरे बाये हाथमें है और (मे सव्ये जपः आदितः) मेरे बायें हाथमें विजय है । अतः मे (गोजित् अभ्यजित्) गोभों और घोड़ोंका विजेता, (हिरण्यजित् धनेजयः भूयासं) सुवर्ण और पत्तन विजेता होऊँ ॥ ८ ॥

हे (अक्षाः) ज्ञान विज्ञानो ! (क्षीरिणीं गां इव) दूधवाली गौके समान (फलवतीं ध्रुवं दत्त) फलवाली विजिनोपा हमें दो । (अक्षाया धनुः इव) जैसे तर्जिने वनूय संयुक्त होता है वैसे (मा कृतस्य धारया सं नखत) मूलको कृतकर्मको पारा प्रवाहसे युक्त कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— विजयचक्र और घातक शत्रुको भी जीत लेता है । आत्मघात करनेवाला भूइ मनुष्य अपने कृत कर्मको ही भोगता है । जो मनुष्य बेधकार्यके लिये शपना पत्र संपन्न करता है और ऐसे समयमें अपने पास रोक नहीं रखता, उसीको विजय पत्र प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

दुर्बल और कुमतिको गोभोंकी रक्षा करके हटावे । इसी प्रकार जोते भूषको हटावे । हम राजाओंमें उत्कृष्ट राजा बनें और नियशक्तिबोले पपेष्ट पत्र कमायें ॥ ७ ॥

मेरे बाये हाथमें पुरुषार्थ है और बायें हाथमें विजय है । इसलिये हम गौयें, घोरे, सुवर्ण और शप्य पत्र प्राप्त करें ॥ ८ ॥

ज्ञानविज्ञान ये मेरी अंशें बनें और जनते बहुत दूध देनेवाली गौके समान उत्तम दत्त देनेवाली विजयेष्ठा हममें स्थिर रहें । निज प्रकार ताँतसे वनूयके बोनो गोक भूजे रहते हैं, उस प्रकार मेरा पुरुषार्थ मुझे फलके साथ बाँध देवे ॥ ९ ॥

कर्म और विजय

पुरुषार्थ और विजय

इस युक्तका उत्तम मंत्र हृदयस्थो वरा ध्यानमें पारथ करने योग्य है, उसका पाठ ऐसा है—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जपो मे सव्य आदितः ।

गोजित् भूयासमभ्यजिद्धंनंजपो हिरण्यजित् ॥ (मं. ८)

‘ पुरुषार्थ प्रथम मेरे बाये हाथमें है और विजय मेरे बायें हाथमें है । इससे मैं गौयें, घोरे, पत्र और सुवर्णको जीत कर प्राप्त करनेवाला होऊँ । ’

मनुष्यको वैही विचार मनमें धारण करने चाहिये और उसको वैसा प्रयास करना चाहिये कि अपने प्रयाससे अपनी

विजय पारों और होवे । अपने विजय नहीं बाहरके प्रयासों नहीं होनी है, यह अपने अंदरके दलते ही प्राप्त होगी । इस लिये अपने अन्दर इतना मत्त बडे और अपनी विजय ही, इसके लिये प्रयास करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है ।

‘ इत, वेता, दापर और कति ’ ये चार प्रकारके मनुष्यके कर्म होने हैं, इनके लक्षण ये हैं—

कलिः क्षयानो भयति संजिहानस्तु दापरः ।

उत्तिष्ठत्येता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥

(ऐ. वा. ७।१५)

‘ जो ज्ञाना कति है, निराश्रय तथा दापर है, उठकर

तैयार होना प्रेता कहलाता है, काम करना कृत कहलाता है । 'अर्थात् मुस्तिसे कल्पित्य गमता है और पूर्ण पुरुषार्थसे कृत युग होता है और बीचकी अवस्थाएँ डायर और प्रेता युगकी हैं । कृत, प्रेता, डायर और कलि ये चार नाम पुरुषार्थके चार दशोंके सूचक हैं । जो पुरुष प्रयत्न करके अपने हाथमें कृत नामक पुरुषार्थ लेता है, वह दूसरे हाथसे निश्चय पूर्वक विजय प्राप्त कर लेता है । 'कृत' पुरुषार्थ शब्दों एक बड़े अलम्ववाहकी प्रबन्ध धारा है, वह धारा नि सदेह विजय पट्टा धरती है—

कृतस्य धारया मा सं नहात् । (मं १)

'कृत' नाम श्रेष्ठ पुरुषार्थकी प्रवाह धारासे सज्जित होकर उद्दिष्ट स्वामको भंग पट्टा राज । 'कृत'नामक पुरुषार्थका लक्षण क्या है ? कृतके साथ 'सत्य, अहिंसा, प्रबल पुरुषार्थ शक्ति, उद्यम, सरलता, धर्म भावि सात्त्विक गुणोंका साहस्य हमेशा रहता है । सत्ययुग कृतयुगकी ही कहते हैं । सत्ययुगके मनुष्योंके जो गुण पुराणोंमें वर्णन किये हैं, वेही सात्त्विक गुण गृह्य इस कृत नामक पुरुषार्थके साथ सदा रहते हैं, ऐसा यहाँ समझना चाहिये, तब कृत पुरुषार्थका महत्त्व पाठकोंके सम्मुख आसक्तता है ।

'कलि' यह कोई पुरुषार्थ नहीं है, यह घन्य पुरुषार्थहीनताका चोतक है । जहाँ वित्तकुल दुष्टधर्म नहीं हैं वहाँ कलि रहता है, आपसके झगडे, खनाबाद, अधर्म, अतोषि, नप,मत्तका व्यवहार सब इसके साथ रहता है । इससे मनुष्योंकी अपोगति होती है । इसलिये इससे मनुष्योंकी बचना आवश्यक है । बीचके दो पुरुषार्थ इन दो स्थितियोंके बीचमें हैं ।

जुआरीको दूर करो

अपने समाजमेंसे जुआरीको दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका पठित हो मंत्र उदा बोधप्रद है, देखिये—

यथा वृक्षमशनिर्विभवाहा हन्त्यप्रति ।
एवाहमप्य कित्तवानसैरिध्यासम्मप्रति ॥ (मं. १)

'बड़े आकाशकी विद्युत् वृक्षका नाश करती है उस प्रकार मैं अपने समाजमेंसे पाशोंके साथ जुआरियोंको दूर करता हूँ ।' समाजमें जुआरियोंको दूर करता हूँ, अर्थात् समाजमें एक भो जुआरीको नहीं रहने दूँगा । समाजमें जुआरियोंको दूर करना ही समाजके जुआरियोंका वध है । यद्य कोई शरीरके नाशसे ही होता है और अन्य रीतिसे नहीं होता, ऐसी बात नहीं है । समाजमें खलक जुआरी रहेंगे, तबतक समाजमें

पुरुषार्थका सामर्थ्य बढ़ेगा नहीं, क्योंकि जोड़े प्रयत्नसे ही धनी होनेका आनन्द जुगले जगतमें बढता है । अतः समाज पुरुषार्थी होनेके लिये समाजमें जुआरी न रहे, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये ।

तीन प्रकारके लोग

समाजमें तीन प्रकारके लोग होते हैं, 'सुर, असुर और अययुव' अर्थात् स्वर्गसे काम करनेवाले, प्रत्येक कार्यमें व्यस्त शीघ्रता करनेवाले, मजदूरी मजदूरीसे कार्य करनेके कार्यको विगाड़नेवाले जो होते हैं । ये भी पुरुषार्थके लिये योग्य नहीं होते, क्योंकि ये शीघ्रतासे ही हाथमें लिये कामको विगाड़ देते हैं । दूसरे 'असुर' अर्थात् तिरिक्क किया मुत्त, ये अपनी मुत्तोंके कारण कार्यका विगाड़ करते हैं, अतः ये पुरुषार्थके लिये निकम्मे होते हैं । तीसरे 'अययुव' अर्थात् यज्ञन करने योग्य बातोंकी भी दूर नहीं करते । ये लोग भी कभी पुरुषार्थ करके अपनी उन्नति नहीं कर सकते । ये तीनों प्रकारके लोग उदा हीन अवस्थामें ही रहेंगे, इनको उन्नतिकी कोई आशा नहीं है । इसलिये मध्यमें कहा है कि—

सुराणामसुराणां विशामययुवोपिणाम् ।

समेतु विभ्यतो भगो अन्तर्हस्तो कृत मम ॥ (मं. २)

'शीघ्रता करनेवाले, मुत्ता तथा मुत्ताइयोंको भी दूर न करनेवाले ये जो तीन प्रकारके लोग अपनी उन्नतिकी साधना नहीं करते, वे सदा दुर्भाग्यमें ही रहेंगे । अतः उनके पास जानेवाला मन मेरे हाथमें रहनेके समान हो जावे, कर्षों कि मैं पुरुषार्थ करता हूँ ।' इसका आशय यह है, कि पूर्वोक्त तीन दोषोंवाले लोग ये सदा दुर्भाग्यमें ही रहेंगे और विश्वके पनका जो भाग उनकी प्राप्त होता था, वह उनका हाथ पुरुषार्थी लोगोंके हस्तगत होवा । उदाहरणके लिये यह मान लीजिये कि जपत्तु में १००) १०० है और सपूर्ण जगतमें १० लोग ही हैं । उनमें पांच पुरुषार्थी हैं और पांच पूर्वोक्त तीन दोषोंके युक्त हैं । ऐसा होनेसे जगत पन पांच ही पुरुषार्थी लोगोंमें बाँटा जायगा और पांच लोग दुर्भाग्यमें ही सदा रहेंगे । यह मंत्र इस दृष्टिको पाठकोंकी विचार करने योग्य है । एक ही पाममें कई लोग पुरुषार्थसे घन कमाते हैं और मुत्तासे कई निर्यत अवस्थाओं रहते हैं, इसका कारण इस मध्यमें उक्त रीतिसे कहा है ।

मुत्तोंके मध्यमें कहा है कि प्रकाशक देखकी हृद्य जगत्तना करते हैं और उससे पर्याप्त घन हर्ष मिठ सकता है । अतुर्ष मन्त्रमें भी यही मास्य स्पष्ट हुआ है—

वधं जयेम त्वया युजा । (मं. ४)

'हम तेरे (ईश्वरके) साथ रहनेसे विजय प्राप्त कर सकते हैं ।' ईश्वरके साथ रहनेसे जर्मात् ईश्वरके भक्त होनेसे विजय प्राप्त होती है, यह विजय सच्ची विजय होती है । ईश्वरके साथ भक्त होनेसे यज्ञो प्राप्त प्राप्त होती है । देविमे इस विषयमें पशुपत मंत्रका कथन यह है—

अजेयं त्वा संलिक्षितमजैपमुत संरुधम् । (मं. ५)

'सुरघनेवाले अर्थात् विविध प्रकारके दुःख देनेवाले और रोकटोक करनेवाले दुष्ट जैसे शत्रुको मैं जीत लेता हूँ ।' जर्मात् ईश्वरभक्त होनेके कारण अब मुझे साथ मार्गसे आगे बढ़नेके लिये कोई शर नहीं है । मैं अपने पुत्रवार्धते अपनी उन्नति निःसन्देह सिद्ध करूँगा । पुत्रवार्धकी सिद्धता होनेके विषयमें एक नियम है । यह यह कि पारमिक दुष्टिसे निर्बोध पुत्रवार्ध प्रयत्न करनेवाला ही जीत लेता है, धनतमें इसीको विजय होती है । जर्मातिक को कुछ देरके लिये विजय हो भो जाए तो भी अन्तमें उसका नाश निश्चयसे होता है, इस विषयमें पाठ मंत्रकी धोषमा विचार करने योग्य है—

उत प्रहामतिदीवा जयति ।

कृतमिव श्यामी पिचिनोति काले ॥ (मं. ६)

'निःसन्देह यह बात है कि (अतिदीवा) अर्थात् विजिगीषु पुत्रवार्धो मनुष्य (प्रहो जयति) प्रहार करनेवालेको जीतता है । और (श्व-प्री, स्वप्री) अपना आत्मपात करनेवाला मनुष्य (काले) समयमें अपने कृतकर्मका फल प्राप्त करता है ।'

इस मंत्रमें जो शब्द विशेष महत्त्वके हैं । उनका विचार करना अत्यंत आवश्यक है ।

१ श्व-प्री=[स्व-प्री] = आत्मपात करनेवाला मनुष्य, जो मनुष्य अपने नाशके कारणभूत कुकर्म करता रहता है । अतः उसकी अयोग्यता होती है ऐसे कुकर्म जो करता है वह आत्मपातको ही । आत्मपातको अयोग्यता अयोग्यता होती है इस विषयका वर्णन श्लोकोपनिषद्में भी (या. पञ्च. ४.०.१२) में है ।

२ अतिदीवा= इस मंत्रमें 'विष्' यातु 'विजिगीषा, व्यवहार, स्तुति, मोद, गति' इत्यादि शब्दों में है, अतः 'दीया' शब्दके अर्थ—'विजिगीषा अर्थात् अपनी इच्छा करनेवाला, व्यवहार उत्तम रीतिसे करनेवाला, स्तुति ईश्वरभक्ति करनेवाला, आत्म यज्ञनेवाले कार्य करनेवाला, प्रयति करनेवाला' इतने होते हैं । 'अतिदीवा' शब्दका अर्थ 'अत्यंत विजयका

पुत्रवार्ध करनेवाला' इत्यादि प्रकारका होता है । यह विजय करनेवाला अपने शत्रुको अवश्य ही जीत लेता है ।

देवकाम मनुष्य

कई मनुष्य देवकामो होते हैं और कई असुरकामो होते हैं । देवोंके समान जिनको इच्छा होती है, वे देवकामो मनुष्य और राक्षसोंके समान जिनको कामना होती है, वे असुरकामो मनुष्य होते हैं । ये क्या करते हैं इस विषयका वर्णन इसी मंत्रमें किया है, यह अब देविमे । इसी मंत्रके शब्द निम्न प्रकार रखनेसे दोनोंके सम्बन्ध स्पष्ट हो जाते हैं—

देवकामः धनं न रुपाद्धि ।

[असुरकामः] धनं रुपाद्धि । (मं. ६)

'देवकामनावाला मनुष्य अपने धनको अपने पास ही इकट्ठा करके नहीं रखता, परंतु आसुरीकामनावाला मनुष्य अपने पास पण इकट्ठा करके रखता है ।' यह मंत्रभाष्य इन दोनोंके व्यवहारका स्पष्ट अर्थो प्रकार बता रहा है । कर्जूस लोप धन अपने पास संग्रह करते हैं, उसको बहुर व्यवहारमें नाने नहीं देते, अथवा अपने स्वामी भोगोंके लिये रखते हैं, अतः वे राक्षसो कामनाएं हैं । परंतु जो मनुष्य देवो प्रवृत्तिके होते हैं, वे धन अपने पास कभी इकट्ठा करके नहीं रखते, अपितु अपने सर्वदाको सब जनताको भलाईके लिये समर्पित करते हैं, अपनी कर्जूस उन्नतियां उसी कार्यमें लगाते हैं, इसलिये वे भोग उन्नतिके भाग्यो होते हैं । यही बात इसी मंत्रके अंतमें कही है—

तं रायः स्वधामिः संरुजति । (मं. ६)

'उसको सब प्रकारके धन अपनी सब धारक चरित्तयोंके साथ प्राप्त होते हैं ।' जो अपना धन देवकामके लिये लगाता है वही विशेष धन प्राप्त कर सकता है और वही यज्ञो विजय प्राप्ता कर सकता है ।

यहां देवकार्य कीवृत्ता है, इसका भी विचार करना चाहिये । 'साधुजनोका परित्राण करना, दुष्कर्म करनेवालोंका नाश करना और धर्ममर्षांशको स्थापना करना' यह विविध कार्य देवकार्य कहलता है । अर्थात् इसके विरुद्ध जो कार्य होगा वह राक्षस या आसुरकार्य समझना चाहिये । यह देवकार्य जो करता है और इस देवकार्यमें अपनी सक्ति और धन जो लगाता है वह देवकाम मनुष्य होता है । इसके विरुद्ध कार्य करनेवाला मनुष्य आसुरीकामनावाला कहलता है और वह मदनतिको प्राप्त होता है ।

गौरक्षा

इत्तम मंत्रमें गौरक्षाका महत्त्व वर्णित है। यदि दुर्गतिसे बचनेका कोई सध्या साधन है तो वह एक मात्र गौरक्षा ही है, देखिये—

दुरेषां अमर्ति गोभिः तरेम । (मं. ७)

' दुरवस्थाकी जो बर्द्धिहोन स्थिति है वह हम गोओंकी रक्षासे दूर करें । ' अर्थात् गोओंकी सहायतासे हम अपनी दुरवस्था हटा दें । वेदमें उत्तम गौरक्षासे और विपुल रूप हरएकको प्राप्त होनेसे देवकी दुरवस्था निःसन्देह दूर हो सकती है । मनुष्यका सुधार करनेका यह एकमात्र उपाय है । इसी प्रकार—

विश्वे घयेत क्षुधं [तरेम] । (मं. ७)

' हम सब नीचे भूखको दूर करें । ' अर्थात् जो आदि धान्यका भक्षण करके ही हम अपनी भूखका शमन करें । यहाँ मात आदि परायोंका भूखकी निश्चितिके लिये उल्लेख नहीं है, यह बात विशेष ध्यानमें धारण करने योग्य है । गोका दूध पीना और जो, गेहूँ, चावल आदि धान्यका सेवन करना, ये दो रीतियाँ हैं जिनसे मनुष्य उत्तम होता है और अर्थात् सुखी हो सकता है । अब अश्विन मंत्रका उपदेश देखिये—

अक्षाः फलदर्यां क्षुवं दक्ष । (मं. ९)

' हे ज्ञान विज्ञानो ! फलदात्री विजय हूँ दे । ' यहाँ ' अक्ष ' शब्द है, यह शब्द कोशोंमें लिम्बालिखित अर्थात् ज्ञान है— ' गाड़ोका मध्य वण्ड, आचार तम, रघ, पाशे,

वक्र, तुलाका वण्ड, तोलनेका बलन (कर्ष), विभीतक (भिलाया), एकाक्षका वृक्ष, रडाक, इन्द्राक्ष, सर्प, गहक, आत्मा, ज्ञान, तत्पज्ञान, विज्ञान, तारक ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, ज्ञान, गान्धर्वी कार्यवाही, विविधविषय । ' हृषारे मन्त्रसे यहाँका ' अक्ष ' शब्द अन्तितम आठ या नौ सर्वोंको यहाँ व्यक्त कर रहा है और इसीलिये हमने इसका अर्थ ज्ञान विज्ञान ऐसा किया है ।

यु धोर दोषकी उपति एक ही दिव् धातुसे होनेके कारण ' अतिदीया ' शब्दके प्रसंगमें जो अर्थ बताया है वही ' क्षुधं ' का यहाँ अर्थ है । ' विश्विगीया ' इसका यहाँ अर्थ अभिप्रेत है । ' ज्ञान विज्ञानसे हूँ फलपुत्र विजय प्राप्त हो ' यह इस मन्त्रभाषका यहाँ आशय है । ज्ञान विज्ञानसे ही सुफल पुत्र विजय प्राप्त हो सकती है ।

विजय ऐसी ही कि अक्षो (क्षीरिर्षीं गां इव) सदा दूध देनेवाली गौ होती है । विजय प्राप्त करनेसे उसका मधुर दूध भविष्यमें मित्रता रहे और पुत्र. हमारा अव. प्राप्त कभी न होवे, यह आशय यहाँ है ।

(कृतस्य धारयामा संनहत् । म. ८) अर्षो ऋषे हृषे पुरुषायेके धारयाप्रवहसे मे उर्कर्षो सरज्जया प्राप्त होऊ । बीचमें किसी प्रकारकी रुकावट न हो । जो ज्ञान विज्ञानपुत्र होकर इस प्रकार परमपुरुषार्थ करेंगे, वेही नि सन्देह यशके भागी होंगे ।

पुरुषार्थ विजय प्राप्त करनेवाले इस सूक्तका इस प्रकार विचार करें और बोध प्राप्त करें ।

वर्चःप्राप्ति सूक्त

कांड ३, सूक्त २२

(ऋषिः - वसिष्ठः । देवता - पर्षा, बृहस्पति, विश्वेदेवाः ।)

हस्तित्वर्चसं प्रथता बृहद्यशो अदित्या यत्तुन्यः संवभूवं ।

सत्सर्वे समदुर्गक्षमेतद्विश्वे देवा अदितिः सजोषाः

॥ १ ॥

अर्थ— (यं अदित्याः तस्याः) जो अदितिके प्रतीरसे (सवभूव) उत्तम देवा है वह (हस्तित्वर्चसं बृहद्यशः) हाथीके बलके समान बड़ा यश (प्रथतां) फेंके । (तत् एतत्) वह यह यश (सर्वे सजोषाः विश्वे देवाः) अदितिः) सब एक मन्त्रवाले देव और अदिति (महां सः अतुः) मुझे देते हैं ॥ १ ॥

भाषार्थ— जो मूल प्रकृतिके अवर बल है, जो हाथी आदि पशुओंमें जाता है, वह बल मनुष्यों में जावे, सब देव एक मन्त्रसे मुझे बल देयें ॥ १ ॥

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो हृद्रश्च चेतु । देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥ २ ॥
 येन हस्ती वर्चसा संवभूय येन राजा मनुष्येषुस्वन्तः ।
 येन देवा देवतामग्र आपन्वेन मामद्य वर्चसायै वर्चस्विने कृणु ॥ ३ ॥
 यचे वर्चो जातवेदो बृहद्भृत्पाहुतेः । यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनेः ।
 तावन्मे अधिना वर्च आ र्चतां पुष्करस्रजा ॥ ४ ॥
 यावत्सूर्यः प्रदिशश्चक्षुर्यावन्समभूवे । तावत्समैर्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥
 हस्ती मृगाणां सुपर्दामविष्टावान्वभूय हि । तस्य भगेन वर्चसाभि पिञ्चामि मामुहम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (मित्रः च वरुणः च इन्द्रः च रुद्रः च) मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र (चेतु) उल्लेख देवे । (ते विश्व-
 धायसः देवाः) वे विश्वके धारक देव (वर्चसा मा अञ्जन्तु) तेजसे मुझे मुक्त करें ॥ २ ॥

(येन वर्चसा हस्ती संवभूय) जिस तेजसे हाथी उत्पन्न हुआ है और (येन मनुष्येषु अन्तः
 राजा सं वभूय) जिस तेजसे मनुष्योंमें और जलोके अन्तर राजा उत्पन्न हुआ है और (येन देवाः अग्र देवतां मायन्)
 जिस तेजसे, देवोंने पहले देवत्व प्राप्त किया, (येन वर्चसा) उस तेजसे, हे भग्ने ! (मां अद्य वर्चस्विने कृणु) मुझे
 आज तेजस्वी कर ॥ ३ ॥

हे (जातवेदः) जातवेद ! (ते यत् वर्चः माहुतेः बृहद् भवति) तेरा जो तेज मातृभूमिसे बढा होता है
 (यावत् सूर्यस्य, आसुरस्य, हस्तिनेः च वर्चः) और जिसका सूर्यका और आसुरी हाथी [मेघ] का बल और तेज
 होता है, हे (पुष्करस्रजां अधिनो) पुष्कराला धारण करनेवाले अधिवेदो । (तावत् वर्चः मे आधत्तां) जतना
 तेज मेरे अन्तर स्थापित कीजिये ॥ ४ ॥

यावत् (चतस्रः प्रदिशः) जिसकी दूर चारों दिशाओं में, (यावत् चक्षुः समश्नुते) जिसकी दूर दृष्टि जाती
 है, (तावत् मयि तत् हस्तिवर्चसं इन्द्रियं) जतना मुझमें वह हाथीके समान इन्द्रियोंका बल (सं पेतु) इच्छा होकर
 मिले ॥ ५ ॥

(हि सुपर्दां मृगाणां) जैसे अगले बँडनेवाले पशुओंमें (हस्ती अविष्टावान् वभूय) हाथी बढा प्रतिष्ठा-
 वान् है, (तस्य भगेन वर्चसा) उसके ऐश्वर्य और तेजसे ताव (अहं मां अधिपिञ्चामि) मैं अपने आपकी अधिपिञ्च
 करता हूँ ॥ ६ ॥

भाषार्थ— मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र ये विश्वके धारक देव मुझे उल्लेख देवे, ज्ञान देवों और मुझे तेजसे मुक्त
 करें ॥ २ ॥

जिस दलसे हाथी सब पशुओंमें बलवान् हुआ है, जिस दलसे मनुष्योंके अन्तर राजा बलवान् होता है और भूमि
 तथा जल पर भी अपना शासन करता है, जिस दलसे पहले देवोंने देवत्व प्राप्त किया था, हे तेजके देव ! वह बल आज
 मुझे प्राप्त होये - ॥ ३ ॥

हे उत्पन्न हूँ संसारकी आननेवाले देव ! जो तेज यमिनें आतृतिपां देनेसे बढ़ता है, जो तेज सूर्यमें है, जो
 अशुओंमें तथा हाथीमें या मेघोंमें है, हे अधिवेदो ! यह तेज मुझे दोजिये ॥ ४ ॥

चार दिशाएँ जिसकी दूर फैली हैं, जिसकी दूर मेरी दृष्टि जाती है, जतनी दूर तक मेरे सामर्थ्यका प्रभाव
 फैले ॥ ५ ॥

जैसे हाथी पशुओंमें बढा बलवान् है, वैसे बल और ऐश्वर्य में प्राप्त करता हूँ ॥ ६ ॥

वर्चःप्राप्ति सूक्त

शाकभोजनसे बल बढ़ाना

शरीरका बल, तेज, आरोग्य, योग्य आदि बढ़ानेके लक्ष्य का उपदेश करनेवाला यह सूक्त है। प्राणियोंमें हाथीका शरीर (हृश्तीवर्चसं । म १) बड़ा मोटा और बलवान् भी होता है। हाथी शाकाहारो प्राणी है, इसीका आदर्श बनेने यहाँ लिखा है; सिंह और व्याध्रका आदर्श नहीं लिखा। इससे सूचित होता है कि मनुष्य शाक भोजी रहता हुआ अपना बल बढ़ावे और बलवान् बने। देरकी शाकाहार करनेके विषयकी आत्ता इस सूक्त द्वारा अप्रत्यक्षतासे स्पष्ट हो रही है।

बल प्राप्तिकी रीति

'अदिति' प्रकृतिका नाम है, उस मूल प्रकृतिमें बहुत बल है, इस बलके कारण ही प्रकृतिको 'अदिति' अर्थात् 'अ-दीन' कहते हैं। इस प्रकृतिके ही पुत्र सूर्य, चन्द्रादि देव हैं, इतीतिसे प्रकृतिको देव माता, सूर्यादि देवोंकी माता कहा जाता है। मूल प्रकृतिका ही बल विविध देवोंमें विविध रीतिसे प्रकट हुआ है, सूर्यमें तेज, चामुमें जीवन, जलमें शीतता आदि सूर्य इस देवोंकी अदिति मातासे इनमें आवे हैं। इसलिये प्रथम सूत्रमें कहा है कि 'इन सब देवोंसे प्रकृतिका

अमर्षा बल मूलो प्राप्त हो। (म १) 'सधनुष मनुष्यको जो बल प्राप्त होता है वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है। यह बल प्राप्त करनेकी रीति है। इन देवोंके साथ अपना सम्बन्ध करनेसे अपने शरीरका बल बढ़ने लगता है। जलमें तैरने, चामुमें भ्रमण करने अथवा खेलकूद करने, धूपते शरीरको तपाने अर्थात् शरीरको चमकीके साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढ़ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि तप मन्सरमें अपने आपको नग्न रखनेसे बल घटता है।

द्वितीय सूत्र कहता है कि ' (मित्र) सूर्य, (वरुण,) जलदेव, (इन्द्रः) विद्युत्, (रुद्रः) अग्नि अथवा वायु से विश्वधारक देव मेरी शक्ति बढावे' (म २)। यदि इनके जीवन रक्षणमें अमृत प्रदाहोसे अपना सम्बन्ध ही दूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कौसी बढावेंगे ? इसलिये बल बढ़ाने-वालोंको उचित है कि वे अपने शरीरको चमकीका सम्बन्ध इन देवोंके अमृत प्रदाहोके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें। ऐसा करनेसे इनके अवरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढ़ेगा।

ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता

कांड ३, सूक्त १९

(श्रुति. - बलिष्ठा । वेवता - विश्वेदेवा, चन्द्रमा, इन्द्र. ।)

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं चरलम् । संशितं क्षत्रमजरामस्तु जिष्णुर्वेपामसिं पुरोहितः ॥ १ ॥
समहनेषां राष्ट्रं स्वामि समोजो वीर्यं चरलम् । वृथामि चरुणां चाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

अर्थ— (मे इदं ब्रह्म संशितं) मेरा यह ज्ञान तेज सूक्त है और मेरा यह (वीर्यं चरलं संशितं) योग्य और बल तेजस्वी है। (वेपाम जिष्णुः पुरोहितः असिं) जिसका मैं विजयी पुरोहित हूँ। (संशितं क्षत्रं अजरं अस्तु) इनका तेजस्वी बना हुआ साम्रज्य कभी क्षीन न होनेवाला होवे ॥ १ ॥
(अहं येषां राष्ट्रं स्वामि) मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी बनाता हूँ, इनका (ओजः वीर्यं बलं स्वामि) बल, वीर्य और संपन्न तेजस्वी बनता हूँ। और (अनेन हविषा) इस हवनसे (चरुणां चाहून् वृथामि) वायुओंके वाहुओंको काटता हूँ ॥ २ ॥

भाष्यार्थ— मैं जिस राष्ट्रका पुरोहित हूँ उस राष्ट्रका ज्ञान मैंने तेजस्वी किया है और शौर्य, वीर्य भी अधिक सीधे किया है, जिससे इस राष्ट्रका साम्रज्य कभी क्षीण नहीं होगा ॥ १ ॥
मैं इस राष्ट्रका तेज बढ़ाता हूँ और इसका शारीरिक बल, पराक्रम और उत्साह भी बढ़ाता हूँ। इससे मैं वायुओंके वाहुओंको काटता हूँ ॥ २ ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः। सुरिं मद्यवानं पृतन्याम् ।

क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुक्षयामि स्वानुद्मम्

॥ ३ ॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरप्रेस्तीक्ष्णतरा उव । इन्द्रस्य वज्रातीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥

एषामुद्ममायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।

एषां क्षत्रमज्जरमस्तु क्षिण्वेक्षेपां चित्तं विक्षेड्यन्तु देवाः

॥ ५ ॥

उद्धर्षन्तां मद्यन्वाजितानुद्धरीराणां जयतामेतु घोषः ।

पृथग्घोषां उलुलपः केतुमन्तु उदीरिताम् देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतां यन्तु सेनया

॥ ६ ॥

प्रेता जयता नर उग्रा धः सन्तु वाहवः ।

तीक्ष्णेपवोऽवलधन्वनो हतोप्रायुधा अवलानुग्रवाहवः

॥ ७ ॥

अर्थ— (ये नः मद्यवानं सुरिं पृतन्यात्) जो हमारे धनवान् और विद्वान् पर सेनासे बढ़ाई करें। ये सन्तु (नीचैः पद्यन्ताम्) नीचे निरं, (अधरे भवन्तु) अवनत हों, (ब्रह्मं ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि) मे ज्ञानसे शत्रुओंका ध्वय करता हूँ, और (स्वान् उच्छयामि) अपने लोगोंको उड़ाता हूँ ॥ ३ ॥

(येषां पुरोहितः अस्मि) जिनका पुरोहित मैं हूँ उनके (परशोरः तीक्ष्णियांसः) परशुसे अधिक तीक्ष्ण (उत अग्नेः तीक्ष्णतराः) और अग्निसे भी अधिक तीक्ष्ण, (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्रके वज्रसे भी अधिक तीक्ष्ण बरत हूँ ॥ ४ ॥

(अहं एषां आयुधा संस्यामि) मैं इनके द्वायुधोंको उत्तम तोष्य बनाता हूँ, (एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि) इनका राष्ट्र उत्तम शीरतासे युक्त करके बढ़ाता हूँ, (एषां क्षत्रं अज्जरं क्षिणु अस्तु) इनका क्षात्रतेज अभाव तथा अपशाती होवे, (क्षिण्वेक्षेपां चित्तं विक्षेड्यन्तु) सब देव इनके चित्तको उत्साहाद्भ्रस्त करें ॥ ५ ॥

हे (मद्यवान्) धनवान् इन्द्र ! उनके (याजिनानि उद्धर्षन्तां) बल उत्तेजित हों (जयतां वीरानां घोषः उम् पतु) विजय करनेवाले वीरोंका शब्द ऊपर उठे । (केतुमन्तः उलुलपः घोषः) घोड़े लेकर हमला करनेवाले वीरोंके संघर्षका घोष (पृथक् उत ईरिताम्) अलग अलग ऊपर उठे । (इन्द्रज्येष्ठा मरुताः देवाः) इन्द्रको प्रमुखतामें मस्तु देव (सेनया यन्तु) अपनी सेनाके साथ चले ॥ ६ ॥

हे (नराः) लोगो ! (प्र इत) चलो, (जयतां) जीतो, (धः वाहवः उग्राः सन्तु) तुम्हारे दाढ़ धीबले युक्त हों । हे (तीक्ष्णेपवः) तीक्ष्ण बाण वाले वीरो ! हे (उग्रायुधाः उग्रवाहवः) उग्र-जायुधवालो और बलयुक्त भूजावालो ! (अवल-धन्वनो अवलान् हत) निर्बल धनुष्यवाले निर्बल शत्रुओंको मारो ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो सन्तु हमारे पतिकीपर तथा हमारे ज्ञानिकीपर संघके साथ हमला करते हैं वे सयोगतिकी प्राप्त हों । शत्रुओं के अपने ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूँ और उसीसे अपने लोगोंको उत्तम करता हूँ ॥ ३ ॥

जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूँ उस राष्ट्रके अशत्रुपर परशुसे अधिक तीक्ष्ण, अग्निसे भी अधिक दाढ़ और इन्द्रके वज्रसे भी अधिक संहारक मैंने किये हैं ॥ ४ ॥

मैं इनके शत्रुनाशकोंके अधिक तीक्ष्ण बनाता हूँ, इनके राष्ट्रको उसमें उत्तम शीर उत्तम करने बढ़ाता हूँ, इनके शत्रुओंको कभी क्षोण न होनेवाला और सदा विजयी बनाता हूँ । सब देवता इनके चित्तोंको उत्साहाद्भ्रस्त करें ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! इनके बल उत्साहसे पूर्ण हों, इनके विजयी विरोंका जयजयकारका शब्द क्षात्रधाममें भर जावे । घोड़े उठाकर विजय पानेवाले इनके वीरों के साथ अलग मुनाई दें । जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंकी सेना विजय प्राप्त करती है, उसी प्रकार इनकी सेना भी विजय कमावे ॥ ६ ॥

हे वीरो ! आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो, अपने दाढ़ प्रतापसे युक्त करो, तीक्ष्ण बाणों, प्रतापसे शत्रुनाशकों और समर्थ द्वायुधोंको धारण करके अपने शत्रुओंको निर्बल बनाकर उनको काट डालो ॥ ७ ॥

अवस्तुष्टा परा पत शररूपे ब्रह्मसंशिते ।

जयामित्रान् जय पथस्व जद्योषिं वरवरं मामीषां मोचि कश्चन

॥ ८ ॥

अर्थ— हे (ब्रह्म-संशिते शररूपे) ज्ञानदाता तेजस्वी बने जाय । तू (अवस्तुष्टा परापत) छोटा हुआ हुए का ओर (अमित्रान् जय , मनुष्योंको जीत , (पथस्व) जाये बढ, (परां वरं वरं जदि) इन मनुष्योंके मुक्त मुक्त वीरोंको मार डाल, (अमीषां कश्चन मा मोचि) इनमेंसे किसीको भी मत छोड़ ॥ ८ ॥

भावार्थ— ज्ञानसे तेजस्वी बना हुआ जाय जब वीरोंकी प्रेरणासे छोटा रहता है, तब वह हुए आकर मनुष्यपर गिरता है और मनुष्यका नाश करता है । हे वीरो ! मनुष्य पर घडाई करो और जायके मुक्त वीरोंको चुन चुनकर मार डालो, उनको ऐसा कत्तस करो कि उनमेंसे कोई न बचे ॥ ८ ॥

ज्ञान और वीर्यकी तेजस्विता

राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य

राष्ट्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पाच वर्ग होते हैं । उनमें ब्राह्मणोंका कर्तव्य पुरोहितका कार्य करना होता है । पूर्वोक्त करनेवालेका नाम पुरोहित है । यज्ञमान का पूर्णहित करनेवाला पुरोहित होना चाहिये । जब मनुष्य राष्ट्रका विचार करना होता है उस समय सब राष्ट्र ही मक्षमान है और सब ब्राह्मणजाति उस राष्ट्रके पुरोहितके स्थानपर होती है । इससे मनुष्य राष्ट्रका पूर्णहित करनेका मर उस पुरोहित पर्यपर भा जाता है । ज्ञानकी ज्योति सब राष्ट्रमें प्रचलित करके उस ज्ञानके द्वारा राष्ट्रका अन्वय और निःशेषस सिद्ध करना पुरोहितका कर्तव्य है; इस कर्तव्यका इस मूलमंत्र स्पष्ट ज्ञानमें पूर्ण किया है, राष्ट्रके ब्राह्मण इस मूलका मनन करें और अपना कर्तव्य जान कर उसको निभायें ।

इस मूलका अर्थ वसिष्ठ है और वसिष्ठ नाम ब्राह्मणिक ब्राह्मणका मुप्रसिद्ध है । इस मूलमें भी इस मूल का मनन ब्राह्मणोंको करना चाहिये । अब मूलका अर्थय वैश्वदेव—

ब्राह्मतेजकी ज्योति

राष्ट्रमें ब्राह्मतेजकी ज्योति बढ़ाना और उस ज्योतिके द्वारा राष्ट्रकी उन्नति करनेका कार्य समस्त मनुष्यका और अज्ञान काव्ययक है । इस विषयमें इस मूलमें यह कथन है—

३३ [अथर्व. भा. २ काण्ड० द्विती]

मे इद् ब्रह्म संशितम् । (म १)

मद्रथना अमित्रान् क्षिप्यामि । (म २)

उन्नयामि स्वान् बहूम् । (म ३)

अवस्तुष्टा परा पत शररूपे ब्रह्मसंशिते । (म ८)

जय अमित्रान् ० (मं. ८)

' मेरे प्रथमसे इस राष्ट्रका सामतेज क्षमकता है । तावके प्रथमसे मनुष्योंका नाश करता हू । और उसी ज्ञानसे मैं अपने राष्ट्रके लोगोंकी उन्नति करता हू । ज्ञानके द्वारा उन्नतित हुआ जाय मनुष्य पर परिणाम करता है, उससे मनुष्यकी जीत ली । '

ये मंत्र भान राष्ट्रमें ब्राह्मणोंके कार्यका स्वरूप बताते हैं । भान राष्ट्रमें उन्नतिमें बड़ा भारी कार्य करता है । जगतमें अनेक राष्ट्र हैं उनमें से ही राष्ट्र अग्रभागमें है कि जो मानसे विशेष संपन्न हैं । ज्ञान न होते हुए अन्वयका हीका अन्वय है । यदि उन्नतिका विरोधक कोई कारण है तो वह एकमात्र अज्ञान ही है । अज्ञानसे अन्वय होता है और ज्ञानसे उस अन्वयका नाश होता है । इसलिये राष्ट्रमें जो ब्राह्मण हों उन सबका कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञानी बनें और अपने राष्ट्रके सब लोगोंकी ज्ञानसंपन्न करें । क्षत्रियों वैश्यों और शूद्रोंको भी ज्ञान अन्वयक ही है । उनके व्यवहारोंकी उन्नततासे निजानेके लिये ज्ञानकी परम आवश्यकता है ।

ज्ञानसे मनुष्य कीम है और अपना हितकारो मित्र कीम है प्रायः निश्चय होता है । अपने ज्ञानसे राष्ट्रके मनुष्यको

जानना और उसकी मूर करनेके लिये ज्ञानसे ही उपायकी योजना करनी चाहिये । यह उपाय योजना का कार्य ब्राह्मणों का परम कर्तव्य है । शत्रुपर हमला किस समय करना चाहिए, शत्रुके शास्त्रास्त्र कैसे हूँ, अपने शास्त्रास्त्र उनसे भी अधिक प्रभावशाली किस रीतिसे करने चाहिए, शत्रुके शास्त्रास्त्र जितनी दुरीपर प्रभाव कर सकते हूँ उससे अधिक दुरीपर प्रभाव करनेवाले शास्त्रास्त्र कैसे निर्माण करने चाहिए, दायरि चाखें ज्ञानसे ही सिद्ध हो सकती हूँ, अपने राष्ट्रमें इनकी सिद्धता करना ब्राह्मणोंका कर्तव्य है । अर्थात् ब्राह्मण अपने ज्ञानसे इसका विचार करें और अपने राष्ट्रमें ऐसी प्रेरणा करें कि जिससे राष्ट्रके अंदर उक्त परिवर्तन आ जाये । यही भाव विष्णुलिखित मंत्रमें कहा है—

अथमृष्टा परा पत शरन्त्ये ब्रह्मसंशिते । (मं. ८)

' ज्ञानसे तीक्ष्ण बने शास्त्रास्त्र शत्रुपर गिरें । ' इसमें ज्ञानसे उत्तेजित, प्रेरित और तीक्ष्ण बने शत्रुओंके अधिक प्रभावशाली होनेका वर्णन है । अन्य देशोंके शास्त्रास्त्र बेलकर, उनका वेग जातकर और उनका परिणाम क्षुब्ध करके जब उनसे अधिक वेगवान् और अधिक प्रभावशाली शास्त्रास्त्र अपने देशके घोरोंके पास दिये जायें, तब अन्य परिस्थिति समान होनेपर अपनी जीत निश्चयसे होगी इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ।

पुरोहितकी प्रविष्टा

' जिस राष्ट्रका में पुरोहित हूँ उस राष्ट्रका ज्ञान, बोनं, बल, पराक्रम, शौर्य, शौर्य, शौर्य, विजयी जाताहूँ कभी क्षीण न हो । ' (मं. १)

' जिस राष्ट्रका में पुरोहित हूँ उस राष्ट्रका पराक्रम, उत्साह, शौर्य और बल में बढ़ावा हूँ और शत्रुओंका बल घटाता हूँ । ' (मं. २)

' जो शत्रु हमारे घनी बंधनों और शानी शास्त्रोंके ऊपर, अर्थात् हमारे देशके मुझ न करनेवाले लोगोंपर, सैन्यके साथ हमला करेगा उसका नाश में अपने मारने करता हूँ और अपने राष्ट्रके लोगोंकी में अपने ज्ञानके बलसे उठाता हूँ । ' (मं. ३)

' जिनका में पुरोहित हूँ उनके शास्त्रास्त्र में अधिक तेज ज्यादाता हूँ । ' (मं. ४)

' इनके शास्त्रास्त्र में अधिक तीक्ष्ण करता हूँ । उत्तम घोरोंकी संख्या इस राष्ट्रमें बढ़ाकर इस राष्ट्रकी उन्नति करता हूँ । और इसका शौर्य बढ़ाता हूँ । ' (मं. ५)

ये मंत्र भाग पुरोहितके राष्ट्रीय कर्तव्यका ज्ञान अतिसिद्ध शब्दों द्वारा बने रहे हूँ । पुरोहितके ये कर्तव्य हूँ । पुरोहित शत्रुओंको क्षान्धिका सिखावे, बंधनोंको ध्वजार स्वभार करनेका ज्ञान देवे और शत्रुओंको कारोपरोकी शिक्षा देवे, और शत्रुओंको इस प्रकारके विघ्न ज्ञानसे मुक्त करे । इस रीतिसे घातों घातोंको तेजस्वी बनाकर संपूर्ण राष्ट्रका उदार अपने ज्ञानकी प्रकृतिसे करे ; जो पुरोहित में कर्तव्य करनेमें वेही वेदकी इष्टिसे सच्चे पुरोहित हूँ । जो पुरोहित पुरोहितका कार्य कर रहे हूँ वे इस मुक्तका विचार करें और अपने कर्तव्योंका ज्ञान प्राप्त करें ।

युद्धकी नीति

युद्ध, सन्तम और अन्तम इन तीन मंत्रोंमें युद्धनीति का उपदेश इस प्रकार किया है—

' घोरोंके पक्ष अपने अपने हाथे उठाकर युद्धगीत गाते हुए और आर्तबन्धे विजय सूचक शब्दोंका घोष करते हुए दण्डसेनापर हस्ता करें और विजय प्राप्त करें । जिस प्रकार इनकी प्रमुक्ततामें मरतेके पण शत्रुपर हमला करते और विजय प्राप्त करते हूँ, इसी प्रकार अपने राजाके तथा अपने सेनापतिके आधिपत्यमें रहकर हमारे घोर दण्डपर हमला करें और अपनी विजय प्राप्त करें । ' (मं. ६)

' घोरों ! भागे बड़ो, तुम्हारे बाहू प्रभावशाली हों, तुम्हारे शस्त्र शत्रुकी अनेका अधिक तीक्ष्ण हों, तुम्हारी इष्टि शत्रुकी इष्टितसे अधिक पराक्रम प्रकाशित करनेवाली हो । इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम अपने निबंध शत्रुकी मार डालो । ' (मं. ७)

' ज्ञानसे उत्तेजित हुए तुम्हारे शस्त्र शत्रुका नाश करें, ऐसे तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शत्रुका गुण परामय करो । ' (मं. ८)

इन तीन मंत्रोंमें इतना उपदेश देकर पश्चात् इस अन्तम मंत्रके अन्तमें अर्थात् महत्वकी युद्धनीति कही है, वे शत्रु देखने योग्य हूँ—

(१) जद्योगां घोरं घोरं,

(२) माऽमीनां मोचि कश्चन ॥ (मं. ८)

' इन मंत्रोंके मुख्य मुख्य प्रमुख घोरोंको मार दो और इनमेंसे कोई भी न बचे । ' ये ही उपदेश युद्धके संबंधमें अर्थात् मनुष्यके हूँ । दण्डसेनाके पक्षके जो सत्तालक और प्रमुख घोर हों, प्रथम उनका बध करना चाहिये । प्रमुख

संवाक्योंमें कोई भी न बचे । ऐसी अवस्थामें जपूकी सेवा बड़ी असाधारण पराश्रित हो जायगी । यह यज्ञमेति अत्यन्त मनन करने योग्य है ।

अपनी सेवामें ऐसे बंध रखने चाहिये कि जो शत्रुके

वीरोंको चुन चुन कर मारनेमें तत्पर हों । जब इन वीरोंके बंधसे शत्रुसेनाके मुखिया वीरोंका बंध ही जाये, तब शत्रु सेनापर हमला करनेमें उस शत्रुसंग्रहका पराभव होनेमें देरी नहीं लगेगी ।



तेजस्विताके साथ अभ्युदय

कांड ३, सूक्त २०

(ऋषिः - बतिसिः । देवता - अग्निः, मरुतोक्तदेवताः ।)

अयं तु योनिर्ऋत्विषो यतो जातो अरोचथाः । तं जानन्नम आ रोहाषां नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥

अग्ने अच्छा बदेह नः प्रयच्छ नः सुमनां भव ।

प्र णो पच्छ विशां पते धनदा अग्नि नस्त्वम् ॥ २ ॥

प्र णो पच्छस्वर्षमा प्र भवः प्र बृहस्पतिः । प्र देवीः प्रोत सुनुतां रयिं देवीं दधातु मे ॥ ३ ॥

सोमं राजानमवसेऽपि गीर्भिर्हवामहे । आदित्यं विश्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् । ॥ ४ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (अयं ते ऋत्विषः योनिः) यह तेरा ऋजुसे संबन्धित उत्पत्ति स्थान है (यतः जातः अरोचथाः) जिससे प्रकट होकर तू प्रकाशित हुआ है । (तं जानन् आरोह) जसको जानकर उपर चढ़ (अथा नः रयिं वर्धय) और हमारे लिये धन बढ़ा ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (इह नः अच्छ धदा) यहाँ हमसे अच्छी तरह बोल और (प्रयच्छ नः सुमनां भव) हमारे सम्मुख होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो । हे (विशां पते) प्रजानोंके स्वामिन् ! (नः प्रयच्छ) हमें धन दे क्योंकि (त्वे नः धनदाः अग्नि) तू हमारा धनदाता है ॥ २ ॥

(अयंमा नः प्रयच्छतु) अर्थात् हमें धन दे, (अथा बृहस्पतिः प्र प्रयच्छतु) भव और बृहस्पति भी हमें धन दे । (देवीः प्र) देवियां हमें धन दे । (उत सुनुता देवी मे रयिं प्र दधातु) और तारक स्वभाववाली देवी मुझे धन दे ॥ ३ ॥

राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विश्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिको (अयसे गीर्भिः हवामहे) धनकी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! ऋजुओंसे संबन्ध रखनेवाला यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जिससे जन्मते ही तू प्रकाशित हो रहा है । अपने उत्पत्तिस्थानको जानता हुआ तू उपरत हो और हमारे धनकी वृद्धि कर ॥ १ ॥

हे अग्ने ! यहाँ स्पष्ट वाणीसे बोल, हमारे सम्मुख उपस्थित होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो, हे मन्त्रियोंके शासक ! तू हमें धन देनेवाला है, इसलिये तू हमें धन दे ॥ २ ॥

अर्थात्, भव, बृहस्पति, देवियां तथा ब्रह्मदेवी ये सब हमें धन दें ॥ ३ ॥

राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विश्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी योग्य रीतिसे रक्षा करें ॥ ४ ॥

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्मं यज्ञं च वर्धय । त्वं नो देव दातवे रयि दानाय चोदय ॥ ५ ॥
 इन्द्राय उभाविह सुहवेह इवामहे ।
 यथा नः सर्वे इज्जनः संगत्यां सुमना असदानकामश्च नो भुवंत् ॥ ६ ॥
 अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय । वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥
 वाजस्य तु प्रसवे सं ब्रभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।
 उतादिस्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्वधीरं नि यञ्छ ॥ ८ ॥
 दुह्रां मे पञ्चं प्रदिशो दुहामुर्वीर्यंथावलम् । प्रायेयं सर्वा आकृतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥
 गोसनिं वाचंमुदेयं चर्षसा माभ्युदिदि । आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (त्वं अग्निभिः) तू अग्नियोंके साथ (नः यज्ञ यज्ञं च वर्धय) हमारा ज्ञान और धन बढ़ा । हे देव ! (त्वं नः दातवे दानाय रयि चोदय) तू हमारे बाने पुत्रकी बान देनेके लिये धन भेज ॥ ५ ॥

(उभा इन्द्राय) दोनों इन्द्र और वायु (सु-हवी) उत्तम बलाने घोष्य हे इतलिये उनको (इह हवामहे) महा बलाने हे । (यथा नः सर्वे इतः जनः) जिससे हमारे संपूर्ण लोग (सगत्यां सुमनाः असत्) सर्वात्मने उत्तम मनवाले होंगे (च नः) और हमारे लोग (दानकामः भुवत्) बान देनेकी इच्छा करनेवाले होंगे ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और (वाजिनं सवितारं) वेणुबालू सवितारको (दानाय चोदय) हमें बान देनेके लिये प्रेरित कर ॥ ७ ॥

(वाजस्य प्रसवे सं ब्रभूविम) बलकी उत्पत्तिमें ही हम संगठित हुए हैं (च इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) और ये सब भुवन उसके बीचमें हैं । (प्रजानन्) जननेवाला (अदितसन्तं उत दापयतु) बान न देनेवालेको निश्चयपूर्वक बान देनेके लिये प्रेरणा करे । (च नः सर्वधीरं रयिं नियञ्छ) और हमें सब प्रकारके बौर भावसे पुत्र पुत्र देवे ॥ ८ ॥

(उर्वीः पञ्चं प्रदिशः) ये बारी पाँचों दिशाएँ (यथावलं मे दुह्रां) यथास्थिति मुझे रत देवे । (मनसा हृदयेन च) मनसे और हृदयसे (सर्वाः आकृतीः प्रायेयेयन्) सब संकल्पोंकी पूर्ण कर सकूँ ॥ ९ ॥

(गोसनिं वाचं उदेयं) इन्द्रियोंकी प्रसन्न करनेवाली वाणी में बोलू । (चर्षसा मां अभ्युदिदि) तेरके साथ मुझे प्रकाशित कर । (वायुः सर्वतो आ रुन्ध्याम्) वायु मुझे सब ओरसे घेरे रहे । (त्वष्टा मे पोषं दधातु) त्वष्टा मेरी सब वृष्टिको देता रहे ॥ १० ॥

भाषार्थ— हे अग्ने ! तू अनेक अग्नियोंके साथ हमारा ज्ञान और हमारा धर्मसम्पन्न बढ़ा । हे देव ! बान देनेवाले मनुष्यकी बान देनेके लिये प्रेरित कर दे ॥ ५ ॥

हम इन्द्र, वायु इन दोनोंकी प्रार्थना करते हैं जिससे हमारे सब लोग सगठनसे संगठित होते हुए उत्तम मनवाने वाले और बान देनेकी इच्छावाले होंगे ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और बलवान् सवितार ये सब हमें बान करनेके लिये प्रेरित करें ॥ ७ ॥

बल उत्पन्न करनेके लिये हम संग्रह करते हैं, अंत में ये सब भुवन अंतरसे सम्पन्न हुए हैं । महा ज्ञाननेवाला कर्तव्यकी बान करनेकी प्रेरणा करे और हमें संपूर्ण बौर भावसे पुत्र पुत्र देवे ॥ ८ ॥

ये बारी विस्तारपूर्वक वाणी ही दिशाएँ हमें यथास्थिति घोषणा रत देवे, जिससे हम मनसे और हृदयसे बलवान् बनने हुए अपने संपूर्ण संकल्पोंकी पूर्ण करें ॥ ९ ॥

प्रसन्नताकी दशानेवाली वाणी में बोलू । तेरके साथ मुझे अभ्युदयको प्राप्त करा । पाँचों ओरसे मुझे प्राण उल्लासित करे और जगत्प्रतिष्ठा देव मुझे सब प्रकार पुष्ट करे ॥ १० ॥

तेजस्विताके साथ अभ्युदय

अधिका आदर्श

उत्पत्तिस्थानका स्मरण

इस सूक्तमें अग्निके आदर्शमें मनुष्यके अभ्युदयको सिद्ध करनेके मार्गका उत्तम उपदेश दिया है। इस सूक्तका ध्येय भाष्य यहाँ है—

यत्तस्मा मा अभ्युदिहि । मं. १० ।

'तेजके साथ मेरा सब प्रकारसे उदय करा' यह हरएक मनुष्यको इच्छा होनी चाहिये। यह ताप्य सिद्ध होनेके लिये सापनेके आवश्यक मार्ग इस सूक्तमें उत्तम प्रकार बताया है। उनका विचार करनेके पूर्व हम अग्निके आदर्शमें जो बात बताई है वह देखते हैं—

'यत्तमें जो अग्नि होती है, वह लरडियाँ उदय की जाती हैं, लकडियाँ स्वयं प्रकाशित नहीं हैं परन्तु उनसे उदय होनेवाली अग्नि (जातः अरोचथाः । मं. १) उदय होते ही प्रकाशित होती है। पशुवात् वह हवन कुण्डमें रखी जाती है, वहा वह (रोह । मं. १) स्वयं बढती है और दूसरोंको भी प्रकाशित करती है। इस समय उसके चारों ओर श्वत्विज लोग (गीभिः हवामहे । मं. ४) मंत्र पाठ करते हैं और हवन करते हैं। इस समय इस अग्निके साथ (अग्निः अग्निभिः । मं. ५) अनेक हवन कुण्डोंमें अनेक अग्नियाँ प्रज्वलित होती हैं और दसते (प्रसू यज्ञ च यर्षय । मं. ५) जान और यज्ञकी शृष्टि होती है। यत्तमें सब लोग (जनः सगत्यां सुमनाः । मं. ६) मिलकर उत्तम विचारोंसे कार्य करते हैं। तथा (प्रसूये संयभूयिम । मं. ८) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये एक होकर कार्य करते हैं और इस प्रकारके यत्तसे तेजस्वी होकर अपना अभ्युदय सिद्ध करते हैं।'

सारवासे यह यत्त प्रक्रिया है, इसमें लकडियोंसे उदय हुई छोटोसो अग्निको दिनवारीका कितना यज्ञ बढता है और यह अग्नि अनेक मनुष्योंको उदयित करनेमें कंठे समय होती है, यह बात बताई है। यदि अग्निकी छोटोसो जिन-पारीके तेजके साथ बट आनेसे इतना अभ्युदय हो सकता है, तो 'मनुष्यमें, रूहनेवालों, चेतन्यकी जिनवारी इनो प्रकार प्रकाशके मार्गसे चलते तो कितना अभ्युदय प्राप्त करेगी, इसका विचार पाठक स्वयं जान सकते हैं, इसीका उपदेश पूर्वोक्त अग्निके दृष्टान्तसे इस सूक्तमें बताया है।

सबसे प्रथम अपने उत्पत्तिस्थानका स्मरण करनेका उपदेश प्रथम मन्त्रमें दिया है। 'यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जहाँ उत्पन्न होते ही तू प्रकाशता है, यह जानकर स्वयं बढनेका यत्न कर और हमारी भी प्रीति बढा।' (मं. १) यह उपदेश मनन करने योग्य है। उत्पत्तिस्थान कई प्रकारका होता है, अपना कुल, अपनी जाति, अपना देश यह तो स्थूल दृष्टिसे उत्पत्तिस्थान है। इस उत्पत्तिस्थानका स्मरण करने अपनी उन्नति करनी चाहिये। दूसरा उत्पत्तिस्थान आध्यात्मिक है जो प्रकृतिमाता और परमपितासे सम्बन्ध रखता है, यह भी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये मनन करने योग्य है। उत्पत्तिस्थानका विचार करनेसे 'मैं कहाँसे आया हूँ और मुझे कहाँ पहुँचना है' इसका विचार करना सुगम हो जाता है। जहाँ कहाँ भी उत्पत्ति हुई हो वहाँसे अपनी शक्तिके प्रकाशना, बढना और दूसरोंकी प्रकाशित करना चाहिये।

(इह अच्छा यद्) यहाँ सबके साथ सरल भाषण कर, (प्रसूय सुमनाः भय) प्रत्येकके साथ उत्तम मनो-भाषनासे नर्तय कर, अपने पाठ जो हो, वह दूसरोंकी भलाईके लिये (प्रयच्छ) दान कर, यह द्वितीय मन्त्रके तीन उपदेश वाचशुद्धि, मनशुद्धि और आत्मशुद्धिके लिये अत्यन्त उत्तम है। इसी मार्गसे इनकी पवित्रता ही सकती है।

आपके दो मन्त्रों में किन किन शक्तियोंसे सहायता मिलती है इसका उल्लेख है।

सबसे प्रथम (देवीः) देवियों अथवा माताओंकी सहायता मिलती है, जिनकी कृपाके बिना मनुष्यका उदय होना अशक्य है, तत्पश्चात् (सुनुता देवी) सरल भाषीसे सहायता प्राप्त होती है। मनुष्यके पाठ शीघ्र भावसे बोलनेको शक्ति व हो तो उसकी उन्नति अत्यन्त है। इसके पतर (अर्थ+मन् = अर्थ+मन्) श्रेष्ठ मनके भावसे जो सहायता होती है वह अपूर्व हो है। इसके पश्चात् (वृहस्पतिः) ज्ञानी और (प्रजा) बहुमतानी सहायता देते हैं, इनमें कृपा जो अंतिम मजिलतक पहुँचा देता है। ये सब उन्नतिके उपाय योग्य (राजा अदक्षे) राजाकी रक्षामें ही सहायक हो सकते हैं, सुराज्य ही अर्थात् राज्यका सुप्रबंध ही तो सब प्रकारकी उन्नति सम्भवनीय है अन्यथा अशक्य है। इतने

साय साय (भोम भादि य रूर्ध) वनम्परिगर्ज
सधका आदान करनेवाला मूषेप्रकाश य बल और आरोग्य
वर्धक होनेसे सहृदयक हूँ और अतम विशेष महत्त्वकी सहृदयता
(विष्णुः) सर्वव्यापक देवताकी है जो सर्वांगि होनेसे
सबका परिपालक और सबका चालक है और इसकी
सहृदयता सभीके लिये अत्यन्त आवश्यक है। जन्मसे लेकर
मूर्तिपूजक इस प्रकार सहायताएँ मिलती हैं और इनकी
सहायता लेता हुआ मनुष्य अपने परम उत्पत्तिस्थानसे यहाँ
आकर फिर यहीं पहुँचता है।

सम्भूय समुत्थान

इस सूक्तमें एकताका पाठ स्पष्ट शब्दों द्वारा दिया है।
(वाजस्य तु प्रसये स्रवभूमिम। (म ८) ' वलकी
उत्पत्तिके लिये हम अपनी सपटना करते हैं। ' सम्भूयसम्-
स्थानके बिना शक्ति नहीं होती इसलिये सहकारिता करके
शक्ति बढ़ानेका उपदेश यहाँ किया है। (स्रव्यं जन
संगत्यां सुमनाः सपत्। म ९) ' जब सब मनुष्य
सहकारिता करने लगे उस समय परस्पर उत्तम मनुष्य साथ
व्यवहार करें। ' ऐसा न करेंगे तो सपशक्ति बढ नहीं
सकती। यह उत्तम सोमनस्यका व्यवहार सिद्ध होनेके लिये
(ब्रह्म यज्ञ च स्रव्ये। म ५) मान और आत्मसमर्पणका
भाव बढ़ाओ। सपशक्तिके लिये इनकी अत्यन्त आवश्यकता
है। मनुष्यको उत्पत्ति तो स्वर्गिण और सधमा होने है,
इसलिये पहले वैयक्तिक उत्पत्तिके उपदेश देकर पश्चात्
वायिक उत्पत्तिके विरंदा दिये हैं। इस प्रकार दोनों मायोंसे
उत्पत्ति होनेपर ही पूर्ण उत्पत्ति हो सकती है।

' वाजस्य प्रसये स्रवभूमिम ' (म ८) यह मन्त्र
बहुत वृद्धिसे मनन करने योग्य है। यहाँ ' धाज. ' शब्दके
अर्थ देखिये— 'युद्धमें जय, अन्न, जल, शक्ति, बल, धन,
पति, वाणीका बल ' ये अर्थोंके प्रकरणमें इस मन्त्रनायका
अर्थ इस प्रकार होता है— 'हम युद्धमें विजय प्राप्त करनेके
लिये सपठन करते हैं, अन्न, जल, साध, पैय और धनवि-
शेषवर्षोपभोगके पचास प्राप्त करनेके लिये आपातकी एकता
करते हैं, अपनी बाणोंका बल बढ़ानेके लिये अर्थात् अपने
मतका प्रभाव बढ़ानेके लिये अपनी सपटना करते हैं, एक
पक्षसे जो शत्रु हम शोर्सेन वे नि शन्देह अधिक प्रभावदाताकी
धरने, तथा हमारी प्रयति और उत्पत्तिका वेग बढ़ानेके
लिये भी हम अपनी सहकारिता बढ़ाते हैं। '

उत्पत्तिके लिये कन्नूतीका भाव पाठक है इसलिये कहा
है कि (अ-द्विस्तन्त दापयतु। म ८) ' कन्नूतीकी भी,
दान न देनेवालेकी भी दान देनेकी और मुखायो, ' स्वर्गिक
उत्पत्तिका ही सपटना होती है और अनुत्पत्तिका विपत्ती
है। अपने पास धन तो होना चाहिये परन्तु वह धन (सर्व
चीर रयिं नियच्छ। म ८) ' सपूर्ण धोरत्वके गुणोंके साथ
हो। ' अन्यथा कमाया हुआ धन कीही उजाहर से जायगा
इसलिये धोरताके साथ धन कमानेका उपदेश यहाँ है।

इस रीतिसे उक्त हुआ मनुष्य ही कह सकता है कि
' पहले पशुओं विद्याएँ अध्यापित बल प्रदान करें और मनुष्य
तथा हृदयसे जो सकल्प में कर्ष वे पूर्ण होजाय। (म ९)
इसके ये संकल्प नि सर्वह पूर्ण होताते हैं।

हरएकके मनमें अनेक सकल्प उठते हैं, परन्तु कितने
सकल्प सफल होते हैं? सकल्प सब सफल होंगे जब उन
सकल्पोंके पीछे शक्ति होगी, अन्यथा सकल्पोंकी सिद्धिता
होना असंभव है। इस सूक्तमें सकल्पोंके पीछे शक्ति उत्पन्न
करनेके विषयपर बड़ा बल दिया गया है। सूक्तके प्रारम्भसे
यही विषय है—

' अपनी उत्पत्तिस्थानका विचार कर धरणी उत्पत्ति कर-
नेके लिये कम्मर कलके उठना, (म. १) ; सोचा तरस
भावण करना, मनके भाव उत्तम करना, (म २) ; अन्न
और त्यागभाव बढ़ाना, (म. ५) , प्राण धन परीपकारमें
लगाना, (म ५) , सब मनुष्योंकी उत्तम विचार धारण
करने, एकता बचाने और परीपकार करनेकी और प्रयत्न
करना, (म. ६) , सामर्थ्य बढ़ानेके लिये अपनी व्याप्तको
सपटना करना, (म. ८) , अपने शत्रुओं सज्जुधित विचारके
हो उत्पत्ती भी उत्पन्न बचाना, (म. ८) , इस पूर्व तैपारीके
पञ्चातृही सब मायैतिक सकल्पोंकी सफलता संभव है। '
सकल्पोंके पूर्व इतनी सहायकशक्ति उत्पन्न होने चाहिये।
इस सकल्प सिद्ध होंगे। इसका विचार करके पाठक इस
शक्तिकी उत्पन्न करनेके समर्थमें लग जाय। इसके नंतर —
' सब स्थानमें उसको प्राणशक्ति साक्षात् होती है, सब
स्थानसे उसको पुष्टि होती है, यह सदा प्रसन्नता बढ़ानेवाली
ही भाषा बोलता है इसलिये वह तेजस्विताके साथ आम्नु-
रवकी प्राण होता है। (म १०) '

इस वचन मन्त्रमें ' गोसर्नि वाच उदेय ' यह वाक्य
है। ' गो ' का अर्थ है— ' इन्द्रिय, गी, भूति, प्रकाश, स्वर्ण-
मुद्य, वाणी। ' ' इन्द्रियोंकी प्रसन्नता, वाणीकी प्रसन्नता,

प्रकाशका विस्तार, मनुष्यकी मुक्त भाविकी सिद्धता होने योग्य में भाषण होता है ' ये अर्थ इससे व्यक्त होता है । भाषे ' तेजस्विताके साथ मनुष्यवश ' प्राप्त करनेका विषय कहा है, उसके साथ वह ' प्रसन्नता बढ़ानेवाली वाणीसे बोधना ' कितना आवश्यक है, यह पाठक यहां अवश्य देखें । इस प्रकार इस सूक्तके वाक्यांश, पूर्वपर, सवय देखकर यदि पाठक मनन करेंगे तो उनको विशेष बोध प्राप्त हो सकता है ।

इस सूक्तका सभेसे यह विवरण है । पाठक जितना अधिक विचार करेगे उतना अधिक बोध वे प्राप्त कर सकते हैं । अधिक विचार करनेके लिये आवश्यक सकेत, इस स्थान पर विधे ही हैं, इतलिये, यहां अधिक लेख बढ़ानेकी आवश्यकता नहीं है । अन्तिका वर्णन करनेके लिये ही मनुष्यको उन्नतिके निवर्तक कर्ते होते हैं, इसका अनुभव पाठक यहां करें । देखी यह एक अत्रुषं शैली है ।



तेजस्विताकी प्राप्ति

कांड ६, सूक्त ३८

(अर्थ - अर्चवा बर्चसकाम । वेत्ता - त्रिवि, गृहवति)

सिद्धे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्रिषिर्यौ ब्राह्मणे सूर्ये वा ।	
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वचसा संविदाना	॥ १ ॥
या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्रिषिर्यसु गोषु या पुरुषेषु ।	
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वचसा संविदाना	॥ २ ॥
रथे अक्षेष्वाश्वस्य वाजे वाते पञ्चन्ये चरुणस्य शुष्मे ।	
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वचसा संविदाना	॥ ३ ॥
राजन्त्ये दुन्दुभावाश्वताशमर्थास्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।	
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वचसा संविदाना	॥ ४ ॥

अर्थ - (या त्रिविः) जो तेज (सिद्धे, व्याघ्रे, उत पृदाकौ) पितृ, वाय, और मातृ है और (या जग्रौ, ब्राह्मणे, सूर्ये) जो तेज धनि, ब्राह्मण, और सूर्यमें है, (या सुभगा देवी इन्द्रं जजान) जो भाग्यपुत्रत रथो तेज इत्यको अर्थात् राजाको उत्पन्न करता है (अर्चसा संविदाना सा नः ऐतु) अथ और बलसे पुत्र होकर वह तेज हमें प्राप्त होते ॥ १ ॥

(या त्रिविः) जो तेज (हस्तिनि द्वीपिनि) हाथी और वाघमें है (या हिरण्ये, असु, गोषु, पुरुषेषु) जो तेज सोना, जस, घोड़े और मनुष्योंमें होता है, जिस भाग्यपुत्र तेजसे राजा उत्पन्न होता है, वह तेज हमें प्राप्त होते ॥ २ ॥

जो तेज (रथे अक्षेषु अश्वस्य वाजे) रथ, अश्व, और बलके उत्पन्न है और (वाते पञ्चन्ये चरुणस्य शुष्मे) वायु पञ्चन्य और अश्वके सामर्थ्यमें है और जिससे राजा उत्पन्न होता है वह तेज हमें प्राप्त होते ॥ ३ ॥

जो तेज (राजन्त्ये आश्वताशु दुन्दुमौ) क्षत्रियमें और शिवको हुई दुन्दुभीमें होता है, और (अश्वस्य वाजे, पुरुषस्य मायौ) घोड़ेके बलमें और मनुष्यके वित्तमें जो बल होता है, जिससे राजा उत्पन्न होता है, वह तेज हमें प्राप्त हो ॥ ४ ॥



तेजस्विताकी प्राप्ति

तेजके स्थान

इस मुक्तमें तेज कहा कहा रहता है, इसका उसमें धर्मन है। मनुष्यको इन्हे गुण बनाना चाहिये और इनसे तेजका पाठ सीखना चाहिये, देखिये—

१ सिद्ध- इसमें तेज है इसीलिसे उसको जनराज कहते हैं। सिद्धके सामने उसकी उग्रता देखकर साधारण मनुष्य नहीं डर सकता।

२ व्याघ्र- बाघ भी बड़ा तेजस्वी होता है, उसकी उग्रता प्रसिद्ध है।

इसी कारण अधिक तेजस्वी मनुष्यको ' नरसिंह, नर-व्याघ्र ' कहते हैं। क्योंकि ये पशु अन्य पशुओंसे बड़े तेजस्वी होते हैं।

३ घृदाकु- सग्य भी बड़ा तेज पुञ्ज होता है, चपल और उग्र होता है।

४ अग्नि- अग्निका तेज, उष्णत्व और प्रकाश सब जानते हैं।

५ ब्राह्मण- ब्राह्मणमें तान और विज्ञानका मूल रहता है।

६ सूर्य- सूर्य तो सब तेजस्व केन्द्र है ही। इसके समान कोई तेजस्वी परार्थ नहीं है।

७ हस्ती- हाथीमें गभीरताका तेज होता है, उसकी घोभा महोत्सवोंमें दिखाई देती है, इसकी प्रकृति भी बड़ी होती है।

८ द्वीपी- यह नाम तरु या व्याघ्रका है यह बड़ा उग्र और तेजस्वी होता है।

९ विरप्य- सोनेका तेज सब जानते हैं।

१० भाष- जल भी तेजस्वी होता है, ' उल मनुष्यमें विद्रुल भी पानी नहीं है, ' ऐसा भाषाका भी व्यवहार होता है। जलमें तेज होनेके कारण जीवनके लिये भी यह द्रव्य प्रयुक्त होता है।

११ गौ- गायमें भी तेज है। पाठक भंशका गोपित्य और गायको चपलताका विचार करनेसे तो उनको गायके तेजका पता लग जायगा।

१२ पुरुष- मनुष्यमें भी तेज होता है।

१३ रथ, अश्व, वृषभ- इनके तेजका अनुभव सबको है। मनुष्योंमें जो श्रेष्ठ होता है उसको ' नरपथ ' अर्थात् ' मनुष्योंमें बंद ' ऐसा कहते हैं। बंद बड़ा बलवान् और तेजस्वी होता है।

१४ वायु, पर्जन्य- यद्यपि वायु अनुभव है तथापि वह प्राणके द्वारा शरीरमें तेज स्थापित करता है, प्राणके बिना मनुष्य निस्तंज बनता है। पर्जन्य जलके द्वारा सबको जीवन देता है।

१५ क्षत्रिय- क्षत्रियमें अथ मनुष्योंमें उग्रता और तेज होता है इसी कारण क्षत्रिय राजका शासन कर सकता है।

१६ दुःसुभी, अश्व, - दोलके बलते ही मनुष्यमें बड़ा उत्साह बढ़ता है और घोडा भी बड़ा प्रभावशाली होता है।

विचार करने पर पता लग जायगा कि इनमें अलग अलग प्रकारका तेज है और ये सब प्रकारके तेज मनुष्यमें स्थिर होने चाहिये। भिन्न तेजोंको स्वयंके लिये देखिये सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि इनमें तेज है, परन्तु यह परस्पर भिन्न है। हरएक परार्थके तेजमें भिन्नता है। वायुका तेज और पौका तेज परस्पर भिन्न है। मनुष्यको विचार करके इनके तेजोंको अपने अंदर धारण करना चाहिये।

अग्निमें तेज है, उसकी गति उष्ण विद्याको मोर होती है वह स्वयं जलकर तूखरोंको प्रकाशित करता है, वह सदा उग्र अवस्थामें रहता है, इसी प्रकार मनुष्यको अपनेमें तेज धारण चाहिये। अपना मनुष्य तेजस्वी बने, उष्ण अवस्थाका और अपनी प्रगति करे, स्वयं कष्ट सहन करके तूखरोंको प्रकाशित करे और सदा उग्र बना रहे। अग्निके तेजसे यह उपदेश मनुष्य ले सकता है। उसी प्रकार सब द्रव्य तेजोंके विषयमें जानना चाहिये।

इस जगत्में हरएक परार्थ मनुष्यको शोच देनेके लिये तैयार है, परन्तु मनुष्य ही शोच लेनेके लिये तैयार होना चाहिये। शोच लेनेको इच्छितो यह मुक्त बड़ा महत्त्वपूर्ण है।



अभ्युदयकी दिशा

कांड ३, सूक्त २७

(अथि. - अथवा । वेत्ता - अभ्यास्य ।)

प्राची दिग्गिरिर्धिपतिरसितो रक्षितादित्या इर्ववः ।

तेभ्यो नमोऽर्धितिम्यो नमो रक्षितुभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योत्रेस्मान्द्रोष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भं दध्मः

॥ १ ॥

अर्थ - (प्राची दिक्) उदयको दिशाका (अग्निः अधिपतिः) तेजस्यो स्थानो, (अ-सित, रक्षिता) बध्नरहित रसक वीर (आदित्या इपयः) प्रकाशरूप प्रसन्नवाला है । (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्य) तेजस्यो स्वर्गियोंको (नमः) नमस्कार है । उन (रक्षितुभ्यः नमः) बध्नरहित सरक्षकोंके लिये हमारा आभार है । उन (इषुभ्यः नमः) प्रकाशके शस्त्रोंके साथमें हमारी सन्नता रहे । (एः) जो अकेला (अस्मान्) हम सब आत्तिकोंसे (द्रोष्टि) देख करता है और (यं) जिस अकेले दुष्टसे (वयं) हम सब पामिक पुत्रव (द्विष्म.) देख करते हैं (त) उस दुष्टको हम सब (एः) साथ सब सन्तानोंके (जम्भे) व्यापके जवरेमें (दध्मः) धर देते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्राची दिशा अभ्युदय, उदय और उपगतिका सूचक है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि सब दिग्घ्न परापूर्वोंका उदय और उपगति इसी दिशासे होती है और उदयके पश्चात् उनको पूर्ण प्रकाशकी अवस्था प्राप्त होती है। इसलिये सद्युदय यह प्रगतिकी दिशा है। जिस प्रकार इस उदयको दिशासे सयका उदय और पृथि हो रही है, उसीप्रकार हम सब मनुष्योंका अभ्युदय और सबर्धन होना चाहिए। यह पूर्व दिशा हम सब मनुष्योंको उदय प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है। इस दिशाके अनुशार हम सबको मिलकर अभ्युदयकी तैयारी करने चाहिए। इस सूचना और शिक्षाका प्रहण करनेके भे अपने और जनताके अभ्युदयके लिये अवश्य प्रयत्न करना। उदयको दिशाका (अग्निः) अग्रणी, जानी और वक्ता अधिपति है। उदयका मार्ग जानी उपदेशकोंके द्वारा ही ज्ञात हो सकता है, इसलिये हम सब लोग जानी उपदेशकोंके पास जाकर आधुनिके साथ उनका उपदेश ग्रहण करेंगे। अब सोनेका समय नहीं है। अतिवृत्त, आधुनिकता समय प्रारंभ हुआ है। चालिपु, तेजस्यो ज्ञानसे मुक्त युक्त पात घसे और उनसे ज्ञानका प्रकाश प्राप्त करें। इस उदयकी दिशाका (अ-सित) अधनोंसे दूर रहनेवाला, स्वतंत्रताके विचार धारण करनेवाला ही रसक है। ज्ञानके साथ रहकर ज्ञानकी प्राप्ति और स्वातंत्र्यके सरक्षणके साथ रहनेसे स्वातंत्र्यकी प्राप्ति होती है। स्वतंत्रताके बिना उपगति नहीं होगी इसलिये स्वतंत्रताका सरक्षण करना आवश्यक है। इस सरक्षणके साधन (आदिग्गिरिः) प्रकाशके निरसक हैं। प्रकाशके साथ ही स्वातंत्र्य रहता है। विवेकता ज्ञानके प्रकाशसे स्वातंत्र्यका सबर्धन होना है। प्रकाश जिस प्रकार अज्ञानका निवारण करता है, ठीक उसीप्रकार ज्ञानका सूर्य अज्ञानके आधरक अधकारस्य प्रतिबंधोंको दूर करता है। अभ्युदय प्राप्त करनेके लिये स्वतंत्रता होनी ही आवश्यक है और प्रतिबंधोंको दूर करनेसे ही स्वतंत्रताकी शक्ति अपनेमें बढ़ती है। तेजस्विता, ज्ञान, वक्तृत्व, आत्मतयाग आदि आग्नेय गुणोंके आधिपत्यसे ही अभ्युदय होता है, इसलिये तेजस्यो अधिपतियों, स्वतंत्रताके संरक्षकों और प्रतिबन्धनिवारक प्रकाशस्य शक्तिधोंका ही हम आभार करते हैं। इसके विपरीत गुणोंका हम कभी आभार नहीं करेंगे। जो अकेला दुष्ट मनुष्य सब आत्तिक पामिक भद्र युक्तोंकी कष्ट देता है, उनको प्रगति और उपगतियें दिव्य करता है तथा जिसके दुष्ट होनेमें सब सदाचारी भद्र युक्तोंकी पूर्ण समति है, अर्थात् जो सबकुछ दुष्ट है, उसको भी रड देनेका काम हम अपने हृदयमें नहीं लेना चाहते, परंतु हे तेजस्यो स्वाधियो ! और स्वतंत्रता देनेवाले सरसकों ! आपके व्यापके जवरेमें हम सबउसको रज देते हैं। जो रड भावकी घूर्ण सत्रतिसे योग्य हो आप ही उसको बीजित्। समाजको आत्तिके लिये हृदयक मनुष्यको उचित है कि यह लज्जे अपराधीको भी रड देनेका अधिकार अपने हृदयमें न लेवे, अतितु उस अपराधीको अधिपतियों और सरसकोंको ग्याम-सभामें अधिपत करे तथा पूर्वोक्त प्रकाशके अधिपति और सरसकोंका ही सदा आभार करे। अर्थात् हृदयक मनुष्य सत्य और ग्यामका विजय करनेके लिये सदा तत्पर रहे ॥ १ ॥

दक्षिणा दिग्निद्रोऽधिपतिस्तिराशिराञ्जी रक्षिता पितर इषेवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योर्भस्मान्दोष्टि यं वयं द्विभस्मस्तं यो जम्भे दुष्प्रः

॥ २ ॥

प्रतीची दिग्निद्रोऽधिपतिः पृदाकू रक्षिताभूमिषेवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योर्भस्मान्दोष्टि यं वयं द्विभस्मस्तं यो जम्भे दम्भः

॥ ३ ॥

अर्थ— (दक्षिणा दिग्) दक्षिणकी दिशाका (इन्द्रः अधिपतिः) राजा निवारक शूर इन्द्र स्वामी है, (तिरश्चि-
राञ्जी रक्षिता) वह मर्यादाका अतिक्रमण न करनेवाला और संरक्षक है (पितरः इषुः) पितृपतिवर्ग अर्थात् प्रजननकी
शक्तिवाला वर्गके अर्थ है । हम सब उन अनुनिवारक शूर अधिपतिवर्गका, अपनी मर्यादाका कभी अतिक्रमण न करनेवाले
संरक्षकोंका तथा मुद्रजा निर्माणके लिये समर्थ पितृपतिवर्गका आदर करते हैं । जो हम सब अस्तिवर्गका विरोध करता है
और जिसका हम सब अतिक्रमण विरोध करते हैं, उसकी, हम सब स्वामी और संरक्षकोंके न्यायके जयमें धर देते हैं ॥ २ ॥

(प्रतीची दिग्) पश्चिम दिशाका (धरुणः अधिपतिः) वर अर्थात् श्रेष्ठ अधिपति है (पूष-आ-पुः
रक्षिता) वह स्वर्णमें उत्साह धारण करनेवाला और संरक्षक है (अर्ध इषुः) अन्न उसके इषु है । उन श्रेष्ठ अधिपति-
वर्गके लिये, उन उत्साहों संरक्षकोंके लिये, तथा उन अशोभ्य अन्नके लिये हमारा आदर है । जो उनके साथ कलह करता है
इसलिये सब भद्र पुष्ट जिसको नहीं चाहते हैं उसको उन्नत अधिपतिवर्ग और संरक्षकोंके न्यायके जयमें धर देते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— दक्षिण दिशा दक्षिण्यका मार्ग जाता रहती है । दक्षता, चातुर्य, कौशल्य, कर्तव्य प्रबलता, श्रेयं, धर्म,
वीर्य आदि शुभ गुणोंकी सूचक यह दिशा है, इसलिये सोपा अंग रक्षितार्थ कहलाता है और सोपा मार्ग अथवा दक्षिण मार्ग
इसो दक्षिण दिशासे जाता जाता है । अर्थात् दक्षिण दिशासे घोषणके मार्गकी सूचना मिलती है । साम्राज्य निवारण करने,
अपने नियमोंको मर्यादाका उल्लंघन न करने और उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी दक्षिण धारण करनेवाले क्रमशः इस मार्गके
अधिपति, संरक्षक और सहायक हैं । इन्हींका आदर और सम्मान करना योग्य है । अपनी उन्नतिको सिद्ध करनेके लिये
(इन्द्र-ऋ) साम्राज्यके विचारण करनेकी आवश्यकता होती है । साम्राज्य पराजय करनेपर ही अपना मार्ग निरन्तर ही
रहता है । साम्राज्यके साथ युद्ध करनेमें अपना बल बढ़ता है और सामुद्रमन करनेके पुरस्कारमें अपनेमें उत्साह सिद्ध रहता
है । इसलिये मेरे तथा साम्राज्यके साम्राज्यका प्रामाण्य करनेके उपायका अवलंबन करना मेरे लिये आवश्यक है । साम्राज्यकी
व्यतिकरे लिये अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करनेवाले संरक्षकोंकी आवश्यकता है । जोई भी साम्राज्य अपनी मर्यादाका
उल्लंघन करने अथवा धारण न करे । मैं भी कभी अपने नियमोंका और मर्यादाका अतिक्रमण न करूँ । समाजकी सुदृढिके
लिये उत्तम पितृपति वर्गान् मुद्रजा निर्माण करनेकी शक्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है । मुद्रजा निर्माणसे समाज अमर रह
सकता है । इसलिये हरएक मनुष्यको अपने अंदर उत्तम पुरुषत्व तथा हरएक स्त्रीको अपने अंदर उत्तम स्त्रीत्व विकसित
करना चाहिए । सामर्थ्य यह कि उन्नत प्रकारके अनुनिवारक अधिपति, नियमानुकूल व्यवहार करनेवाले संरक्षक और उत्तम
पितर वहाँ होते हैं वहाँ राज्याज्यका व्यवहार होता है । इसी प्रकारकी व्यवस्था स्थिर करनेका यत्न मैं अवश्य करूँगा ।
जो सबको शानि पहुँचाता है और जिसको सब समाज बुरा करता है उसको उन्नत अधिकारी, संरक्षक और पितरोंके न्याय-
समर्थ हम सब पहुँचाते हैं । मैंही उसके शोचका दयायोग्य विचार करे । हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह सोये मार्गके
शक्य और समाजकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नतिको उत्तम प्रकारसे सिद्ध करे ॥ २ ॥

पश्चिम दिशा विधामकी दिशा है; क्योंकि शुभं धात्रि सब दिग्भ्य इत्येतियां इसी पश्चिम दिशामें प्राकर मुक्त होती
है और जपत्को अपना वैदिक कार्य समाप्त करनेके पश्चात् विधाम लेनेकी सूचना देती है । शुभं दिशा द्वारा मनुष्य

उदीचीं दिक्षामोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताश्चिरिर्षवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुंभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विभस्तं वो जम्भे दध्मः

॥ ४ ॥

धुरा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषंश्रीवो रक्षिता वीरुष इषंवाः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुंभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विभस्तं वो जम्भे दध्मः

॥ ५ ॥

अर्थ—(उदीचीं दिक्) उत्तर दिशाका (सोमः अधिपतिः) शान्त अधिपति है (स्व-जः रक्षिता) वह स्वयं सिद्ध और रक्षक है (अशानिः इषवः) विष्णुतेज उसके इषु है । उन शान्त अधिपतिमें, स्वपसिद्ध सरक्षकों और तेजस्वी इषुओंके लिये हमारा नमन है । जो सबसे द्वेष करता है और निलसे सब द्वेष करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और सरक्षकोंके ग्यापके लक्ष्यमें हम धर देते हैं ॥ ४ ॥

(धुरा दिक्) स्थिर दिशाका (विष्णुः अधिपतिः) प्रवेककर्ता अधिपति है (कल्माष-कर्मास-श्रीवः रक्षिता) वह कर्मकर्ता और सरक्षक है (वीरुषः इषवः) जनस्पतियों उसको इषु है । इन सब अधिपतियों और रक्षकोंके लिये ही हमारा आदर है । ६० ॥ ५ ॥

पुरवाशंकी सूचना ही गई थी, अब पश्चिम दिशासे गुप्त स्वानुभे प्रविष्ट होने, वहाँ विधाति और शांति प्राप्त करने, अर्थात् नियतिरूप पुश्पायं साध्य करनेकी सूचना मिली है । श्रेष्ठ जगत्को महात्मा बुद्ध इस मार्गके श्रमताः अधिपति और सरक्षक हैं । विष्णु और आरामका मुख्य साधन वही अग्र है । श्रेष्ठ और जगत्की अधिपति और सरक्षकोंका साधारण सबको करना उचित है । तथा अन्नकी और सम्पत्तकी दृष्टिसे देखना योग्य है । जो सबसे मामांमें विघ्न डालता है इसलिये जिसको कोई पाल करना नहीं चाहता उसको अधिपतियों और सरक्षकोंकी ग्यापसमाके आपीन करना योग्य है । समाजके हितके लिये सबको उचित है, कि ये ग्यायानुसार ही अपना सब कर्तव्य करें और किसीको उपरम न दें ॥ ३ ॥

उत्तर दिशा उच्चतर अवस्थाको सूचना देती है । हरएक मनुष्यकी अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका प्रयत्न हर समय करना चाहिये । इस उच्चतर मार्गमें शाश्वत स्वभावका अधिपत्य है, भाग्य छोटकर सब सिद्ध और उद्यत रहनेके धर्मसे इस पथपर चलनेवालोंका सरक्षण होता है । ग्यापक उच्चर तेजस्वी स्वभाषके द्वारा इस मार्गपरकी सब आपत्तियां दूर होती हैं । इसलिये मैं इन गुणोंको धारण करूँ और समाजके साथ अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका पुद्गल्य अदायक । शान्त स्वभाव धारण करनेवाले अधिपति, सब उद्यत और सिद्ध सरक्षक ही सब सम्मान करने योग्य है । साथ ही सर्वोपयोगी ग्यापक तेजस्विताका आदर करना योग्य है । जो सबको हानी करता है इसलिये जिसका सब सम्जन निरादर करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और सरक्षकोंके सन्मुख लडा किया जावे । लोग ही स्वयं सबको बच न दें । अधिपति ही निष्पक्षपक्षकी दृष्टिसे उसको योग्य ग्याप देवे । समाजकी उच्चतर अवस्था चलानेके लिये उक्त प्रकारका स्वभाव धारण करना अत्यंत आवश्यक है ॥ ४ ॥

ध्रुव दिशा स्थिरता, दृढता, अपार आदि सब गुणोंकी सूचक है । चपलता दूर करने और स्थिरता करनेके लिये ही सब धर्मके नियम हैं । उद्यमी और पुद्गल्यो पुद्गल्य वहाँ अधिपति और सरक्षक हैं । क्योंकि कर्मसे ही जगत्की स्थिति है, इसलिये कर्मके बिना किसीको स्थिरता और दृढता ही नहीं सकती । यही कारण है कि इस दृढताके मार्गके उद्यमी और पुद्गल्यो संचालक हैं । यहाँ अधिपति चपलतियों को धीरे धीरे दूर करवाते हैं । जो जो योग्यो दूर करनेवाले हैं वे सब इस मार्गके ग्यापक हैं । उद्यमी और पुद्गल्यो अधिपति और सरक्षकोंका सम्मान सबको करना चाहिये । ६० ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिराधिपतिः शियो रक्षिता वर्षमिषंवा ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो राक्षेतृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दधमः

॥ ६ ॥

अर्थ— (ऊर्ध्वा-दिक्) ऊर्ध्व दिशाका (बृहस्पतिः अधिपतिः) आत्मज्ञानी स्वामी है, (शिवः रक्षिता) वह पवित्र और सरक्षक है (वर्ष इत्यत्र) अनुत्पन्न जल उसके इष्ट है । आत्मज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र सरक्षकोंका ही सबको सम्मान करना योग्य है । शत्रु अमृत जलका ही सबको आवरण करना चाहिये । इ० । ॥ ६ ॥

भावार्थ— ऊर्ध्व दिशा आत्मिक उन्नतताका मार्ग सूचित करती है । सच्चा आत्मज्ञानी आप्त पुण्य ही इस मार्गका अधिपति और मार्गदर्शक है । जो अज्ञानार्थ पवित्र होगा वही यहा सरक्षक हो सकता है । आत्मके अनुभव और पवित्रताका यही स्वाधिकार है । आत्मिक उन्नतताके मार्गका अवलम्बन करनेके समय आत्मज्ञानी आप्त पुण्यके आधिपत्यमें तथा पवित्र तत्वाकारो संपुण्यके सरक्षणमें रहते हुए ही इस मार्गपर चलनेसे इष्ट सिद्धियोंकी वृद्धि होती है । आत्मिक अमृत जलके रसास्वाद लेनेका यही योग्यता है । मैं इस मार्गमें आत्मिक अवस्था ही कर और इतरोंका मार्ग भी पथाप्रति मुनम कर । मैं सरा ही उन्नत प्रकारके आत्मज्ञानी और शत्रु तत्वाकारो सत्पुरुषोंका सम्मान कर । इ० ॥ ६ ॥

अभ्युदयकी दिशा

दिशाओंके वर्णनसे मानवी उन्नतिका तत्त्वज्ञान

उन्नतिके छः केन्द्र

इस 'सूक्तके' छ मंत्रोंमें मानवी उन्नतिके छ केन्द्र छ । दिशाओंके द्वारा सूचित क्रिये यह है । (१) प्राची, (२) दक्षिणा, (३) प्रतीची, (४) उर्वीची, (५) ध्रुवा और (६) ऊर्ध्वा ये छ दिशाएँ क्रमशः (१) प्रगति, (२) वक्षता, (३) विधाय, (४) उच्चता, (५) स्थिरता और (६) आत्मिक उन्नतिके भाव यथा रहते हैं । उपासक इन दिशाओंमें होनेवाली नैसर्गिक घटनाओंको विचारकी दृष्टिसे देखे । इस सृष्टिके विविध घटनाओंके द्वारा सर्वव्यापक परमात्मा प्रत्यक्ष उपदेश दे रहा है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करके उपासकोंको सृष्टिकी ओर देखना आवश्यक है । जब ताबको छोड़कर परमात्माके चैतन्यसे यह सृष्टि खोल-प्रोल ध्याता है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करने चाहिये । क्योंकि ' यह पुण्यसृष्टि उस पुण्य परमेश्वरके द्वारा ही उदय को प्राप्त होती है । और उस पुण्य ईश्वरकी शक्ति ही इस सृष्टि द्वारा दिखाई दे रही है । ' इस प्रकार विचार स्थिर करके यदि उपासक उन्नत प्रकार छ दिशाओं द्वारा अपनी उन्नतिके छ केन्द्रोंके सबधमें उपदेश लेने को स्वयं ही

समाजको उन्नतिके स्थिर और निश्चित मार्गोंका ज्ञान उनको हो सकता है ।

इन केन्द्रोंका ज्ञान उत्तम रीतिसे होनेके लिये पूर्वोक्त वैदिक सूक्तोंमें कवित दिशाओंके ज्ञानके कोष्टक यहाँ देते हैं और उनका स्पष्टीकरण भी काव्यकी दृष्टिसे संक्षेपमें ही करते हैं—

दिशा कोष्टक (१) [अधर्व० ३।२७।१-६]

दिश	अधिपति	रक्षिता	इष्य
प्राची	अग्नि	असित	आदित्या
दक्षिणा	इन्द्रः	तिरश्चिराजी	पितरः
प्रतीची	वृहणः	पृदाशुः	धर्मम्
उर्वीची	सोमः	स्वयः	वशनिः
ध्रुवा	विष्णुः	कम्पापधीवः	धीधधः
ऊर्ध्वा	बृहस्पतिः	शिवः	वर्षम्

इस सूक्तके मंत्रोंको देखनेसे इस कोष्टकको सिद्धि हो सकती है । अब वेदमें अन्य स्थानोंमें आये हुए दिशा विषयक उल्लेखोंका विचार करना है । इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

येऽस्या स्व प्राच्या दिशि हेतयो नाम देवा स्तोत्रा यो अग्निरिषव । ते नो मृदत ते नोऽधिभूत तभ्यो यो नमस्तेभ्यो च स्वाहा ॥ १ ॥
 येऽस्या स्व दक्षिणाया दिश्यविष्णवो नाम देवास्तथा च काम इषव । ते नो ॥ २ ॥ येऽस्या स्व प्रतीच्या दिशि वैराजा नाम देवास्तथा च आप इषव । ते नो ॥ ६ ॥ येऽस्या स्वोदीच्या दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषा यो वात इषव । ते नो ॥ ४ ॥ येऽस्या स्व ध्रुवाया दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषा च ओषधी रिषव । ते नो ॥ ५ ॥ येस्या स्वोर्वाया दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषा यो बृहस्पतिरिषव । ते नो ॥ ६ ॥ (अथ ३२६।१-६)

' प्राची आदि दिशाओंमें हेति आदि वेव ह और अग्नि आदि इषु ह । य सब ((न) हम सबको (मृदत) तुली करें वे हम सबको (अधिभूत) उपदेश करें उन सबको हमारा नमस्कार है, उनके लिय हमारा नमन है । यह इन मंत्रोंका भावार्थ ह । अब इनका निम्न लिखित कोष्टक जनता है—

दिशा कोष्टक ॥ २ ॥ [अथर्व० ३।२६।१-६]

दिश	देव	इषव
प्राची	हेतय	अग्नि
दक्षिणा	अविध्य	वाम
प्रतीची	वैराजा	आप
उदीची	प्रविध्यन्त	वात
ध्रुवा	निलिम्पा	ओषधी
ऊर्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पति

पहिले कोष्टकको इस द्वितीय कोष्टकके साथ तुलना कीजिए । पहिले कोष्टकमें ' प्राची और ऊर्वा ' के ' अग्नि और बृहस्पति ' अविपति ह वेही यहां ' इषु ' बन ह ।

ध्रुवा दिशाके इषु पहिले कोष्टकमें ' धीमद्य ' ह और यहा ' ओषधि ' ह । इन दोनों ' गब्बोंका अर्थ एक ही ह । ' प्रतीची ' दिशाका इषु दोनों कोष्टकोंमें ' अन्न और ' आप ' है । खानपानका परस्पर निकट सम्बन्ध है । ' दक्षिण दिशाके इषु दोनों कोष्टकोंमें ' वितर ' और ' काम ' ह । कामके उपभोगसे ही वितर प्राप्त हो सकता है । ' उदीची ' दिशाके इषु ' वात और अग्नि ' ह । अन्न निष्का अब विद्यत है और उसका स्थान मध्यस्थान अर्थात् वायुका स्थान मारा गया है । इससे पाठकोंको पता लग जायगा, कि केवल प्राची और ऊर्वा दिशाओंके इषु बनते ह, इतना ही नहीं परन्तु पहिले कोष्टकमें जो अविपति य व ही दूगरेमें इषु बन ह । अथ दिशाओंके इषु समान अवका परस्पर सम्बन्ध रखनवाले ह । अथर्ववेदके तीसरे काण्डके २६ और २७ सूक्तोंके कथनमें इतना भव है । इस भवसे स्पष्ट होता है कि इषु, अविपति आदि शब्द वास्तविक नहीं ह परन्तु अलंकारिक ह । अब निम्न मंत्र देखिये—

प्राचीमारोह गायत्री त्याघतु रथतर साम
 त्रिभुस्तोमो यस्तन् ऋतुर्ग्लेह द्रविणम् ॥ १० ॥
 दक्षिणमारोह त्रिभुप्वाघतु बृहत्साम
 पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतु क्षत्र द्रविणम् ॥ ११ ॥
 प्रतीचीमारोह जयती त्याघतु वैरूप साम
 सप्तदश स्तोमो वर्णा ऋतुर्विद् द्रविणम् ॥ १२ ॥
 उदीचीमारोहातुपुष्पागतु वैराज
 सामैश्विंश स्तोम शरदतु फल द्रविणम् ॥ १३ ॥
 ऊर्वामारोह पकिरुवाघतु शाफररैवतो सामनो
 त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमो हेमन्तशिशिरशुतु
 वर्चो द्रविणम् । १४ ॥ (यजु अ १०)

' प्राची आदि दिशाओंमें (अन्न द्रविण) मान आदि जन है । इन मंत्रोंका स्पष्टीकरण निम्न कोष्टकमें हो सकता है—

दिशा कोष्टक ॥ ३ ॥ [यजु० १०।१० १४]

दिश	रथक उर	साम	स्तोम	शुतु	द्रविण यन
प्राची	गायत्री	रथतर	त्रिभुत्	यस्तन्	ग्लेह
दक्षिणा	त्रिभुत्	बृहत्	पञ्चदश	ग्रीष्म	क्षत्र
प्रतीची	जयती	वैरूप	सप्तदश	वर्णा	विद्
उदीची	अनुपुष्प	वैराज	एकविंश	शरद्	फल
ध्रुवा ऊर्वा	पाकि-	शाफररैवत	त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ	हेमन्तः शिशिर	वर्चः

इस कोष्टकमें विद्याओंके घनोंका पाठक अदश अथवा कन करें (१) प्राची विद्याका धन (अक्ष) जान है । (२) दक्षिण विद्याका धन (क्षत्र) ज्ञान है । (३) 'प्रती' की विद्याका धन (विश) उल्लाहसे पुनर्वाप करनेको वंश प्रकृत है । (४) उत्तरीकी विद्याका धन फल परिवाम लाभ आदि है । (५) मूवा और ऊर्ध्व विद्याका धन शक्ति, बल आदि है । ज्ञान, शीघ्र, पुनर्वाप प्रदान, लाभ और शीघ्र तेज ये उक्त विद्याओंके धन हैं । उसको तुलना प्रथम कोष्टकके साथ करनेसे अर्थात् बहुत शीघ्र प्रतीत होगा । पाठकोंन यहां लाभ लिया होगा कि उक्त गूण विशेषणोंके होनेसे उक्त विद्याओंका सवय उक्त वर्णोंके साथ भी है । ब्राह्मणोंका ज्ञान, क्षत्रियोंका शीघ्र, वैश्योंका पुनर्वाप, शूद्रोंके हुनरका लाभ और जनताका धोषतेज सब राष्ट्रके उद्धारका हेतु है । तथा प्रत्येक व्यक्तिमें ज्ञान, शीघ्र, पुनर्वाप, फल प्राप्ति तक प्रयत्न करनेका गूण और वीर्यतेज चाहिए । इस प्रकार व्यक्तिमें उक्त गुणोंका सवय है । इस सवयको स्मरण रखते हुए पा क निम्न मंत्र देखें—

प्राच्या दिशि शिरो अजस्य धेहि ।
दक्षिणया दिशि दक्षिण धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्या दिशि भस्वमस्य धेहि ॥
उत्तरस्या दिशुत्तर धेहि पार्श्वम् ॥
ऊर्ध्वाया दिग्भजस्यानूर्ध्वं धेहि ॥
दिशि ध्रुवाया धेहि पाजस्यम् ॥ ८ ॥

(अर्थ ५१५)

' प्राची विद्यामें (अजस्य) अज्ञाना नोषका तिर रखो तथा अन्य विद्याओंमें अन्य अवयव रखो ।' इन मंत्रोंमें व्यवहारोंका विद्याओंके साथ सवय बताया है । निम्न कोष्टकके इसका भव स्पष्ट होगा—

दिशा कोष्टक ॥ ४ ॥ अर्थ. (४) १४/७ - ८)

प्राची	दिशः	मस्तक
दक्षिणा	दक्षिण पार्श्व	बाहिना बयल
प्रतीची	भस्व	गुप्त नाग
उर्ध्वी	उत्तर पार्श्व	बम्हा बगल
ध्रुवा	पाजस्य	पद
ऊर्ध्वा	आनूर्ध्व	पीठकी हड्डी

इस कोष्टकके साथ पूर्वावत तीसरे कोष्टकको तुलना कीजिए । ज्ञान, शीघ्र, पुनर्वाप और फलका सवय तिर, बाहू, मध्यभाग और निम्न भागके साथ यहां लिखा है ।

ज्ञान, शीघ्र पुनर्वापका सवय गुणरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें है और एवं रूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें अर्थात् राष्ट्र-पुरुषके अवयवोंमें है । इस प्रकार वर्णोंका सवय विद्याओंके साथ स्पष्ट है । यह सवय ध्यानमें धर कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारभेधामेत लोक भ्र-
धानाः सचन्ते । यद्वा एक परिविष्टमग्नौ
तस्य सुप्तये दपती सथयेधाम् ॥ ७ ॥
दक्षिणा दिशामभि नक्षमाणौ पर्यावर्तधामभि
पात्रमेतत् । तस्मिन्वा यम पितृभि भविदानः
पकाय शर्म यहुल नियच्छात् ॥ ८ ॥
प्रतीचीं दिशामियनिद्वर यस्या सोमो भविधा
शुद्धिता च । तस्या शयेधा सुदृतः सचेधा-
मधा पकान् मिथुना समवाध. ॥ ९ ॥
उत्तर राष्ट्र प्रजयोत्तराथदिशासुदीचीं कृणवन्
नो भ्रमम् । पाक छद. पुरुषो यभूव विश्वै-
र्विश्वायैः सह समवेम ॥ १० ॥
ध्रुवेय विराण्ममो बस्थस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत
महामस्तु । सा नो देव्यदिते विश्वयार इयं इध
गोपा भभि रक्ष पकम् ॥ ११ ॥ (मन्त्र १२१३)

(१) (प्राचीं) पूर्व दिशा प्रगतिकी दिशा है, इधमें (आरभेधा) उत्तारके साथ पुनर्वापका आरभ कीजिए, (एत लोक) इस उत्तरके लोकमें (अहधाना) अज्ञान धारण करनेवाले ही पढ़चते हैं । जो (धी) जाय दोनोंका अग्निमें प्रविष्ट होकर (पक) पका हुआ भद्र होया, (तस्य सुप्तये) उसकी रक्षाके लिये (दपती) शीघ्र-पुरुष (सथयेधा) प्रदान करें ॥ (२) इस दक्षिण दिशामें जब भाय (अभि नक्षमाणौ) सब प्रकारसे प्रगति करते हुए इस (पा-प) योग अवयव सरक्षक कर्मका (अभि पर्यावर्तधा) सब प्रकारसे बारबार अनुष्ठान करने, सब भायकी (पकाय) परिपक्वताके लिये (पितृभि.) रस कौके साथ (सविदानः यमः) ज्ञानो निदानक (यहुल शर्म) बहुत मुक्त देगा ॥ (३) (प्रतीचीं) दक्षिण दिशा यह सवय (वर) भण्ट दिशा है, जिसमें (सोम.) विद्वान् और घात भविपति और (मृदिलता) मुक्त देनेवाला है । इस दिशाका आथय कीजिए, मुक्त करके परिपक्वताको (सचेधा) प्राप्त कीजिए । और (मिथुना) स्त्रीपुं रूप मिलकर (स भवाय.) मुक्तदान उत्पन्न कीजिए । (४) उत्तर दिशा (प्र-अया) विजयशाली राष्ट्रीय दिशा

है, इसलिये हम सबको यह उत्तर दिना (अग्र) अथ भागमें ले जाये। (पाँच) पाच वर्षों-राष्ट्रके विभागोंका (छद्मः) छद्म ही यह पृथ्व होता है। इन सब अंगोंके साथ हम सब (संभयेम) मिलकर रहें। (५) यह भ्रुव दिशा (पिराट्) बड़ी भारी है। इसके लिये नमन है। यह मेरे लिये तथा बालबच्चोंके लिये (शिवा) कल्याण

कारी होवे। हे (अ-दिते देवी) हे स्वतंत्रता देवि । (विश्व-वादे) सब आवर्तिवर्षका निवारण करनेवाली देवी । तु (गोपा) हम सबका तरक्षण करते हुई, हमारी परिपक्वताको सुरक्षित रखे।

इन चतुर्भिः दिशाओंकी कई विशेष बातें बताईं हैं। इनके मूलक मुख्य दायवोंका निम्न कोटक बनता है।

दिशा कोटक ॥ ५ ॥ (अर्थ १२।३।७-११)

दिश	कर्म	साधन	साधक	किरा
प्राची	आरंभः	भद्रधान	दंपती	सुधयेयां
दक्षिणा	पर्यावर्तनं	नक्षत्राणाः	यमः सविदान	नियच्छात्
प्रतीची	साध्यः	सुष्ठुतः	भियुतः	समवाथः
उदीची	प्र-जयः	पाकं छद्मः	पुष्टयः	सह समयेम
भ्रूया	वि-राट्	शिवा	विश्ववारा भद्रिति	रक्ष

इस कोटकसे साधारणरूपमें पता लग जायगा कि दिशा-ओंके उक्त नाम किस बातके सूचक हैं। और इन सूचक नामोंमें कौनसा उच्चतम तत्त्वज्ञान भरा है। इन चतुर्भौको देखनेसे निम्न बातोंका पता लगता है—

(१) प्राची दिशा— (प्र+अंशु=आगे बढ़ना, उप-ति करना) यह मूल अर्थ 'प्राप्' वास्तुका है, जिससे 'प्राची' शब्द बनता है। 'प्राची दिशा' का अर्थ बढ़ती अथवा उपप्रतिकी दिशा, वृद्धिका मार्ग।

उपप्रतिके लिये विविध कर्म प्रारंभ करनेको आप्त धार-शकता होती है। वृत्तवादीका प्रारंभ किए बिना उपप्रतिकी यात्रा करना अर्थ है। उसीसे वृत्तवाचं करनेके लिये भद्रा चाहिए। भद्राके बिना यात्राह प्राप्त नहीं हो सकती। अतःमें स्त्रीमुख मिलकर ही विविध वृत्तवादीका साधन करते हैं। उनके परस्पर मिलकर रहनेसे ही उत्तारमें सब भौगोकी परिपक्वता और (शुक्ति) तरक्षण ही सकता है। इस प्रकार प्राची दिशासे बोध मिलता है।

(२) दक्षिण दिशा— 'दक्षिण' शब्दका अर्थ दक्ष, दौड़, घोष, प्रवृद्ध, सीधा, सचवा है। 'दक्षिण दिशा' दायवोंका मूल अर्थ सीधा मार्ग, सच्चा मार्ग ऐसा ही है। परन्तु इसका अर्थ 'सीधे तरफकी दिशा' ही गया है।

उपप्रतिके लिये सीधे और सच्चे मार्गसे चलना चाहिए। और (नक्षत्राणा) गति अथवा हलचल किंवा प्रयास करना चाहिए अथवा सिद्धि होगी अतःअर्थ है। एकवार प्रयास करनेके सिद्धि न हुई तो बारबार वृत्तवाचं करना आवश्यक है, इसीको सूचका (पर्यावर्तनी, परि-आ-पत्तंभां)

वारवार प्रयास कीजिए 'इन दायवों द्वारा सत्रमें से है। 'यम' शब्द नियमोंका सूचक, 'पितृ' शब्द जनवर्गसिद्धि और तरक्षणका सूचक, तथा 'सविदान' शब्द ज्ञानका सूचक है। नियम, स्वसंरक्षण और ज्ञानसे ही सत्रं अर्थात् सुख होता है। यह दक्षिण दिशाके दायवोंके बोध मिलता है।

(३) प्रतीची दिशा— प्रायत् अर्ध आना, अतःअर्थ होता। प्रतीची दिग्-पालिकी दिशा, अर्ध मूल स्थानपर आनेकी दिशा, स्वस्थानपर आनेका मार्ग, अतःअर्थ होनेका मार्ग, यह इस दायवका मूल अर्थ है। 'पूर्वदिशा' को जाने बढ़नेका मार्ग कहा है और परिपक्व दिशाको फिर आपस होकर अपने मूल स्थानपर आकर विधाय लेनेकी दिशा कहा है—

प्रतीची	प्राची
(प्रति-अच्)	(प्र-अच्)
मति-गति	प्र-गति
प्रति-गदन	प्र-गमन
नि-वृत्ति	प्र-वृत्ति

दिशाओंके नामोंसे जो नाम व्यक्त होते हैं, उनका पता इस कोटकसे लग सकता है। बहिक दायवोंका इस प्रकार पहचान देना चाहिए।

निवृत्ति निर्धिति अथवा स्व-स्थिताका स्थान ही भेद (वरं) होता है। साहित्ये निप्र और भेदता क्या होगी ? सीधे ही सातताकी देवता है। सुर्वके प्रक्षरतर प्रवृद्ध, किरणोंके तापसे सतप्त मनुष्य चर (सोम) के सीत प्रकाशसे सात मनुष्य और आनंदित होता है। सुष्ठु अर्थात् धार्मिक पुण्य

कर्माका मार्ग हो इस प्रातिको प्राप्त कर सकता हूँ, इत्यादि भाव इस मन्त्रमें प्राप्त होते हैं ।

(४) उत्तर दिशा- (उत्त-तर) अधिक उच्चतर, अधिक श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेका मार्ग ऐसा इसका मूल अर्थ है । मनुष्योंको उच्चतर अवस्था प्राप्त होनेके लिये राष्ट्रको भक्ति कारण होती है, क्योंकि—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विद्वस्तपो दीक्षामुप-
निषेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जात तदसौ
देवा उपसंनमन्तु (अथर्व ११।४।११)

‘सबका कल्याण करनेको इच्छा करनेवाले ज्ञानी ऋषि-
मुनियोंने तप किया और व्रतताते व्रत किया । उससे राष्ट्र,
बल और ओज उत्पन्न हुआ, इसलिये सब देव उस राष्ट्रीय-
ताके सम्मुख प्रपन्न धारण करें ।’ राष्ट्रियताके साथ लोक-
कल्याणका भाव इस प्रकार बेशक वर्णन किया है । लोक-
कल्याण ही लोगोंकी उच्चतर अवस्था है । राष्ट्रीय भावना
के अन्तर् (नः अग्रं कृष्यन्) ‘हम सबको अग्र भावमें
होनेके लिये प्रयत्न’ करना आवश्यक है । राष्ट्र (पाँच)
पाँच विभागोंमें विभक्त है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, वृद्ध
और निषाद, अथवा ज्ञानी, दूर, व्यापारी, कारीगर और
साधारण जन मिलकर राष्ट्रके पाँच अवयव होते हैं, इन
पाँच प्रकारके जनको कल्याण करनेको (छद्) प्रयत्न
इच्छा विसर्ग होती है वही सच्चा ‘पुण्य’ कहा जा सकता
है । पुण्य उसको कहते हैं कि जो (पुरि) मगरोंमें
(वसति) निवास करता है । नागरिक जन जो ‘लोक
कल्याण’ करता है, वही सच्चा पुण्य है । सब अर्गमें
उसको पूर्णता होती है और उन्नतिके लिये (स भयेम)
सबको मिलकर एकजिंत होनेकी आवश्यकता है । यह बोध
उत्तर दिशाके मन्त्रके शब्दोंसे स्पष्टता है ।

(५) भूवा दिक्-स्विरताका धर्म वहाँ बताना है ।
मनुष्यके व्यवहारोंमें चञ्चलता ठीक नहीं है । स्थिरता, दृढ़ता
निश्चितता, उन्नतिको साथक है । सबका (भिवा) कल्याण
इस पुण्यसे होता है । स्थिरताका मार्ग योग्यार्थ है, जिसमें
बचलताको दूर करके स्थिरताकी प्राप्ति ही जाती है ।
इससे सबका हित होता है । यही (न-दिति) अविनाश-
की वैजता अथवा स्वतंत्रताकी वैजता है । स्थिरताके बिना
स्वतंत्रताकी प्राप्ति नहीं हो सकती । (गो-या) इन्द्रियोंका
संरक्षण अर्थात् सपम इस मार्गमें अत्यंत आवश्यक है । इस
प्रकार प्रय दिशाके मन्त्रोंसे बोध प्राप्त होता है ।

मन्त्रोंको अव्ययोजना कितनी अर्थपूर्ण है, इसका विचार
पाठक यहाँ कर सकते हैं । अस्तु । विद्या विषयक उल्लेख
श्रद्धेय नहीं है । इसलिये अब इस सब विवरणका एकी-
करण करते हैं । उसके पूर्व निम्न मन्त्र देखिए ।

प्राच्यै त्वा दिशोऽग्नेयेऽधिपतयेऽसिताय
रक्षित्र आदित्येऽपुमते । एत परिद्वस्त नो ।
गोगयतामस्माकर्मतो । दिष्ट नो अत्र जरसे नि
नेपञ्जरा मृश्ये परि णो ददास्वध पद्मेन
सह सं भयेम ॥ ५५ ॥ दक्षिणाथै त्वा दिश
इन्द्रायाधिपतये तिरक्षिराजये रक्षित्रे ममाये-
पुमते ॥ एतं ॥ ५६ ॥ प्रतीच्ये त्वा दिशो वर-
णायाधिपतये वृषाकवे रक्षित्रेऽप्रायेऽपुमते ।
एतं ॥ ५७ ॥ उदीच्ये त्वा दिशो सोमायाधि-
पतये स्यजाय रक्षित्रेऽशान्या इपुमायै ॥ एतं
॥ ५८ ॥ भ्रुवायै त्वा दिशो विष्णवेऽधिपतये
कल्माषप्रायाय रक्षित्र ओपधीभ्य इपुमताभ्य-
॥ एतं ॥ ५९ ॥ उर्ध्वायै त्वा दिशो वृहस्पतये
ऽधिपतये ध्रियत्राय रक्षित्रे वर्धयेऽपुमते ॥
एत ॥ ६० ॥ (अथर्व ११।३)

‘माचो विद्या, अग्नि अधिपति, अग्नि रक्षिता और
इन्द्रमात्र आदित्यके लिये (एतं) यह शप (परिद्वस्त)
देते हैं । (अस्माकं आ-पतो-) हमारे दुष्ट भावोंसे
हम सबका (नः गोपायतां) संरक्षण करें । (अत्र) यहाँ
(नः) हम सब को (दिष्ट) अच्छी धर्मकी प्रेरणा
(जरसे) दृढ़ अवस्थातक (नि नेपत्) से बांधे ।
(जरा) दृढ़ अवस्था मृत्युको (न मृ-यये परिद्वस्त)
हम सबको मृत्युके प्रति रोके । (अथ) और (एकेन)
परिपन्नताके साथ (संभवैम) समूह अर्थात् उन्नतिको
प्राप्त हो जावे । यह प्रथम भवना अर्थ है । श्रेय मन्त्रोंका
भाव ऐसा ही सुस्पष्ट है ।

इन मन्त्रोंमें (१) दान, (२) स्वसंरक्षण, (३) दृष्ट-
भावका दूर करना, (४) धर्मकी प्रेरणाके साथ पूर्ण दृढ़
अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात् शीघ्र आधुकी समाप्तिके
पश्चात् मरनेकी कल्पना और (५) परिपन्न (मुद्रिके
सम्पन्न) के साथ अर्थात् संरक्षणमें रहनेका उपदेश है ।

प्रारम्भसे यहाँ तक विद्या विषयक जो कोष्टक और मन्त्र
दिये हैं उन सबका एकीकरण पूर्वक विचार करनेसे इन
मन्त्रोंका अधिक बोध होगा सम्यक् है ।

भाची दिग्गतिरधिपतिरसितो रक्षिताऽऽदि-
ह्यः ॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षि-
तभ्यो नम इभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान्
द्रष्टि यं यय द्विप्मस्त वो जग्मे दध्मः ॥ १ ॥

(अथर्व. ३.२७३)

इस मंत्रका अथ विचार करना है । इसका विचार होनेसे
जग्य सब मंत्रोंका विचार हो सकता है । पूर्वं स्वयमे, जहां
विशारोंका द्वितीय कोष्ठक दिया है, यहाँ बताया है कि
अधिपति, इधु, रक्षिता आदि शब्द आत्मकारिक हैं, इसलिये
इनका अर्थ काव्य कल्पनाके अनुसार लेना चाहिए ।

(१) अधिपति, रक्षिता, इधु आदि शब्द आत्मकारिक
हैं सर्वाधिक यथा, वीथय आदिशब्दोंको भी जाना कहा है ।
यस्तु ये भाग नहीं हैं । इस कारण कविकी आत्मकारिक
वृत्तिते इनका अर्थ लेना उचित है ।

(२) मंत्रके प्रथम पादमें अधिपति, रक्षिता ये शब्द
एक वचनमें हैं, परन्तु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका
बहुवचन लिखा है । एक वचनका शब्द परमेश्वर पर माना
जा सकता है परन्तु 'अधिपतिभ्यः, रक्षितभ्यः' शब्द
बहुवचन होनेके कारण परमेश्वर पर नहीं माने जा सकते ।
आवरणक बहुवचन माननेके पक्षमें पूर्वचरणमें एकवचन
आया है उसकी निरर्थकता होती है । वेदमें किसी स्थान
पर मंत्रमें परमेश्वर वाचक शब्दोंका एकवचन और बहु-
वचन आया नहीं है । इसलिये यहाँ इन शब्दोंके व्यं केवल
परमेश्वर पर होनेमें सका है ।

(३) प्रत्येक दिशाका अधिपति रक्षिता और इधु भिन्न
हैं । यदि ये परमेश्वर पर शब्द हैं तो भिन्नताका कोई तत्पर्य
नहीं निकल सकता ।

(४) तृतीय चरणमें 'जो हम सबसे ड़ेव करता है और
जिससे हम सब ड़ेव करते हैं उसको (या जग्मे) आप
सबके एक जवडेमें हम सब पर देते हैं ।' इत भावपके
शब्द आये हैं । यह मंत्रका भाव केवल सामाजिक स्वल्प
पर कहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है । दुष्टको बन्ध देनेका
इसमें विषय है और बन्ध देनेकासा धकेला नहीं है, परन्तु
(या) अनेक हैं । (घ. जग्मे) ' आप अनेकोंके एक
जवडेमें हम सब मिलकर उस दुष्टको देते हैं ' आप जो
बाहें उसको बंध दोजिए । बंध देनेका अधिकार हम अपने
हाथोंमें नहीं लेते, आप सबको ही बंध देनेका अधिकार है ।

यह आशय उक्त मंत्र भागमें स्पष्ट है । इसमें न्याय स्व-
रणाणी वालें स्पष्टतासे लिखो हैं—

- (अ) अनेक मन्त्रोंको मिलकर न्याय करना चाहिए ।
- (आ) किसीको उचित नहीं कि यह स्वयं ही दुष्टको मन
माना बंध देवे । यह अधिकार न्यायतभाका ही है ।
- (इ) बहुवचन ड़ेव नहीं करना चाहिये । ड़ेव करना बुरा
है । स्वसंपत्ति प्रगट करना ड़ेव नहीं है ।
- (ई) बहुवचन भी उचित नहीं कि वे अपनी समतिते
किसीको बंध देय । बहुवचन और अस्ववचनके मतभेद
होनेपर न्यायतभा द्वारा योग्यायोग्यका निश्चय करना
चाहिए और न्यायतभाका निश्चय सबको मानना
चाहिए ।

इत्यादि बातें उक्त मन्त्रभागसे स्पष्ट सिद्ध होती हैं ।
यहां परमेश्वरके जवडेमें देनेकी कल्पना नहीं प्रतीत होती)
अब यहाँ ' जभ ' शब्दका अर्थ देखना उचित है—

' जभ ' शब्दका अर्थ वात, हाथोका वात, मुख, जवडा,
वय, बंध होता है । मंत्रमें ' या जभ ' सर्वात् ' अनेकोंका
एक जवडा ' कहा है, प्रत्येक प्राणीका एक जवडा हुआ करता
है । परन्तु यहाँ अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जवडा कहा
है । आस्तविक रीतिसे अनेक मनुष्योंका एक जवडा नहीं
हो सकता, परन्तु यहाँ कहा है, इसलिये यह जवडा आस्त-
विक नहीं है, केवल काव्यनिक है । जिन्म कोष्ठकसे व्यक्ति-
गत और सामाजिक प्रबन्धोंकी कल्पना जा सकती है—

उपक्षिप्ता जवडा	समाजका जवडा
जभ	न्यायतय
मुख	मुख
हाथोद्विप-वचन	मानोजन-पक्ष
वति-द्विज	संरक्षिक-द्विज
उपक्षिपति	द्विज-सभा
ध्वंस, सर्जिताध्वंस	विषय-वर्षा
अभ-वर्षण	प्रमाण-विचार

सिद्ध, आश्र आदि हिन पशु अपने हाथको अपने जवडेमें
रखकर खाते हैं । हाथको अपने जवडेमें रखनेको कल्पना
नीच प्राणियोंमें है । छोटी मनुष्य पागत धनकर अपने
हाथको काटने बोरता है । परन्तु बिचारी मनुष्य इन पशु-
वृत्तिकी बराबर अपने आपको समाजका एक अवयव समझ-
कर, अपने हाथको भी समाजका एक अवयव मानता है,

इस कारण यह शत्रुको बड़ देनेके लिये स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ, न्यायसभाकी शरण लेता है, क्योंकि यहाँ 'समाजका जवड़ा' है। इस न्यायालयमें द्विजोंकी सभा लगती है और यह अनुकूल प्रतिकूल बातोंका मनन बारबार करके बुद्धको रूढ़ देती है और समाजको स्वातंत्र्य अर्पण करती है। इस समाजके जवड़ेका-अर्थात् न्यायसभाका-भाव 'जंभ' शब्दसे लेना यहाँ उचित है। यही अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जवड़ा होसकता है।

त चो जंभे दृभ्यः ।

(त) उस बुद्धको हम सब (च) आप अनेकोंके (जंभे) एक जवड़ेमें-अर्थात् न्यायसभामें- (दृभ्य) स्थापित करते हैं। अर्थात् आपके आयोजन करते हैं। न्याय-सभाकी विरोधार्थता यहाँ बताई गई है।

यद्वाका ' व्यः ' शब्द पूर्वोक्त ' अधिपतिभ्यः, रक्षित्-भ्यः ' इन शब्दोंको सूचित करता है। समाजके अथवा राष्ट्रके अधिपति और रक्षक ' व्यः ' शब्दसे जाने जाते हैं। सबसे श्रेष्ठ करनेवाले बुद्धको इन पंचोंके अधीन करना चाहिए, यह मंत्रका स्पष्ट आशय है। इसीलिये ' अधिपति ' और ' रक्षित् ' शब्दोंका बहुवचन मन्त्रमें आया है और इसी कारण यह बहुवचन योग्य और उचित अनुकूल है।

शत्रुको पंचोंके अधीन करनेके भावसे शत्रुको स्वयं बड़ देनेकी और न्यायको अपने हाथमें लेनेकी वृत्ति कम होती है और पंचोंकी ओरसे न्याय प्राप्त करनेकी तात्त्विक प्रवृत्ति बढ़ती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है।

इस उपदेशसे अर्जुन आपकी समाजका अवयव समझनेका तात्त्विक भाव बढ़ाया जाता है। भे जनताका एक अंग है, जनताका और मेरा अटूट सम्बन्ध है, यह भावना अत्यन्त भेद्य है और इस उच्च भावनाका जोन कितनी उत्तमतासे अन्तःकरणमें रखा गया है। यह वैदिक धर्मका ही महत्व है।

' तेभ्यो ममो ० ' और ' दो पाद प्रत्येक मन्त्रमें है। ये दो पाद छे मन्त्रोंमें बारबार कहे गए हैं। बारबार मन्त्रोंका जो जन्माद विद्या जाता है उसको ' अभ्यास ' कहते हैं। विदित्ये महाप्रपुत्रं मन्त्रोंका हो इस प्रकार बारबार धनुवाद वेदमें किया गया है। इससे सिद्ध है, कि इन मन्त्रोंका भाव मुख्य है और इनके अनुकूल शेष मन्त्रभागका अर्थ करना चाहिए। अर्थात् इस सूक्तका अर्थ सार्वजनिक है।

(१)

(१ प्राची दिष्) प्रगतिको विद्या, (२ अग्नि अधि-पतिः) तेजस्वी स्वामी, (३ अस्तितः रक्षिता) स्वतन्त्र सरसाक और (४ अ-दित्या इपचः) स्वतन्त्रतापूर्ण यक्षत्व ये चार बातें हैं।

प्रत्येक विद्या विशेष मार्गको सूचक समझी जाती है और उस विशेष मार्गके साधक तीन गुण हैं। प्रत्येक विद्याके साथ ये गुण निश्चित हैं। इस पूर्व विद्याके अनुष्ठानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है। तेजस्विता, स्वतन्त्रता और यक्षत्व ये तीन गुण उपगतिके साधक हैं। अर्थात्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निरतेज निर्धर्म राजा, पराधीन रक्षक और अस्वतन्त्र यक्षता किसी प्रकार भी उपगतिका साधन नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य विद्याओंका विचार करने दोष जानना उचित है।

(१) प्रगतिका विदित्य मार्ग, (२) तेजस्वी स्वामी, (३) स्वाधीनताका धारण करनेवाला रक्षक और (४) स्वतन्त्रतापूर्ण यक्षत्व, ये चार बातें मानवी उपगतिके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकारके स्वामी, सरसाक और यक्षता-ओंका संस्कार होना उचित है। जो हमसे श्रेष्ठ करता है और जिससे हम श्रेष्ठ करते हैं उसको आप अधिपतिमोंकी सभाके अधीन हम सब करते हैं। यह मंत्रका सीधा आशय है। मनुष्यकी भलाईके उपदेश यहाँ है। इस प्रकार अर्थका भवन करना उचित है। अब मुख्य शब्दोंके मूल अर्थोंका मनन करते हैं—

(१) ' अग्नि ' शब्द वैदिक दाहमयमें द्राष्टुण और यक्षत्वका प्रतिनिधि है। विद्या कोष्टक सं ३ देखिए, उगममें प्राची विद्याका ' अट्ट ' अर्थात् सात ही पन कहा है।

(२) ' अ-स्तित ' शब्दका अर्थ अथर्वरहित, स्वतन्त्र, स्वाधीन होता है। ' सि-घघने ' इस पातुसे ' स्तित ' शब्द यक्षता है, जिसका अर्थ ' पर-आधीन ' है। ' अ-स्तित ' अस्व, स्वतन्त्र ।

(३) ' आवित्य ' शब्द ' अ-खंडनीय ' अर्थमें प्रयुक्त होता है। ' दो-अयखडने ' पातुसे ' दिति ' शब्द बनता है जिसका अर्थ ' खंडित ' है। ' अ-दिति ' का अर्थ ' अ-खंडित ' है। अदितिका भाव आवित्य है। अखंडनीय, अमर्याद, अथर्वरहित, स्वतन्त्रताके भाव, यहाँ अज्ञानका अर्थ नहीं है।

(४) ' इपु '— ' इप्-गता ' पातुसे यह शब्द बनता

है। इसलिये ' गति ' हलचल यह भाव इस शब्दमें मुख्य है। परवान् इसके अर्थ हलचलका मूल करना, चलना करना, घोषणा देना, उपरति करना, ये हो गये। इस धातुवर्षका भाव ' रूपयः ' शब्दमें है। अस्तु। इस प्रकार प्रथम मन्त्रका आद्य है। अब द्वितीय मन्त्र वैधिये—

(२)

(१ दक्षिणा दिक्) रक्षताका विद्या, (२ इन्द्रः अधिपतिः) शत्रुनिवारक स्वामी, (३ तिरश्चिराजी रक्षिता) पतितमें चलनेवाला सरक्षक और (४ पितरः रूपयः) घोषवान् हलचल करनेवाले, ये चार बातें उपरतिकी सायक हैं। इसी प्रकारके स्वामी रक्षक और पालकके मन्त्रकार हो। जो अस्तिकोले द्रव्य करता है और जिससे अस्तिक द्रव्य करते हैं उसको तुम सब भाव अधिपतियोंकी सभाके आधीन करते हैं।

(५) ' इन्द्र ' — (इन्द्र दानूद्रावपिता ॥ १०८) शत्रुका निवारक करनेवाला विजयी।

(६) ' तिरश्चिराजी ' — (तिरः) नीचमेंसे, (अंचु-) जाना, (राजी-) लकीर, मर्बाबा। अपने मर्बाबाका उल्लापन न करनेवाला।

(७) ' पिता ' (पातीति पिता) — सरक्षक पिता है। घोष धारण करके उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाला घोषवान् पुरुष पिता होता है।

यह भाव द्वितीय मन्त्रका है। अब तिसरा मन्त्र वैधिये—

(३)

(१ प्रतीची दिग्) अतर्मुख होनेकी विद्या, (२ वरुणः अधिपतिः) सर्व सम्मत स्वामी, (३ पूदाकुः रक्षिता) स्वर्षमें जाताहो रक्षक और (४ अश्व रूपयः) अश्वकी वृत्ति ये चार बातें अभ्युदयकी सायक हैं।

(४)

(१ उर्वीची दिग्) उत्तर विद्या, उच्चतर होनेकी विद्या, (२ सोमः अधिपतिः) दात स्वामी, (३ स्व-जः रक्षिता) स्वर्ष में सिद्ध सरक्षक और (४ अशानिः रूपयः) तेजस्वी प्रगति ये चार बातें उपरतिकी हैं।

(५)

(१ ध्रुवा दिक्) नियरविद्या, (२ विष्णुः अधिपतिः) कार्यक्षम स्वामी, (३ कल्माषप्रायः रक्षिता) कर्मका

सरक्षक और (४ धीरुधः रूपयः) औपयिकी वृद्धि ये चार बातें उरकर्मके लिये हैं।

(६)

(१ ऊर्ध्वा दिक्) उच्च विद्या, (२ बृहस्पति) ज्ञानी स्वामी, (३ श्वित्रा रक्षिता) वृद्ध सरक्षक, (४ वर्ष रूपयः) वृष्टिकी पति ये चार बातें उपरति करनेवाली हैं।

अब इन प्रश्नार्थका मन्त्र करेंगे। शब्दोंके मूल धातुवर्ष नीचे दिये हैं—

(१) ' वरुणः ' — वर-वृ-वरणे। पसद करता। जो पसद किया जाता है वह पसद होता है। एवं संमत सर्व-भेद।

(२) ' पूदाकुः ' — (पूद-आ-कु-) — पूतका अर्थ वृद्ध, सहाय, स्वर्षा, स्वर्षके समय जाताहोके शब्द बोधनेवाला ' पूदाकु ' होता है। कु-शब्द।

(३) सोमः — दातिका ध्रुवक यह अर्थात् सोम है। इसका दूसरा अर्थ ' स+उमा ' अर्थात् विद्याके साय रहनेवाला अर्थात् ज्ञानी है। ' सु-प्रसवयेभ्ययोः ' इति धातुते ' सोम ' शब्द बनता है जिसका अर्थ ' उत्पारक, प्रेरक और ऐश्वर्यवान् ' होता होता है।

(४) ' स्व-जः ' (स्व+जः) अपनी पतितये रहनेवाला, जिसे दूसरेकी पतितका अक्षयन करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वावसन्नधीर। स्वर्ष विद्याका दाता धारो और फलता है।

(५) ' अशानिः ' — वह विदुषका नाम है। तिरश्चि-ताका बोध इस शब्दसे होता है। ' मशु ' धातुका अर्थ ' व्यापना ' है। व्यापक पतितका नाम अशानि है।

(६) ' विष्णुः ' सर्व ' व्यापक ' वर्ता उपरयो।

(७) ' कल्माष-प्रायः ' — ' कल्मन् ' का अर्थ ' कर्मन् ' अर्थात् कर्म, कार्य, उद्योग है। ' कल्माष ' = (कल्म स) = कर्मके द्वारा अनिष्ट कर्माका नाश करने-वाला। (कर्मणा अनिष्टं स्पति इति कर्मापः। कर्माप एषं कल्मापः।) ' पुरवापते वृष्टताको वृष्ट कर्मके मुष्टता-को नाश करनेवाला और इस प्रकारके पुरुषापके भाव गतेमें सरा धारण करनेवाला ' कल्मा-प-प्राय ' विद्या ' कर्मा-स-प्राय ' कहलाता है।

(८) ' बृहस्पतिः ' — बृहन् कर्मका स्वामी, ज्ञानी। त्रुति अथवा अस्तिक अधिपति।

(९) ' श्वित्रः '—शुद्ध, पवित्र, श्रेष्ठ ।

अस्तु, इस प्रकार मुख्य शब्दोंके अर्थ हैं ।

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर ध्रुव और ऊर्ध्व वेद्यः
विद्यामें फलदा प्रणति, चतुर्भुज, शक्ति, उग्रप्रति, शर्मण और
श्रेष्ठता इन छ पुनोकी मुख्य हैं । इन छः पुनोका साथ
' शुण-चतुष्टय ' पूर्वोक्त मंत्रोंमें धर्मन किया है । (१)
विद्या, (२) अधिपति, (३) रक्षक और (४) इष्टु ये
चार शब्द विशेष शक्तिके हैं और इन शब्दोंमें पूर्ण
असाधारण विशेष गुण अर्थ हैं, इस बातका प्रकाश पाठकोंके
मनमें पूर्ण रीतिसे पडा ही होगा । बार बार मनन करके
इनके गूढ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है ।

इन मंत्रोंमें ' इष्टु ' शब्द विलक्षण अर्थके साथ प्रयुक्त
हुआ है । इसका किसी अन्यभाषामें भाषांतर करना अत्यंत
कठिन कार्य है । किसी एक प्रतिग्रन्थसे इसका भाव प्रकट
होता ही नहीं । इसलिये इन मंत्रोंको विशेष विचारसे
शोधना चाहिए ।

उत्तम अधिपति और श्रेष्ठ सरक्षकोंका सम्मान होनेसे
जनसमाजकी सिपति ठीक रहती है, और राज्याशासन ठीक
चल सकता है । अधिपति मुख्य होते हैं और सरक्षक उनके
आमीन रहकर कार्य करनेवाले होते हैं । अधिपति और
सरक्षकोंके नियममें जनतामें निरादर नहीं होना चाहिए ।
अधिपति और सरक्षकोंके गुण, जो इन मंत्रोंमें हैं, वहाँ हीमें
वहाँ सब जनताका पूज्यभाव अवश्य रहेगा । दुष्टकी दंड
देनेका अधिकार इन्हींको है । किसी मनुष्यको उचित नहीं
कि वह अपने हाथमें न्याय करनेका अधिकार स्वयं ही लेकर
किसीको दंड देवे । इससे अशांति और अराजकता फैलती
है । इसलिये प्रायैक मंत्रमें कहा है कि ' हम श्रेष्ठ और
योग्य अधिपतियोंका आदर करते हैं और दुष्टका शासन
होनेके लिये उसको उन्हींके स्वाधीन करते हैं । ' सब लोगों-
पर इस भावके सत्कार होनेकी वरदा भारी आवश्यकता है ।

मनसे सांभ्रजितिक अवस्थाका निरोधण करना और
मानवी हितसाधन करनेका विचार करना, इन मंत्रोंका
मुख्य उद्देश्य है । इन मंत्रोंमें जनताको उन्नतिके विचारकी
सूचना मिली है । वैदिक धर्ममें व्यक्ति और समाजका
मिलकर सुधार लिखा है । केवल व्यक्तिका सुधार नहीं
होना और केवल समाजका भी नहीं होगा । दोनोंका मिल-
कर होगा । व्यक्ति समष्टिकी मिलकर उन्नति होती है ।
प्रत्येक मन्त्रकी प्रथम पंक्तिमें सामान्य सिद्धांत कहे हैं और
दोष मंत्रमें उन सिद्धांतोंकी जनतामें पढाकर बताया है ।

विद्याओंका उपबन्धन

वैदिक इष्टि

वैदिक तत्त्वज्ञान इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वगामी
है, कि उसका उपयोग न केवल वैदिक प्रत्येक युक्त द्वारा ही
रहा है, अपितु वैदिक मूलतः पाठकोंमें यह दिव्य वृष्टि उत्पन्न
कर रहे हैं, कि जिस वृष्टिसे जगत्के पदार्थमात्रकी और
विशेष भावनासे देखनेका गुण वैदिक धर्मियोंके अन्तर
उत्पन्न हो सकता है । विशेष प्रकारका वृष्टिकोण उत्पन्न
करना वैदिक अमीन है । यदि पाठकोंमें यह वृष्टिकोण न
उत्पन्न हुआ, तो वैदिक धर्मोंका अर्थ समझना ही अशक्य
है । वेद मंत्रोंकी रचना, तथा उनको समझनेकी रीति,
वैदिक उपदेशकी पद्धति तथा वैदिक वृष्टि, इतनी विलक्षण
और लाजकलकी अवस्थामें भिन्न है कि, वह वृष्टि अपनेमें
उत्पन्न करना ही एक बड़े प्रयासका कार्य, आजकलकी सभ्य-
ताके कारण हो गया है । आजकलकी जड़ सभ्यताकी रीति
का अवलम्बन करनेके कारण यह परिशुद्ध मानसिक अवस्था
और वह विश्व वृष्टि हृदयमें नहीं रहती, कि जो प्राचीन
आर्योंमें वैदिक धर्मके कारण थी ।

किसी काव्यकी भाषा नीरस और शुष्क हृदयमें कोई
भाव उत्पन्न नहीं कर सकती, काव्यका रस जाननेके लिये
पाठकोंका तथा श्रोताओंका हृदय विशेष ससृष्टिसे सज्ज
ही चाहिए । कविकी वृष्टिसे ही काव्यका रस ग्रहण
करना चाहिए, अन्यथा कविकी वृष्टिके बिना कोई काव्य
पाठकोंके हृदयपर प्रेमका भाव उत्पन्न कर ही नहीं सकता ।
उत्कृष्ट कविता जगदी मनुष्योंके हृदयपर कोई इष्ट परिणाम
नहीं कर सकती, इसका यही हेतु है । जोनाके एक तार
बजानेसे उसके स्वरके साथ मिले हुए दूसरे तार अल्प ही
अल्प अवाज देते रहते हैं, परन्तु जो तार उसके स्वरके साथ
मिले नहीं होते, वह नहीं बजते । यही नियम काव्यके
आस्वाद सेनेके विषयमें भी है । जो हृदय कविकी हृदयके
समान उन्नत होते हैं वेही उस काव्यसे हिल जाते हैं, परन्तु
जो हृदय भिन्न प्रकारकी अवस्थामें होते हैं, वे नहीं हिल
सकते । वेद ' देवका काव्य ' होनेसे उसकी समझने और
उसका वास्तविक भाव सेनेके लिये भी विशेष उत्कृष्ट
कोटीके हृदय चाहिए ।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि यदि ऐसा है तो
सामान्य मनुष्यके लिये वेद निकम्मा सिद्ध होगा । परन्तु
वास्तविक बात वही नहीं है ! परन्तुवैदिकी सृष्टि अंती

सब मनुष्योंके लिये है, उसी प्रकार ईश्वरके देह भी सब मनुष्योंके लिये ही है। परन्तु अपनी योग्यता और अवस्था-नुसार हर एक मनुष्य वेदसे लाभ उठा सकता है।

जिस प्रकार साधारण मनुष्य जलसे तथा शात करने और अभिषेक शीत निधारण करनेका काम लेकर इन पदार्थोंका उपयोग करता है और समझता है, कि सृष्टिका मने उपभोग लिये; तद्वत् साधारण मनुष्य वेदका स्थूल अर्थ लेता है और समझता है कि मने वेदका अर्थ ज्ञान लिया। जैसा—'अग्नि ईडे' का अर्थ 'मं आगकी प्रज्ञा करता हूँ' इतना ही समझता है।

जिस प्रकार उच्च कोटीके पक्षकानिपुण वैज्ञानिक उसी जल और अग्निको यंत्रोंमें रखकर उनके योगसे बड़े बड़े पत्र बना लेते हैं और समझते हैं कि हमने सृष्टिका उपभोग लिया, तद्वत् ही बड़े योगी और आत्मज्ञानो पुरुष उसी वेद मंत्रका काव्य दृष्टिसे अलोक्य करके परमात्म तत्त्वके सिद्धान्तोंको जानते हैं। जैसा—'अग्नि ईडे'। का अर्थ 'मं लोच समझते हैं कि 'मं उस तेजस्वी आत्माकी प्रज्ञा करता हूँ'।

जैसा सृष्टिका उपभोग दोनों से रहे हैं, वंसा हो वेदका अर्थ दोनों समझ रहे हैं। परन्तु एकको साधारण दृष्टि अथवा जड़ दृष्टि है और दूसरेकी साधारण अथवा काव्यदृष्टि है। वेद काव्य होनेसे इस प्रकारकी साधारण काव्य दृष्टिसे ही उसका आशय देखना उचित है। यद्यपि सबकी यह दृष्टि साध्य नहीं है, तथापि जिनको साध्य हो गई है उनकी सहायतासे अर्थोंको उचित है कि वे अपनी गति इस भूमिकामें करें। आचार्यके महाशे मार्गसे चलनेका यही वाक्य है।

वेदका अर्थ समझनेके लिये न केवल वेद मंत्रोंका विनाय दृष्टिसे और विशेष पद्धतिसे अर्थ जाननेकी आवश्यकता है, बल्कि सृष्टिकी और भी विशेष आत्यिक आवश्यकता देखने की अत्यंत आवश्यकता है। सब साधारण लोगोंकी सृष्टिकी तरफ जड़ दृष्टिसे देखनेका अभ्यास आजकल हो गया है। यह अभ्यास अत्यंत घातक है। जबतक जनतामें यह दृष्टि रहेगी, तबतक उनमें वैदिक दृष्टिका अभाव ही रहेगा। 'जिस अर्थवार्थ सब भूतमात्र आत्मरूप होयसे, उस अर्थवार्थसँ एक-एक-का सर्वत्र द्योत होनेके कारण प्रोच कोह नहीं होता।' (पृ ४०३) यह दृष्टि है कि जिस दृष्टिसे सृष्टिकी ओर देखना चाहिये। परमात्म शक्तिका

जो विकास इस प्रकृतिमें हो गया है, वह ही सृष्टि है। इस दृष्टिकी 'आत्मरूप दृष्टि' कहते हैं।

जड़ दृष्टिके लोग अपने शरीरकी ओर भी जराबके भावसे देखते हैं और केवल अश्रिय, मज्जा, मांस आदिकोंकी ही देखते हैं, उनको इन जड़ पदार्थोंसे भिन्न कोई भेद पदार्थ इस शरीरमें दिखाई नहीं देता; परन्तु दूसरे सुबिन्न लोग ऐसे हैं, कि जो इस शरीरकी ओर चेतन दृष्टिसे देखते हैं, और हर एक शरीरके भागमें आत्माकी शक्तिका विकास और आभास देखते हैं। यह दूसरी दृष्टि वेदकी अभीष्ट है। इसी दृष्टिसे सृष्टिका निरीक्षण करनेका तथा वेदका अभ्यास करनेका यत्न करना चाहिये। इस विचारका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिये इस लेखमें दिशाओंका विषय लिया है।

' प्राची दिशा ' पूर्व दिशाकी विभूति

पूर्व दिशाके लिये शेषमें विशेष कर ' प्राची दिक् ' शब्द जाता है। इसका मूल अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) प्राची—(प्र+धीच्)= ' प्र ' का अर्थ ' आविष्ट, प्रकर्ष, आगे, सम्मुख ' है। ' धीच् ' का अर्थ ' गति पुनर्न ' अर्थात् जाना, बहना, चलना, हलचल करना, सागर और पूजा करना ' है। तात्पर्य ' प्राची ' शब्दका अर्थ आगे बढ़ना, उन्नति करना, अथभागमें हो जाना, प्रगतिका साधन करना, उदयको प्राप्त होना, अभ्युदय साधन करना—उपर चढ़ना इत्यादि प्रकार होता है।

(२) दिक्—दिशा=का अर्थ तरफ, सोप, तार, दिशा पत, माता, विज्ञाना, सोपा रास्ता, सरत मार्ग इत्यादि होता है।

उक्त दोनों अर्थोंकी एकत्रित करनेसे ' प्राची दिक् ' का अर्थ—(१) आगे बढ़नेकी दिशा, (२) उदयका मार्ग (३) अभ्युदय प्राप्त करनेका रास्ता, (४) साकार और पुनर्नका पथ, (५) उन्नतिकी हलचल, (६) उच्च गतिकी सोपा मार्ग इत्यादि होता है। प्राची दिशाका मूल अर्थ बढ़ती अथवा उन्नतिकी दिशा, अभ्युदयका मार्ग, दृष्टिका रास्ता है।

विचार पूर्वक देखनेके पश्चात् पाठकोंका पता लग जायगा कि पूर्वदिशाका नाम ' प्राची दिक् ' देखने क्यों रखा है। विचारकी दृष्टिसे राजकी समयमें भी पूर्वदिशाकी ओर वादक देखते प्रायः। पूर्व दिशाकी अपूर्वता सबेरे और

राशिके समय हो जात हो सकती है। दिनके समय सूर्यके प्रवेष्ट प्रकाशके कारण इस दिशाका महत्व ध्यानमें नहीं आ सकता। इसलिये सवेरे और राशिको ही पूर्व दिशाके महत्वका किन्तन करना चाहिये।

सांक्रिक लोग दिशाओंको जट मन्त्रों हैं, उनका दृष्टि भिन्न है। वेद पढ़नेके समय धानको सर्वत्र पूरा चेत्यपत्ती दृष्टिसे देखना चाहिए। जैसा पूर्व दिशामें वनी प्रकार अन्य सब दिशाओंमें चेत्यपत्ती बिनाश हो रहा है, ऐसी वृद्ध कल्पना कीजिये। और प्रत्येक दिशा नीवित और गजत है, तथा विशेष प्रकारकी शक्तिका प्रकाश कर रही है। यदि आप इसको क्षणमात्र देखा मान सकेंगे तो भी हमारे प्रस्तुतके कार्यके लिये बहुत भव्या है।

अथ प्रभत कालमें पूर्व दिशाकी ओर मुख कर लीजिए। कई तारागणोंका उदय हो रहा है और कईयोंका उदय हो गया है, ऐसा भाव देखिये। अतः तारागणोंकी जन्म देनेवाली, यह पूर्वदिशा है। तेजस्विताका प्रकाश इस दिशासे हो रहा है। प्रतिक्षण इस दिशाकी प्रतिभा बढ़ रही है, क्योंकि तेजोष्ण सूर्यनारायणका अत्र जन्मका समय है। यैत्रिये। योडे ही समयमें सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् उदयको प्राप्त होंगे और सूर्य जलकी नवजीवनसे संचारित करेंगे। तमोपुणो अथकारका मास होगा और स्वस्वपुणो प्राणमय प्रकाश चारों ओर धमकने लगेगा। अब सूर्यका उदय हो गया है, यह सूर्यदिन कंसा मनोरम, रमणीय, स्फुरण देनेवाला, धानबको बढ़ानेवाला, तेजका अर्पण करनेवाला, तथा सहस्रों शुभ गुणोंसे युक्त है। आप इसको केवल जट न समझिए। यह हमारे प्राणोंका प्राण है, यह स्वावर जगमका जीवनदाता है, इसके होनेसे हम जीवित रह सकते हैं और इसके न होनेसे हमारा मृत्यु है, ऐसा यह सूर्यनारायण हमारे जीवनका आधार, परमेश्वरके अद्वितीय तेजका यह सूर्य निःसंदेह व्यक्त पुत्र है। इसकी कल्पनासे आप परमात्माकी अद्वितीय तेजस्विताकी कल्पना कर सकते हैं। इस उच्च दृष्टिसे आप इसका निरोक्षण कीजिए। उदय होते ही इसका तेज बढ़ने लगा है। तात्पर्य यह कि पूर्व दिशा हर-एकको उदयके मार्गकी सूचना दे रही है, अन्वयका रास्ता बता रही है, अपनी तेजस्विता बढ़ानेका उपदेश कर रही है। वेद कहता है कि यह 'उदयकी दिशा' है। सबका उदय दहाते ही रहा है। हे मनुष्य ! तुम प्रतिबिंब इसका ध्यान और अपने उदयका मार्ग सोचो।

सूर्य चक्रका और सब तारागणोंका उदय देखते हुए आप

अपने उदयके मार्गकी सूचना निःसंदेह ले सकते हैं। यदि एक समय अस्तको पड़ना हुआ सूर्य पुरुषारथसे फिर अपनी, परिपूर्ण तेजस्विताके साथ उदयको प्राप्त हो सकता है, यदि धारोक्तके कारण अत्यंत क्षीणताको पड़ना हुआ चक्रमा प्रतिदिन शनः शनः प्रयत्न करता हुआ फिर सूर्यमाके दिन अपने परिपूर्ण वैभवको हस्तो पूर्व दिशासे प्राप्त हो सकता है, इसी प्रकार यदि सब तारागण एकवार अस्तगत होनेपर भी पुनः पूर्ववत् उदयको प्राप्त कर सकते हैं; तो क्या किसी कारण अवनतिमें पड़ने गये हुए मनुष्य भी उन्नत नहीं हो सकेगे ? जिस मनुष्यके हृदयमें प्रत्यक्ष आत्मा बंटी हुई है, जिस मनुष्यके धरोरमें सब सूर्य चक्रादि देवताओंने प्रत्यक्ष जन्म लिया हुआ है, ऐसा मनुष्य कि जो ३३ कोटो देवताओंका सत्वस्व है, वह पुण्यायं करनेपर नीच अवस्थामें क्यों कर रह सकता है ? न केवल अन्वयपर इसका परिपूर्ण अधिकार है, अपितु वह अपना जैसा चाहे वेशा अन्वयय अपने ही स्वायत्तबन्धे और अपने ही पुण्यायंसे निःसंदेह प्राप्त कर सकता है। अविनाश और सचयः; अर्थात् अपना और जातिका, निजका और राष्ट्रका इसी वृद्ध भवनासे उदय हो सकता है। पूर्वदिशाके अन्वयजनसे मन्में ये विचार उत्पन्न हो सकते हैं।

पश्चिम दिशाकी विभूति

दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन करते हुए पूर्व स्थलमें पूर्वदिशाको वैदिक कल्पना बताई है, अब इससेसमं परिष्वम दिशाकी कल्पना बताता है। वैदिक क्रम देखा जाय तो पूर्व दिशाके पश्चात् पश्चिम दिशाका वर्णन आता योग्य है, और यह वैदिक दृष्टिसे ठीक भी है; क्योंकि उदयके मार्गके साथ साथ पश्चिमका मार्ग चलना चाहिए। अन्वय और वक्षताका साहचर्यं सनातन ही है। उदयको दृष्टाके साथ पश्चिमका अन्वयन करनेकी आवश्यकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। तथापि पूर्व और पश्चिम दिशाओंकी विभूतिया परस्पर सापेक्षताया सबब रजती हैं, इसलिये वैदिक कल्पनाको स्पष्टता होनेकी दृष्टासे पूर्व दिशाका वर्णन होनेके पश्चात् पश्चिम दिशाका वर्णन किया है। यह सापेक्षताका संक्षेप वैदिक—

पूर्व	पश्चिम
उदय	अस्त (अस्त गृह)
अन्न	मृत्यु (स्व-रूप प्राप्ति)
प्रकाशता प्रारभ	अपकारका प्रारंभ
प्र-वृत्ति	वि-वृत्ति

पूर्व	पश्चिम
सूर्यायं	विभ्राति
प्राची	प्रतीची
प्र+अच्	प्रति+अच्
हलचस	शाति
जाञ्जति	मुपृत्ति
दिन	रात्रौ

इन दो दिशाओंका परस्पर सापेक्ष संबंध देखनेसे बंदिक कल्पना अधिक स्पष्ट हो जायगी। इसलिये कमशान्त दक्षिण दिशाका विचार न करते हुए पश्चिम दिशाका ही विचार यहाँ प्रयत्न करते हैं।

पश्चिम शांतिकी दिशा है। इस शांतिकी दिशाका जल-धिपति वरुण स्वामी है, क्योंकि जलका ही गुण शांति है और वह वरुणके आधीन है। इसीलिये इसकी वर अर्थात् श्रेष्ठ कहते हैं। अथवा 'वर' शब्द गोमयवृत्तसे उदक वाष्पक भी है, जिसके पास 'वर' अर्थात् उदक है, वह वरुण कहलाता है। जलधिपतिका समग्र अक्षके साथ होना स्वाभाविक ही है, जलके बिना अक्षकी उत्पत्ति ही नहीं सकती। अक्षका भोजन करनेसे क्षुधासाति और जलजल पान करनेसे तृप्तासाति होती है, अर्थात् ज्ञानपानके कारण प्राणिमैत्रि अक्षर परिपूर्ण शांति होनेके कारण उत्साह बढ़ता है। इस प्रकार इस दिशासे जलताकी शांतिक संबंध है।

अथ पश्चिम दिशाकी विभ्रूति देखिए- व्यक्तिसे बेहमें गृह्य भाग, मायमें साक्ष्यकी अवस्था, दिनमें साय-कांतका समय, दिनको पुण्य मानिए और वह दिन अपनी स्त्री रात्रीके साथ मिलने जाता है, यही दिन और रात्रिका विद्युत् है, इसी प्रकार स्त्री पुरुषका मिश्रण होता है, इसलिये तारव्यावस्था पश्चिम दिशा है, घोषित घट्टेका महोरार अथवा पूर्ण विद्युत् होता है, उसमें १२ घट्टे व्यतीत होते हैं, वह आयुकी साम्य अथवा तारव्यावस्था है, इस समय सूर्य विधामके लिये पश्चिम दिशामें जाता है। ऋतुओंमें वर्षा ऋतु, महिनोमें श्रावण भाद्रपद, कालोंमें पर्वण्य काल, वर्षोंमें वैश्व वर्ष, आधर्मोंमें गृहस्थाधर्म, पुण्यायाम काम, पूर्णोंमें इष्टय मुन, व्यवस्थाओंमें सुवृत्ति इत्यादि पश्चिम दिशाकी विभ्रूति है। इसका विचार और आँदोलन करके इस यक्षमायें म्यूनाधिक करना उचित है। साधारणतया घोषासा रूप यहाँ वर्णन किया है।

पश्चिम दिशाकी इस प्रकार भाग अमूर्त और व्यापक मानिए। एक विशेषभाव इस प्रत्येके व्यापक माना है।

साधारण लोक पश्चिम दिशासे पूर्वोक्त होनेकी विद्या सम-प्रते हैं, परंतु इससे कई गुण उच्च और व्यापक अमूर्त भाग वेदमें है, जिसका ज्ञान होनेके बिना विद्या बोधक बंदिक मशकें शब्दोंका आशय समझमें ही नहीं आवेगा।

'प्रति+अच्' धातुसे 'प्रतीची' शब्द बनता है। इसका पार्थक्य पोछे हटना, निवृत्त होना अतमूल होना, विधामकी तदवरोध करना इत्यादि प्रकार होता है। सूर्य दिन भर प्रवृत्ति रूप कार्य करनेके पश्चात् विधामकी तदवरोध करके पश्चिम दिशाका आशय करता है। मानो कि सब जगत्की दिनभर प्रकाश देनेके पश्चात् सूर्य विभ्रातिके लिये अपने घर जाता है और रात्रीके साथ सलग्न होता है। इसी हेतुसे रात्रीको 'रमयित्री' अर्थात् रमण करनेवाली कहा जाता है। शुभ्य भी इसी प्रकार दिनभर अपने सब व्यवहार करता हुआ जब एक जाता है तब घर आकर अपनी पत्नीके साथ रहता हुआ शांति पाता है। सूर्य तपता है इसलिये तपस्वी है, यह तप उसका बहुवचन है, इस बहुवचन प्रतेके पश्चात् वह रात्रीके साथ रममाण होनेसे गृहस्थी बनता है, यही उसका पश्चिम दिशाका कार्य है। इष्टर ब्रह्मचर्याधममें नियमों और कर्तों कारण, तपनेवाला ब्रह्मचारी भी गृहस्थाधममें प्रविष्ट होकर प्राप्त होता है, यही व्यक्तिका पश्चिम दिशाका कार्य है। वर्षोंमें ब्राह्मणवर्ष यमनियमोंसे तप करता है, यह ब्राह्मणवर्ष तपस्याके लिये ही है। परंतु वैश्ववर्ष शांतिके चरण रहता, वेते कृपाता और आनंद पाता है। न तो इस वर्षको ब्राह्मणके समान तपस्याके कष्ट हैं और न शत्रियके समान युद्धके दुःख हैं। शांतिके साथ गृहस्थीव्य भोगनेके कारण यह वैश्ववर्ष चातुर्वर्षमें शांति और विधामका अत्युच्च पश्चिम दिशाका स्थान है। ऋतुओंमें वसंत और शीतक उत्पत्तसे तपनेवाले हैं, परंतु वर्षाऋतुमें सर्षक पीत जलकी वृष्टि होनेसे नदी, नद, तालाब और कुएँ जलसे परिपूर्ण होनेके कारण सर्षक वृष्टिका प्रारंभ होनेसे सब भूमि हरियालमसे सुंदर और प्रांत दिखाई देती है, इसलिये ऋतुओंमें वर्षा ऋतु पश्चिम दिशाकी विभ्रूति मानो है। इसी दृष्टिके अत्युच्च रेलिए और सर्षक पश्चिम दिशाकी विभ्रूति जाननेका यत्न कीजिए। इस प्रकारकी भावना पश्चिम दिशाके बंदिक मशकें हैं, इसलिये इसकी पक्षवत् कल्पना होनेसे ही मशकेंका आशय हृदयमें विकसित हो सकता है।

उत्तर दिशाकी विभ्रूति

पूर्व दो लेखोंमें 'पूर्व' और पश्चिम 'दिशाओंकी विभ्रूति-

योंका वर्णन किया गया है, उसी क्रमानुसार इस लेखमें उत्तर दिशाका विचार करना और उस दिशाकी विभूति-याका स्वरूप अवलोकन करना है। पश्चिम दिशाके परवात् क्रमप्राप्त 'उत्तर' दिशा है। उत्तर दिशाका भाव निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

उत्तर	उबीची
उत्-तर	उत्-अन्
उच्च-तर	उच्च-पति

(उत्) उच्चतासे (तर) अधिक जो भाव होता है, वह उत्तर किया उच्च-तर शब्दसे बताया जा सकता है। उच्चताकी दिशा, अधिक उच्चताके भावकी दिशा यह इस शब्दका अर्थ है। जिस प्रकार पूर्व दो लेखोंमें बताया गया है कि 'प्राची और प्रतीची' दिशा क्रमशः 'प्रगति और विधाम' की सूचक दिशा है, उसी प्रकार समझिये कि यह 'उबीची' दिशा उच्चगतिकी सूचक है, व्यक्तिके शरीरमें यह उत्तर दिशा 'बायी बगल' के साथ सम्बन्ध रखती है।

शरीरमें बायी बगल उत्तर दिशा है, इसमें भी हृदय मुख है इसका आत्मा अधिपति है। जगत् मात्र पुण्य हृदयमें रहता है, यह उपनिषदोंका अर्थन यहाँ देखा जा सकता है। इसका 'स्वयः' शक्ति है। 'स्व-अ' शब्द स्वयसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिका बोधक है। आत्मत्वकी स्वकीय शक्तिते यहाँका रत्न होता है। बाहरकी शक्तिते यहाँका कार्य होना ही नहीं है। आत्माकी निज शक्तिका ही प्रभाव यहाँ होना आवश्यक है। आत्माके प्रेमसे तथा परमात्माकी भक्तिते हृदयके शुभमंगलमय होनेकी संभावना यहाँ स्पष्ट हो रही है।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजापतिराधिदिशामुदीचीं कृणवन्नो
ग्रामम् ॥ पाँके छंद्ः पुण्यो धभूय विध्वर्विभ्यांनि
सह संभवेम ॥ १० ॥ [अर्थ. ११३]

' (उत्तरं राष्ट्रं प्रजापति उत्तराधि) उत्तर दिशा तथा ही विजयकी राष्ट्रीय दिशा है। इसलिये (नः) हम सबको (अष्ट्रं) अग्रभागमें बढ़नेकी इच्छा धारण करते हुए इसी उच्चतर दिशासे प्रयत्न करना चाहिए। (पाँके) पाच वर्षोंमें विभक्त (पुण्यः) नागरिक जन ही इसका

उद्य है। इसलिये सब अर्थोंके साथ हम सब (सहसंभवेम) मिलकर रहे, अर्थात् एकतासे पुनर्वास करे।

राष्ट्रमें उच्च होनेकी भावना ही उत्तर अर्थात् उच्चतर दिशा है। इस दिशाके प्रगतिवा साधन और अभ्युदयके मार्गका अवलोकन करनेवाले राष्ट्रके प्रायेक मनुष्यके अंदर यह भावना चाहिये, कि मैं (अष्ट्रं) अग्रभागमें पुनर्वास करता हुआ पुनः जाऊँ। मैं कभी पीछे नहीं रहूँगा। राष्ट्रमें पाच वर्ष होते हैं, उनके कारण शास्त्रोंका श्वेत्वर्ष क्षत्रके कारण रजोगुण प्रधान क्षत्रियोंका रक्त वर्ष, वैठकर काम करनेवाले पनसग्रह करनेवाले वैश्योंका पीतवर्ष, कारीगरोंका अर्थात् सच्चद्रोंका नीलवर्ष और अलक्ष्य जगत्तियोका कृष्ण वर्ष होता है। सब जनता इन पाच-वर्षोंमें विभक्त है, इसलिये पत्र जनोके राष्ट्रका वैदिक नाम 'पाचजन्य' है। 'पाच-जन्यका महानाव' ही जनताका सार्वजनिक मत हुआ करता है। जो पुरि अर्थात् नगरोंमें बसते हैं उनका नाम पुण्य अर्थात् नागरिक होता है। (पुरि-वस, पुर्-वस, पुर्-उप, पुण्य) ये पुण्य अर्थात् नागरिक रहित चार वर्ष हैं और पाचवा विचार वर्ष नागरिकोंसे भिन्न है, इसलिये कि यह अवलम्ब रहता है। जबल विवासी भी राष्ट्रके अवलम्ब हैं, जैसे नागरिक होते हैं। इसलिये 'पाच-जन्य' राष्ट्रमें सब लोक आते हैं, जिस प्रकार वैदिक राष्ट्रीय वाचजयकी कल्पनामें सब पाँचों प्रकारके जनोका अन्तर्भाव होता है, उस प्रकारका 'पाच जन्य राष्ट्र' का अर्थ और आशय बता देनेवाला शब्द कितने अन्य भाषाओंमें नहीं है। इससे पता लगता है, कि वैदिक राष्ट्रीयताकी कल्पना कितनी उच्च और ऊँची ध्यायक है। सब अवयवों और अर्थोंके साथ जब प्रेमरूप एकताका भाव होगा है तभी राष्ट्रीय एकताकी अद्भुत शक्ति विचार्य होती है जिससे राष्ट्रको उच्चतर दिशाके अभ्युदयके मार्गसे आना सुगम होता है। इस प्रकार उत्तम दिशाकी विभूति है।

अधत्में जो उत्तर दिशा है वह सब जानते ही हैं, यही उत्तर दिशा ध्यक्तिके शरीरमें बायी बगल है, राष्ट्रमें उत्तर दिशा धनोत्पादक कारीगर वर्ग है, ऋतुओंमें उत्तर दिशा शरदु है, महिनोंमें आश्विन कालिक मास है, वर्षोंमें सच्चद्रोंका कारीगर वर्ष है, छदोंमें अनुष्टुप् छन्द, भावनाओंमें उच्च-तर होनेकी महत्वाकांक्षा है, इत्यादि प्रकार इस उत्तर दिशाकी विभूति है।

रक्षाकी प्रार्थना

कांड ६, सूक्त ३

(ऋषिः - अथर्वान् । देवता - पातारदेवताः ।)

पातं न इन्द्रापूपणादितिः पान्तु मरुतः । ॥ १ ॥
 अर्षां नपात्सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुं हत द्यौः ॥ २ ॥
 पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु द्यावा पातु सोमो नो अंहसः । ॥ ३ ॥
 पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पातुभिः शिवा ये अस्य पायवः ॥ ४ ॥
 पातां नो देवाधिना शुभस्पती उपानक्तो न उरुष्यताम् । ॥ ५ ॥
 अर्षां नपादभिष्टुती गयस्य चिदेवं त्वएवर्धय सर्वतातये ॥ ६ ॥

अर्थ— (इन्द्रापूपणी न पातं) इन्द्र और पूषा ये दो देव हमारी रक्षा करें, (अभिष्टुतिः मरुतः पान्तु) भविष्यति और मरुत देव हमारी रक्षा करें । (अर्षां नपात्, सप्त सिन्धवः पातन) मेघोंको न गिरानेवाला परमेश्वर और सप्त समुद्र हमारी रक्षा करें, (विष्णुः उत द्योः नः पातु) व्यापक देव और द्युलोक हमें बचावे ॥ १ ॥

(द्यावापृथिवी अभिष्टये नः पातां) द्युलोक और पृथिवी लोक अशुभ अथवा प्राण होनेके लिये हमारी रक्षा करें । (प्राया सोमः नः अंहसः पातु) पत्थर और सोम औषधि हमें पापसे बचावें, (सुभगा सरस्वती देवी नः पातु) उत्तम ऐश्वर्यवाली विद्यादेवी हमारी रक्षा करे । (अग्निः पातु) अग्नि हमारी रक्षा करे और (ये अस्य पायवः) ओ इन्के रक्षक पुत्र हैं, वे भी हमारी रक्षा करें ॥ २ ॥

(शुभस्पती अभिनौ देवी नः पातां) उत्तम पालक अग्निदेवी हमारी रक्षा करें । (उत उपारतानक्ता नः उरुष्यतां) तथा उग्र और रात्री हमारी रक्षा करें । (अर्षां नपात् त्वएः देव) हे जलोत्तरी न गिरानेवाले (वध्या देव । गयस्य अभिष्टुती चिप्) परकी दुःखस्थाने भी पूर करके (सर्वतातये अर्थय) सब प्रकारके विस्तारके लिये हमारी वृद्धि कर ॥ ३ ॥



रक्षाकी प्रार्थना

देवों द्वारा हमारी रक्षा

इस सूक्तमें कई देवोंके नामोंका उल्लेख करके उनसे हमारी रक्षा होनेकी प्रार्थना की है । इसमें पृथ्वीपानीय देव ये हैं—

- १ पृथिवी— भूमि, जिसपर सब मानव जाति रहती है ।
- २ सप्त सिन्धवः— सात समुद्र, जिनमें जल भर पड़ा है ।
- ३ अग्निः, अस्य पायवः च— अग्नि और उसके सब रक्षक शक्तिवाले ।

३६ [अथर्व. भा. ६ मानु० द्वितीय]

४ सोमः— सोम अग्नि सब मनस्पतिवा और औषधियां ।
 ५ प्राजा— पत्थर तथा भगवान् पत्थर पदार्थ ।

ये पांच देव पृथिवी स्थानीय हैं, ये अपने शक्तियोंसे हमारी रक्षा करें । इनके अन्दर विविध शक्तियां हैं, इलाहिये उन शक्तियोंसे मनुष्यका मुक्त करे ऐसा उपाय अवलंबन करना चाहिये । यथाहृत्पके लिये अग्निवा उपयोग पाक करने आदि कार्यों करनेसे लाभ और मृदादिके जलानेसे करनेसे हाथ होती है । इसी प्रकार भगवान् देवताओंके विषयमें जानना चाहिये । सब भक्तिपरम्परापानीय देवोंके विषयमें शक्ति—

६ इन्द्र— जो परमेश्वर है, विद्वत्का मन्त्र करता है ।

७ भरतः- सब प्रकारके पाप, जो प्राणादि रूपसे सबको रक्षा करते हैं ।

८ अर्षां तपात्- जलोंको मेघमें धारण करनेवाला देव ।

९ स्यष्टा- जो सोवने सोवनेका काम करता है और जो सूर्यको बनाता है ।

ये देव भी विविध शक्तियोंके द्वारा मनुष्योंकी रक्षा करते हैं । इसलिये इनकी शक्तिसे मनुष्यका लाभ हो और कष्टविहानि न हो ऐसा प्रबंध करना चाहिये । अब दूरध्यानीय वेदशास्त्रोंका विचार देखिये—

१० द्यौः- धूलोक जहाँ सब तेलपारी सूर्यादि गोलक रहते हैं ।

११ पूषा- सूर्य जो अपने किरणोंसे सबको पुष्ट करता है ।

ये देव धूलोकमें रहते हुए मनुष्योंकी रक्षा कर रहे हैं; इसी प्रकार अन्य देवोंके विषयमें देखिये—

१२ अश्विनौ- इगल और चञ्चल, प्राण और अपान, तारक (अर्भरी), मारक (तुर्करी) शक्ति, यह प्राण शक्ति है ।

१३ उपासानका- उपा और रात्री, यह काल है ।

१४ सरस्वती- विद्या देवी, ज्ञानदेवता, शास्त्रविद्या, सभ्यता ।

१५ अदितिः- अशुद्धित मूल शक्ति, और

१६ विष्णुः- सर्वव्यापक ईश्वर ।

ये सब देव और देवताएं मनुष्यकी रक्षा करें । मनुष्यको चाहिये कि वह इनसे ऐसा व्यवहार करे, जो जिससे इनकी शक्ति इसको सहायक बने और कभी विरोधक न बने ।

इनमें सब शक्ति एक अद्वितीय सर्वव्यापक देवसे आता है, तप्यादि मनुष्यका इनके साथ अलग अलग संबंध आता है, और इनसे मनुष्यके विविध कार्य सिद्ध भी होते हैं और इनका विरोध होनेसे मनुष्यकी बड़ी हानि भी होती है, इसलिये इनकी सहाय्यताकी याचना यहाँ की है ।

दो उद्देश्य

भागवी उपनिषदके ये उद्देश्य हैं- (१) गयस्थ्य अभि-
न्दुता- घरको कुटिलता, हानि आदि दूर करना और
(२) सधैरातये यर्धय- सब प्रकारका विस्तार होनेके लिये बढना । जब देवताओंकी शक्तिसे ये दो उद्देश्य सिद्ध हों, ऐसा व्यवहार करना चाहिये । पूर्वोक्त देव अपने शरीरमें अंत रूपसे हैं, उनकी शक्तियोंकी उन्नति करके भी मनुष्यका बड़ा लाभ हो सकता है । इस सूक्तका विचार करनेसे इस ढंगसे बहुत लाभ हो सकता है ।

अगला सूक्त भी इसी विषयका है, यह अब देखिये ।

रक्षाकी प्रार्थना

कांड ६, सूक्त ४

(ऋषिः - अर्षा । देवता - नानादेवताः ।)

त्वष्टां मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः । पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्बु पातु नो दुष्टं प्रार्यमाणं सह । १ ॥

अंगो भगो वरुणो मित्रो अर्षमादितिः पान्तुं मरुतः ।

अप तस्य द्वेषो ममेदमिहुतो यावपुच्छन्मन्तितम् ॥ २ ॥

अर्थ— (त्वष्टा) सबका निर्माण करनेवाला, पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति और (पुत्रैः भ्रातृभिः अदितिः) पुत्र और भाइयोंके साथ अदिति देवी (मे दैव्यं वचः) मेरे देवोंके संबंधके बचनको सुनें और (नः दुष्टं प्रार्यमाणं सह पातु) हम सबके अज्येय और रक्षा करनेवाले यमको सुरक्षित रखें ॥ १ ॥

अंग, भग, वरुण, मित्र, अर्षमा, अदिति और मरुत देव ये सब देव मेरी (पान्तु) रक्षा करें । (तस्य अभि-
न्दुतः द्वेषः अपगमोत्) जब शत्रुका कुटिल द्वेष दूर होवे । (मन्तितं शत्रुं यावयत्) ये सब पापके शत्रुको दूर भगा दें ॥ २ ॥

धिष्ये समन्धिना प्रावतं न उरुष्या ण उरुजमन्नप्रयुञ्जन् । द्यौर्विपतर्षावयं दुञ्जुना या ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अन्धितो) धरिष्येयो ! (१) ये नः सं प्रावतं) बुद्धिके लिये हमारे उत्तम रक्षा करो । हे (उरु-जमन्) विषये मतिधाते ! (अप्रयुञ्जन्) भूल न करता हुआ तू (नः उरुष्य) हम सबको रक्षा कर । हे (द्यौः विपतः) दुष्टोक्तके पातक ! (या दुञ्जुना याचय) जो दुर्गति है, उसको दूर कर ॥ ३ ॥

रक्षाकी प्रार्थना

इस सूक्तके पूर्व सूक्तमें कहे गए देवोंके नाम इस प्रकार हैं— ' त्वष्टा, अदिति, मरुतः ' । जिन देवोंके नाम पूर्व सूक्तमें नहीं आये वे ये हैं— ' पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति, भंदा, भग, चक्षण, मित्र, अर्यमा, द्यौष्पिता । ' पूर्वके अनुसंधानसे ही इस सूक्तका अर्थ देखा चाहिये ।

- १ पर्जन्यः— मेघ, जल देनेवाला देव ।
- २ ब्रह्मणस्पतिः— धानका स्वामी, जल देनेवाला ।
- ३ भंदाः— प्रकाश देनेवाला ।
- ४ भगः— भाग्यवान्, भाग्य देनेवाला ।
- ५ चक्षणः— चरिष्ठ देव, सबसे अंश देव ।
- ६ मित्रः— सबका हितकारी,
- ७ अर्य—मा— अंश पुत्रका निरघय करनेवाला ।
- ८ द्यौष्पिता— एलोदका वामक देव ।
- ९ द्यौः । अदितिः सह अदितिः— सबको और

भाइयोंके समेत अदिति देवी । अवहित मूल दक्षिणा नाम अदिति देवी है, इससे सुषारि तेजके गोलक उत्पन्न होते हैं, इसलिये ये इसके पुत्र हैं । तथा उसके समान जो हैं वे उसके भाई हैं । सर्वात् मूल प्रकृति धरया मूल दक्षिण और उससे उत्पन्न हुए सब पदार्थ इस मंत्र भागसे तेने योग्य हैं ।

यह सब देवोंदक्षिणियोंका समूह हम सबको रक्षा करे ।

रक्षाका कार्य

रक्षा करनेका तात्पर्य इस सूक्तमें बताया है, इसलिये इसके सूक्तका शब्द देखिये । रक्षके लिये अपना बुद्धि उत्तम करने चाहिये । यह दर्शनके लिये कहा है—

१ धिष्ये नः सं प्र भवतं— ' उत्तम बुद्धिके विस्तारके लिये हम सबको उत्तम प्रकार विवेक रक्षा करो । ' मनुष्यको बुद्धिको ही विशेष ध्यान देना है । मनुष्यको रक्षा भी इसी लिये होनी चाहिये कि उसकी बुद्धि विवेक मूढ़, विद्वि, विरोध और कुजाय हो और कभी हो न हो । (सं १)

२ मे दैव्यं पचः— मेरा भाग्य दिव्य हो, सर्वात् उत्तम देवके गुणोंका वर्णन हो, मूढ़ भाव हो और कभी हो न भाव न हो । बाणिकी इस प्रकार मूढ़ होनेसे ही ऊपर कही गई बुद्धिको उत्पत्ति हो सकती है । इस सूक्तमें एक पापोंका उल्लेख करके सब अन्ध इन्द्रियोंकी प्रकृति मूढ़ करनेका उपदेश दिया है । जिस नियमसे बाणिकी मूढ़ होती है, उसी नियमसे नेत्र कर्ण आदि अन्धान्ध इन्द्रियोंकी भी मूढ़ि होनी है । इन्द्रियोंकी पुनः कर्मसे तारा नियम रखनेसे ही सब इन्द्रियां मूढ़ हो सकती हैं । यह नियम सब इन्द्रियोंके विषयमें संपान ही है । अपनी इन्द्रियोंमें ' विद्वि भाव ' स्थिर करना चाहिये, यह इस विवरणका तात्पर्य है । इस प्रकार सब इन्द्रियां मूढ़ होनेसे बुद्धि भी इनके कारणसे मूढ़ होती है और विकलित होती है । (सं १)

३ द्वेषः अपागमेय— द्वेषभाव, निरा करनेका स्वभाव, समूह करनेका माध्यम अन्तःकरणसे दूर हो जाने । यह पवित्र करनेका मार्ग है । द्वेषभावके मन्ते पूर्णतया निवृत्त जानेपर मन मूढ़ होता है । (सं २)

४ दुञ्जुना याचय— सब दुर्गतिको दूर कर । इन्द्रियके होने कर्मोंसे प्रकृत रद्दनेसे ही सब प्रकारकी दुर्गति प्राप्त होनी है । इसलिये पूर्वोक्त प्रकार आत्मगुद्धि हो जानेपर दुर्गति अपने पास बसावि नहीं रहेगी । (सं ३)

५ शशुं याचय— मनुको दूर भगा दे । शरीरमें काम-भोगपरि मनु है, समाजमें कामी भोगे ये मनु हैं और राज्यके भी मनु होते हैं । इन सब मनुओंको दूर करना चाहिये । पूर्वोक्त प्रकार आत्मगुद्धि करनेसे सब आंतरिक मनु दूर होने हैं, सामाजिक और राज्य प्रकारके मनुओंको दूर करनेका उपाय भी यहाँकी मूढ़ता करना ही है । इस कर्मके लिये मन्त्र अंतर बल चाहिये, उनका उपदेश इस प्रकार है—

३ मा दुष्टं याचमानं सदा— हमारे अंतर मनुके

सिधे दुस्ताह और हमारी रक्षा करनेवाला बल हो। उसके दो लक्षण यहाँ कहे हैं, यह बल ऐसा चाहिये कि वितका (दुः+तरं) उत्सपन जन्म न कर सके। जब जन्म आक्रमण करे उस समय यह पूर्ण रीतिसे परास्त हो। इसी प्रकार उस बलसे हरएक कठिन प्रसंगमें हमारी रक्षा होवे, ऐसा हमारा बल हमेशा रहना चाहिये। इस प्रकारका बल दद जानसे स्वयमेव सब शत्रु दूर होंगे।

इस प्रकारका बल बढ़ाना ब्रह्मणस्पतिका कार्य है। ब्रह्मणस्पति ज्ञान और धितानका देव है और वह अपने ज्ञानके बानसे पूर्वोक्त बल मनुष्योंमें बढ़ाता है। इसीरूपसे उसकी उपासना और स्तुति प्रार्थना मनुष्योंको करनी चाहिये। उपासनाके समय इस प्रकारका मनन करनेसे भीरु भङ्गाभक्तिपुस्त अन्त-करणसे उपासना करनेसे ये सब फल प्राप्त होते हैं।

अफन्नी रक्षः

कांड ६, सूक्त ५३

(ऋषि - बृहस्पतिः । देवता - नानादेवताः ।)

द्यौर्यं न इदं पृथिवी च प्रचेतसौ ज्ञक्रो बृहन्दक्षिणया विपर्तु ।

अनुं स्वधा चिकित्ता सोमो अमिवायुर्नः पातु सविता भगंश्च

॥ १ ॥

पुनः प्राणः पुनरात्मा न एतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न एतु ।

वैश्वनरो नो अर्दन्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठति दुरितानि विश्वा

॥ २ ॥

सं वचेसा पर्यसा सं तनूमिरमन्महि मनसा सं शिवेन ।

त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो माह्वे तन्वोऽे यद्विरिष्टम्

॥ ३ ॥

अर्थ - (प्र-चेतसौ ज्ञीः च पृथिवी च) उत्तम ज्ञानवाले सुभोक और भूलोक और (बृहन् शुक्रः दक्षिणया) बड़ा सामर्थ्यवान् सूर्य रक्षताके साथ (मे इदं विपर्तु) मेरे इस सबकी रक्षा करे। (सोमः अग्निः) सोमाग्नि यन्स्पति और अग्नि वे (स्वधा अनु चिकित्ता) अपनी पारम्परिकताका ज्ञान अनुकूलताके साथ देवे। (वायुः सविता भगः च नः पातु) वायु, सविता और भग ये हम सबकी रक्षा करें ॥ १ ॥

(प्राणः नः पुनः एतु) प्राण हमारे पास फिर आवे, (आत्मा नः पुनः एतु) आत्मा हमारे पास पुनः आवे। (पुनः चक्षुः पुनः अक्षुः नः एतु) फिर ज्ञान और फिर प्राण हमारे पास आवें। (अ-दन्धः तनू-पाः वैश्वानराः) न दन्धा जानेवाला शरीरका रक्षक सबका नेता आत्मा (नः विश्वा दुरितानि) हमारे सब पापोंको जानता हुआ (अन्तः तिष्ठति) अन्तर रहता है ॥ २ ॥

(वचेसा पर्यसा सं) तेज और बुद्धिकारक रूपसे हम युक्त हों। (तनूमिः सा) उत्तम शरीरोंके साथ हम युक्त हों। (शिवेन मनसा सं अगन्माहि) कल्याणमय विचारयुक्त मनसे हम युक्त हों। (त्वष्टा नः अत्र वरीय-कृणोतु) थोड़ा कारीगर परमात्मा हमें यहाँ उत्तम बनावे। (यत् नः तन्ध-विरिष्टं) जो हमारे शरीरोंमें कष्ट देनेवाला भाग हो (अनुमाह्वे) उसको अनुकूलतासे दूढ़ करे ॥ ३ ॥

भावार्थ - सुभोकरा बड़ा शक्तिशाली भाग्यवान् सूर्य, अन्तरिक्षलोकका वायु और भूलोकका अग्नि, सोम अग्नि हमारी रक्षा करें और हमारे अनुकूल हों ॥ १ ॥

हमारी आत्मा, प्राण, चक्षु आदि सब शक्तियाँ पूर्णतः प्रकारसे हमें पुनः प्राप्त हों। हम पापोंको छिनकर कर नहीं करके, क्यों कि जानी रक्षक आत्मा हमारे अन्तर जगता रहता है ॥ २ ॥

हमें बुद्धिकारक मग्न, तेज, उत्तम शरीर, उत्तम कल्याणका विचार करनेवाला मन प्राप्त होवे। हमारे शरीरमें जो कष्ट शक्तिकारक पदार्थ बना जो वह पापेष्ट्याकी शोचनेसे दूर होवे और हमारी दृष्टि होवे ॥ ३ ॥

अपनी रक्षा

इस युक्तनै अपना सब प्रकारसे रक्षा हो इस विषयकी उत्तम प्रार्थना है। द्वितीय मन्त्रमें कहा है कि—

आत्मा, प्राणः अस्तु, चक्षुः नः पुनः एतु ।
(म० २)

'आत्मा, प्राण, आंश आदि सब शक्तियां हमारे पास पुनः आये।' अर्थात् रोवाधिके कारण शरीरपर जो विविध अपातियां आती है, उनसे चक्षु आदि सब इन्द्रिय रोगी और विफल हो जाते हैं, किसी किसी समय ये इन्द्रिय नामगोचर भी हो जाते हैं, आत्मा और प्राण चले भी जाते हैं अर्थात् यह मनुष्य मर भी जाता है। अर्थात् जब शरीर पेशा रोगी हो जाता है, कि मनुष्य मर भी जाता है। इतना रोगी होनेपर भी आत्मा, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, आदि सब शक्तियां पुनः हमारे शरीरमें पूर्ववत् उत्तम अवस्थामें वसे। अर्थात् रोग आदि आपत्तियां जानेपर भी पूर्ववत् आरोग्य प्राप्त हो। यह आरोग्य किस प्रकार प्राप्त हो सकता है इसका विचार पहिले मजने बताया है—

(द्यौः पृथ्व्यं शुक्रः भगः स्रविता) द्यौःरुका बड़ा सामर्थ्याल्लो शुद्धता करनेवाला सूर्य, (वायुः) अन्तरिक्षका वायु और (पृथिवीं अग्निः सोमः) पृथ्वीके ऊपरकी अग्नि और सोमादि बनस्पतियां (अतु स्वधा चिकिता, पातु, पिपर्तु) अनुकूलतासे अपनी पारक शक्ति देने, हमारी रक्षा करें, और पूजता करें। (म० १)

शुक्रोक्तमें सूर्य है जो अपने प्रकाशमान किरणोंसे सभी शुद्धता करता है, सबमें बल लाता है और सबको बढ़ाकर पूर्य करता है। अन्तरिक्षमें जो वायु है वह सबका प्राण होकर सभीको जीवन देता है, पवित्र और पुष्ट करता है और शीघ्र आणु देता है। पृथ्वीपरकी सोम आदि बनस्पतियां शीघ्र दूर करनेके द्वारा सबका आरोग्य बढ़ाती हैं और सबको शीघ्रियुक्त करती हैं। अर्थात् आत्मा, प्राण और चक्षु पुनः शरीरमें स्थिर करनेके साथ (१) सूर्यप्रकाश, (२) वायु और (३) बनस्पतियोंके यथायोग्य सेवनासे आत्मप्रकरण हुआ मनुष्य भी पुन स्वस्थ हो सकता है। इससे—

पयसा, चक्षंसा, शिवेन मनसा स अगमहि ।
(म० ३)

'दुग्धदि अल्पपल, तेजस्विता और शुभ विचारवाला मन प्राप्त हो सकता है।' आरोग्य चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनको शुभमय विचारोंसे युक्त करे, क्यों कि विचारोंके शुद्ध रहने पर चुराई पास नहीं आसकती इ-स्वभाव तेजस्वी माने और शुद्ध दुग्धाहार करके उत्तम आरोग्यका साधन करे। इतना प्रयत्न करने पर भी जो कुछ शरीरकी या शरीर शरीरमें पुस जाए तो, उसे दूर करनेके लिये ऐसी प्रार्थना करे—

त्वष्टा नः तन्वा यत् चिरिष्ठ माष्टु । (म० ३)

'ईश्वर हमारे शरीरके रोगाधिके दूर करके हमारी शुद्धता करे।' क्योंकि मनुष्यके प्रयत्न होनेपर भी कुछ अशुद्धियां हो जाती हैं और शीघ्र पुस जाते हैं। ईश्वरकी प्रार्थना करनेसे वह सब शीघ्र दूर हो जाते हैं, क्योंकि परमेश्वर प्रार्थना करनेसे मन्त्रें एक प्रकारका अद्भुत बंधो बल प्राप्त हो जाता है जिससे सब शीघ्र और शीघ्र शीघ्र हो जाता विचारा बुर हा जाते हैं और मनुष्य विरही हो जाता है। कोई यह पठ न समझे कि ईश्वरसे छिपाकर मनुष्य कुछ भी शीघ्र या पाप कर सकता है। यह कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि—

दैश्वानरः, अदध्य, तनूपा, विभ्वा दुरितानि अन्तः तिष्ठति । (म० ३)

'सब जपतुका नेता, कभी न बचनेवाला, शरीरकी रक्षा करता हुआ और हमारे सब पापोंका निरोधन करता हुआ हमारे अन्तर रहता है।' जब वह जाग्रत रहता हुआ धर रहता है तब उससे छिपकर कोई पाप कैसे कर सकता है? अर्थात् यह सर्वथा असंभव है। हमारे सब घरे और भले कर्मोंको वह जानता है, इसलिये उसीकी प्रार्थना करनी चाहिये और उसीसे आत्मिकबल प्राप्त करना चाहिये।

यह राति है जिससे मनुष्य शरीर हो सकता है और अपनी उपश्रित्या साधन कर सकता है।

अफर्णी रक्षा

कांड ६, सूक्त १०७

(ऋषि - अन्ताति । देवता - विश्वजित् ।)

विश्वजित्त्रायमाणायै मा परि देहि । त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वे नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् ॥ १ ॥
 त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि । विश्वजिद् द्विपाच्च सर्वे नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् ॥ २ ॥
 विश्वजित्कल्याण्यै मा परि देहि । कल्याणि द्विपाच्च सर्वे नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् ॥ ३ ॥
 कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि । सर्वविद् द्विपाच्च सर्वे नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (विश्वजित्) जगत्को जीतनेवाले । (मा त्रायमाणायै परि देहि) मुझे रक्षा करनेवाली शक्तिके लिये दे । हे (त्रायमाणे) रक्षक शक्ति ! (न द्विपात् चतुष्पात् च सर्वे रक्ष) हमारे द्विपाद और चतुष्पाद सबकी रक्षा कर और (यत् च नः स्वम्) जो हमारा धन है उसकी भी रक्षा कर ॥ १ ॥

हे (विश्वजिते) रक्षक शक्ति ! (मा विश्वजिते देहि) मुझे जगत्की विजय करनेवालेको दे । हे अणजेता । मेरे धन और द्विपाद चतुष्पाद सबकी रक्षा कर ॥ २ ॥

हे अणजेता ! (मा कल्याण्यै परिदेहि) मुझे कल्याण करनेवाली शक्तिके लिये दे । हे कल्याणि । मेरा धन और द्विपाद चतुष्पादकी रक्षा कर ॥ ३ ॥

हे कल्याणि । (मा सर्वविदे परि देहि) मुझे सर्वत्रके पास पहुंचा । हे सर्वत्र । मेरे धन और द्विपाद चतुष्पादकी रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— जगत्को जीतनेकी इच्छा करनेवाला रक्षकके सुपुर्व रक्षणोप चतुष्पादकी करे । यह रक्षक सबकी पचा-
 योग्य रक्षा करे । रक्षक उन सब पदार्थोंको विश्वजित्कीके पास देवे । और वह विश्वजित्की सबकी योग्य रक्षा करे । यह सब रक्षा करके कल्याणके लिये हो, अर्थात् सबकी रक्षासे सबका पचायोग्य उत्पन्न कल्याण हो । कल्याण होनेका अर्थ यह है कि सब विशेष जानीके पास रहें श्यों कि सब प्रकारका कल्याण ज्ञानसे ही होगा ॥ १-४ ॥

इस सूक्तासे यह बोध प्राप्त हो सकता है— (१) हरएकको अपने अंदर रक्षा करनेकी शक्ति बढ़ानी चाहिये । (२) मैं विजय प्राप्त करूँगा ऐसी महत्वाकांक्षा धारण करनी चाहिये । (३) सबको अधिकसे अधिक कल्याण करनेके लिये यत्न करना चाहिये और (४) जानीकी सपत्तिमें सबको लगना चाहिये ।

रक्षार्थी अर्थात्

कांड ७, सूक्त ५१

(ऋषि - अग्निरा । देवता - इन्द्राहस्पती ।)

बृहस्पतिर्नः परि पातु पृश्नादुतोर्धरस्मादधरादधायोः ।

इन्द्रः पुरस्ताद्भुव मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कुणोतु

॥ १ ॥

अर्थ— (बृहस्पतिः नः पश्चात्, उत उत्तरस्मत्) जानका स्थाने हमें पीछेसे, उत्तर दिशासे, (अधरात् अधायोः पातु) नीचेके भागसे पापी पृथक्से बचावे । (सखा इन्द्रः) मित्र प्रभु (पुरस्तात् उत मध्यतः) आगेसे और बीचसे (सखिभ्यः नः वरीयः कुणोतु) निशाने हमें भेड़ बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ— जाननेवाला पीछेसे, ऊपरसे और नीचेसे अर्थात् बाहरसे हथारो रखा करे और मित्र हमारी रक्षा समुच्चसे और बीचके स्थानसे करे ॥ १ ॥

ज्ञान देनेवाला और सहायक मित्र ये दोनों रक्षा करते हैं, एक बाहरसे रक्षा करता है और एक अंदरसे रक्षा करता है । परमात्मा ज्ञान देकर अंदरसे मित्र होकर, अंदरसे और बाहरसे और सब ओरसे हमारी रक्षा करता है ।

सुरक्षितताकी प्रार्थना

कांड ५, सूक्त २४

(ऋषिः - अथर्वी । देवता - ब्रह्मकर्मामा, जाननेवाला ।)

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्स्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्विन्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥ १ ॥

अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्स्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्विन्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी द्यातृणामधिपती ते मावताम् ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्स्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्विन्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥ ३ ॥

वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्स्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्विन्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥ ४ ॥

अर्थ— (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मण्यज्ञमें, (अस्मिन् कर्मणि) इस कर्ममें, (अस्यां पुरोधायाम्) इस पुरोहितके अनुष्ठानमें, (अस्यां प्रतिष्ठायाम्) इस प्रतिष्ठानमें, (अस्यां चित्यां) इस चिन्तनमें, (अस्यां आकृत्यां) इस चक्रचरमें, (अस्यां आश्विणि) इस आशीर्वाचमें, (अस्यां देवहृत्यां) इस देवीकी प्रार्थनामें में (स्व-मा-हा) आत्मसंबन्धका सम्पन्न करता हूँ, इस समय (सः प्रसवानां अधिपतिः सविता मा अवतु) वह सब जेतनामोंका अधिपति मेरेक परमेश्वर मेरी रक्षा करे ॥ १ ॥

(सः वनस्पतीनां अधिपतिः अग्निः मा अवतु) वह वनस्पतियोंका अधिपति अग्नि मेरो रक्षा करे ॥ २ ॥

(ते द्यातृणां अधिपती द्यावापृथिवी मा अवतां) वे ज्ञानात्मिक अधिपति द्यावापृथिवी मेरो रक्षा करें ॥ ३ ॥

(सः अपां अधिपतिः वरुणः मा अवतु) वह जलोंका अधिपति वरुण मेरो रक्षा करे ॥ ४ ॥

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ भावितम् ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चिर्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिश्वस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ५ ॥

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते भावन्तु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चिर्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिश्वस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ६ ॥

सोमो वीरुधामधिपतिः स भावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चिर्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिश्वस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ७ ॥

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स भावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चिर्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिश्वस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ८ ॥

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स भावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चिर्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिश्वस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ९ ॥

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स भावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चिर्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिश्वस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १० ॥

इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स भावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चिर्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिश्वस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ११ ॥

अर्थ— (तौ वृष्ट्या अधिपती मित्रावरुणौ मा अयतां) ये दोनों मृष्टिके अधिपति मित्र और वरुण मेरी रक्षा करें ॥ ५ ॥

(ते पर्वतानां अधिपतयः मरुतः मा अयन्तु) ये पर्वतोंके अधिपति मरुत मेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥

(सः वीरुधो अधिपतिः सोमः मा अयतु) वह भीषधियोंका अधिपति सोम मेरी रक्षा करे ॥ ७ ॥

(सः अन्तरिक्षस्य अधिपतिः वायुः मा अयतु) वह अन्तरिक्षका अधिपति वायु मेरी रक्षा करे ॥ ८ ॥

(सः चक्षुषां अधिपतिः सूर्यः मा अयतु) वह नेत्रोंका अधिपति सूर्य मेरी रक्षा करे ॥ ९ ॥

(सः नक्षत्राणां अधिपतिः चन्द्रमाः मा अयतु) वह नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ १० ॥

(सः दिवः अधिपतिः इन्द्रः मा अयतु) वह दुसोंका अधिपति इन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ ११ ॥

मरुतां पिता पशुनामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्नर्द्धाण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चित्र्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १२ ॥

मृत्युः प्रजानामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्नर्द्धाण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चित्र्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १३ ॥

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्नर्द्धाण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चित्र्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १४ ॥

पितरः परे ते मावन्तु ।

अस्मिन्नर्द्धाण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चित्र्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १५ ॥

तता अघरे ते मावन्तु ।

अस्मिन्नर्द्धाण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चित्र्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १६ ॥

ततस्ततामहास्ते मावन्तु ।

अस्मिन्नर्द्धाण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां

चित्र्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १७ ॥

अर्थ— (सः पशूनां अधिपतिः मरुतां पिता मा अवतु) यह पशुओंका अधिपति मरुतित्त मेरी रक्षा करे ॥ १२ ॥

(सः प्रजानां अधिपतिः मृत्युः मा अवतु) यह प्रजाओंका अधिपति मृत्यु मेरी रक्षा करे ॥ १३ ॥

(सः पितृणां अधिपतिः यमः मा अवतु) यह पितरोंका अधिपति यम मेरी रक्षा करे ॥ १४ ॥

(ते परे पितरः मा अवन्तु) वे पूर्व पितर मेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

(ते अघरे तताः मा अवन्तु) वे पिछले पितर मेरी रक्षा करें ॥ १६ ॥

(ते तताः ततामहाः मा अवन्तु) वे बड़े पितर मेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥

अपनी सुरक्षितता

आजोपदेशक कर्म, अन्याय्य पुरुषार्थ, मजल पालन, सबको शिवरता और सुखदाता ब्रह्मदेवाले कर्म, पितरोंके कर्म, संकल्प, आशीर्वाद देना और लेना, ईश्वरको स्तुति प्राथना आदि कर्म तथा जो जो अन्याय्य कर्मोंके कर्म मनुष्य करता है, उसमें संपूर्ण देवताओं और उन देवताओंका प्रेरक पशुनामा मेरी रक्षा करे । यह प्राथना इस सूत्रमें है । यह स्पष्ट आज्ञा है इतलिये अधिक स्पष्टीकरणको आवश्यकता नहीं है ।

उपनी रक्षार्की मार्यना

कांड ६, सूक्त ७७

(श्रुतिः - अंबिरा। प्रवेताः । देवता - १ अग्निः, २ विश्वेदेवाः, ३ तुषथा ।)

अग्निः प्रातःसवने पात्स्वस्मान्निर्वैश्वानरो विश्वकुद्विश्वभूः ।
 स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम ॥ १ ॥
 विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिद्धितीपे सर्वने न जह्युः ।
 आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमती स्याम ॥ २ ॥
 इदं तृतीयं सर्वनं कवीनामुतेन ये चमसमैरयन्त ।
 ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः सिविति नो अभि वस्यो नयन्तु ॥ ३ ॥

अर्थ— (वैश्वानरः) विश्वका पालक, (विश्वकुत्) विश्वका निर्माणकर्ता, (विश्वभूः) विश्वको शान्ति देनेवाला, (अग्निः) प्रकाश देव (प्रातः सवने अस्मान् पातु) प्रातःकालके पत्नमें हमारी रक्षा करे । (सः पावकः नः द्रविणे दधातु) यह पवित्र करनेवाला हम सबको धनके बीच रखे । और इससे हम (आयुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम) दीर्घ आयुवाले और साथ भोजन करनेवाले होंगे ॥ १ ॥

(विश्वेदेवाः मरुतः इन्द्रः) सब देव, मरुत् और इन्द्र सब (अस्मान् अस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः) हमको इस द्वितीय यज्ञमें न डूब करें । (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयुवाले और (प्रियं वदन्तः) प्रिय बोलनेवाले होकर, (वयं एषां देवानां सुमती स्याम) हम इन देवोंकी सुमतिमें रहें अर्थात् उनका उत्तम आशीर्वाद हमें मिले ॥ २ ॥

(ये चमसं येरयन्त) जो चपसकी हवनके लिये प्रेरित करते हैं (कवीनां मुतेन) उन कवियोंके मृतपालन-से (इदं तृतीयं सर्वनं) यह तृतीय यज्ञ भाग होता है । (ते सौधन्वनाः स्वः आनशानाः) वे उत्तम धनुष्य पारण करनेवाले और आत्माका वेद प्राप्त करते हुए (नः सिविति वस्यः अभि नयन्तु) हमारे उत्तम यज्ञको उत्तम फलके प्रति ले जायें ॥ ३ ॥

ईश्वरके गुण

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें ईश्वरके गुणबोधक शब्द नुं ओ विचार करने योग्य हैं—

१ विश्वानरः= सब विश्वका पालक, जो सब विश्वमें रहकर विश्वको आगे बढ़ाता है ।

२ विश्वकुत्= सब विश्वका जन्मदाता, जगत्का निर्माणकर्ता ।

३ विश्व-भू= जिससे विश्वको सुख और शान्ति मिलती है ।

४ अग्नि- प्रकाश देनेवाला, चेतना देनेवाला देव ।

ये सब शब्द और विशेषतः पहिले तीन शब्द सबके निर्माता एक प्रभुके चोखक हैं । यह ईश्वर हम सबको रक्षा करे, उसकी कृपासे हमारी आयु बढ़े और हमारी भयलकामना निवृत्त होवे । हम आपसमें (प्रियं वदन्तः) प्रिय भाषण करें और ऐसा आचरण करें, कि जिससे (वयं देवानां सुमती स्याम) हम देवोंके उत्तम आशीर्वाद प्राप्त करें, हमारे विषयमें देवोंकी उत्तम बुद्धि स्थिर होवे और (स्व आनशानाः) हमारी आत्मा प्रकाशित होवे ।

हमारी रक्षा

कांड ६, सूक्त ७९

(श्रुति - अथर्व। देवता - सप्तमन्।)

अयं नो नर्मसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु ! अर्समार्तिं गृहेषु नः ॥ १ ॥

स्वं नो नर्मसस्पत ऊर्जे गृहेषु धारय । आ पुष्टमेत्वा वसुं ॥ २ ॥

देवं संस्फान सहस्रपोषस्येशिषे ।

तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिर्वासाः स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ - (अयं संस्फानः नर्मसः पतिः) यह बढ़नेवाला आकाशका पालक देव (नः अभिरक्षतु) हमारी रक्षा करे । तथा (नः गृहेषु अर्समार्तिं) हमारे घरोंमें अतामान्य बन रहे ॥ १ ॥

हे (नर्मसः पति) आकाशके स्वामी देव ! तू (स्यं नः गृहेषु) हमारे घरोंमें (नः ऊर्जे धारय) हमें प्रभूत रूप से और (पुष्टं वसुं आ वसुं) पुष्टिकारक धन भी हमारे पास लावे ॥ २ ॥

हे (देव संस्फान) बृद्धि करनेवाले देव ! तू (सहस्रपोषस्य ईशिषे) हजारों बुद्धियोंका स्वामी है, इतिषे (तस्य नः रास्व) उन बुद्धियोंको हमें दे, (तस्य नो धेहि) वही हमें दे, (तस्य ते भक्तिर्वासाः स्याम) इस तेरी हम भक्ति करनेवाले हों ॥ ३ ॥

भावार्थ - हे बृद्धि करनेवाले ईश्वर ! हमारी रक्षा कर और हमारे घरोंमें बहुत धनसमृद्धि प्रदान कर ॥ १ ॥

हे ईश्वर ! तू हमारे घरोंमें धन, बल और पुष्टि दे ॥ २ ॥

हे बृद्धि करनेवाले देव ! तेरे पास हजारों पोषक शक्तियाँ हैं । उनमेंसे कुछ हमें दे, तेरे पोषक सामग्रियोंके हम भागी बनें ॥ ३ ॥

ईश्वरके भक्त

परमेश्वर सबका पोषणकर्ता है, वह सबको धन, ऐश्वर्य, अन्न, तेज और पुष्टि देता है । इतिषे यह देव हमें पोषणके साधन देने और उनका योग्य उपयोग करके हम सब सुख, पुष्ट और धनधान्यसंपन्न हो ।

बल प्राप्त करना

कांड ६, सूक्त १०९

(श्रुति - अथर्वश्रुति। देवता - सायुज्यस्पतिः ।)

आ वृषापस्य श्वसिद्धिं वर्षस्व प्रथयस्व च । युधाङ्गं वर्षतां श्रेपस्तेन योषितुमिच्छि ॥ १ ॥

अर्थ - (आ वृषापस्य) बलवान् हो, (श्वसिद्धिं) उत्तम प्राण धारण कर, (वर्षस्व प्रथयस्व च) बड़ और धनोंको केंद्र । (यथा श्रेपः अङ्गं वर्षतां) जिससे प्रब्रजनानं पुष्ट हो और तू (तेन योषितुं इत् जदि) उनमें स्त्रीको प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ - हे मनुष्य ! तू बलवान् बन, प्राणका बल बढ़ा, शरीर पुष्ट कर, और मोग्यता प्राप्त कर । इस प्रकार सब शरीरके उत्तम पुष्ट होनेके पदवान् स्त्रीको प्राप्त कर ॥ १ ॥

येन कुरुं वाजयन्ति येन द्विन्वन्त्यातुरम् । तेनास्य ब्रह्मणस्पते घनुमिवा तानया पसः ॥ २ ॥
 आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिंश्च घन्वन्ति । क्रमस्वर्थ इव रोहितमनेवग्लायता सदा ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (ब्रह्मणस्पते) सानो ! (येन कुरुं वाजयन्ति) जिसे कुछ मनुष्यको पृष्ट करते हैं, (येन भातुरं द्विन्वन्ति) जिससे रोगीको समर्थ बनाते हैं, (तेन) उस उपायसे (अस्य पसः घतुः इव भतानय) इसका भंग घनूष्य जैसे फैला ॥ २ ॥

(घन्वन्ति अधि ज्यां इव) जैसे घनूष्यपर डोरीको तानते हैं, (आहं ते पसः तनोमि) उसी प्रकार मैं तेरी इच्छाको फैलता हूँ । (क्रमः रोहितं इव) जिस प्रकार रौख हरिणपर भावा करता है (अनवग्लायता सदा क्रमस्वः) उसी प्रकार तू न थकता हुआ आक्रमण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे जानी पुरुष । जिस उपायसे कुछको पृष्ट करते हैं और रोगीको नीरोग करते हैं, उस उपायसे तुम्हारे सब रोगी और निर्बल लोग नीरोग और बलवान् बनें ॥ २ ॥

घनूष्यकी डोरीके समान डोरीमें बल और लघोत्तापन होवे और ऐशा बल प्राप्त करके हरिणपर रोछके हुम्लेके समान न थकते हुए तू भी आक्रमणपर हमला कर ॥ ३ ॥

चार प्रकारका बल

इस सूक्तमें चार प्रकारके बल बताये हैं । हरएकको ये चार प्रकारके बल प्राप्त करने चाहिये— (१) सा वृषायस्व- यह बीर्यका बल है, शरीर बीर्यवान् हो; (२) श्वस्तिर्दि- प्राणका बल बढे, अन्नका पोषणता कार्य करते हो इवास लगना नहीं चाहिये; (३) घर्षस्व- शरीरकी छर्बाई चौडाई पर्याप्त हो, मनुष्य अथवा मोटा जाना प्रतीत हो; और (४) प्रथयस्व- हरएक अवयव अच्छी प्रकार पृष्ट हो । यह चार प्रकारके बलोंका वर्णन है । मनुष्यको ये चारों प्रकारके बल प्राप्त करने चाहिये । बीर्य, प्राण, शरीरकी वृद्धि और वृद्धि ये चार प्रकार हैं । हरएक मनुष्यकी अपना शरीर इन चतुर्विधबलसे मूक्त करना चाहिये ।

कोई मनुष्य किसी कारण रोगी अथवा कृषा हुआ हो उसको चाहिये कि वह सुयोग्य संघसे चिकित्सा करवाकर नीरोग और हृष्टपृष्ट बने । उत्तम हृष्टपृष्ट, नीरोग और बलवान् मनुष्य ही स्त्रीसे संवध करे । अन्य अज्ञात मनुष्य दूर रहे । तथा मनुष्य बलवान् बनकर तथा पराक्रम करे ।

अपनी शक्तिका विस्तार

कांड ६, सूक्त ४१

(ऋषि - ब्रह्मा । देवता - वायुदेव, वसुदेवः ।)

मनसे चेतसे धिय आकृतय उत चिचये । मृत्यै श्रुताय चक्षुसे विधेमं हविषा वयम् ॥ १ ॥

अवानायं न्यानायं प्राणाय भूरिंशायसं । सरस्वत्या उरुष्यैश्च विधेमं हविषा वयम् ॥ २ ॥

अर्थ— (मनसे, चेतसे, धिये) मन, चित्त, बुद्धि, (आकृतये चिचये) संकल्प, स्मृति, (मृत्यै, श्रुताय, उत चक्षुसे) मति, भ्रमण और दर्शनशक्तिकी वृद्धिके लिये (वयं हविषा विधेमं) हम हविसे यज्ञ करते हैं ॥ १ ॥

अवान, न्यान, (भूरि-प्रायसे प्राणाय) बहुत प्रकारसे प्राण करनेवाले प्राण और (उरुष्यै सरस्वत्यै) बहुत विलम्ब प्रभावशाली विद्यादेवीकी वृद्धिके लिये (वयं हविषा विधेमं) हम हविसे यज्ञ करते हैं ॥ २ ॥

मा नो हासिपुर्नर्धनो दैव्या ये तनुया ये नस्तन्वस्तिनुजाः ।

अमर्त्या मर्त्या अमि नः सचध्वमाधुर्धच प्रतरं जीवसे नः

॥ ३ ॥

अर्थ— (य तनुयाः) जो शरीरको रक्षा करनेवाके हैं तथा (ये नः तन्वः तनु-जाः) जो हमारे शरीरमें उत्पन्न हुए हैं (दैव्याः ऋषयः) वे दिव्य ऋषि (नः मा हासिपु-) हमें न छोड़ें। ये (अमर्त्याः मर्त्यान् नः अमि सचध्वं) अमर वेध हृत् मरनेवालोंसे मिलकर रहे और (न प्रतरं आयुः जीवसे धत्त) हमें जड़ुष्ट आयु रोधं मोचनेके लिये धारण करावें ॥ ३ ॥

अपनी शक्तिका विस्तार

अपनी शक्तियां

मन, चित्त, मारणावशी बुद्धि, सकल्प शक्ति, स्मृति, शक्ति, अथवाशक्ति, दृष्टि, प्राण, अपान, श्वान, विद्या-ज्ञान-विज्ञान इत्यादि अनेक शक्तियां मनुष्यके अन्दर हैं। इनका विकास करना चाहिये। मनुष्यका विकास तब ही होगा, जब इसको इन शक्तियोंकी बुद्धि हो और ये शक्तियां प्रशस्ततम सत्कर्मोंमें लग जाय। प्रथम मन्त्रमें अन्तःकरणकी शक्तियों और ज्ञानेश्वरोंका भी उल्लेख है। द्वितीय मन्त्रमें प्राणोंका वर्णन है और विद्याका उल्लेख है। यद्यपि इन मन्त्रोंमें कर्मेश्वर अथवा अनेक शक्तियोंका उल्लेख नहीं है, तथापि उल्लिखित इन्द्रियशक्तियोंके अनुवर्तमानसे अन्य इन्द्रियों, अवयवों और शक्तियोंका भी ग्रहण यहाँ करना उचित है। अर्थात् अनेक अन्तरकी सपूर्ण शक्तियोंको जड़ुष्ट बनानेका यत्न करना चाहिये।

ऋषि

इस सूत्रके तीसरे मन्त्रमें ऋषियोंका निश्चित पता दिया है। इससे ऋषियोंके आश्रमका उत्तमका रीतिसे पता लग सकता है—

तनुजाः तनुयाः दैव्याः ऋषयः (१ मं. ३)

' शरीरमें उत्पन्न होकर शरीरको रक्षा करनेवाले ये इन्द्रियरूपी ऋषि यहाँ हैं। ' और यह शरीर ही उनका

आश्रम है। इस आश्रममें ये रहते हैं और यहाँका सब कार्य करते हैं।

अमर्त्याः दैव्याः ऋषयः (१ मं. ३)

' ये इन्द्रियरूपी ऋषि वैश्वशक्तिसे युक्त हैं और इनमें जो शक्ति है, वह अमर शक्ति है। ' ये वैश्व शक्तियां मनुष्यके शरीरमें विकसित हों और इन विकसित शक्तियोंके साथ मनुष्य शीघ्र आयु प्राप्त करे, इस विषयमें उपदेश देखिये—
अमर्त्याः दैव्याः ऋषयः नः मर्त्यान् अभिसचध्वम् ।
(मं० ३)

' ये अमर शक्तिते युक्त दिव्य ऋषि अर्थात् इन्द्रिय शक्तियां हम सब मर्त्य मनुष्योंको चारों ओरसे प्राप्त हों। ' और—

प्रतरं आयुः जीवसे नः धत्त । (मं० ३)

' उत्तम आयु शीघ्रजीवनके लिये हमें प्राप्त हो। ' अर्थात् हमारी इन्द्रियोंमें वह वैश्वशक्ति उत्तम प्रकार कार्य करनेमें समर्थ होवे।

सत्त्वशक्ति अथवा मनुष्य शरीरके इन्द्रियोंका वाहक है, वो वेद, वो कान, वो तन्त्र, एक मुख (यामिन्द्रिय) ये सात ऋषि हैं अथवा— श्रवण, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि ये भी सत्त्व ऋषि हैं। इनमें वैश्वशक्ति है वह जानकर इनको वेद्यतात्त्व बनानेका यत्न मनुष्य करे और तब प्रकारसे तमसं होकर इतहास्य बने।



आत्मकल

कांड ५, सूक्त १६

(ऋषिः - विश्वामित्रः । देवता - एकवृषः ।)

यद्येकवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं	॥ १ ॥	यदि द्विवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं	॥ २ ॥
यदि त्रिवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं	॥ ३ ॥	यदि चतुर्वृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं	॥ ४ ॥
यदि पञ्चवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं	॥ ५ ॥	यदि षड्वृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं	॥ ६ ॥
यदि सप्तवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं	॥ ७ ॥	यद्यष्टवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं	॥ ८ ॥
यदि नववृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं	॥ ९ ॥	यदि दशवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं	॥ १० ॥
यद्येकादशोऽसिं सोऽपौदकोऽसिं	॥ ११ ॥		

अर्थ— (यदि एकवृषः, द्विवृषः, त्रिवृषः, चतुर्वृषः, पञ्चवृषः, षड्वृषः, सप्तवृषः, अष्टवृषः, नववृषः, दशवृषः असिं) यदि तू एक, दो, तीन, चार, पांच, छ, सात, आठ, नौ और दस शक्तिपंक्ति युक्त है, तो (सृज) बल उत्पन्न कर, नहीं तो (अरसा असिं) तू निःसत्त्व ही रहेगा । तथा यदि तू (एकादशः असिं) ग्यारहवां है, तो (अपपुत्रकः असिं) तू प्राकृतिक जीवन रखते रहित है ॥ १-११ ॥

मनुष्यमें बल श्रियप्रकृतिवां है । प्रत्येक हृदयमें बली भारी युवदास्ति, अथवा अयवदास्ति है । शरीरस्थ जात्रा इन सब शक्तियोंसे युक्त रहती है । शरीरमें आनेके पश्चात् आत्माको चाहिए कि वह अपना बल बढ़ाये, यदि यह बल बढ़ानेका प्रयत्न न करेगी, तो निःसत्त्व इसका बल घटता जायगा । बल न घटे इसलिये इसको उचित है कि, वह अपना बल बढ़ानेका बल करे । जिस क्षण यह ग्यारहवां श्रेष्ठ जात्रा ऊर्ध्व वेहते विरहित आत्मा होती है, उस समय उसके पास ये प्राकृतिक शक्तियां नहीं होती हैं । उस समय वह केवल आत्मिक शक्तिते ही युक्त रहती है और वह अक्षय शक्ति होती है, इसलिये उस समय उसमें घटना या घटना कुछ नहीं हो सकता है ।

सत्यका विजय

कांड ५, सूक्त १५

(ऋषिः - विश्वामित्रः । देवता - मधुला वनस्पतिः ।)

एकां च मे दशं च मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतंजातु ऋतावरि मधुं मे मधुला करः	॥ १ ॥
द्वे च मे विशतिश्च मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतंजातु ऋतावरि मधुं मे मधुला करः	॥ २ ॥
तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतंजातु ऋतावरि मधुं मे मधुला करः	॥ ३ ॥
चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतंजातु ऋतावरि मधुं मे मधुला करः	॥ ४ ॥

अर्थ— हे (ऋतावरि ऋतजाते ओषधे) त्वय पात्रक और त्वयते उत्पन्न औषधि । तू (मधुला) मधुरता उत्पन्न करनेवाली होकर (मे मधुला करः) मेरे लिये शंभु मधुरता कर । (मे एकां च दशं च अपवृत्तारः) मेरे एक या दस निरक हो, (द्वे विशतिः च) दो और बीस, (तिस्रः त्रिंशच्च) तीन और तीस (चतस्रः चत्वारिंशच्च

पञ्च च मे पञ्चाशच्च मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतंजातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।	॥ ५ ॥
षट् च मे षष्टिर्ध मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतंजातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।	॥ ६ ॥
सप्त च मे सप्ततिर्ध मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतंजातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।	॥ ७ ॥
अष्ट च मेऽशीतिर्ध मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतंजातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।	॥ ८ ॥
नव च मे नवतिर्ध मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतंजातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।	॥ ९ ॥
दश च मे शतं च मेऽपवृत्तारं ओषधे । ऋतंजातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।	॥ १० ॥
शतं च मे सहस्रं चापवृत्तारं ओषधे । ऋतंजातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।	॥ ११ ॥

च) बार और चालीस (पञ्च पञ्चादात् च) पाँच और पचास, (षट् षष्टि च) छः और साठ, (सप्त सप्ततिः च) सात और सत्तर, (अष्ट अशीतिः च) आठ और असी, (नव नवति च) नौ और नब्बे, (दश शतं च) दस और सौ, (शतं सहस्रं च) सौ और हजार (अपवृत्तारः) निवृत्त क्यों न सके हों और मुझे रोकनेका पाल क्यों न करें, मैं तत्परागते ही उनका प्रतिकार करूँगा । इसलिये सर्वत्र भेरे लिये संपुरता पीके ॥ १-११ ॥

सत्यसे यज्ञ

इस सूक्तमें ऋतावरी ऋतजाता औषधिका नाम है । यह कौन औषधि है, इसका पता नहीं लगता । परंतु इस सूक्तमें हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ कोई औषधि प्रयोग नहीं बताया है । अतः जो निवृत्त जन्तु हैं उनको सत्यपालन और हाथ ब्यवहारसे ही ठोक करना और तत्पका महत्त्व सिद्ध करना ही बताया है । सत्यपालन करनेवालेके लिये सब विचार संपुरतायुक्त हो जाते हैं, अर्थात् उसके लिये कोई विरोधी नहीं रहता । सत्यपालन करनेवाला मनुष्य अप्रसूत होजाता है । याने ' सत्यपालनका यज्ञ ' ही सब दोषोंको धोनेवाली योषी अथवा औषधि है । इस सूक्तमें कहे हुए यज्ञका क्या भाव है वह समझने नहीं आता ।

बलसंबर्धन

कांड ४, सूक्त ४

(श्वधि - अथर्वा । वेवता - वनस्पतिः, नात्रवेवताः ।)

यां त्वां गन्धर्वो अखनद्रुंणाय मृतभ्रजे । तां त्वां वयं खनामस्योर्षधिं शेपुहर्षणीम् ॥ १ ॥

उदुषा उदु सूर्य उद्विदं मामकं वचः । उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुभ्रेण वाजिनां ॥ २ ॥

अर्थ— (यां त्वा) जिस तुझको (गन्धर्वः मृत-भ्रजे यदुणाय अखनत्) गणर्वने क्षत्रिहीन वरुणके लिये बोधा है, (तां त्वा शेपहर्षणी औषधिं) उस तुझ इन्द्रियके सामर्थ्य बढ़ानेवाली औषधिकी (वयं खनामासि) हम भी बोधते हैं ॥ १ ॥

(वाजिना शुभ्रेण) शक्ति और बलके प्रभावसे (उपाः उदेजतु) उपा ऊपर उठे, (उ सूर्यः उत्) सूर्य ऊपर चले, (उद्वं मामकं वचः उद्व) यह मेरा वचन भी ऊँचा हो, और इसी प्रकार (वृषा प्रजापति उद्व एजतु) बलवान् प्रजापति भी ऊँचा होवे ॥ १ ॥

भावार्थ— तरुण मनुष्यके क्षत्रिहीन होनेपर उसको पुनः शक्ति देनेके लिये वयं इन्द्रियशक्ति बढ़ानेवाली औषधि देने ॥ १ ॥

जिस प्रकार उपा प्रकाशनी है, उद्वके वरुणात् सूर्य बलवाने लगता है, और बल्लुकी आवाज ऊँची होती जाती है, उसी प्रकार इस औषधिकी सेवसे संतानका वित्त पुनः बलवान् ही ॥ २ ॥

यथा स्म ते विरोहंतोऽभितर्तमिवानन्ति । ततस्ते शुष्मवचरपिये कृणोत्वोपधिः ॥ ३ ॥
 उच्छुष्मौषधीनां सारं ऋषभाणाम् । सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥
 अपां रसां प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् । उत सोमस्य भ्रातास्पुताश्रमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥
 अद्यमिं अद्य संवितरद्य देवि सरस्वति । अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुर्विवा वानद्या पसः ॥ ६ ॥
 आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिन् वध्वनि । क्रमस्वश्वी इव रोहितमर्नवग्लायता सदा ॥ ७ ॥
 अथस्याश्वतरभ्याजस्य पेतवस्य च । अथं क्रमभस्य ये वाजास्तानस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ८ ॥

अर्थ— (यथा स्म ते विरोहतः) जिस प्रकार तेरी बुद्धिके समान (अभि ततं इव अनन्ति) तब होनेके समान
 स्वास लम्बा होता है (इयं औषधिः) यह औषधि (ततः ते शुष्मवचरं) उसी प्रकार तुझे अधिक लम्बान् (कृणोतु)
 करे ॥ ३ ॥

(ऋषभाणां औषधीनां शुष्मा सारा उत) ऋषभक नामक औषधियोंका बलवर्धक सार बल बढ़ावे । हे
 (तनूवशिन् इन्द्र) शरीरको बलमें रखनेवाले इन्द्र ! (पुंसं वृष्ण्यं अस्मिन् धेहि) पुरुषोंका बल इतने लम्बान्
 रीतिसे धारण कर ॥ ४ ॥

(वनस्पतीनां अपां प्रथमजः रसा) वनस्पतिके जलप्रका प्रथम उत्पन्न होनेवाला रस (अद्य उत सोमस्य
 भ्राता अभि) और सोमका रस, भाई जैसा पोषणकर्ता है, (उत आशौ वृष्ण्यं अस्मि) और उठाने तथा बल बढ़ाने-
 वाला है ॥ ५ ॥

(अद्ये) हे अग्ने ! (सवित) हे सविता ! (सरस्वति) हे शररवती देवी ! (ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्मण-
 स्पते ! (अद्य) आज (अस्य पसः धनुः इव आतानय) इसकी इत्रियोंको धनुषके समान फेंक ॥ ६ ॥

(धन्वनि अधि उपां इव) जैसे धनुषपर शरीरको टांगते हैं, (अहं ते पसः तनोमि) जसी तरह मैं तेरी
 इत्रियोंको फेंकाता हूँ । (अश्वः रोहित इव) जैसे हितक पशु हरिणपर धारा करता है, उसी प्रकार तू (मनवग्लायता
 सदा क्रमस्य) न पकता हुआ आक्रमण कर ॥ ७ ॥

(अथस्य अश्वतरस्य अजस्य पेतवस्य च) घोड़ेके, खच्चरके, और भेड़के, (अथ क्रमभस्य) और
 बलके (ये वाजाः) जो बल हैं, हे (तनूवशिन्) शरीरको बलमें करनेवाले ! तू (तान् अस्मिन् धेहि) उस बलोंको
 बलमें धारण कर ॥ ८ ॥

भाष्यार्थ— इस औषधिके शरीर अधिक लम्बान् होगा और इत्रियोंकी शक्ति बढ जायगी ॥ ३ ॥

ऋषभक औषधियोंका यह शक्तिवर्धक सार है । शरीरको स्थायीन रखनेवाला मनुष्य पुरुषोंकी शक्तिवर्धक इस
 सार रूप औषधको धारण करके बलवान् बने ॥ ४ ॥

इन औषधियोंका साररस, सोमवस्तीका रस ये सब शक्ति बढ़ानेवाले हैं ॥ ५ ॥

हे देवी ! आज इसकी इत्रियोंकी शक्ति बढ़ाओ ॥ ६ ॥

इसकी इत्रियोंको मैं पुष्ट करता हूँ, जैसे हितपशु हरिणको पकड़ता है, उसी प्रकार तू न पकता हुआ बड़ाई
 करे ॥ ७ ॥

घोड़े, खच्चर, भेड़े और बलमें जो शक्तियां हैं वे सब शक्तियां, हे शरीरको स्थायीन करनेवाले मनुष्य ! तू इस
 अपने शरीरमें धारण कर ॥ ८ ॥

बलवर्धन

इन्द्रियोंके बल बढ़ानेवाली औषधियोंका इस सूत्रमें वर्णन है, विशेष करके पुत्रकी अल्पेन्द्रियकी शक्ति पुनः पुनर्बन्धु त्विर करनेके लिये श्रेष्ठभक्त औषधियोंका रस सेवन करनेका उपदेश इसमें है। श्रेष्ठभक्त औषधि और जीवन औषधि हिमालयके शिखरपर उत्पन्न होती है, जैसे सोमबल्ली यहा होती है। इसीलिये श्रेष्ठभक्तको सोमरस भाई मं. ५ में कहा है। यह श्रेष्ठभक्त औषधि वीर्यवर्धक है। वाजीकरणके लिये अत्यन्त उपयोगी है। (इस विषयमें हम आधिक लिखना नहीं चाहते।) सुयोग्य धंष्ट इस औषधि प्रयोगके विषयमें अधिक विचार करें। यह औषधि वीर्यवर्धनके लिये अत्यन्त सुगन्धाटी औषधि है ऐसा इस सूत्रसे प्रतीत होता है।

क्षाप्रथम-संवर्धन

कांड ४, सूक्त २२

(श्रुतिः - बसिष्ठः, अथर्वी वा। देवता - क्षत्रियो राजा, इंद्रस्य ।)

इममिन्द्र धर्षय श्रुत्रियं म इमं विशामैकवृषं कृणु स्वम् । ॥ १ ॥
 निरमित्रानक्षुण्णस्य सर्वास्तात्रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु
 एमं भञ्ज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भञ्ज यो अमित्रो अस्य । ॥ २ ॥
 षष्मं क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै
 अयमस्तु धनवतिर्धनानामयं विशां विद्वपतिरस्तु राजा । ॥ ३ ॥
 अस्मिन्निन्द्र मदि वचींसि धेह्युर्चतं कृणुदि शत्रुमस्य

अर्थ— हे इन्द्र ! तू (मे इमं धर्मियं धर्षय) मेरे इस क्षत्रियको धर, और (मे इमं विशां एकवृषं त्वं कृणु) मेरे इस क्षत्रियको प्रजाजनोंमें अद्वितीय बलवान कर। (अस्य सर्वाणाममित्रान् निरक्षुण्णि) इसके सब शत्रुओंको विवर्ध कर और (अहं-उत्तरेषु) मे-अच्छ हूँ, मैं-अच्छ हूँ इस प्रकारकी होनेवाली स्वर्णमि (तान् सर्वाण्) उन सब शत्रुओंको (अस्मै रन्धय) इसके लिये नष्ट कर ॥ १ ॥

(इमं ग्रामे अश्वेषु गोषु व्याभज) इस क्षत्रियको ग्राममें तथा घोड़ों और गोरोंमें योग्य भाग दे। (यः यस्य भूमिभः तं निः भज) जो इसका शत्रु है उसके कोई भाग न दे। (अयं राजा क्षत्राणां षष्मं अस्तु) यह राजा क्षत्रियोंकी मूल होवे। हे इन्द्र ! (अस्मै सर्वं शत्रुं रन्धय) इसके लिये सब शत्रु नष्ट कर ॥ २ ॥

(अयं धनानां धनपतिः अस्तु) यह सब धनोंका स्वामी होवे (अयं राजा विशां विद्वपतिः अस्तु) यह राजा प्रजाजनोंका पालक होवे। हे इन्द्र ! (अस्मिन्निन्द्र मदि वचींसि धेहि) इसमें मेरे शत्रुओंको नष्ट कर। (अस्य शत्रुं अन्वर्षसं कृणुदि) इसके शत्रुको नित्य नष्ट कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे प्रभो ! इस मेरे शत्रुओं को क्षत्रिय हूँ उनके साधनेजको बड़ा और इस राजाको सब प्रजाजनोंमें अद्वितीय बलवान् कर। इस तुम्हारे- राजाके सब शत्रु निर्बल हो जायें और सब स्वर्णजोड़े इसके लिये कोई प्रतिपत्नी न रहे ॥ १ ॥

मत्स्येक ग्राममें, घोड़ों और गोरोंमेंसे इस राजाको योग्य करभार प्राप्त हो। इसके शत्रु निर्बल बन जायें। यह राजा सब प्रकार काश्र शक्तियोंकी मूलि घने और इसके सब शत्रु नष्ट हो जायें ॥ २ ॥
 इस राजाको सब प्रकारके धन प्राप्त हो, यह राजा सब प्रजाजनोंका उत्तम पालन करे, इस राजामें सब प्रकारके लोभ धरें और इसके सब शत्रु पीके पड़ें ॥ ३ ॥

(अहं-उत्तरेषु) मैं-अच्छ हूँ, तू-अच्छ हूँ । ३ शत्रुं कृणुदि ।

अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाधा घर्मदुघे इव घेन् । अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्प्रियो गत्रामोर्धधीनां पशुनाम् युनजिम त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।	॥ ४ ॥
यस्तुवा कारदेकवृषं जनानामुत राज्ञाम्छुत्तमं मानवानाम् उत्तरस्त्वमधरे त सपत्ना ये के च राजप्रतिशत्रवस्ते ।	॥ ५ ॥
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवा छत्र्यतामा गरा भोर्जनानि सिंहप्रतीको विशी अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽयं वाघस्य शत्रून् एव वृष इन्द्रसखा जिगीवा छत्र्यतामा सिद्धा भोर्जनानि	॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥

अर्थ— हे प्रायान्विधो ! (घर्मदुघे घेन् ह्य) पारोप्य दूष देनेवाली सो गीबोंके समान (अस्मै भूरि वामं दुहाधां) इसके लिये बहुत धनादि प्रदान करो । (अयं राजा इन्द्रस्य प्रियः भूयात्) यह राजा इन्द्रका प्रिय होवे तथा (गरां पशूनां ओपधीनां प्रियः) गी, पशु और ओषधियोंका प्रिय होवे ॥ ४ ॥

(ते उत्तरावन्तं इन्द्रं युनजिम) तेरे साथ भेष्ट गुणवाले प्रभुको मैं समुक्त करता हूँ । (येन जयन्ति) जिससे विजय होता है और कभी (न पराजयन्ते) पराजय नहीं होता है । (यः स्या जनानां एकवृषं) जो तुमको मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान् और (उत मानवानां दाशां उत्तमं करत्) मनुष्योंके राज्योंमें उत्तम करे ॥ ५ ॥

हे राजन् ! (त्वं उत्तरा) तू अधिक उपा हो, (ते सपत्नाः) तेरे शत्रु और (ये के च ते प्रति-शत्रवाः) जो कोई तेरे शत्रु है वे (अधरे) नीचे होवे । तू (एक वृषः) अद्वितीय बलवान् (इन्द्रसखा) प्रभुका मित्र (जिगीवान्) जयशाली होकर (शत्रूयतां भोजनानि आभर) शत्रु जैता आचरण करनेवालोंकी भोजनसामग्रीको चरुा ले आ ॥ ६ ॥

(सिंहप्रतीकः सर्वाः विशाः अद्धि) सिंहके समान प्रभावशाली होकर सब प्रजाओंके भोग प्राप्त कर । (व्याघ्रप्रतीकः शत्रून् अयं वाघस्य) व्याघ्रके समान बलवान् होकर अपने शत्रुओंको हटा वे । (एकवृष इन्द्रसखा जिगीवान्) अद्वितीय बलवान्, प्रभुका मित्र और विजयी बनकर (शत्रूयतां भोजनानि आ सिद्ध) शत्रुके समान व्यवहार करनेवालोंकी भोजन सामग्री छोनकर ले आ ॥ ७ ॥

भावार्थ— ये दोनों प्राया वृषिवी मोक इसके सब प्रकारके धन देवे, यह राजा सबका प्रिय बने । ईश्वर, मनुष्य, पशु, पक्षी और औषधियोंके विषयमें भी यह प्रेम रखे ॥ ४ ॥

यह राजा ईश्वरके साथ अपना धार्मिक संबंध जोड़ दे, जिससे इन्द्रका साथ गप्य होवे और पराजय कभी न होवे । यह राजा इस प्रकार मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान् और मनुष्योंके सब राज्योंमें भेष्ट होवे ॥ ५ ॥

यह राजा उपा बने और इसके सब शत्रु नीचे हों । यह अद्वितीय बलवान्, ईश्वरका भक्त और विजयी होकर शत्रुका पराभव करके उनके उपभोगके पराध प्राप्त करे ॥ ६ ॥

यह राजा सिंह और व्याघ्रके समान प्रतापी बन कर सब प्रजाओंके भोग्य भोग प्राप्त करे और शत्रुओंको हूट करे । अद्वितीय बलवान्, प्रभुका भक्त और विजयी बनकर शत्रुका पराभव करके उनके धन अपने राजस्वमें ले आवे ॥ ७ ॥



क्षत्रवत्त संवर्धन

स्पर्धो

' अहं-उत्तरेणु ' यह शब्द प्रथम मन्त्रमें है। यह स्वर्धा-का वाचक है। ' मैं सबसे ऊंचा होंऊं ' यह इच्छा प्रत्येक मनुष्यमें रहती है। मैं सबसे आगे बढ़ूँ। मैं सबसे अधिक ज्ञान प्राप्त करूँ, मैं सबसे अधिक धन, पद, प्रभुत्व आदि प्राप्त करूँ-के सबसे अधिक प्रतापी, पशस्वी और समर्थ बनूँ। यह इच्छा हरएकमें होती ही है। धर्मभावसे इस इच्छाका उत्तम उप-योग करके मनुष्य उच्च हो सकता है। इस प्रकार ऊंचा होने-के लिये शत्रुओंको अपेक्षा अपना बल बढ़ाना चाहिये। शत्रु-ने मिलते विद्या, बल, कला और हुनर प्राप्त किया है, उसकी अपेक्षा अधिक विद्या, बल, कला और हुनर प्राप्त करनेसे ही मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। उन्नतिका कोड दूसरा मार्ग नहीं है।

यह सूक्त सामान्यतः क्षत्रियोंके उद्यम बढ़ानेका उपदेश करता है और विशेषतः राजाका बल बढ़ानेका उपदेश दे रहा है। सब जगत्में अग्रस्थानमें रहनेके लिये अपने राष्ट्रकी उन्नति करना हरएक राजाका कर्तव्य है। हरएक कार्यक्षेत्रमें जो जो शत्रु हों, उनको नीचे करके अपने राष्ट्रके धीरोंको उन्नत करनेसे उन्नत सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

हरएक मनुष्यकी ऐसी इच्छा होती चाहिये कि मैंने राष्ट्रके श्रेष्ठ शत्रु बने बिना ही हूँ, किन्तु राष्ट्रके पीछे हमारा राष्ट्र न रहे। वेद कहता है कि ' अहं-उत्तरेणु ' यह मंत्र राष्ट्र-के हरएक मनुष्यके मनमें जाग्रत रहे। मैं सबसे आगे होऊँ,

मेरा राष्ट्र सब राष्ट्रोंके अग्रभागमें रहे, इसकी सिद्धिके लिये हरएकके प्रयत्न होने चाहिये। प्रत्येक मनुष्य अपने शत्रु और कर्मकी वृद्धि करके अपने आगे और मजबूत राष्ट्रको उच्च स्थानमें लानेका प्रयत्न करे। यह भाव ' अहं-उत्तरेणु ' परमें है। प्रत्येक मनुष्यमें जैसे क्षात्रतेज रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्रमें भी रहता है। इस गुणको उन्नति करने चाहिये, इस गुणके उत्कर्षमें ही शत्रु कम हो सकते हैं।

राजाको चाहिये कि वह अपने राष्ट्रमें शिक्षाका ऐसा प्रबल करे कि जिससे सब ब्रह्मा एक उद्देश्यसे प्रेरित होकर सब शत्रुओंका पराजय करनेमें समर्थ हो। हरएक कार्यक्षेत्र-में किसी प्रकारकी भी असमर्थता न हो। ' विद्यां एकं युयं दृणु स्व । ' (मं १) प्रजाओंमें अद्वितीय बल उत्पन्न करने-वाला वृ हो, यह अवसरका तात्पर्य इस मन्त्रमें है। यही विजय की कुञ्जी है। राजाका प्रयास कर्तव्य यही है कि वह प्रजाओं अद्वितीय बलको वृद्धि करे। यह बल चार प्रकारका होता है, शानबल, वीर्यबल, धनबल और कलाबल। यह चार प्रकारका बल अपने राष्ट्रमें बढ़ाकर अपने राष्ट्रकी सब जगत् में अग्रस्थानमें लाकर ऊंचे स्थानपर रखना चाहिये, तभी सब शत्रु होत हो सकते हैं। यही दूसरोंकी गिरानेका उपदेश नहीं प्रयुक्त अपने राष्ट्रीय उद्यम करनेका उच्च उपदेश यही है। दूसरे भी उन्नत हों और हम भी हों। उन्नतिमें स्वर्ग ही, गिरावटकी स्वर्ग न हो। मन्त्रका पद ' अहं-उत्तरेणु ' है न कि ' अहं-नीचेणु '।

सत्यका यत्न

कांड ४, सूक्त ३६

(ऋषि - चतवः । देवता - सत्योजा अग्निः ।)

तान्तसत्योजाः प्र दंष्ट्रुषिर्वैशानुरो वृषा। यो नो दुरस्यादिप्राचवाद्यो यो नो अराविपात् ॥ १ ॥

अर्थ— (यः नः दुरस्यात्) जो हमें वृष्ट भवस्थानमें फेंके, (च द्विसत्वात्) नाश करे, (अथो यः नः अरा-विपात्) और जो हमारे साथ शत्रुके समान वर्ताव करे, (सत्य-ओजाः वैश्या-नर) सत्य बलवाला विद्वका नेता (वृषा आग्निः) बलवान् तेजस्वी देव (तान् प्रदंष्ट्रु) उनको भस्म कर डाले ॥ १ ॥

भावार्थ— जो लोगोंकी दूरी भयस्वामें फेंक देते हैं, जनोंका नाश करते हैं और धनृता करते हैं, उनको सत्य बलवाला विद्वकालक तेजस्वी देव भस्म करे ॥ १ ॥

यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सता यद् दिप्सति । वैश्वानरस्य दद्रूपोरश्रेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥
 य आगोर मृगयन्ते प्रतिक्लेशेमावाशये । क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वास्तान्सहसा सहे ॥ ३ ॥
 सहे पिशाचान्त्सहसैषां द्रविण ददे । सर्वान्दुरस्यतो हन्मि स म आकृतिश्लिष्यताम् ॥ ४ ॥
 ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते ज्वम् । नदीषु पर्यतेषु ये स तैः पशुभिर्विद ॥ ५ ॥
 तर्पनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव । श्वानः सिंहमित्र दृष्टा ते न विन्दन्ते न्यञ्जतम् ॥ ६ ॥
 न पिशाचैः स शकनोमि न स्तेनैर्न वनगुर्मिः । पिशाचास्तस्माद्दयन्ति यमह प्रार्थमाविशे ॥ ७ ॥

अर्थ— (य अदिप्सत न दिप्सात्) जो निरपराध होते हुए भी हमारा नाश करनेका यत्न करे, अपन (य च दिप्सत दिप्सति) जो नाश करनेवालेको भी कष्ट देता है (तद्येध्वा-नरस्य अग्रे दद्रूपोः) उसे म विश्वचालक तेजस्वी देवकी दोनों बाओंमें (अपि दधामि) रक्षता हू ॥ २ ॥

(ये आगरे) जो घरमें (प्रति श्लोके अमावाशये) कलहके अन्तरमें अपना अमावास्याकी राशमें (मृग यन्ते) शिकार करते हैं (अन्यान् दिप्सत क्रव्यादं तान् सर्वांम्) दूसरोंके घातक भाँसभोगे उन सबको म (सहसा सहे) अपन बलसे पराभूत करता हू ॥ ३ ॥

(पिशाचान् सहसा सहे) रक्त पीनवालोका बलसे पराभव करता हू । (एषां द्रविण ददे) इनका धन म हर लेता हू । (दुरस्यतां सर्वांम् हन्मि) दुष्ट अन्धकारक पशुचानवाले सब दुष्टोंका नाश करता हू । (मे आकृति श्लिष्यता) मेरा यह सत्त्व सफल हो ॥ ४ ॥

(ये देवा तेन हासन्त) जो विषय उन उत्तरे साथ हसी खल करते हैं (सूर्येण जय मिमते) और सूर्यसे वेदका मापन करते हैं उनसे और (नदीषु पर्यतेषु ये तैः पशुभिः) नदियों और पर्वतोंमें रहनेवाले पशुओंके साथ भी म (सविदे) मिलता हू ॥ ५ ॥

असे (गोमता व्याघ्र इव) गौओंके पालन करनेवालोंके ध्याप्रवा भय होता है वैसे ही म (पिशाचानां तपन अस्मि) रक्त पीनवालोंको तपनवाता हू । (सिंह दृष्टा श्वान इव) सिंहकी बेलकर जिस प्रकार कुत्ते घबराते हैं उसी प्रकार मेरे प्रभावसे (ते न्यञ्जन् न दिप्सते) ये दुष्ट लोग अपनी रक्षाका स्थान प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

(य प्रार्थ अह आविशे) जिस प्रार्थमें म प्रविष्ट होता हू उस प्रार्थमें (पिशाचे न स शकनोमि) फिर पीनवालोंके साथ मेल नहीं करता (न स्तेनैः) चोरोंके साथ और (न वनगुर्मिः) जंगली शत्रुओंके साथ मेल नहीं करता इत्यपि (तस्माद् पिशाचा नदयन्ति) उस प्रार्थसे रक्त पीनवाले लोग नाशकी प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

भाषार्थ— जो दुष्ट हम सब निरपराधियोंपर हमला करता है अथवा हमसे बोधाता अत्याच होकर भी जो अपन हृत्पन लक्षिकार लेकर हमारा नाश करता है, उसकी विद्वन्चालक तेजस्वी देवकी बाओंमें म धर देता हू ॥ २ ॥

जो घरमें कलहके समयमें अपना अमावास्याकी अंधरी राशमें हू बूढ़ कर लोगोंको सतते हू उन सबको अपन बलसे म भूढ़ करता हू ॥ ३ ॥

रक्त पीनवाले दुष्टोंकी म भूढ़ करता हू और इनका धन छीनता हू । जैसे देनवाले इन दुष्टोंका म समूल नाश करता हू । यह मेरी इच्छा सफल हो जाये ॥ ४ ॥

जो सज्जन सदा अपन ही निजानबमें मरत रहते हैं और सूर्यकी मलिते अपन देवकी मापते हैं उनके साथ, मिथता करता हू, इतना ही नहीं अपितु नदीमें रहनेवाले मात्स्यात्रि तथा पर्वतोंपर रहनेवाले चतुष्पाद प्राणिमोंके साथ भी म मत्री रखता हू ॥ ५ ॥

गौंमें जैसे ध्याप्रसे डरते हैं उसी प्रकार रक्त पीनवाले दुष्ट मृतसे घबराते हैं । जिस प्रकार सिंहके समुष्ट कुत्ता नहीं उठकर सकता, उसी प्रकार मेरे सामुष्ट से दुष्ट सुखका स्थान नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ६ ॥

म जिस प्रार्थमें बहुधता हू वहीसे फिर पीनवाले चोर शत्रु आदि सब दुष्ट भूढ़ ही जाते हैं ॥ ७ ॥

यं ग्राममाविशते इदमुग्रं सद्यो मम । पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुपै जानते ॥ ८ ॥
 ये मां क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव । तानहं मन्ये दुर्हितान् जने अल्पशयूनिव ॥ ९ ॥
 अमि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वभिधान्या । मूलो यो मह्यं क्रुर्ध्वति स उ पाशात्र मुच्यते ॥ १० ॥

अर्थ— (मम इदं उग्र सद्यः) मेरा यह उग्र बल (यं ग्रामं आविशते) जिस ग्राममें प्रविष्ट होता है, (तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति) उससे रक्त पीनेवाले नष्ट हो जाते हैं और फिर उस ग्रामके बाती (पापं न उपजानते) पापको जानते भी नहीं ॥ ८ ॥

(हस्तिनं मशकाः इव) हाथीकी जिस प्रकार मच्छर कोधित करते हैं उसी प्रकार (ये मां लपिताः क्रोधयन्ति) मुझे ये बकबक करनेवाले कुब्र करते हैं, (तान् अल्पशयून् इव) उदकी अल्प शीटकोंके समान (मह्यं जने दुर्हितान् मन्ये) मैं लोकमें बुद्ध बढानेवाला मानता हूँ ॥ ९ ॥

(तं निर्ऋतिः अमिधत्ता) उसको दुर्गति प्राप्त होवे (अश्वमिधान्या अश्व इव) घोड़ोंको बाधनेकी रस्सी से जैसे घोडा बांधा जाता है और उससे छूटता नहीं (यः मूलः मशु क्रुर्ध्वति) उसी प्रकार जो मलिन पुष्प मुझे कोधित करता है (सः उ पाशात् न मुच्यते) वह पातोते नहीं छूटता ॥ १० ॥

भावार्थ— मेरा उग्र शौर्य जिस ग्राममें चमकता है वहा अधिर भीमो क्रूर मनुष्य नष्ट हो जाते हैं, अथवा यदि वे वही रहें तो भी वे अपने पापविचारको छोड़ देते हैं ॥ ८ ॥

जो दुर्जन अपने बुराचारके द्वारा मुझे कोधित करते हैं वे नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि मैं जानता हूँ कि उनके ही कारण जनताको कष्ट पहुँचते हैं ॥ ९ ॥

जो मलिन आचारवाले मनुष्य होते हैं वे दुर्गतिको नि तवेह प्राप्त होते हैं और वे चमकते फँस जाते हैं ॥ १० ॥

सत्यका बल

सत्यका बल

सत्यका बल कितना बढा होता है इसका मनोरञ्जक वर्णन इस सूक्तमें किया है । सत्यम और अधम मन्त्रमें कहा है कि— ' जिस ग्राममें सत्यके बलसे बलवान् हुआ मनुष्य पहुँचता है, उस ग्रामसे चौर डाकू लटेरे दुष्ट और दुसरेका धन चूतनेवाले दूर हो जाते हैं । सत्यनिष्ठ मनुष्य जिस ग्राममें होता है उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य नहीं रहता । सत्यका बल जिस ग्रामके मनुष्योंमें होता है वहासे दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा वहाँ रहे तो भी वे अपने पापी विचारको (याग देते हैं ।' (म. ७-८)

ग्राममें एक मनुष्य भी इस प्रकारका सत्यनिष्ठ होने पर पूरे ग्रामका सुधार हो जाता है । एक मनुष्यके सत्यनिष्ठ होनेसे अधार्मी उसके रूप-वाचा-मनसा मन्त्रके सुविचार उत्पन्न न होनेसे वह मनुष्य अपने सत्यके बलसे सब ग्रामके मनुष्योंका उन्नत प्रकार सुधार कर सकता है ।

सत्यका बल इतना बढा है और मनुष्यकी उन्नति भी इसी सत्यनिष्ठासे होती है । अपने ग्राममें चौर डाकू लटेरे या दुष्ट यदि हैं तो समझना चाहिये कि अपने अंदर उतनी सत्यनिष्ठा नहीं बडी जितनी बढनी चाहिये । अपने ग्रामकी परोक्षसे इस प्रकार अपनी परोक्षा हो सकती है और अपनी उन्नतिसे इस प्रकार ग्रामकी उन्नति हो सकती है । व्यक्तिका समाजपर और समाजका व्यक्तिपर इस प्रकार प्रभाव होता रहता है ।

बर्हिषद्, सत्य, अत्येव, बहुराचयं और अपरिपह, तथा श्रोत्र, सतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रथियान ये यमनिघम यदि एक भी मनुष्यमें बढ जाय और स्थिर हो जाय तो उसकी अन्त परिश्रमके कारण वह ग्राम सुधर जाता है । इसलिये इस सत्यके बलको अपने अंदर बढानेका प्रयत्न जहाँतक हो सके वहाँ तक हर एकको करना चाहिये ।

दुष्ट मनुष्य

दुष्ट मनुष्योंके कुछ लक्षण इस सूक्तमें विवेक गए हैं उनका यहाँ विचार करते हैं—

वैश्वानरकी दंष्ट्रा

- (१) दुरस्पात्- जो दुरसोंको बुरी अवस्थामें फेंकता है । (म. १)
- (२) दिप्सत्- जो दुरसोंका घात अथवा नाश करता है । (म. १, २)
- (३) अरातीयात्- जो शत्रुता करता है, निंदा अथवा द्वेष करता है, शत्रुके समाज आश्रय करता है । (म. १)
- (४) अदिप्सतः दिप्सत्- दुरसोंको कभी कष्ट न देनेवाले सज्जनोंको भी जो क्लेश पट्टघाता है । (म. २)
- (५) दिप्सता दिप्सति- बोढासा कष्ट देनेपर भी जो अपने हाथमें न्याय लेकर उसका अपरिमित नुकसान करता है । (म. २)
- (६) आगरे दिप्सति- जो घरमें घुसकर जिताकारण घात करता है । (म. ३)
- (७) प्रतिक्रमे दिप्सति- पौधोषो, बालशोत होनेपर जो विनाकारण मृदु होकर भारपीठ करता है । (म. ३)
- (८) आमावास्ये मृगयन्ते- अमावास्याकी रात्रीमें जो दूढ़ दूढ़कर डाका डालता है । (म. ३)
- (९) पिशाचाः- कृष्ण रक्त पीनेवाला और कृष्ण मांस खानेवाला क्रूर मनुष्य । (म. ४, ६, ७, ८)
- (१०) स्तेन-चोर, लुटेरे, डाकू । (म. ७)
- (११) वनशु- अज्ञानमें रहते हुए शत्रुके लोगोंको कष्ट देनेवाले लोग । (म. ७)
- (१२) जने तुर्हितान्- लोगोंका अहित करनेवाले । (म. ९)
- (१३) अर्य शयून्- रात्रीमें थोड़ी निद्रा लेनेवाले अर्थात् श्रेय रात्रीमें डाका डालनेवाले डाकू । (म. ९)
- (१४) मन्त्रः- मन्त्र आचारवाले, बुद्ध । (म. १०)
- बुद्ध मनुष्योंके वे घोरतु लक्षण इस सूत्रमें हैं । इनका विचार करके अपने प्राणमें कीट मनुष्य किस प्रकारका बुद्ध है यह जान सकते हैं और अपने प्राणका सुधार भी इनकी सुधार कर या दूर करके कर सकते हैं । मन्त्रम भ्रममें कहा हो है कि- 'सत्यनिष्ठ मनुष्य प्राणमें हीन पर उसके शत्रुके शक्ति या तो दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते ह अथवा अपनी बुद्धता छोड़ देते हैं और सन्तन बनकर रहते हैं ।' इहो प्राण सुधारकी रीति है ।

बुद्ध मनुष्य अथवा अरापी मनुष्यको स्वयं दण्ड नहीं देना चाहिये, अपितु 'वैश्वानरकी दंष्ट्रा' में उसको रण देना चाहिये, यह उपदेश इस सूत्रके द्वितीय मन्त्रमें दिया है । यह 'वैश्वानरकी दंष्ट्रा' क्या है इसका विचार अवश्य करना चाहिये । 'विश्व' शब्दका अर्थ 'सर्व' है, 'नर' शब्द मनुष्यवाचक है अर्थात् 'विश्वानर' शब्द 'सर्व मनुष्योंके समूह' का वाचक है । समूह मानवोंके एक सघको कल्पना 'वैश्वानर' शब्दसे तो गई प्रतीत होती है । इसकी दंष्ट्रा श्वायात्म्य अथवा पक्षके नामसे प्रसिद्ध है । इस श्वायात्म्यके कन्मूल उस अनराधीकी रण देना चाहिये ।

कोई भी मनुष्य अपने हाथमें स्वयं ही शासनाधिकार न ले, प्रामुख अपने पक्षके शासनाधिकारमें हो सन्तुष्ट रहे, यह शिष्यताका आदेश है जो ऐसे सूत्रोंमें देवने दिया है । प्राण, मपर और राष्ट्रमें शांति रखनेके लिये इस विद्यके पालनको अत्यंत आवश्यकता है और जो लोग इस प्रकारकी व्यवस्थामें नहीं रहते और अपने हाथमें दण्ड लेते हैं वे शत्रु नहीं कहलाते ।

पूर्वोक्त प्रकारके बुद्ध मनुष्योंको दूर करना चाहिये क्यों कि वे (पिशाचाः) अपने स्वार्थके लिये दुरसोंका पूरा चूसनेवाले हिसक होते हैं । वैदिक धर्मको अन्तिम अहिंसा ही स्थापित करना है, इसलिये हिसकोंका हिंसाभाव दूर करनेके उपाय वैदिक धर्ममें अनेक रीतिले कहे हैं । इसी हेतुसे इस सूत्रके पंचम मन्त्रमें नवियों और पर्वतोंमें निपात करनेवाले बौधजन्तुओंके साथ (स विदे) सहानुभूति करनेकी सूचना दी है । सबेबनाका अर्थ ' अपने सुखदुःखके समाज उनके भी सुखदुःखके समस्तता ' ।

सुधारके दो उपाय

ये मदीयु पर्वतेषु (पशयः सन्ति) तैः पशुभिः संपिदे । (म. ५)

' जो नवियों और पर्वतोंमें जीवजन्तु रहते हैं उनके लिये मैं सद्बुद्धता अपने मनमें धारण करता हूँ ।' यह अहिंसाकी प्रतिज्ञा मनुष्यको करना चाहिये । 'मेरेके किनो भी जीवजन्तुके लिये कोई भय नहीं ही, यह सकल्प करना चाहिये । इस प्रकार अहिंसा और निर्भयताका केश अपने अन्त करणमें जाग्रत करना चाहिये, परधातु सब उन्नतियां होनी समथ है । यह अपने दुःखपक्षों तंपारी होनेके परधातु—

ये देवाः तेन हासस्ते, सूर्णेन जयं मिमते ।

(१०५)

' जो देव उस आत्मान्मसे तब हसते रहते हैं और अपनी उपलब्धि के योग्य होने पर तब हसते हैं ' उनसे सपत्ति करनी चाहिए । जब पहिले अपने मनके अन्दर अहिंसा विचार हो जायगो तभी ऐसे श्रेष्ठ सत्रजनोंकी संगतिसे अधिक लाभ होगा । अर्थात् गुणारके उपाय हो हें, एक अपने अन्त करणको

पवित्र बनाना और दूसरा दिव्य अर्थात् मिश्रता करना । इस प्रकार मनुष्य अचूक उपलब्धि के मार्गसे ऊपर चढ़ सकता है ।

ऐसा श्रेष्ठ सत्यनिष्ठ महात्मा जिस प्रामाण्य पटुबता है, उस प्रामाण्य वृष्ट मनुष्य रहते नहीं और यदि रहते भी हैं तो वे अपनी बुद्धता दूर करके ही रहते हैं । इस कठोरतासे अपनी पवित्रताकी परीक्षा करते हुए मनुष्यको उपलब्धि के मार्ग पर चलना चाहिए ।

आत्मशुद्धिके लिये अर्थज्ञान

कांड ६, सूक्त १९

(ऋषि - शान्तातिः । देवता - अश्विना, मानादेवता ।)

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया । पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ १ ॥
 पवमानः पुनातु मा कृत्वे दक्षाय जीवसे । अधो अरिष्टतावये ॥ २ ॥
 उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेने च । अस्मान्पुनीहि चक्षसे ॥ ३ ॥

अर्थ - (देवजना मा पुनन्तु) दिव्य जन मुझे मुड़ करें । (मनवः धिया पुनन्तु) मानवगण अपनी बुद्धिसे पवित्र करें । (विश्वा भूतानि पुनन्तु) सब भूत मुझे पवित्र करें और (पवमानः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ १ ॥

(कृत्वे दक्षाय जीवसे) कर्म, धर्म और शोध आणके लिये (अधो अरिष्टतावये) और कल्याणके विस्तारके लिये (पवमानः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ २ ॥
 हे (देव सवितः) सबके उत्पन्नक देव । (चक्षसे) ठेरे बानके लिये (उभाभ्यां पवित्रेण) दोनों पवित्र विचार और (सवेने च) यज्ञसे (अस्मान्पुनीहि) हम सबको पवित्र कर ॥ ३ ॥

अपनी कर्मशक्ति, शारिरिक तथा मानसिक शक्ति शोध साधु ब्रह्मणके लिये और कल्याणकी प्राप्तिके लिये विचार व आचारकी पवित्रतासे अपने आपको पवित्र करना हरएकको उचित है । उस कार्यके लिये यह उत्तम ईश्वर-प्रार्थना है ।

मैं उत्तम कर्तुमा

कांड ६, सूक्त १५

(ऋषि - नृसिन्धुः । देवता - वराहवति ।)

उत्तमो अस्योपधीनां तव वृधा उपस्त्वयः । उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्मां अभिदासति ॥ १ ॥

अर्थ - (ओपधीनां उत्तमा अरिः) वृ ओपधीनों उत्तम है । (वृधाः तव उपस्त्वयः) अथ वृध तेरे कर्मोपकर्ता हैं । अतः (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें बात बनाकर हमारा काम करनेका इच्छुक है (सः अस्माकं उपस्तिः अस्तु) वह हमारा अनुपायी होवे ॥ १ ॥

सर्वन्पुत्रासर्वन्पुत्रो यो अस्मां अभिदासति । तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूपासमुत्तमः ॥ २ ॥
 यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः । तलाशां वृक्षाणामिवाहं भूपासमुत्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ— (सर्वन्पुत्रः च अस्मन्पुत्रः च) मनुष्यजन्त अथवा मनुष्यरहित, (यः अस्मां अभिदासति) जो भी हमारा नाम करता है (वृक्षाणां सा रूय) पक्षोंमें जिस प्रकार वह उत्तम है उस प्रकार (अहं तेषां उत्तमः भूपास) मैं उनसे उत्तम हूँ ॥ २ ॥

(यथा सामः हविषां ओषधीनां उत्तमः कृतः) जिस प्रकार सोम हविके पशवों और ओषधियोंमें उत्तम है और (वृक्षाणां तलाशा इव) पक्षोंमें जिस प्रकार तलाश वृक्ष उत्तम होता है उस प्रकार (अहं उत्तमः भूपास) मैं उत्तम हूँ ॥ ३ ॥

में श्रेष्ठ वर्णा

' मैं उत्तम हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ ' यह महत्वाकांक्षा मनुष्योंमें होती चाहिये । मनुष्यका अभ्युदय और निःश्रेयस इसी इच्छापर निर्भर है । दासको निचे बढानेसे भी उनसे अपनी अवस्था उच्च बन सकती है, परन्तु यज्ञां कहा है कि ऐसा प्रयत्न करो, कि तुम अयोनि श्रेष्ठ बनो । अयोनि नोषे गिराना नहीं है, परन्तु अपनी योग्यता सबसे अधिक करनी है ।

यः अस्मान् अभिदासति साः अस्माकं उपस्तिः अस्तु । (म. १)

' जो हमारा नाम करना चाहता है, वह हमारे पास उपस्ति होनेवाला होवे ' तथा—

तेषां अहं उत्तमः भूपासम् । (म. २)

' उन सबसे मैं उत्तम हूँ ' । मैं अपनी योग्यता ऐसी बजाऊ कि जिससे मेरे सब दास मेरे आश्रयसे रहनेवाले हों । अपनी उन्नति करनेवाली इच्छा हरएक मनुष्य अपने मनमें धारण करे । और अज्ञानमें जो उन्नतिके सामान्य नियम हू, उनको भूलकर, सबसे श्रेष्ठ बने ।

सूचना— इस सूक्तमें आये ' उत्तम, तलाशा ' में ओषधियोंके भी नाम हैं । परन्तु इन ओषधियोंका क्या आज्ञा-कर्म नहीं लगता । ' सोम ' भी आज्ञाकर्म प्रयत्न नहीं है ।



सबसे श्रेष्ठ हो

कांड ६, सूक्त ८६

(अर्थः - अथर्व । देवता - एकवृष ।)

सुपेन्द्रस्य वृषां दिवो वृषां पृथिव्या अयम् । वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥ १ ॥

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वृषी । चन्द्रमा नक्षत्राणानीशे त्वमेकवृषो भव ॥ २ ॥

अर्थ— (अयं) यह (इन्द्रस्य वृषा) इन्द्रके बलसे सत्त्व होकर, (दिव्यः वृषा) पृथिव्यसे भेद (पृथिव्याः वृषा) पृथिव्यसे भी भेद (विश्वस्य भूतस्य वृषा) और सभी भूतोंसे भेद हो और तू (त्वं एकवृषः मय) मेकेताही सबसे भेद हो ॥ १ ॥

जिस प्रकार (स्रवतां समुद्रः ईशे) बबनेवालोंमें समुद्र मुख्य है । (पृथिव्याः वृषी अग्निः) पृथिव्यमें सबको बढाये रखनेवाली अग्नि मुख्य है । (नक्षत्राणां चन्द्रमा ईशे) नक्षत्रोंका स्वामी चन्द्र है, इस प्रकार (त्वं एकवृषः मय) तू अद्वितीय और सबसे भेद बन ॥ २ ॥

भावार्थ— सूर्य, एकलोक, पृथ्वी सब प्राणी इनमें जो शक्ति है, उनसे भेद बननेका प्रयत्न कर ॥ १ ॥

जिस प्रकार सब स्वतंत्रमें समुद्र प्रयत्न है, पृथ्वीको बढा करनेवाला अग्नि समर्थ है और नक्षत्रोंमें चन्द्रमा श्रेष्ठ है, इस प्रकार सब मनुष्योंमें तू सत्त्व और भेद बन ॥ २ ॥

संप्रादुस्यसुराणां ककुम्भंनुध्याणाम् । देवानामर्धभागसि त्वभेकवृषो भव ॥ ३ ॥

अर्थ— (असुराणां संप्राद् अस्ति) तू असुरोंका संप्राद् है, (मनुष्याणां ककुम्भं) मनुष्योंके भी वृष है और (देवानां अर्धभाग आसि) देवोंका अर्धभाग तू है ऐसा तू (एकवृषः भव, सबसे भेद बन ॥ ३ ॥

भावार्थ— असुरवृत्तिवालेके रूपर भी तू स्वामित्व कर और मनुष्योंके भी तू भेदु हो, तथा देवोंके भवं भासनपर भेदनेकी योग्यता प्राप्त करनेवाला हो ॥ ३ ॥

सयसे श्रेष्ठ बनना

अपना सामर्थ्य बढ़ाकर सबसे श्रेष्ठ होनेका परम पुरुषार्थ करना हरएक मनुष्यको योग्य है । जो श्रेष्ठ होता है उसकी प्रशंसा होती है और जो श्रेष्ठ नहीं होता वह पीछे रह जाता है । यह स्मरण रख कर हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपन मयससे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करे और सबसे श्रेष्ठ बने ।

यशस्वी होना

कांड ६, सूक्त ३९

(श्रुतिः - अथर्व (चर्चस्वामः) । देवता - त्रिविध, गृहपतिः ।)

यशो हविर्विधेतामिन्द्रजुतं सहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्रवृषम् । ॥ १ ॥

प्रसन्नोणुमनु द्वीर्षाय चक्षसे हविष्मन्तं मा वर्षय ज्येष्ठतावये ॥ २ ॥

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमस्ताना विधेम । ॥ ३ ॥

स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजुतं तस्य ते राती युशसंः स्याम ॥ ३ ॥

यशा इन्द्रो यशा अमिर्यशाः सोमो अजायत । ॥ ३ ॥

यशा विश्वस्य भूतस्याहर्मसि यशस्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ— (इन्द्रजुतं सहस्रवीर्यं सुभृतं) इन्द्रजते प्राप्त, सहस्रों शोचति मुक्त उत्तम भरपूर, (सहस्रवृषं हविः यशः वर्षतां) बल्लो प्राप्त किया हुआ धनरूप देना मत बडे । इतने (द्वीर्षाय ज्येष्ठतावये) बडो श्रेष्ठतावये पंचमानवाको (चक्षसे) बुद्धि प्राप्त होनेके सिधे (प्रसन्नोणुं हविष्मन्तं मा अनुवर्षय) प्रशंसा करनेवाले अन्नपुत्र मृतको अनुकूलतासे बडा ॥ १ ॥

(यशोभिः यशसं यशस्विनं इन्द्रं) अनेक यशोसे प्रसन्न होनेके कारण यशको प्रभुको (नमस्तानाः नः भच्छ विधेम) नमस्कार करते हुए करने उन्को हेतुसे हम उत्तम प्रकार उत्तमो पूजते हैं । (सः इन्द्रजुतं राष्ट्रं नः रास्व) वह तू प्रभुके द्वारा दिया हुआ राष्ट्र अपना तेज हूँ दे । (तस्य ते राती यशसंः स्याम) उन तेरे शान्त हूँ यशको हूँ ॥ २ ॥

(इन्द्रः यशाः) प्रभु यशको है, (भाग्निः यशाः) भाग्नि यशको है, (सोमः यशाः अजायत) सोम जो यशको हुआ है । (विश्वस्य भूतस्य यशाः) सपुत्र भूतमात्रके यशसे (अहं यशस्तमः अस्मि) मैं यशवाला हूँ ॥ ३ ॥

यशस्वी होना

हजारों सामर्थ्य

मनुष्यको हजारों सामर्थ्य (सहस्रवीर्य) प्राप्त करने चाहिये । क्योंकि मनुष्यकी उन्नति सामर्थ्यसे ही होती है । सामर्थ्यहीन मनुष्य निकम्मा होता है । यह सामर्थ्य (सहस्रवृत्त) अपने बलसे ही प्राप्त करना चाहिये । दूसरेके बलसे प्राप्त हुई उच्च अवस्था उसके बलके बुर होनेपर स्वयं ही बुर ही जाती है, इस कारण अपना बल बढ़ाकर उससे अपने यशकी वृद्धि करना चाहिये । यह यश (वृद्धि: यश:) ह्यनके समान, यज्ञरूपी यज्ञ है । अर्थात् सबकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करनेसे प्राप्त होनेवाला यह यश है । जब कोई मनुष्य सब जनताकी भलाईके लिये आत्म सर्वस्वका त्याग करता है, तब उसको (इन्द्रजुवं यश:) प्रभुसे यह यश प्राप्त होता है ।

यशका स्वरूप

दीर्घाय ज्येष्ठतातये चक्षसे । (मं. १)

' दीर्घ वृष्टि और श्रेष्ठताका विस्तार इस यशसे होता है ' संकुचित वृष्टि यशकी हानि करनेवाली है और लघुता क्षीणत्वकी चोखक है । इस कारण यशके साथ दीर्घ वृष्टि और श्रेष्ठता अवश्य रहनी चाहिये अर्थात् वही यश प्राप्त करना चाहिये कि जिसके साथ दीर्घ वृष्टि और श्रेष्ठता रहती है ।

प्रभुकी भक्ति

यश प्राप्त होनेके लिये प्रभुको भक्ति अवश्य करनी चाहिये—

यशभिन्नं इन्द्रं नमस्ताता: विधेम । (मं. २)

' यशस्वी प्रभुको नमस्कार करते हुए हम उसकी भक्ति करें । ' यह भक्ति जो करते हैं उनका अन्त:करण मृदु और पवित्र होता है और वे यशके भागी होते हैं । उससे प्रार्थना करनी चाहिये कि—

न: राष्ट्रं रास्व । (मं. २)

' हे प्रभो ! हमें राष्ट्र अथवा तेज दे । ' हमें ऐसा राष्ट्र दे कि जो हमारे यशवर्धन करनेमें सहायक होवे ।

इस अर्पणमें इन्द्र, अग्नि, सोम, भूतमात्र ये सब अपने अपने यशसे यशस्वी हुए हैं, उन सबका तेज प्राप्त होकर मैं यशस्वी बूँदूँ, यह इच्छा मनमें धारण करनी चाहिये । देखिये—

अहं यशस्तम: अस्मि । (मं. २)

' मैं यशस्वी होऊँ । ' अर्थात् जिस प्रकार ये सब अपने यशसे यशस्वी हुए हैं, उसी प्रकार मैं भी अपने तेजसे तेजस्वी बनूँगा । इस प्रकारकी इच्छा हुएएक मनुष्य अपने मनमें धारण करे और अपने प्रयत्नसे उच्च अवस्था प्राप्त करे और चारों पुरुषार्थ सिद्ध करे ।

यशस्वी इच्छा

काण्ड ६, सूक्त ५८

(ऋचि: - अथर्व (यशस्ताका) । वेदता - इहस्विति; मन्योस्ता: ।)

यशसं मेन्द्रो मृषवाङ्मृणोतु यशसं चावापृथिवी उभे इमे ।

यशसं मा देव: सचिता ऋणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥ १ ॥

अर्थ— (मृषवान् इन्द्र: मा यशसं ऋणोतु) महत्त्ववान् प्रभु मुझे यशस्वी बनावे । (उभे इमे चावापृथिवी मा यशस) ये दोनों आवापृथिवी मुझे यशस्वी बनावे । (सचिता देव: मा यशसं ऋणोतु) सचिता देव मुझे यशस्वी बनावे । और (अहं दक्षिणाया: दातु: प्रिय: स्याम्) मैं बक्षिणा देनेवालेका प्रिय हो जाऊँ ॥ १ ॥

भावार्थ— प्रभुके, भूलोक, प्रथम, इन आदि साथ मेरी सहायता करें जिससे मैं यशस्वी होऊँ ॥ १ ॥

यधेन्द्रो धावापृथिव्यो यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।

एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम

॥ २ ॥

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्वशाः सोमो अजायत । यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्वतमः ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा इन्द्रः धावापृथिव्यो यशस्वान्) जिस प्रकार इन्द्र पृथ्वी और पृथ्वीलोकके बीच पसरतो है, (यथा आपः ओषधीषु यशस्वतीः) जिस प्रकार रस ओषधियोंमें पतयुक्त है, (एवा विश्वेषु देवेषु) इस प्रकार सब देवोंमें और (सर्वेषु वयं यशसः स्याम) सब प्रजाओंमें हम पसरती हों ॥ २ ॥

(इन्द्रः यशाः) इन्द्र यशस्वी है, (अग्निः यशाः) अग्नि यशस्वी है, (सोमः यशाः अजायत) सोम यशस्वी है, (विश्वस्य भूतस्य यशाः) सब भूतमात्रके यशसे (अहं यशस्वतमः अस्मि) मैं अधिक यशवाला हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ— इस त्रिलोकमें सूर्य तेजस्वी है, सब ओषधियोंमें रसभाव मुख्य है, इसी प्रकार सब मनुष्योंमें मैं श्रेष्ठ हूँ ॥ २ ॥

इस अग्नि अथवा सोम जैसे यशस्वी हुए हैं, उसी प्रकार मैं, अधिक श्रेष्ठ यशवाला हूँ ॥ ३ ॥

मनुष्य ऐसे कार्य करे कि जिससे उसका उत्तम पद मिले। मनुष्यके सापने सूर्य, इन्द्र, अग्नि और सोमके धारण करें। सूर्य सबको प्रकाश देता है, इन्द्र चेतना देता है, अग्नि उष्णता देता है, सोम रोग दूर करता है; इसी प्रकार मनुष्य भी परोपकार करे और यशस्वी बने। सूर्यादि सब देव स्वयं छोड़ परोपकारमें अपने आपकी सहा रहते हैं, उनके पसाफ कोर इस परोपकारमें होते हैं। जो मनुष्य इस प्रकार उत्तरार्थ जनसेवा करेगा वह भी उनके अनुसार ही प्रशस्त पसने युक्त होगा।

यशके लिए मार्यना

कांड ६, सूक्त ६९

(अग्नि - मर्यादा । देवता - बृहस्पति, अश्विनो ।)

गिरावरगरीष्टेषु हिरण्ये गोषु यशसः । सुरायां सिन्धुमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥ १ ॥
अश्विना सारधेयां मा मर्षनाङ्कं शुभस्वती । यथा भग्निस्वतीं वार्चमावदानि जनों जनु ॥ २ ॥
मयि वचो अपो यशोऽयो यज्ञस्य यशसः । तन्मयि प्रजापतिर्दिवि धामिन् रंशतु ॥ ३ ॥

अर्थ— (गिरौ) पर्वतपर, (गरीष्टेषु) बरफपर (हिरण्ये, गोषु यद् यशः) सुवर्ण और गोशर्मा में जो पद है, तथा (सिन्धुमानायां सुरायां) बहनेवाली पर्वतधाराओं तथा (कीलाले मधु) अन्नमें जो मधुरता है (तद् मयि) वद् मुझमें हो ॥ १ ॥

(शुभस्वती अश्विनो) कृत्वाप देवताके दोनों अश्विन (सारधेयां मधुना मा अंजनं), पारयान्ते मधुरताके भूतें युक्त करें। (यथा भग्निस्वतीं वार्च) जिससे भावशाली बामोंके (जनान् भनु भावदानि), तोतीक प्रति में बोलू ॥ २ ॥

(मयि यशः) मुझमें तेज हो, (यथो यशः) और मुझमें वय, (अथो यज्ञस्य यद् यशः) और यज्ञका जो सार है, (दिवि धां इय) जैसे पृथ्वीके प्रकाश वृद्ध है उसीप्रकार (प्रजापतिः तद् मयि दहतु) प्रजापालक देव वद् मुझमें वृद्ध करे ॥ ३ ॥

पहाड़ पर तपस्या करनेवाले मुनियोंमें, चक्रायंत्र चलानेवाले अथवा रथपर बहनेवाले खोरोंमें जो यज्ञ होता है, उत्तम युक्ति जल और थोड़ा सूक्ष्म अन्नके विषयमें जो प्रज्ञता होती है, उस प्रकारकी प्रज्ञता मेरे विषयमें होती रहे। अर्थात् मैं भी उनकी तरह हुत्तरोंके उपयोगके कार्योंमें अपने आपकी समर्पित कर्ष और यज्ञस्वी होऊँ। मेरे प्राण और बल उक्त प्रकार थोड़ा कार्यमें समर्पित हों। मेरो वाणी ऐसी हो कि जिससे जनताका भाव बढ़े। इस प्रकार आत्मपतन करनेसे मुझमें तेजस्विता और यज्ञ बड़े जोर आकाशमें स्थित सूर्यके समान मेरा यज्ञ बड़े।

इस सुक्तमें आशयत द्वारा यज्ञ और तेज प्राप्त करनेका उपदेश है।

निर्मयताके लिये प्रार्थना

कांड ६, सूक्त ४०

(ऋषि - अथर्व। देवता - सप्तोक्ताः ।)

अभयं धावापृथिवीं इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु ।
 अभयं नोऽस्तुर्वीन्तरिक्षं सप्तऋषीणां यं हविषामयं नो अस्तु ॥ १ ॥
 अस्मै प्रामाय प्रदिशश्चर्तस्र ऊर्जे सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु ।
 अशुश्विन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्पुत्रं त्रिभूमिं यातु मनुषुः ॥ २ ॥
 अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात् । इन्द्रानमित्रं नः पश्चानमित्रं पुरस्कृषि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे धावापृथिवि ! (इह नः अभयं अस्तु) यहाँ हमारे लिये अनप होवे। (सोमः सविता नः अभयं कृणोतु) सोम और सविता हमारे लिये निर्भयता करे। (उरु अन्तरिक्षं नः अभयं अस्तु) यह बड़ा अन्तरिक्ष हमारे लिये अनयदायी होवे। और (सप्त-ऋषीणां यं हविषा नः अभयं अस्तु) सप्त ऋषियोंकी हविसे हमारे लिये अनय प्राप्त होवे ॥ १ ॥

(सविता) सबको परपत्ति करनेवाला देव (अस्मै नः प्रामाय) इस हमारे पगरके लिये (सप्तऋषिः प्रदिशः) धारों दिशाओंमें (ऊर्जे सुभूतं स्वस्ति कृणोतु) बल, ऐश्वर्य और कल्याण उत्पन्न करे। (इन्द्रः नः अशुश्विन्द्रो अभयं कृणोतु) प्रभु हम सबके लिये शत्रुहिन निर्भयता करे। (राक्षान् मनुषुः सन्पुत्रं त्रिभूमिं यातु) राजाओंका शत्रु औरोंपर पला जावे ॥ २ ॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (नः अधरात् अनमित्रं) हमारे लिये नीचेसे शत्रु बुर होवे। (नः उत्तरात् अनमित्रं) हमारे लिये उच्च भागसे निर्दरता होवे। (नः पश्चात् अनमित्रं) हमारे लिये पीछेसे निर्दरता होवे और (नः पुरः अनमित्रं कृषि) हमारे सामनेसे निर्दरता कर ॥ ३ ॥

भूमि, अन्तरिक्ष, सुलोक, सोम, सविता, सप्तऋषि, विद्या, इन्द्र, राजा इन सबसे हम सब लोगोंको अभयता प्राप्त होवे। यह प्रार्थना इस सूक्तमें है। अनय प्रार्थनाके लिये यह बड़ा उत्तम सुक्त है।

ये सब देव अपने अंदर भी हैं, सप्ता इन्द्रियोंके रूपमें हमारे शरीरमें हैं, सूर्य आसमें है, यज्ञ मनमें है, विद्याओंसे कार्योंमें स्थान प्राप्त किया है, इन्द्र मनमें रह रहा है, भूमि स्थूल शरीरके पग-नाभमें है, अन्तरिक्षका अन्न-करण बना है, सुलोकका मस्तक बना है, इस प्रकार अपने शरीरमें अंतस्थसे विपद से देव हमारे शरीरके धनकर निर्भयता स्थापित करें। अर्थात्

सबसे शीघ्र और कुबिचारोंको दूर करके हमें अवरसे शत्रुहित करे । यह सब होगा जब कि हमारे अवरके ये देवताएँ शत्रुओंके भगनें न होंगे । अर्थात् सबके सब इन्द्रिय सकर्ममें प्रवृत्त हो और जन्मभागसे निवृत्त हों । इस प्रकार बिचार करनेसे निर्भय होनेका मार्ग साफ़ हो सकता है । पर निर्भयता प्राप्त करनेके लिये आन्तरिक शुद्धता होनी चाहिये । निर्भयता अन्तरसे होनी है बाहरसे नहीं ।

कल्पवाण फासिकी फार्थना

कांड ६, सूक्त ४८

(ऋषि - अगिरा. प्रवेताः । देवता - मन्त्रोवताः ।)

श्येनोऽसि गाव्यच्छन्दा अनु त्वा रमे । स्वस्ति मा सं वंहास्य युञ्जस्योदचि स्वाहा ॥ १ ॥
 ऋभुरासि जगच्छन्दा अनु त्वा रमे । स्वस्ति मा सं वंहास्य युञ्जस्योदचि स्वाहा ॥ २ ॥
 वृषासि त्रिष्टुच्छन्दा अनु त्वा रमे । स्वस्ति मा सं वंहास्य युञ्जस्योदचि स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ - हे देव ! (गाव्य-छन्दाः श्येनो असि) सबकी प्राण रक्षाका सकल्प धारण करनेवाला तू स्वनेके समान गतिबोल है । इसलिये (त्वा अनु आरमे) तेरे लिये हम सकल्पका प्रारम्भ करते हैं । (जगत्-छन्दाः ऋभुः असि) तू जगत्की भलाईका सकल्प धारण करनेवाला बड़ा कर्मकुशल है इसलिये (अनु०) तेरे लिये हम इस यत्नका प्रारम्भ करते हैं । (त्रिष्टु-छन्दाः वृषा असि) तीनों-अप्यारण, अपिभूत और अपिरेवत संबन्धो-साम्यसाधनका सम्भार धारण करनेवाला तू महाबलवान् बलके समान सामर्थ्यात्मानो हो । इसलिये (अस्य युञ्जस्य उदचि) इस यत्नको उत्तम समाप्ति तक (मां स्वस्ति सं वद) मुझे मुखसे ले चल, (स्व-भा-हा) में अन्तो शक्तिता सबकी भलाईके लिये श्रावण करता हूँ ॥ १-३ ॥

कल्पवाणके लिये चरन

कांड ६, सूक्त ९९

(ऋषि - अपर्षा । देवता - इन्द्रः शोण तलिता ष ।)

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहृणादुषे । ह्यर्षाम्भुञ्जं चेत्तारं पुरुषामानमेरुञ्जम् ॥ १ ॥
 यो अथ सेन्यो वधो जिर्षासन्न उदीरते । इन्द्रस्य तत्र वाह संमन्तं परि दधः ॥ २ ॥

अर्थ - हे इन्द्र ! (पुरा अंहृणात्) पाप कर्म होनेके पूर्व हो (वरिमतः रवा त्या भमि दुषे) धेच्छ होनेके कारण तेरो हो सब प्रकारसे पुकार करते हैं । तथा (उरं चेत्तारं) पुरुषोत्तम केतना देनेवाले (एरुञ्जं पुरुषामानं ह्यर्षामि) भस्मेसे परबु अनेक यज्ञोसि सपन्न पुरुषको हम प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥
 (यो अथ सेन्यः वधः) जो आत्र सेनाका प्राण हमें मारनेके लिये (उत् ईरते) स्वर उठता है, (तप इन्द्रस्य वाह संमन्तं परि दधः) परम सन्तप्य हम प्रभुके काहुओंको अन्ते चारों ओर धरते हैं ॥ २ ॥

भाष्यार्थ - जिससे पाप कर्म नहीं होता है और जो धेच्छ कर्म करता है, उसीको प्रसन्ना करने चाहिये । इसी प्रकार जो पुरुषोत्तम, जनताको चेतना देनेवाला और अनेक प्रकारसे मया प्राप्त करनेवाला है, उसीका मुगतान करना योग्य है ॥ १ ॥

परिं दक्ष इन्द्रस्य वाहु संमन्तं त्रातुत्त्रायतां नः ।
देवं सवितुः सोमं राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये

॥ ३ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य वाहु संमन्तं परि दक्षः) प्रभुके बाहुओंको लपने चारों ओर हम परते हैं, (त्रातुः नः त्रायतां) उस रक्षकके वाहु हमारी रक्षा करे । हे (सोम राजन् देव सवितः) सोम राजा देव । प्रभो ! (स्वस्तये मा सुमनसं कृणु) कल्याणके लिये मुझे उत्तम मनवाला कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस समय सेनाते हमला होता है और शत्रुते वीर एक दूसरेको काटते हैं, उस समय प्रभुके हाथ ही रक्षा करते हैं ॥ ३ ॥

ऐसे तथा अन्य प्रकारके कठिन प्रसंगोंमें प्रभुके हाथ ही हमारी रक्षा करें । मनुष्य यदि सबमुच कल्याण चाहता है तो वह अपना मन शुभ विचारोंसे परिपूर्ण रखे ॥ ३ ॥

कल्याणका मुख्य साधन

इस दूखतमें जो कल्याणका मुख्य साधन बताया है वह देखने योग्य है—

स्वस्तये सुमनसम् । (म० ३)

' कल्याण प्राप्त करनेके लिये उत्तम मन होना चाहिये ' मनके उत्तम शुभ सक्तियोंसे युक्त होनेपर ही मनुष्यका सबमुच कल्याण हो सकता है । मनमें दोषोंके रहनेपर अवश्य ही कष्ट होंगे । इसी प्रकार हमेशा मनमें यह विश्वास रखना चाहिये कि चाहे कितनी भी बड़ी विपत्ति आवे, उस प्रभुका हाथ हमेशा हमारे ऊपर है । इस विषयमें देखिये—

सैन्यः चधः जिघांसन् उदीरते ।

तत्र इन्द्रस्य वाहुः समन्तं नः त्रायताम् ॥ (म० ३, ३)

' जब सेनाके घात्र बंधी इच्छाते ऊपर उठते हैं, तब प्रभुका हाथ चारों ओरसे हमारी रक्षा करे । ' प्रभुका हाथ सब प्रकारसे हमारी रक्षा कर रहा है, यह विश्वास मनुष्यको बड़ी शक्ति देता है और बल भी बढ़ाता है ।

इसके अतिरिक्त मनुष्यको तीन बातें ध्यानमें धारण करनी चाहिये, (१) पाप न करना, (२) श्रेष्ठ कर्म करना और (३) उग्र बनकर अनैतिकी श्रेष्ठ कर्म करनेकी प्रेरणा करना । ये तीन कर्म करनेसे ही मनुष्य श्रेष्ठ और यशस्वी बनता है ।

अफन्ति पवित्रता

कांड ६, सूक्त ६२

(ऋषिः - भवर्षा । देवता - शत्रु, मन्त्रोक्ता ।)

वैश्वानरो रुद्रिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेपिरो नमोभिः ।

द्यावापृथिवी पर्यसा पर्यस्वती क्रतावरी यद्विये नः पुनीताम्

॥ १ ॥

अर्थ— (वैश्वानरः रुद्रिभिः न पुनातु) सब मनुष्योंमें रहनेवाला अग्नि अपनी किरणोंसे हमारी शुद्धि करे । (वातः प्राणेन) वायु प्राणरूपसे हमारी पवित्रता करे । (रुद्रिभिः नमोभिः) जल अपने विविध रसोंसे हमारी शुद्धता करे । (पर्यस्वती क्रतावरी) रसवाले, जलपुत्र, (यद्विये द्यावापृथिवी) दूनवीच दुलोक और भूलोक (पृथ्वी नः पुनीतां) अपने पोषक रससे हूँ-पवित्र करें ॥ १ ॥

भावार्थ— अग्नि वाणीके रूपसे, वायु प्राणके रूपसे, जल विविधरसके रूपसे, तथा दुलोक व पृथ्वीलोक अपनी अपनी शक्तियोंसे हमारी शुद्धता करे अर्थात् ये देवताएँ हमारे शरीरमें आकर रह रही हैं और उन्होंने वहाँ वे रूप लिये हैं, इनसे हमारी पवित्रता होवे ॥ १ ॥

वैश्वानरीं स्तुतां मा रंभध्वं यस्या आशास्तन्वोर्वीतपृष्ठाः ।

॥ २ ॥

तया मृणन्तः सधमादेषु वयं स्वाम् पतवो रथीणाम्

वैश्वानरीं वर्चस आ रंभध्वं श्रद्धा भवंन्तु शुचयः पावकाः ।

॥ ३ ॥

इहेडपा सधमादं मदनतो ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम्

अर्थ— (स्तुतां वैश्वानरीं आरंभध्वं) तब और सब मनुष्यों द्वारा प्रेरित इस स्तुतिको प्रारंभ करो (सध-
मादेषु) सब मिलकर आनन्दित होनेके अवसरमें (वीतपृष्ठाः आशाः यस्याः तन्वः) पृष्ठ भागसे रहित दिगर्ष
जिन वाणियोंके शरीर हैं ऐसे (तथा मृणन्तः वयं) उस वाणीसे स्तुति करते हुए हम सब (<यीणां पतयः स्वाम्)
पतनेके स्वामी हों ॥ २ ॥

[शुचयः शुद्धाः पावकाः भवन्तः) शुद्ध, पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाले होकर (वैश्वानरीं वर्चसे
आरंभध्वं) सब मनुष्योंको ईश्वरस्तुतिरूप वाणीको तेजस्विताके लिये बोला आरंभ करो । (इह इदया सधमादं
मदन्ताः) यहाँ स्तुतिरूप वाणीसे सापसाप आनन्दित होते हुए हम (ज्योक् उच्चरन्तं स्य पश्येम) चिरकालतक
ऊपर उठे हुए सूर्यको देखते रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब मनुष्य सब भावण करें और ईश्वरके गुणगान करें । इत प्रकारकी वाणीके लिये अभ्यर्षित स्वाम
है । हम उक्त प्रकारके मन्त्र कहते हुए धन प्राप्त करें ॥ २ ॥

हम अन्तर्बद्ध श्रुति हों, साधुवालाको पवित्र बनाये, शुभ वाणी बोले और सब मिलकर आनन्दित होते हुए योग्य
शायुष्यको प्राप्त करें ॥ ३ ॥

मनुष्य शरीरमें सब देवताएँ अद्यकूपसे रहती हैं । यहाँ अग्निने वाणीका रूप लिया है, वायुने साधुका रूप लिया
है, जलने रसनाका रूप लिया है, धूलोके सिरके स्थानमें है, पाँचके स्थानमें सूर्यको है, इसी प्रकार अन्य अयस्वीमें अन्य देवता
रह रहे हैं । ये सब देवता अमृतसे युक्त न हों, सब मनुष्यमें स्थिर रहें और हमारी पवित्रता करें । सब वाणी, सब विचार
और साध आचारके लिये जितना वाह्ये उतना विसृज्य कार्यक्षेत्र है । इस सत्यमें स्थिर रहनेवाले मिलकर आपसमें सहकार्य
करते हुए, सत्यसे पवित्र बनकर परममांगसे धन कर्माँ और धनी बनें । शरीरकी शुद्धि करें, मन्त्र करणको पवित्र करें और
भयने विचार, उच्चार और आचारसे दूसरोंको शुद्ध बनाते हुए अपने उद्धारका मार्ग आरम्भ करें । सत्यसे निर्भय होनेवाले
और सत्यनिष्ठ तथा ईश्वरके गुणोंका चिन्तन करते हुए अपनेको पवित्र बनानेवाले लोग निःसन्देह सौम्य भाग्य प्राप्त करते हैं
और पूर्ण धायुकी समाप्तिक आनन्दके साध रहते हैं । इतलिये मनुष्य अपनी पवित्रताका साधन बने और इतकरूप बने ।

उत्तम मार्गसे जाना

कांड ६, सूक्त ५५

(ऋषिः - बृहदा । देवता - विश्वेदेवाः, १३ः ।)

ये पन्थानो पृथ्वीं देवयानां अन्तरा धारापृथिवी संचरन्ति ।

तेषामज्यानि यतुमो वहाति तस्मै मा देवाः परि सत्तेह सर्वे

॥ १ ॥

अर्थ— (ये देवयानाः बृहदाः पन्थानः) जो देवोंके आनेवालेके बहुतेके मार्ग । धारापृथिवी अन्तरा संच-
रन्ति) पृथ्वी और भूमीके बीचमें बसते रहते हैं । (तेषां यतमः अज्यानि पहाति) उनमेंसे जो मार्ग सन्धि साता
है, हे ! सर्वे देवाः) सब देवों ! (इह तस्मै मा पारे भवत) यहाँ उस मार्गके लिये मुझे सब प्रकार प्रारंभ करो ॥ १ ॥

भावार्थ— उत्तम विद्वान् सत्त्ववर्षि जाने आनेके भयका व्यवहार करनेके जो अनेक मार्ग हैं, उनमें जो निर्दोष मार्ग
है, उसीपरसे बचना उचित है ॥ १ ॥

प्रीभनो ह्येमुन्तः शिथिरो वसन्तः शूरद्वर्षाः स्थिते नो दधात ।

आ नो गोषु भजता प्रजाया निधात इदंः शस्त्रेण स्वाम् ।

॥ २ ॥

इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः ।

वेषा वयं सुमृतौ बुद्धिमानामपि भद्रे सौमनसे स्वाम् ।

॥ ३ ॥

अर्थ— वसन्त, शीत, वर्षा, शरत, हेमन्त और शिविर ये सब ऋतुएँ (जः स्थिते वृथात) इन उत्तम अवस्थामें पारण करे । (नः गोषु प्रजाया आमजत) हमें गोओं और प्रजाओंमें मुखका भागी बनाओ । (यः इत् निधाते शरणे स्वाम्) तुम्हारे साथ निश्चयसे हम याताधिके उपश्रवणहित परसे रहे ॥ २ ॥

(इदावत्सराय, परिवत्सराय, संवत्सराय) अमल प्रपन्न, द्वितीय और तृतीय वर्षके लिये (बृहत् नमः कृणुता) बहुत भक्त उत्पन्न करो । (तेषां बुद्धिमानां सुमृतौ) उन यज्ञकर्ताओंकी उत्तम बुद्धिमें तथा (सौमनसे भद्रे अपि स्वाम्) उत्तम मनन तथा कल्याणमें हम सदा रहे ॥ ३ ॥

माधार्थ— ऐसा आचरण करना चाहिये कि जिससे छोटे ऋतुओंमें उत्तम सुख लाभ हो, तीनों और प्रजाओंसे हितका साधन हो और घरमें कोई दोष न हो ॥ २ ॥

हरएक वर्ष उत्तम भक्त वर्णित प्रजाओंमें उत्पन्न कर और जिन्होंने अपना जीवन प्रसन्न बनाया है उनके उत्तम गुण स्तुतिपूर्वक सब और बलिमें रह सर्पत्त तरे विषयमें उनकी समति उत्तम रहे ऐसा आचरण कर ॥ ३ ॥

'संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर' ये संवत्सरोंके पांच नाम क्रमशः प्रभवते लेकर हरएक पक्ष्यगीके हैं । इसी प्रकार 'कृत, प्रेत, श्राप और कलि' ये षड्वर्गीके नाम हैं ।

सज्जनोंके व्यवहार करनेके धुममायोंमें भी जो भाग सबसे भेद्य हैं उन पर चलना चाहिये । अपने आचरणके उत्तम रहने पर सब ऋतुओंसे लाभ होता है और अपने अंदर दोषके होने पर हानि होती है । हरएकको देता उत्तम आचरण करना चाहिये कि जिससे सज्जन प्रसन्न हो । हरवर्ष जोतीसे इतना धान्य उत्पन्न करना चाहिये कि जो अपने लिये पर्याप्त हो सके ।

अन्तर्वाह्य शुद्धता

कांड ६, सूक्त ५१

(ऋषिः - शतगोतः । वेधता - माय, बचन. ।)

घायोः पृतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥

आपो अस्मान्मातरंः सुदयन्तु घृतेन नो घृतप्युः पुनन्तु ।

विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पृत पमि ॥ २ ॥

अर्थ— (घायोः पवित्रेण पृतः) घायके पवित्रीकरणके साधन द्वारा घृत्त हुआ हुआ (प्रत्यङ् अति द्रुतः सोमः) प्रसन्न छाया हुआ सोम (इन्द्रस्य युज्यः सखा) इन्द्रप्रतिपत्ता योग्य मित्र है ॥ १ ॥

(मातरः आपः अस्मान् सुदयन्तु) माताके समान हितकारी बल हमें घृत्त करे । (घृतप्यः नः घृतेन पुनन्तु) पवित्र करनेवाला बल हमें बलिके द्वारा पवित्र करे । (देवीः हि विश्वं रिप्रं प्रवहन्ति) विश्वकत सब चीज बहा देता है । (आभ्यः उत् इत् शुचिः पृतः वा पमि) इनसे ही घृत्त और पवित्र होकर मैं जाने चलता हूँ ॥ २ ॥

यरिकं चेदं वरुणं देव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याः कुर्वन्ति ।

अचिरया चेत्तव धर्मा युयोपिम मा नुस्वस्मादेनसो देव रीरिपः

॥ ३ ॥

अर्थ— हे वरुण ! (मनुष्याः यत् किञ्च इदं अभिद्रोहं) साधारण मनुष्य जो कुछ भी द्वारावार (देव्ये जने चरन्ति) विषयजनके विषयमें करते हैं (च इत् अचिरिया तव धर्मा युयोपिम) और जो बिना जायते हुए तेरे पताये परमको सोचते हैं, हे देव ! (नः तस्मात् पनसः मा रीरिपः) हम सबको उस पापसे नष्ट मत कर ॥

सोमका महात्म्य

सोमका धर्मन प्रथम मन्त्रमें है । यह सोम प्रथमतः पाना जाता है, पश्चात् उसको हवा देनेके लिये एक बर्तनसे डूबते बर्तनमें डाला जाता है; जब इस प्रकार यह सिद्ध होता है, तब यह धरने जन्म रहनेवाली इन्द्र शक्तिको मशानेवाला होता है । अर्थात् इसके पीनेसे शरीरकी इन्द्रशक्ति बढ़ती है ।

जलका महात्म्य

द्वितीय मन्त्रमें जलका महात्म्य कहा है । जल प्राणियोंको शान्ति देता है, पवित्र करता है, शरीरके सब शोषको दूर करता है और अन्तर्बाह्य शरीरको शुद्ध करके बड़ा आरोग्य देता है ।

द्रोह न करना

तृतीय मन्त्रमें कहा है, कि कोई मनुष्य किसीसे द्रोह और अपराध न करे । न जायते हुए भी भी द्रोह हुआ हो उसकी परलोकेश्वरकी मारना करने का भाग्यनी चाहिये ।

इन तीनों मन्त्रों में शुद्धि द्वारा शक्तिवृद्धि करनेका उपाय है । सोम शुद्ध होकर इन्द्रशक्तिको सहायता करता है, जल शुद्धता करके आरोग्य देता है और अहिंसावृत्तिसे आत्मशुद्धि होकर धार्मिक बल बढ़ जाता है । तीनों मन्त्रोंका यह भाग्य देखने योग्य है । शुद्धि द्वारा बलकी वृद्धि होती है यह सबका तात्पर्य है ।

पुष्टिकी मर्थेता

कांड ७, सूक्त ४८

(अर्थः— अर्थात् देवता— राका ।)

राकामुहं सुहवां सुपुत्री हुवे वृणोत नः सुभगा योधंतु त्वनी ।
सीक्यस्त्वर्षः सुन्याच्छिद्यमानया ददात वीरं द्रुतदायमकृष्यम्

॥ १ ॥

अर्थ— (सुहवा सुपुत्री शर्फं अहं हुये) उत्तम बुलानेवाली और शुभिन करनेवाली पूर्ण फलदायक ममने भाग्यदायिनी देवीको मैं बुलाता हूँ । (वृणोतु) वह मेरी पुकार सुने और (सुभगा नः त्वनी योधंतु) वह उत्तम पेशेवाली देवी हमें अपने शक्तिसे जगाने । (आच्छिद्यमानया रक्षया मयः सीक्यम्) कभी न टूटनेवाली गुर्रतन वह अपने कपड़े तोलनेके काम करे और (उपकृष्यं द्रुतदाय वीरं ददातु) वह प्राणियोंके सबको दान देनेवाली और पुत्रको देने प्रदान करे ॥ १ ॥

यास्ते राके सुमत्तयः सुपेशसो याभिर्ददांसि द्राघुपे वर्धनि ।
वाभिर्नो अद्य सुमना उवार्गदि सहस्रापोपं सुभगे रराणा

॥ २ ॥

अर्थ— हे (राके) शोभा देनेवाली देवी । (याः ते सुपेशसः सुमत्तयः) जो तेरे उत्तम सुन्दर सुमतिवाँह,
(याभिः द्राघुपे वस्यन्ति वृदांसि) जिनसे तू राताको पन देती है । हे (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त देवी । (ताभिः
रराणाः सुमना) उन शक्तिपौंसि शोभनेवाली उत्तम मनवाली देवी वृ (अद्य नः सहस्रापोपं उपानहि) शान हूँ
हजारों पुष्टिको समीप स्थानमें लाकर दे ॥ २ ॥

पूर्णचन्द्रमायुक्त राधा होती है । इससे नती प्रसन्नता प्राप्त होती है वंशी ही प्रसन्नता ईश्वरके तेजसे कई गुना
बढकर होती है । इस अनुभवसे उस अनुभवका अनुमान पाठक कर सकते हैं । इस सुमत्तमें पूर्ण चन्द्रप्रभाके वर्णनके बहानेके
ब्राह्मणिक परमेश्वरको शक्तिका वर्णन किया है । यह परमेश्वरशक्ति हूँ ज्ञान देवे, अज्ञानसे जपाकर प्रबुद्ध करे, और
ज्ञान द्वारा हमारी उन्नति करे । इसी प्रकार हूँ पुष्टि और उत्तम चोरसतति देवे और हमारी सब प्रकार की उन्नति करे ।

सुखकी वार्धना

कांड ७, सूक्त ४९

(श्रिया - अथर्वी । देवता - वेद्यपत्नीः ।)

देवानां पत्नीरुत्तरीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुअये वार्जसातये ।

याः पार्थिवास्तो या अपामर्षि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्मं यच्छन्तु ॥ १ ॥

उत प्रा व्यन्तु देवर्षिनीरिन्द्राभ्यं प्राण्यधिनी राट् ।

आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवर्षिं श्रुतुर्जनीनाम् ॥ २ ॥

अर्थ— (उशतीः देवानां पत्नीः नः अयन्तु) हमारी इच्छा करनेवाली-देवियोंकी पत्नियाँ हमारी रक्षा करें । ये
(तुअये वार्जसातये नः प्रावन्तु) सन्तान और अपकी विपुलताके लिये हमारी रक्षा करें । (याः पार्थिवास्तः) जो
पृथ्वीपर स्थित और (याः अपामर्षि व्रते) जो ऋषीकी त्रिपथ्यव्रतमें स्थित हैं, (ताः सुहवाः देवीः) ये
उत्तम प्रसन्नित देवियाँ (नः शर्मं यच्छन्तु) हमें मुक्त करें ॥ १ ॥

(उत वेद्यपत्नीः ज्ञाः व्यन्तु) और देवियोंकी पत्नियाँ ये देवियाँ हमारे हितको इच्छा करें । (इन्द्राणी) इन्द्रकी
पत्नी, (अपायाँ) अग्निकी पत्नी, (श्रिधनी राट्) अग्निनी देवियोंकी पत्नी रानी, (रोदसी) छकी पत्नि,
(वरुणानी) अश्वमेध यज्ञकी पत्नी, (आशृणोतु) हमारी पुकार सुनें । (जनीनां यः श्रुतुः) त्रिपथीका जो श्रुतुका
है उस समय (देवीः व्यन्तु) ये देवियाँ हमारा हित करें ॥ २ ॥

देवताओंकी शक्तियाँ देवियोंकी पत्नियाँ हैं । अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु आदि अनेक देव हैं, उनको शक्तियाँ भी
स्थित हैं । यही इनकी पत्नियाँ हैं । पत्नी पालन करनेवाली होती है । अग्नि शक्ति अग्निका पालन करता है, वायुशक्ति
वायुका पालन करती है, इसी प्रकार अन्यत्य देवोंकी शक्तियाँ अन्य देवोंको उनके स्वरूपमें रखती हैं, जिनसे देव हैं उतनी
उनकी पत्नियाँ हैं । ये सब देवशक्तियाँ हम सब मनुष्योंको सुख और शान्तिका प्रदान करें ।

उत्तम ज्ञान

कांड ७, सूक्त ५२

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - सांमनस्यं, अश्विनो ।)

संज्ञानं नः स्वैभिः संज्ञानमरंभेभिः । संज्ञानमधिना युवमिद्वास्मानु नि यच्छतम् ॥ १ ॥

सं जानामहे मनसा सं चिंकित्वा मा युष्महि मनसा दिव्येन ।
मा घोषा उत्स्युर्बहुले विनिर्हते मेघुः पत्नादिन्द्रस्याह्न्यामंते ॥ २ ॥

अर्थ— हे (अश्विनो) अश्विनयो ! (नः स्वैभिः संज्ञानं) हमें स्वयंके साथ उत्तम ज्ञान प्राप्त हो । तथा (अरभेभिः संज्ञानं) निम्न श्रेणीके जो लोग हैं उनके साथ भी हमें उत्तम ज्ञान प्राप्त हो । (इह) इत संसारमें (युवं यस्मानु संज्ञानं नियच्छतं) तुम दोनों हम सबमें उत्तम ज्ञान स्थापित करो ॥ १ ॥

(मनसा संजानामहे) हम मनसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करें, (चिंकित्वा सं) ज्ञान प्राप्त करने एकपक्षसे रहें । (मा युष्महि) परस्पर विरोध न करें । (दिव्येन मनसा) दिव्य मनसे हम युक्त होंगे । (बहुले विनिर्हते घोषा मा उत्स्युः) बहुलताका यथ होनेके पश्चात् दुःखके शब्द न उत्पन्न हों । (आगते महनि) आगे आनेवाके समयमें (इन्द्रस्य पशुः मा पतत्) इन्द्रका बाण हमपर न गिरे ॥ २ ॥

वेधनसे छूटना

कांड ६, सूक्त १२१

(ऋषिः - कौत्तिकः । देवता - यमोक्तः ।)

विषाणा पाशान्वि व्याध्यस्मद्य उत्तमा अघमा वाहगा ये । ॥ १ ॥

दुष्यन्त्वं दुरितं नि ध्वासदथं गच्छेम सुकृतस्य लोकम्
यदाहणि व्यस्यसे यच्च रज्जुं यद्भूम्यां व्यस्यसे यच्च वाचा । ॥ २ ॥

अयं तस्माद्गार्हपत्यो नो अपि कदिर्भयाति सुकृतस्य लोकम्

अर्थ— (ये अघमाः उत्तमाः) ये वाक्याः) जो अथम और उत्तम यज्ञ देवके पास हैं उन (पाशान् विषाणा अस्मत् अपि विष्य) पाशोंको तोड़ता हुआ हमसे उन पाशोंको बुर कर । (दुष्यन्त्वं दुरितं अस्मत् विष्य) बुरे स्वप्न और पाप हमसे बुर कर । (अथ सुकृतस्य लोकं गच्छेम) और हम पुण्यलोकको जाएँ ॥ १ ॥

(यत् वाहणि यत् च रज्जुं व्यस्यसे) जो काष्ठस्तम्भ और रस्तीमें बांधा जाता है और (यत् भूम्यां) जो भूमिमें (यत् च वाचा व्यस्यसे) शारीरके बांधा जाता है, (तस्मात्) उस समयसे (अयं गार्हपत्यः आग्नेः) यह गार्हपत्य अग्नि (नः सुकृतस्य लोकं इत् उत् नयाति) हमें सुकृतके लोकमें ले जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ— निम्नस्वप्न, मत्तस्वप्न और उत्तम स्वप्नपर जो पाप हैं उनको बुर करनेका प्रयत्न कर । मनुष्य पार-
रहित होने और उत्तम स्वप्न बहू देवे । इस प्रकार बहू विरोध होकर पुण्यलोकको प्राप्त होवे ॥ १ ॥
जो धनेक प्रकारके बपन हैं वे सब ईश्वरको इपसे बुर हो जाय और हमें पुण्यलोक प्राप्त होवे ॥ २ ॥

उदमातां भगवती विचृतौ नाम तारके । प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रेतुं बद्धकुमोर्चनम् ॥ ३ ॥

वि विजिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चसि रद्धकम् ।

योन्यां इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वा अनु क्षिय ॥ ४ ॥

अर्थ— (भगवती विचृतौ नाम तारके) भाव्य देनेवाले, पापोंसे छुटानेवाले और तारण करनेवाले की देवता (उदमातां) उबकने प्राप्त हुए हैं । वे दोनों (अमृतस्य प्रयच्छतां) अमृतका भाग देवे जितने यह जीव (बद्धकुमोर्चनम् प्रेतुं) मृत अवस्थासे छूटनेका प्रयत्न करे ॥ ३ ॥

(विजिहीष्व) विशेष प्रयत्नकर, (लोकं कृणु) अपने लिये योग्य स्थान बना । (योन्याः प्रच्युतः गर्भ इव) योनिके बाहर भाग्ये बालकके समान (बन्धान् मुञ्चसि) बंधनसे बन्धके कारणको अलग कर । (सर्वांश्च पथः अनु क्षिय) सब मार्गोंमें अनुकूलतासे रह ॥ ४ ॥

भावार्थ— बंधनसे मुक्तता करनेवाली और रक्षा करनेवाली की शक्तिवां हमें अमृतका भाग देवे, जितने हम बंधनसे मुक्त होकर पूर्ण स्वतंत्र हो जाय ॥ ३ ॥

विशेष प्रयत्न कर, पुण्यमान प्राप्त कर, बंधनसे मुक्त हो, जैसा पूर्ण हुआ वास्तव माताके उबरने छूटकर बाहर आता है और इस जगत्में अनुकूल परिस्थितिमें जड़ता है ॥ ४ ॥

सब प्रकारके बंधनोंसे मुक्त होना चाहिये और पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त करना चाहिये । इसकी सिद्धताके लिये मनुष्य पापसे दूर हो जावे । कभी पापका विचारकर न करे । विचारोंके मूढ होनेसे स्वप्न भी उत्पन्न जाने लगे और कभी मुरे स्वप्न नहीं आवेगै । सब बंधन वास्तव मुक्त होनेसे ही दूर हो सकते हैं और उस मनुष्यको उत्तम लोक प्राप्त हो सकते हैं । पुण्यसे ही बंधनसे मुक्तता करनेवाली शक्ति और आत्मरक्षा करनेकी शक्ति प्राप्त हो सकती है और इससे ही भाग्य अमृतका लाभ भी हो सकता है और पूर्णतया बंधन दूर होकर पूर्ण स्वाधीनताका लाभ प्राप्त हो सकता है ।

इसलिये हे मनुष्य ! तु विशेष प्रयत्नसे उत्पत्ति लाभ कर, पुण्यवान् बन, बंधनसे मुक्त होकर पूर्ण स्वातंत्र्यको प्राप्त कर और जगत् में अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करने आनंदके साथ विराजमान हो ।

बन्धनसे मुक्ति

फाँड '७, सूक्त '७७

(ऋषिः - अगिराः । देवता - मरुतः ।)

सांतेपना इदं हविर्भक्तस्तज्जुष्टन । अस्माकौती रिंशादसः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सां-तेपनाः मरुतः=उतः) अच्छी प्रकार अनुको तपानेवाले मरुतके लिये तैयार होरो । (इदं तद् हविः जुष्टन) इस हवि-अन्नका सेवन करो । हे (रिंश-दसः) अनुओंका दात करनेवाले । (अस्माकं ऊती) हमारी रक्षा करो ॥ १ ॥

भावार्थ— अनुको तप देनेवाले और हमारे द्वारा दिये गए अन्न भागको स्वीकार करके, अनुओंका दात कर, हमारी रक्षा करें ॥ १ ॥

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हेणा युस्तिरश्चित्तानि वसवो जिवांसति ।

द्रुहः माशान्प्रति मुध्वतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम्

॥ २ ॥

संवत्सरीणां मरुतः स्वर्का उरुध्वयाः समग्रा मानुषासः ।

ते अस्मत्पाशान्प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मंसरा मादधिष्णवः

॥ ३ ॥

अर्थ—हे (वसवः मरुतः) निवातक मरुतो । (यः नः मर्तः दुर्हेणासुः) हमनेसे जो मनुष्य द्रुष्ट भावसे द्रुष्ट होकर (चित्तानि तिरः जिवांसति) हमारे चित्तोंको छिपकर नाश करना चाहता है । (सः द्रुहः पाशान् प्रति-मुञ्चतां) उसपर जोरके पास छोड़ो और (तं तपिष्ठेन तपसा हन्तन) उसके तापवायक तपनसे मार जातो ॥ २ ॥

(संवत्सरीणाः सु-अर्काः) वर्ष भरतक प्रकाश करनेवाले (समग्राः उरुध्वयाः) तेनामूहके साथ बड़े धरोंमें रहनेवाले, (मानुषासः) मानवों और (सांतपनाः मादधिष्णवः मंसराः) शत्रुको ताप देनेवाले हृष्य बडानेवाले प्राण (ते मर-उतः) वे मरनेतक लड़नेवाले और (एतसः पाशान् अस्मत् प्रमुञ्चन्तु) पापके पातोंको हमसे छुड़ाने ॥ ३ ॥

भावार्थ— हमसेते कोई द्रुष्ट मनुष्य यदि छिपकर हमारे मनोंका नाश करना चाहे, तो उसको पाशोंसे बांध कर मार जाओ ॥ २ ॥

सातभर रहनेवाले, तैजसी, अनुयायियोंके साथ बड़े धरोंमें रहनेवाले, शत्रुको ताप देनेवाले, मानवों और पापसे हृष्ये बचाये ॥ ३ ॥

इसमें क्षत्रियधर्म बताया है । अधिष्णु शत्रुको ताप देनेवाला शूरवीर हो, स्वजनोंकी रक्षा करे, अपनेमें परि कोई द्रुष्ट मनुष्य निकल आवे, तो उसको भी बन्ध देवे, सबकी निर्भय कृपासे और पापसे जनोंकी दूर रखे ।

कँष्ममुक्तता

कांड ७, सूक्त ७८

(ऋषि - अथर्व । देवता - अग्निः ।)

वि ते मुञ्चामि रघुनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् । इद्वै त्वमर्जस एभ्यग्ने

॥ १ ॥

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनक्ति त्वा ब्रह्मणा देव्येन ।

दीदिहोभ्यम्भ्यं द्रविणैह भद्रं प्रेमं वीचो हविर्वा देवतासु

॥ २ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (ते रघुनां त्रिमुञ्चामि) तेरी रक्तोंको मैं योक्त्र हूँ । तेरे (योक्त्रं वि) बचनको भी मैं छोड़ता हूँ । (नियोजनं वि) लौकिक बंधनेवाले तेरे बचनको जो मैं छोड़ता हूँ । (इह एव त्वं भद्रघ्नः पथि) यहाँ तू अहित होकर रह ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (अस्मै क्षत्राणि धारयन्तं त्वा) इसके लिये यहाँ क्षत्रधर्मके धारण करनेवाले तुमको (द्रिष्येन प्रदद्यात्) दिव्यज्ञानके साथ (युनक्ति) युक्त बनाता हूँ । (अस्मभ्यं इह द्रविणा वीचिदिदि) हमारे लिये यहाँ पन दे । (इमं देवतासु हविर्वा प्रवेद्याः) इसका बंधन देवताओंमें हवि समर्पण करनेवालेके रूपमें दिया जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—वहिला, बोजका और निरता इस प्रकार तीनों बंधनोंको मैं खोलकर तुमसे मुक्त करता हूँ, इस प्रकार तू युक्त होकर यहाँ आ ॥ १ ॥

वीरता धारण कर, दिव्यज्ञानसे युक्त हो, पन समर्पण कर, देवताओंमें हवि अर्पण कर, इसीसे तेरा पन बंधेगा ॥ २ ॥

तीन बंधन

बधन तीन प्रकारके होते हैं, एक मनका बधन, दूसरा अथवा बोधका याणीका और तीसरा अथवा निबलन देहका । इन तीनों बधनोंसे मनुष्य जया हुआ है अर्थात् बन्ध हुआ है । इससे उसको मुक्त होना है । ये बन्ध जब छोले जाते हैं तब वह मुक्त होता है, तबतक उसकी बन्धकी स्थिति होती है ।

बधन छूटनेके लिये शत्रु अर्थात् पुण्यार्थ करनेका सामर्थ्य अवश्य चाहिये । इसके बिना कोई मनुष्य बधनमुक्त होनेका पल भी नहीं कर सकता । इसके पश्चात् ज्ञान चाहिये । ज्ञानके बिना बधनसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती (मोक्षे धीर्मान्) बधन मुक्त होनेका उपाय ज्ञानना ही ज्ञान है । पुण्यार्थ द्वारा धन आदि प्राप्त करना और उस प्राप्त पदका ईश्वरार्पण बुद्धिसे समपण करना, मनुष्यको योग्य है । इसीसे मनुष्यके बधन दूर होते हैं । विशेष कर अपने धनका सामर्थ्य अर्थात् स्वाय, देयतासु ह्यधिर्दा) देवताओंके लिए करनेसे मनुष्य बधनसे मुक्त हो सकता है ।

क्रोधका शमन

कांड ६, सूक्त ४३

(ऋषि. - रुक्मिणी (परस्परविरितीकरणकान) । देवता - मनुष्यात्मनम् ।)

अप्यं दुर्भो विमन्युकुः स्वाय चारणाय च । मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥ १ ॥

अप्यं यो भूरिमूलः समुद्रमंतिष्ठति । दुर्भोः प्रथिव्या उर्यितो मन्युशमन उच्यते ॥ २ ॥

वि ते हनव्या शरणि वि ते मुख्या नयामसि । यथाशुशं न वादिपो मम चिचमुपायसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (अप्यं दुर्भोः स्वाय चारणाय च विमन्युकः) यह रथ अपने लिये और अन्यके लिये भी क्रोधको हटानेवाला है, (अप्यं मन्योः विमन्युकस्य) यह श्रेणीके क्रोधको दूर करनेवाला और (मन्युशमना उच्यते) क्रोधको शान्त करनेवाला कहा जाता है ॥ १ ॥

(यः अथ भूरिमूलः) जो यह बहुत जबर्दोस्त और (प्रथिव्या उर्यितः दुर्भोः) भूमिसे जया हुआ रथ (समुद्र अवतिष्ठति) समुद्रके समीप होता है वह (मन्युशमनः उच्यते) क्रोधको शान्त करनेवाला कहा जाता है ॥ २ ॥

(ते हनव्या शरणि वि) तेरे हनुके आश्रयसे रहनेवाला क्रोधका किन्तु हम दूर करते हैं, (मुख्यां चिचमुपायसि) तेरे यज्ञमें जो क्रोध है उसको भी हम दूर करते हैं (यथा मम चिचमुपायसि) जिससे तू मेरे धितके अनुकूल हो और (अयशाः न अवादिप) परवाह होकर श्रेयो आयष न करे ॥ ३ ॥

दर्भ

यहां इस सूक्तमें दर्भकी श्रेयोको शान्त करनेवाला कहा है । यह लोबका विषय है । शंकरपर्वमें दर्भका यह गुण नहीं लिखा है । यदि वैशालीय इसका अधिक विचार करेंगे और समुद्रतीरपर उगनेवाले दर्भ नामक घासकी जड़ोंके रसमें यह गुण है, या और किस पनस्पतिमें यह गुण है इसका विवरण करेंगे, तो श्रेयो मनुष्योंको शान्त स्वभावको बनानेका उपाय सात हो सकता है ।

कौशिकीकी सूत्र (कौ० सू० ४।१२) में ' अथ दर्भ इत्यौषधिवत् ' ऐसा कहा है । इससे पता लगता है कि समुद्रतीरपर उगनेवाले दर्भका मूल निकालकर उसको तिर पर अथवा शरीरपर धारण करने अथवा उसके सेवन करनेका विधान इस सूक्तमें है । शक्य है दर्भकी जड़ोंमें मस्तिष्कको शान्त करनेके क्रोधको हटानेमें सहायक होनेका गुणधर्म हो । यह सब विधिपूर्वक करके देखने योग्य बात है ।

सिद्धिकी प्रार्थना

कांड ७, सूक्त ४६

(ऋषिः - अथर्व । देवता - सिनीवाली ।)

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा । जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजा देभि दिदिद्धि नः ॥ १ ॥
या सुवाहुः स्वदगुरिः सुपूमा बहुधरंरी । तस्यै विश्वस्यै हविः सिनीवास्यै जुहोतन ॥ २ ॥
या विश्वनीन्द्रमसि प्रतीचीं सहस्रस्तुकाभियन्तीं देवी ।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवीषि पतिं देवी राधसे चोदयस्व ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (सिनीवालि पृथु-ष्टुके) अन्नपुत्र और बहुतीं द्वारा प्रकृत देवो । (या देवानां स्वसा असि) जो तु देवोंकी भविनी है । हे देवि ! तू (आहुतं हव्यं जुषस्व) हवन किये आहुतियोंकी स्वीकार कर । और (नः प्रजां दिदिद्धि) हमें उत्तम सन्तान दे ॥ १ ॥

(या सुवाहुः स्वदगुरिः) जो उत्तम बाहुवालो और उत्तम धनुषियोंवालो, (सुपूमा बहु धरंरी) उत्तम भगवानो और उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ है, (तस्यै विश्वस्यै सिनीवास्यै) उस प्रजापालक अन्नपुत्र देवताके लिये (हविः जुहोतन) हवि प्रदान करो ॥ २ ॥

(या विश्वनीन्द्रं प्रतीचीं असि) जो प्रजापालन करनेवाली तू प्रभुके सम्मुख रहती है । तथा (सहस्र-स्तुका देवी अभियन्ती) हजारों कवियों द्वारा प्रकृत तू देवी आगे बढ़ती है । हे (विष्णोः पत्नि) विष्णुकी पत्नी । हे देवि ! (तुभ्यं हवीषि राता) तेरे लिये मैं हवन अर्पित करता हूँ । हमारी (राधसे पतिं चोदयस्व) सिद्धिकी प्रातिके लिये अपने पतिको प्रेरित कर ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें ' विष्णु ' अर्थात् व्यापक देवकी पत्नी अर्थात् प्रसकी शक्तिकी प्राप्ति है । यह व्यापक ईश्वरकी शक्ति संपूर्ण अन्व्य देवताओंमें जाकर कार्य करती है, सब जगत्का पालन इसी शक्तिसे होता है । हजारों आनी जन इस शक्तिका अनुभव करते हैं, और वे इसकी विविध प्रकारसे स्तुति करते हैं । यह शक्ति अपने पति सर्वव्यापक ईश्वरको प्रेरित करे और वह हमें सब प्रकारकी सिद्धि देवे ।

सुद्धमाधन रथ

कांड ६, सूक्त १२५

(ऋषिः - अथर्व । देवता - वनस्पति ।)

वनस्पते वीड्वद्भिर्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।
गोभिः संनद्धो असि वीड्वयस्वास्यावा तं अपतु जेत्यानि ॥ १ ॥

अर्थ— हे (वनस्पते) बुझते बने हुए रथ ! (वीड्व+अंगो हि भूयाः) तू गुड अन्नको पक हो । तू (अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः) हमारा मित्र तारण करनेवाला और उत्तम बोरोंके पुरुष है । तू । गोभिः संनद्धो असि) दोके धर्मकी रक्षिके लिये सूत्र बंधकर गया हुआ है । तू (वीड्वयस्य) हमें गुड कर और (ते आस्यावा जेत्यानि अपतु) तुमपर चढ़ानेवाला और विजय प्राप्त करे ॥ १ ॥

भाषार्थ— रथ बुझकी तकड़ीसे बनता है । यह रथ हमारा मित्र है, क्योंकि यह गुडको प्राप्तिते हमें पार चलाता है । यह रथ दोषमकी रक्षिते हुए बांध गया है । इन गुड रथसे हमारी विजय निश्चय होगी ॥ १ ॥

दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्धृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहं ।

अपामोक्षमानं परि गोभिराभृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज

॥ २ ॥

इन्द्रस्योजीं मृत्तामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।

स इमां नो हव्यदाति जुषाणो देव रथं प्रति हव्या गृभाय

॥ ३ ॥

अर्थ— (दिवः पृथिव्याः ओजः परि उद्धृत) जलोक और पृथ्वीलोकका मत इस रथके रूपसे प्राप्त किया है और (वनस्पतिभ्यः सह- पर्याभृतं) वृक्षोंसे यह सामर्थ्य संप्रदत्त किया है । (अपां भास्मान गोभिः परि आवृतं) जलसे बने आत्मात्म्य वृक्षसे उत्पन्न हुए गोके गर्भसे वाधे गए (इन्द्रस्य वज्रं रथं) इन्द्रके वज्रके समान सुवृद्ध रथको (हविषा यज) अन्नसे युक्त कर ॥ २ ॥

हे (देव रथ) हव्य रथ ! तू (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्रका मत है, तू (मरुतां धर्मोक) मरुतोंका सेनासमूह (मित्रस्य गर्भः) मित्रका गर्भ और (वरुणस्य नाभिः) वरुणकी नाभि है । (सः रथे) वह तू (नः इमां हव्यदाति जुषाणः) हमारे इस अन्नरत्नका सेवन करता हुआ (हव्या प्रति गृभाय) हवनीय वाक्त्रका ग्रहण कर ॥ २ ॥

भावार्थ— पृथ्वी और जलोकका मत और वृक्षोंका सामर्थ्य इस रथमें इकट्ठा हुआ है । जलसे वृक्ष उत्पन्न होते हैं और वृक्षोंसे रथ बनता है; इसलिये यह जलोंकी धातना ही है, इसको गोधर्मकी रक्षामेंसे वाधकर वृद्ध बनाया है । अब यह इन्द्रके वज्रके समान वृद्ध है । इस रथमें अन्नादि परार्थ भरपूर रत्न ॥ २ ॥

यह रथ इन्द्रका मत, मरुतोंकी सेना, मित्रका गर्भ और वरुणकी नाभि है । अर्थात् देवोंका सत्त्वत्म्य रथ है । यह रथ हमारे हव्यका सेवन करे, अर्थात् इस रथके साथ रहनेवाले और हमारे अन्नसे पुष्ट और सन्तुष्ट हों ॥ ३ ॥

युद्धमें रथ बड़े महत्वका साधन है । वीर लोग इसपर चढ़कर युद्ध करते और विजय पाते हैं । यह रथ युद्धकी लक्ष्मीसे बनता है और गोके गर्भकी रक्षासे वाधकर सुवृद्ध बनाया जाता है । पृथ्वी पर रथ एक बड़ी भारी शक्ति है मानो, इसमें देवोंका मत भरा हुआ है । इसलिये रथको अथवा अन्नपानमें रखना चाहिये और रथके सब कर्मचारियोंकी यथायोग्य अन्नसे पुष्ट करना चाहिये ।

दुन्दुभि

कांड ६, सूक्त १२६

• (श्रुतिः - अथवा । देवता - दुन्दुभिः ।)

उपं स्यास्य पृथिवीमुत्तं यां पुंरुत्रा तं वन्वतां विष्टितं जगत् ।

स दुन्दुभे सज्जिन्द्रेण देवैर्दूराद्वीपो अपं सेध शत्रून्

॥ १ ॥

अर्थ— हे (दुन्दुभे) नगाड़े ! तू (पृथिवीं उपस्थास्य) पृथ्वीमें (उत्तं यां) और घुनोकमें भी जोवन उत्पन्न कर (पुंरुत्रा विष्टितं जगत् ते वन्वतां) बहुत प्रकारसे विषय रूपमें स्थित जगत् तैरे आध्ययते रहे । (सः इन्द्रेण देवैः सज्जः) यह इन्द्रके और देवोंके साथ रहनेवाला तू (दूरात् द्वीपः) दूरसे दूर (शत्रून् अपं सेध) दुष्टजनोंका नाश कर ॥ १ ॥

भावार्थ— दुन्दुभीके सम्बन्धसे सीमाओं एक प्रकारका नव्यन्तव्य उत्पन्न होता है । इसलिये वीरोंकी युद्धमें कितना देने-के लिये इस नगाड़ेका उपयोग करते हैं । इसमें दिग्भ्रम शक्ति है इसलिये यह दुष्टजनोंकी दूरसे ही नगा देता है ॥ १ ॥

अथ केन्द्वय बलमोजो न आ सा अभि छेन दुरिता वाधमानः ।

अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडवस्य

॥ २ ॥

प्राम् जयाभीक्ष्मे जयन्तु केतुमहुन्दुभिर्वावदीतु ।

समर्थपर्णाः पतन्तु नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु

॥ ३ ॥

अर्थ— हे (दुग्धुभे) नगाडे । (आजन्वय) शत्रुसेनाको बल । (नः भोजः पलं भाषाः) हमारे अंदर योग्य और इस धारण करा । (दुरिता वाधमानः अभि स्तन) पराको आपित करता हुआ गर्जना कर । दुच्छुनां इतः अपसेध) दुःख देनेवाली शत्रुसेनाको यहासे भगा । नू (इन्द्रस्य मुष्टिः असि) इन्द्रकी मुष्टि है, नू (विडयस्त्र) बुद्धि छ । २ ॥

हे इन्द्र । (अमुं प्र जय) इस शत्रुसेनाको पराजित कर (इमे अभि जयन्तु) ये और विजय प्राप्त करें । (केतुमह् दुन्दुभिः वावर्षीतु) सन्धेसे युक्त नगाडा बहुत बडा नाद करे । (नः नरः अश्वपर्णाः संपतन्तु) हमारे और घोडोसे युक्त होकर हमला करें और (अस्माकं रथिनः जयन्तु) हमारे रथी और जय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— दुग्धुमिका भयानक शस्त्र मुक्तकर शत्रुसेना धमका जाती है और अपने सैन्यमें बल और योग्य उत्पन्न होता है । अपने सैन्यके साथ दूर होते हैं और शत्रु भाग जाते हैं । अर्थात् यह दुग्धुमि एक प्रकारका बल है, इसलिये यह दुग्धुमि हमें बल देवे ॥ २ ॥

यह दुग्धुमि शत्रुसेनाका पराजय करे और हमारे सैन्यको विजय होवे । अपने राष्ट्रीय शस्त्रके साथ दुग्धुमि बडा काम करे । जत शस्त्रके साथ हमारे युद्धकार सम्पद बढाई करे । और हमारे रथी प्रयकी प्राप्त करें ॥ ३ ॥

युद्धके स्थानपर नगाडेका शस्त्र सेनामें बडा उत्साह बढाता है । इसलिये हरएक सेनाके साथ रजनेरी अर्थात् बडो बडो दुग्धुमियां रहती हैं । यह एक विजय भाषिका सामन है ।

दुग्धुमिका षोड

कांड ५, सूक्त २०

(श्रुति - ब्रह्मा । देवताः - वनस्पतिः, दुग्धुमिः ।)

उरुचैर्षीषो दुग्धुमिः संस्वनापन्वानस्पत्यः संमृव उस्त्रियाभिः

वार्षं धुशुवानो वुमर्षन्त्सपत्नांस्तिह इव जेष्यममि वृस्वनोदि

॥ १ ॥

अर्थ— (उरुचैर्षीषा सरुव-भाषन्) जब शत्रुसेनाको और बल बढानेवाको (वानस्पत्यः दुग्धुमिः) वनस्पतिसे बनी हुई दुग्धुमि (उस्त्रियाभिः संमृता) घोषकोसे बेध्या । वार्षं धुशुवानः) काम करती हुई (सपत्नान् वुमर्षन्) शत्रुओंको रवाती हुई और (तिह इव जेष्यन्) तिहुके समान विजय चाहती हुई यह बोले । (अमि संस्वतर्नादि) परकी छे ॥ १ ॥

४२ [अथर्व. मा. २ मन्त्र ० श्रुषो]

सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विवेदोऽभिकन्दंभृषभो वासितामिव ।

वृषा त्वं वध्रंपस्ते स्रपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिपाहः ॥ २ ॥

वृषेव यूये सहसा विदानो गृष्यन्नभि ऊव संघनाजित् ।

शुचा विष्य हृदयं परेषां हित्वा आमान्प्रच्युता यन्तु शश्रवः ॥ ३ ॥

संलयन्पृतना ऊर्ध्वमापुर्गृह्णा गृह्णानो वंदुषा वि चक्ष्व ।

दैवी वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शश्रूणामुप भरस्व वेदः ॥ ४ ॥

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषयुद्धा ।

नारीं पुत्रं धावतु हस्तगृह्णामित्रो मीता समरे वधानांश्च ॥ ५ ॥

पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः ।

अमित्रसेनाभिज्जमानो घुमद्दद दुन्दुभे सनुतावत् ॥ ६ ॥

अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक्ते ध्वनयो यन्तु शीमम् ।

अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोकृह्णान्मिप्रतूषीय स्वर्षी ॥ ७ ॥

अर्थ— (द्रुवयः विषयः) द्रुवते निमित्त और बिजोव प्रकार बंधो हुई तू (सिंह इव अस्तानीत्) सिंहके समान परंतो है (वासितां वृषभः अभिकन्दन् इव) गौके लिये जैसे बल गर्जता है, उसी प्रकार तू भी गरजती है । (त्वं वृषा) तू बलवान् है (ते अफनाः शश्रयाः) तेरे शत्रु निबल हुए हैं और (ते ऐन्द्रः शुष्मः अभि मातिपाहः) तेरा प्रभावयुक्त बल शत्रुनाशक है ॥ २ ॥

(यूये गव्यन् वृषा इव) गौकेके समूहमें गौको धामना करनेवाले सबके समान (सहसा संघनाजित्) बलसे बिजय प्राप्त करनेवाली और (विदानः) जानी हुई तू (अभिदय) गर्जता कर । (परेषां हृदयं शुचा विष्य) शत्रुबलोंका हृदय धोकरसे मुक्त कर । (शश्रवः आमान्प्रच्युता यन्तु) शत्रु गौबोंको छोड़कर गिरते पड़ते भाग जायें ॥ ३ ॥

हे दुन्दुभे ! (ऊर्ध्व-भाग्यु। पृतनाः संजनयन्) ऊंचा धाम्य करनेवाली, शत्रुसेनाओंको पराजित करती हुई (गृह्णाः गृणानः पशुषा विचक्ष्व) ग्रहण करने योग्योंको सेनेवाली तू बहुत प्रकार देख । (दैवी वाचं आगुरस्य) दिव्य धाम्य उच्चारण कर । (वेधाः शश्रूणां वेदः आभरस्व) विधाता होकर शत्रुओंके धन लाकर भर दे ॥ ४ ॥

(दुन्दुभेः प्रयतां वदन्ती) दुन्दुभिके स्पष्ट निकलते हुए (वाचं आशृण्वती घोषयुद्धा) धाम्य सुननेवाली और गर्जनासे जानो हुई (मीता नाथिता आमित्रो नारी) इती हुई दुःखी शत्रुकी स्त्री (समरे वधानां पुत्रं) युद्धमें मरे हुए बोरोंके पुत्रोंके । हस्तगृह्ण घायतु) हाथ पकड़कर भाग जाये ॥ ५ ॥

हे दुन्दुभे ! (पूर्वः वाचं प्रवदासि) सबसे पहिले तू धाम्य करती है । (भूम्याः पृष्ठे रोचमानः वद) भूमिके पृष्ठपर प्रकाशती हुई तू धाम्य कर । हे शोक ! (अमित्रसेनां अभिज्जमानः) शत्रुसेनाका नाश करती हुई तू (घुमत् सनुतावत् वद) प्रकाशित होती हुई धाम्य शोक ॥ ६ ॥

(इमे नभसी अन्तरा घोषः अस्तु) इन दुलोक और पृथ्वीके मध्यमें तेरा घोष होवे । (ते ध्वनयः शीमं पृथक् यन्तु) तेरो ध्वनियों कीम चारों दिशाओंमें फैले । (उत्पिपानः श्लोकृह्णत्) बढनेवाली और धन करनेवाली (मिप्रतूषीय स्वर्षी) और मित्रहितके लिये तपत्र होती हुई (अभिज्जद्, स्तनय) धाम्यकर और गर्जना कर ॥ ७ ॥

धीभिः कृतः प्र वदति वाचमुद्धर्षयु सत्वंतामायुधानि ।
 इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रेर्मित्रां अवं जहृषनीहि ॥ ८ ॥
 संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकुद्गुहा ग्रामघोषी ।
 श्रेषो वन्वानो घृणानि विद्वान्कीर्तिं घृभ्यो वि हर दिराजे ॥ ९ ॥
 श्रेषःकेतो वसुजित्सर्हीयान्त्संग्रामजित्संग्रितो ब्रह्मणासि ।
 अंशुनिषु प्रावाधिपवणे अद्रिर्गव्यन्दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः ॥ १० ॥
 शत्रुपाप्नीपाडंभिमातिपाहो गवेपणः सहमान उद्रित् ।
 वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्पायेपमुद्धदेह ॥ ११ ॥
 अच्युतच्युत्सुमदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरएतायोष्यः ।
 इन्द्रेण गुप्तो विदथा निचिकष्यद्बुधोतनो दिपुतां याहि शीमंश् ॥ १२ ॥

अर्थ— (धीभिः कृतः वाचं प्रवदति) बुद्धि के द्वारा बनाने हुई दोस शब्द करतो है । (सत्वनं आयुधानि उद्धर्षय) शीर्षके आयुषोंको ऊचा उठा । (इन्द्रमेदी सत्वनः निह्वयस्व) शूरको भालन् देनेवालो तू शीर्षको वृक्ष और (मित्रेः धमित्रान् अवं जहृषनीहि) मित्रोंके द्वारा शत्रुओंको मार डाल ॥ ८ ॥

(संक्रन्दनः प्र-वदः) शब्द करनेवालो और घोषणा करनेवाली, (धृष्णुषेणः प्रवेदकुद्गु) बिनयो सेनाते वृक्ष, सेना देनेवाली, (वहुधा ग्रामघोषी) अनेक प्रकारसे ग्राममें घोषणा करनेवाली, (श्रेषः वन्वानः) कत्यान मत्त करानेवाली, (घृणानि पिद्वान्) सब घोषणाके कार्य जाननेवालो तू बुन्दुभि (दि-राजे) से राजाश्रीमें होनेवाले युद्धमें (वहुभ्यः कीर्तिं विहर) बहुत मनुष्योंके लिये कीर्ति प्राप्त करा ॥ ९ ॥

हे (बुन्दुभे) शोक ! तू (श्रेषःकेतोः वसुजित्) भेष करनेवाली, वन जीतनेवाली, (सहमान् संग्राम-जित्) बलवान् युद्धोंको जीतनेवाली, (ब्रह्मणा संशितः असि) शानके द्वारा संवार की गई है । (अधिपवणे अद्रिः प्रावा अंधार इव) सोमरस निकालनेके समय जिस प्रकार पत्थर सोमपर नाचते हैं, उसी प्रकार तू (गव्यन् वेदः भयिच्युत्) भूमि जीतनेकी इच्छा करनेवाले शत्रुके पतनपर नाच ॥ १० ॥

(शत्रुपाद् नीपाद्) शत्रुको जीतनेवाली, जित्बिजयो, (अभिमातिपाहः गवेपणः) शीर्षोंको वधमें करनेवाली लोग करनेवाली, (सहमानः उद्रित्) बलवान् और उल्लेखनेवाली, तू शोक (वाग्वी संभं इव) जैसे वक्ता उपदेशको धोलाश्रीमें भर देता है । (वाचं प्रभरस्व) उसी प्रकार शब्दको संबंध भर दे । (संग्राम-जित्पाय इह इपं उम् वद) सपानकी जीतनेके लिये यहाँ अनेके विषयमें घोषणा कर ॥ ११ ॥

(अच्युत-च्युत्) न निरे हुए शत्रुओंको निरानेवाली (स-मदः गमिष्ठः) शान्तवृक्ष, माया करनेवाली, (मृधः-जेता) युद्धोंको जीतनेवाली, (पुर-एता अयोध्यः) शाने बहनेवाली और युद्ध करनेके लिये कठिन, (इन्द्रेण गुप्तः) इन्द्र द्वारा रक्षित, (विदथा निचिकष्यद्) युद्धकर्मोंको जाननेवाली, (शिपुतां बुध-घोतनः) शत्रुओंके हृदयोंको घबरानेवाली, तू शोक (शीमं याहि) शीत शत्रुपर चढ़ाई कर ॥ १२ ॥

दुन्दुभिका घोष

कांड ५, सूक्त २१

(अहि - ब्रह्मा । वेवताः - वनस्पतिः, वृक्षभिः, आशिषाश्रयः ।)

विहृदयं वैमनस्यं वृद्धामित्रेषु दुन्दुभे ।

विद्वेषं कश्मशं मृषामित्रेषु नि दध्मस्यैवैनान्दुन्दुभे अहि ॥ १ ॥

उद्वेषमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च । धावन्तु विश्वतोऽमित्राः प्रत्रासेनाश्रयं हुते ॥ २ ॥

यानस्पत्याः संभृत उच्चिषामिषिषयोऽप्यः । प्रत्रासममित्रेभ्यो वृदाश्रयेनाभिघारितः ॥ ३ ॥

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि ।

एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयार्थो चित्तानि मोहय ॥ ४ ॥

यथा वृक्षादजावयो धावन्ति बहु विश्वतोः ।

एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयार्थो चित्तानि मोहय ॥ ५ ॥

यथा श्येनात्सर्वतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनयोर्वथा ।

एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयार्थो चित्तानि मोहय ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (दुन्दुभे) ब्रह्मा ! तू (अमित्रेषु विहृदयं वैमनस्यं घट्) शत्रुभक्ति वृद्धको व्याकुलता और मनकी न्यस्तगीवताको जाहिर कर दे । (विद्वेषं कश्मशं भयं अमित्रेषु निदध्मसि) द्वेष, कलमकला, सगला और भय शत्रुभक्ति भर दे । हे दुन्दुभे ! (एनाम् नव जति) इनको मार दे ॥ १ ॥

(आज्ञेयं हुते) सप्राप्तके मूढ होते ही (अमित्राः प्रत्रासेन) वस्तु एकत्राहृते (मनसा चक्षुषा हृदयेन च विश्वतः) मन, नास और हृदयके इतने हुए (धावन्तु) भाग जावें ॥ २ ॥

(यानस्पत्याः उच्चिषामिः संभृतः) वनस्पतिसे अर्थात् लकड़ोसे उत्पन्न वनकेकी रतिवां मयो (विश्व-मो-इयः) सब प्रकार भूमिको रजक और (आश्रयेन अभिघारितः) पृथक् सींचो हुई तू (अमित्रेभ्यः प्रत्रासं घट्) शत्रुभक्ति कलमको घोरपणा कर ॥ ३ ॥

(यथा मृगाः आरण्याः मृगाः पुरुषात् अधि संविजन्ते) जिस प्रकार वनके मृग मनुष्यसे डरकर भागते हैं, (एवा त्वं अमित्रान् अभिजन्तु) उसी प्रकार तू शत्रुभक्ति पर गर्वना कर, (प्रत्रासय) उनको डरा दे और (यथा चित्तानि मोहय) उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ४ ॥

(यथा वृक्षादजावयो धावन्ति बहु विश्वतोः धावन्ति) जिस प्रकार पेड़ बकरिवां भेड़ियोंसे डरकर भाग जाती हैं, उसी प्रकार हे दुन्दुभे ! तू शत्रुभक्ति पर गर्वना कर, उनको डरा दे और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ५ ॥

(यथा श्येनात्सर्वतत्रिणः संविजन्ते) जिस प्रकार पक्षी श्येनसे डरकर भागते हैं और (यथा स्तनयोः सिंहस्य अहर्दिवि) जिस प्रकार पशु गर्वनेवाले सिंहसे प्रतिदिन डरते हैं (एवा त्वं अमित्रान्) उसी प्रकार हे दुन्दुभे ! तू शत्रुभक्ति पर गर्वना कर, (प्रत्रासय) उनको डरा दे, (यथा चित्तानि) और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ६ ॥

परमित्रान्दुदभिना हरिणस्याजिनेन च । सर्वे देवा अतिप्रसन्ने संग्रामस्पर्शते ॥ ७ ॥	॥ ७ ॥
यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्मपैशलापया सह । तैरमित्रांस्तनु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः ॥ ८ ॥	॥ ८ ॥
ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः । सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥	॥ ९ ॥
आदित्य चक्षुरा दंस्व मरीचयोऽनु धावत । पत्सङ्गिनीरा संजन्तु विभते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥	॥ १० ॥
पुममप्रा मरुतः पृथिमातर इन्द्रेण युजा प्र मृगीत शत्रून् ।	
सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मुत्पुरिन्द्रः ॥ ११ ॥	॥ ११ ॥
पता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः । अमित्रांशो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥	॥ १२ ॥

अर्थ— (ये संग्रामस्य शंशते) जब युद्धके स्वामी होते हैं वे (सर्वे देवा) सब देव (हरिणस्य अजिने दुन्दुभिना च) हरिणके बगैरे यने हुए नगाडेसे हो (अमित्रान् परां अतिप्रसन्) शत्रुओंको बहुत डरा देते हैं ॥ ७ ॥

(इन्द्रः यैः पद्- घोदैः) इन्द्र जिन पादघोषोंके और (छापया सह) छायाका सेनाके साथ (प्रक्रीडते) युद्धकी क्रीडा करता है, (तैः नः अमीः अमित्राः असन्तु) उनसे हमारे इन शत्रुओंको प्राप्त होते कि (ये अनीकशः यन्ति) जो सेनाकी पवित्रियोंके साथ हमला करते हैं ॥ ८ ॥

(ज्या-घोषाः दुन्दुभयः) पशुओंकी डोरोके शब्दके साथ शोल (याः दिशः अभिक्रोशन्तु) जितनी दिशाएँ हैं उन सबमें शब्द करें । जिससे (अमित्राणां अनीकशः पराजिताः यतीः) शत्रुओंकी सपनाः पराजित हुई हुई वेना भाग जावे ॥ ९ ॥

हे (आदित्य) सूर्य ! (चक्षुः आदरस्व) शत्रुकी दृष्टि हर ले । (मरीचयः अनुधावत) प्रकाश करके हमारे अनुकूल दौड़ें । (बाहुवीर्ये विभते) शत्रु वीर्य कम होवेपर (पत्-सङ्गिनीः वा संजन्तु) पादोंकी बांधनेकी शक्तियाँ शत्रुओंके पाँवमें बांधी जावे ॥ १० ॥

(पृथिमातरः उपाः अद्यतः) हे भूमिकी माता माननेवाले, गूर, मरनेके लिये सिद्ध हुए बीरो ! (इन्द्रेण युजा शत्रून् प्रमृगीत) इन्द्र अर्थात् गूर सेनापतिके साथ रहकर शत्रुओंको मार जातो । सोम, वरुण, महादेव, मृत्यु और इन ये सब शूरोंकी सहायता करनेवाले देव हैं ॥ ११ ॥

(सूर्यकेतवः पताः देवसेनाः) सूर्यका ध्वज लेकर चलनेवाली ये विषय सेनाएँ (सचेतसः) उत्तम विल्ले भूषण होकर (नः अमित्रान् जयन्तु) हमारे शत्रुओंका पराभव करें । विजयके लिये हमारा (स्व-आ-हा) आत्मसमर्पण हो ॥ १२ ॥

नगाडा

ये दोनों युद्ध नगाडेका वर्णन कर रहे हैं । यह वर्णन स्पष्ट और सहज समझने योग्य होनेसे इसका भावार्थ देने और विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

आर्याका ध्वज— बारहवें मर्ममें सूर्य चिन्ह युद्ध केतुका वर्णन है । यह वर्णन देखनेसे आर्योंका ध्वज सूर्य चिन्ह युद्ध या यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

राजाकी स्थिरता

कांड ६, सूक्त ८७

(अग्नि - अयसो । रेवता - ध्रुवः ।)

आ स्वाहाभिमन्तरंभूर्ध्रुवस्तिष्ठारविचाचलत् । विशस्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा स्वद्राष्ट्रमधि भ्रष्टत् ॥ १ ॥

इहैवेधि मापं चोष्ठाः पर्वत इवारिचाचलत् । इन्द्रं इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रं धारय ॥ २ ॥

इन्द्रं एतमंदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा । तस्मै सोमो अधि भवद्वयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

अर्थ— (स्वा आहार्यं) तुसको यहाँ राजगृहोपर बिठाता हूँ । (अन्तः भूः) वृ हम सबके अंदर रह । (ध्रुवः अग्निचाचलत् तिष्ठ) स्थिर और अविचलित होकर यहाँ बैठ । (सर्वाः विशः त्वा वाञ्छन्तु) सब प्रजाजन तुसको चाहें । (राष्ट्रं त्यत् मा अधिभ्रष्टत्) राष्ट्र तुससे भ्रष्ट न हो ॥ १ ॥

(इह एव अग्नि) यहीं सब । (मा अपच्योष्ठाः) कभी गिर मत, (पर्वतः इव अविचाचलत्) पर्वतके समान अविचलित और (इन्द्रः इव ध्रुवः) इन्द्रके समान स्थिर होकर (इह तिष्ठ) यहाँ बैठ और (राष्ट्रं उ धारय) राष्ट्रका पालन कर ॥ २ ॥

(इन्द्रः ध्रुवेण हविषा) इन्द्र स्थिर सधर्मगते (एतं ध्रुवं अदीधरत्) इन्द्रको स्थिररूपसे धारण करता है । (तस्मै सोमः) उसको सोमने और (अयं च ब्रह्मणस्पतिः) इस ज्ञानगतिने (अग्निवत्) उपदेश दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे राजन् ! तुसको हम सब लोगोंने चुनकर इस राजगृहोपर बिठाया है, अब तू इस राजसभामें आ और यहाँका कार्य स्थिर होकर कर । चंचलता छोड़ दे । सब विशासमें रहनेवाले तेरे प्रजाजन विषयमें संतोष प्रकट करें । तुससे इस राष्ट्रकी कभी अधोगति न होवे ॥ १ ॥

इस राष्ट्रपर स्थिर रह, यहीसे मत गिर । स्थिर होकर यहाँका कार्य कर । अपने इधानसे परभृत न हो और इस राष्ट्रका उद्धार कर ॥ २ ॥

इन्द्रने भी व्याप्तसमर्पणसे स्थिर राज्यको प्राप्त किया था और उसको जानो ब्रह्मणस्पतिने उत्तम उपदेश दिया था, इस प्रकार तुम्ही आत्मसमर्पणसे इस राष्ट्रका शासन कर और यहाँके जानो जन जिस प्रकार सलाह दें, उस प्रकार इस राष्ट्रका शासन कर ॥ ३ ॥

राजाकी स्थिरता

राजा राजगृहोपर स्थिर किस रीतिसे हो सकता है इस बातका उपदेश बड़ी उत्तमतासे इस सूक्तमें दिया है । (१) राजाका सब प्रजाजनों द्वारा चुनाव होना चाहिये, (२) राजाकी इस प्रकारका राष्ट्रशासन करना चाहिये कि, जिससे सब लोग प्रसन्न हों और उपद्रवित्ते प्राप्त करें, (३) राजामें चंचलवृत्ति नहीं होनी चाहिये, (४) प्रजाके मनको आकर्षित करनेवाला राजा हो, (५) उसके राष्ट्रशासनसे राष्ट्रको अविचलित न हो, (६) राजा राष्ट्रके विद्वानोंकी संभक्तिसे राष्ट्रशासन चलावे । इस प्रकार राजा व्यवहार करेगा तो यह राजगृहोपर स्थिर रह सकता है, अन्यथा परभृत होगा । इस उपदेशसे पता लग सकता है कि कौनसे दुर्गुण यहाँसे राजा राष्ट्रसे भ्रष्ट होता है, देखिये—

(१) प्रजाकी अनुमतिके बिना जो राजगृहोपर बैठता है, (२) जो प्रजाकी प्रसन्नता नहीं प्राप्त करता; (३) जो चंचल वृत्तिका होता है, (४) जिसका कर्षित प्रजा चाहते हैं, (५) जिससे राष्ट्रशासनसे राष्ट्रकी अधोगति होती है । (६) जो राष्ट्रके विद्वानोंकी संभक्तिके बिना राष्ट्रशासन चलाता है । इस प्रकारका जो राजा होता है वह राष्ट्रसे गिरता है ।

इस सूक्तके मतमते पता लग सकता है कि वल्लभ राजा कौनसा है और अपम कौनसा है; किाको राजगृहीपद रक्षता चाहिये और किसको शूर्ति। राजाको भी पता लग जायगा कि किस रीतिसे अपनी सिपयता होगी और किा कारण राज्यसे निरापद होगी। राजा और प्रजा इन दोनोंको इस सूक्तसे उत्तम बोध प्राप्त हो सकता है।

शूर कीर

कांड ७, सूक्त ६२

(श्रुतिः - मरीचिः काश्यपः । देवता - अग्निः ।)

अथश्रुतिः सत्पर्विवृद्धवृषो रधीवं पुचीनंजयत्पुरोहितः ।

नानां पृथिव्यां निर्हितो दविद्युत्तदधस्वदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥ १ ॥

अर्थ— (अर्थ अग्निः) यह अग्निके समान तेजस्को पुष्य (सत्पतिः वृद्धवृषा) सज्जनोकापालक, महाबलवान्, (पुष्प-हितः) सबका अपधी (रपी इव पचीन् अजयत्) महारपी जैसे पर्वत सैनिकोंकी नीतता है, वैसे ही नीतता है। (पृथि-यां नाना निर्हितः) भूमिपर केन्द्रमें रखा है, (दविद्युत्तम्) वह प्रकाशता है, वह (ये पृतन्यवः अध-स्वदं कृणुतां) जो सेवा लेकर घडाई करते हैं उनको पाँचके नीचे करे ॥ १ ॥

भावार्थ— यह तेजस्वी पुष्य सज्जनोका पालन करे, बलवान् बने, जनोका अपधी बने, शत्रुसेनाका पराभव करे, महारपी होवे, पृथ्वीके केन्द्र स्थानपर छाड़ डाले, तेजसे प्रकाशित होने और संन्य छेकर घडाई करनेवालोंको पाँचके तले बना देवे ॥ १ ॥

मनुष्य इस प्रकार अपने पुत्र कर्त्त प्रकाशित करे और अपने शत्रुके केन्द्रमें निराजमान रहे।

कीर फुरुफ

कांड ३, सूक्त ६

(श्रुतिः - जगद्बोधं पुष्पः । देवता - वानस्पतिः, भद्रवत्यः ।)

पुरांशुसः परिजातोऽश्रुशयः खदिरादधि । स हन्तु श्रुन्मानुमकान्वानुहं द्वेभिः ये च माम् ॥ १ ॥

अर्थ— वंसा (खदिरात् अधि अभ्याशः) खरके वृक्षके ऊपर अवस्थाप वृक्ष होता है इसी प्रकार (पुंसः पुमान् परिजातः) वीर पुष्यसे वीर पुष्य उत्पन्न होता है। (सः मानकान् शान्तु हन्तु) यह मेरे शत्रुओंका वध करे (यान् अहं श्रेप्सि, ये च माम्) जिनसे मैं डरेप करता हूँ और जो मुझसे डरेप करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— खरके वृक्षपर अवस्थाप वृक्ष उगता है और उसीपर बसता है, इसी प्रकार वीर पुष्यसे वीर वल्लभ उत्पन्न होगी वीर वीरोंके साथी बसती है। ऐसे वीर हृषिके वीरोंको हटा देवे ॥ १ ॥

तान्श्वत्थ निः शृणीहि अश्रून्वैवाधुदोर्धतः । इन्द्रेण वृत्रज्ञा मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥
 यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्पृणिवे । एवा तान्तसर्वाभिर्भृग्भिः यानुहं द्वेभिः ये च माम् ॥ ३ ॥
 यः सहमानश्वरसि सासहान इव ऋषभः । तेनाश्वत्थ त्वया व्ययं सपत्नान्तसहिषीमहि ॥ ४ ॥
 सिनात्वेनाश्रिर्भ्रतिर्मृत्योः पाशैरशोक्यैः । अश्वत्थ अश्रून्मामकान्यानुहं द्वेभिः ये च माम् ॥ ५ ॥
 यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहं कृणुपेऽधरान् । एवा मे शश्रोर्मूर्धानं विध्वग्मिन्द्रि सहस्व च ॥ ६ ॥
 तेऽधराश्वः प्र पुंवन्तां छिन्ना नीरिवं बन्धनात् । न वैवाधप्रणुचानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥
 प्रैणाश्रुदे मर्नसा प्र चित्तेनात् ब्रह्मणा । प्रैणान्वृक्षस्य शाखेपाश्वत्थस्य जुदामहे ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (अश्व-त्थ) अश्वके समान बलिष्ठ वीर ! (तान् वैवाधयोधतः शश्रून्) विविध प्रकारकी बाधाओं उत्पन्न करनेवाले दोही अश्रुओंकी तु (निः शृणीहि) मार डाल और (वृत्रज्ञा इन्द्रेण मित्रेण वरुणेन च मेदी) वृत्रका नाश करनेवाले इन्द्र, मित्र और वरुणके मित्रता कर ॥ २ ॥

हे अश्वत्थ ! (यथा महति अर्णवे निरभनः) जैसे बड़े समुद्रमें तू भेदन करता है, (एव) उसी प्रकार (यान् अहं द्वेभिः ये च मां) जिनसे मैं ड्रेप करता हूँ और जो मेरा ड्रेप करते हैं (तान् सर्वाभिर्भृग्भिः) उन सबको छिन्न भिन्न कर ॥ ३ ॥

हे अश्वत्थ ! (यः सहमानः) जो तू अश्रुको बधनेवाला (ऋषभः इव सासहानः) बलके समान पत्थरान् होकर (श्वरसि) विचरता है, (तेन त्वया व्ययं सपत्नान् सहिषीमहि) उस तेरे साथ हम अश्रुओंको पराजित करें ॥ ४ ॥

हे अश्वत्थ ! (यानुहं द्वेभिः) जिनसे मैं ड्रेप करता हूँ और जो मुझसे ड्रेप करते हैं (एवान् मामकान् विध्वग्मिन्द्रि) मृत्योः अशोक्यैः पाशैः शश्रून् सिनात्तु) इन मेरे अश्रुओंको आपसित मृगणके न दूढ़नेवाले पाशोंसे बांध देवे ॥ ५ ॥

हे अश्वत्थ ! (यथा आरोहन् वानस्पत्यान् अधरान् कृणुपे) जैसे तू ऊपर रहता हुआ अन्य वृक्षोंकी नीचे करता है, (एवा) इसी प्रकार (मे शश्रोः मूर्धानं विध्वग्मिन्द्रि) मेरे अश्रुओंके सिरको सब ओरसे तोड़ दे और (सहस्व च) उल्लसो ओत ॥ ६ ॥

(बन्धनात् छिन्ना नीः इव) बन्धनसे छूटी हुई नीलाके समान (ते अधराश्वः प्रणुचतां) वे अधोपरिके भागसे पहले चले जायें (वैवाधप्रणुचानां पुनः निवर्तनं न अस्ति) विशेष बाधा करनेवालोंका पुनः मोटना नहीं होता ॥ ७ ॥

(एवान् मनसा प्रश्रुदे) इन अश्रुओंको मनसे मैं हटाता हूँ । (चित्तेनात् ब्रह्मणा प्र) मैं चित्तसे और मानसे हटाता हूँ । (अश्वत्थस्य वृक्षस्य शाखया) अश्वत्थ वृक्षकी शाखासे (एवान् प्र जुदामहे) इनको हथ हटा देते हूँ ॥ ८ ॥

भाषार्थ— हे वीर ! तू अश्रुनाश करनेवाले वीरोंके साथ मिलकर विशेष बाधा करनेवाले अश्रुओंको मार डाल ॥ १ ॥
 हे वीर ! जिस प्रकार नीलासे लोग समुद्रको पार कर जते हैं, उसी प्रकार तू उन सब अश्रुओंका भेदन करके पार हो ॥ २ ॥

हे बलवान् ! जो तू बलिष्ठ होकर अश्रुको बधनेवाले हुए सर्वत्र संचार करता है, उस तेरी सहायतासे हम अपने सब अश्रुओंको पराजित कर सकेंगे ॥ ४ ॥

हे शक्तिमान् ! मेरे वंदी आपसितमेंके पाशोंसे बांधे जाये अर्थात् वे आपसितमेंके पडे ॥ ५ ॥
 जिस प्रकार पीपलका वृक्ष अन्य वृक्षोंपर उगता है और उनकी नीचे बसता है, उसी प्रकार वीर मेरे अश्रुओंको नीचे दबा देवे और उनके सिर तोड़ देवे ॥ ६ ॥

विशेष बाधा करनेवाले अश्रु अधोपरिके नीचेकी ओर चले जायें । ऐसे एकबार गिरकर वे फिर कभी न उठें ॥ ७ ॥
 मनसे, चित्तसे और अपने मानसे मैं अश्रुओंको डूब करता हूँ ॥ ८ ॥

घोर पुरुष

अक्षरशुद्धि अन्वेषित

यह सुप्त अवस्थाकी अन्वेषित है। अन्वेषित अकार पाठक आते ही हैं। एकका प्रत्यय उल्लेख करके दूसरेके ही विषयमें कहनेका नाम अन्वेषित है। इसी प्रकार यहाँ अस्वत्व वृत्तका वर्णन करते हुए घोर पुरुषका वर्णन किया है। इसीलिये यह अवस्थाअन्वेषित है।

'अभ्यत्य' शब्दके बहुतेक अर्थ हैं— (१) पीपल वृक्ष, (२) [अभ्य-स्य] अणवके समाप्त अकारान्तर कहने-पाठक घोर, (३) [अ-भ्य-स्य] जो काल रहेगा ऐसा निरन्तरपूर्वक नहीं कहा जा सकता, नद्वार; (४) मूर्ध्नि, (५) अतिबलसे नक्षत्र हत्यादि अनेक अर्थ इस शब्दके हैं। यहाँ पहले दो अर्थोक्ति हैं।

अक्षरशुद्धि अर्थात् पीपल वृक्ष दूसरे अक्षरोंपर उठा हुआ दिखाई देता है, 'यथा अभ्यत्य वानस्पत्यान् अपोहन् अभ्यत्यं ह्युच्यते। (म० ६)' इस रूपपर काव्य दृष्टिके यह अक्षरकार हो सकता है कि यह अवस्था वृक्ष या भारी घोर है जो अन्य वृक्षोंकी अपने पाँके नीचे उखाता है और अन्य वृक्षोंके तिरपर अपना पाँच रख कर उखाती जाती है। जिस प्रकार घोर पुरुष अणुके तिरको अपने पाँके नीचे उखाता है, उसी प्रकार मानो पीपलका यह रूप है। इसीलिये अवस्थाअन्वेषितके इस, सूक्तमें घोर पुरुषका वर्णन किया है।

आनुवंशिक संस्कार

इस सूक्तके प्रथम मन्त्रमें ही कहा है कि 'पुंसः पुमान् परिजातः,' घोरसे घोर उत्पन्न उत्पन्न होती है, घोरके पुंसमें घोर उत्पन्न होते हैं। इसका यह तात्पर्य जहाँ है कि अणु कुलमें घोर उत्पन्न नहीं हो सकते, अणु यहाँ घोर उत्पन्न उत्पन्न होनेके योग्य सामुद्रिक नहीं रहता है यही विधान है। अणुमन्त्रके अन्तमें अणु उत्पन्न करनेके कारण घोरके उत्पन्नका वीरतासे युक्त होना अत्यन्त स्वाभाविक है, यही यहाँ कहनेका तात्पर्य है।

यह घोर सभ प्रकारके अणुओंके हटा देने, यही सभ मन्त्रोंमें कहा है और मन्त्रोंका यह आशय सरल होनेसे इसका अधिक साधुकारण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

४२ [अक्षर. भा. २ मन्त्र. ० द्विपरे]

शत्रुका लक्षण

इस सूक्तमें 'ये-बाध' (विशेष बाधा करना) यहाँ एक वंशी होनेका अर्थ कहा है (म० २, ७)। अन्वेषितक, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि अनेक प्रकारके शत्रु हो सकते हैं और इन वंशियोंमें ये शत्रु विशेष प्रकारकी बाधा भी छोड़ करते हैं। ये सब शत्रु दूर करने चाहिये और जनताका मुक्त बचाना चाहिये। यह इस सूक्तके उपदेशका सार है। अणुको दूर करनेका उपाय इस प्रकार करना चाहिये—

मनसा, चित्तसे उन द्रव्यका एतान् म मुदे।

(म० ८)

'मन, चित्त और जानसे शत्रुओंको दूर करनेके उपाय सोचने चाहिये' और उन उपायोंका मनन करना चाहिये। मनसे शत्रुनाश करनेका मनन करना चाहिये, चित्तसे इसी बातका चिन्तन करना चाहिये और अपना मन बचाकर उस जानसे ऐसी पीचनाएँ करनी चाहिये कि जिससे शत्रु जी प्रहो मष्ट हो जावे। तात्पर्य यह कि हरएक प्रकारकी युक्ति करके शत्रुको हटाना चाहिये।

गिरावटका मार्ग

जो विशेष बाधा करते हैं, जो जनताको छत्रते हैं, या उपद्रवी होते हैं वे स्वकर्मे ही गिरते हैं। उनके घरे कर्मके कारण वे स्वयं अयोग्यके मार्गसे गिरते रहते हैं, इस विषयमें अत्यन्त मन्त्रका अर्थ हरएक मनुष्यके लिये भूतन करने योग्य है—

यन्घनात् छिद्रा नी। इय. ते अधराः प्र द्विघन्ताम्।
येषामप्रभुस्तानां पुनः निवर्तनं नास्ति ॥ (म० ७)

'अधनसे नीचा अंसे छुटती है और जल प्रवाहसे बहती जाती है, उसी प्रकार ये जनताको विशेष रूप देनेवाले दुष्टलोग अयोग्यलिये भाँकेकी ओर गिरते जाते हैं। उनके उठनेकी कोई आशा नहीं है। जो दुष्ट जनताको विशेष बाधा करते हैं और उस कारण पतित होते जाते हैं, उनके ऊपर उठनेकी कोई आशा नहीं है।

इस मन्त्रमें पाठकोंको सावधान किया है कि वे अपने परित्रका बचानेका करें और सोचें कि अपनी ओरसे तो किसीको कष्ट नहीं होते हैं? क्योंकि जो दूसरोंको कष्ट

देते हैं उसकी उपरति की कोई आशा नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को कष्ट देगा, एक जाति दूसरी जाति को कष्ट देगी, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को सतायेगा, तो यह सतानेवाले अन्य रीतियों से बिरते जाते हैं और उनके उठने की कोई आशा नहीं होती। जो राष्ट्र दूसरे देशों को परतंत्रता में रखते हैं वे इसी प्रकार बिरते जाते हैं। साम्राज्यवाद के कारण भी इस प्रकार गिरावट होती जाती है। यदि किसीको बचाकर एक स्थान पर रखना हो तो जैसे बच्चे हुए को वहाँ रखकर रहना पड़ता है, उसी प्रकार बचानेवाले को भी वहाँ ही रहना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य बातें पाठक जान सकते हैं। तात्पर्य यह है कि कोई भी जाति, जो दूसरों पर अत्याचार करती है, स्वयं अधोगतिके मार्ग से बिरती जाती है और जब तक यह अपना अत्याचार बंद नहीं करती, तब तक

उसके उठने का कोई मार्ग नहीं होता है। यह मानकर कोई किसी दूसरे पर कभी अत्याचार न करे। दूसरे पर अत्याचार न करने से ही उपरति का मार्ग खुला रह सकता है।

विजयकी तैयारी

इस सूक्तमें 'सहमान, सासहान' (मं० ४) से बोध है, अन्य स्थानोंमें 'सहमान, असह' से बोध है, जो विजयकी तैयारीके सूचक हैं—

१ सहमान— शत्रुके हमले होनेपर भी जो अपना स्थान नहीं छोड़ता ।

२ असह, सासहान - इसके हमले समुद्र होनेपर शत्रु इसके समुद्र उठर नहीं सकता ।

विजय प्राप्त करना ही तो अपनी तैयारी ऐसी करनी चाहिये । सभी विजय होगी ।

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

सु मा पि त

(अथर्व. १२।१)

१. सत्यं वृहद् अतं उग्रं वीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः
पृथिवीं धारयन्ति (मं. १)— सत्य, बृहद्भाव, सरलता,
उग्रता, रक्षता, तप, कष्ट सहन करनेकी दक्षिण, ताल और
यज्ञ ये गुण मातृभूमिको धारण करते हैं (सबदनोंका शासन
करना, परस्पर संघटन करना और निर्दोषीको दान देना
यज्ञ है) ।

२. सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उदं लोकं पृथिवी
नः कृणोतु (१)— वह मातृभूमि हमारे भूतकालकी रक्षा
करनेवाली थी, उसी प्रकार वह हमारे भविष्यकालकी रक्षा
करनेवाली भी है और सब परिस्थितियोंमें हमें वह सुरक्षित
रखनेवाली है । वह हमें विस्तृत कार्यक्षेत्र प्रदान करे ।

३. असंवाचं यथ्यतो मानवानां यस्या उद्रतः प्रवतः
समं यदु (२)— हमारी मातृभूमिमें रहनेवालोंमें जंब-
नीचकी अस्मानतके साथ ही समता भी बहुत है ।

४. पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः (२)— यह
मातृभूमि हमारा यज्ञ सब जगह फँसवावे ।

५. यस्यां अन्नः कृष्टयः संवभूतुः (३-४)— इस मातृ-
भूमिमें किसान आपसकी सहामता एवं संघटनसे बहुतसा
अन्न पैदा करें ।

६. सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु (३)— यह हमारी
मातृभूमि हमें छाने पीनेकी बहुतसी सामग्री देवे ।

७. सा नो भूमिः गोष्वप्यग्ने दधातु (४)— वह
हमारी मातृभूमि हमें घास और अन्न देवे ।

८. यस्यां पूर्वं पूर्वजनाः विचक्षिरे (५)— जिस
मातृभूमिमें हमारे पूर्वजोंने विज्ञेय पराजय किया ।

९. यस्यां देवा असुरानभ्यघर्तयन् (५)— जिस मातृ-
भूमिमें देवोंने असुरोंकी पराजय करके उन्हें भगा दिया ।

१०. नवामभ्यानां ययसश्च विष्ठा भगं वचः
पृथिवीं नो दधातु (५)— हमारी मातृभूमि गाय घोड़
और पशु-वधिवेत्ति रहनेके लिये भी स्थान देती है, वह हमें
भी भाग्य और तेज देवे ।

११. विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा
जगतो निवशनी प्रविणे नो दधातु (६)— सबका
भरणपोषण करनेवाली, पनके छानोंको अपने अन्दर छुवाकर
रखनेवाली, सोनेके छानोंवाली, धराचरकी आषार देनेवाली
यह मातृभूमि हमें भरपूर धन दे ।

१२. यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदाती देवा भूमिं
पृथिवीमप्रमादं, सा नो मधुमियं दुर्हा, अथो उक्षतु
वर्चसा (६)— आलस्य न करनेवाले देव प्रमाद न करते
हुए हमारी मातृभूमिकी रक्षा करते हैं । वह श्रेय मधुररस
देकर हमें तेजसे युक्त करे ।

१३. यां मायाधिरन्वधरन् मनीषिणः (८)— ज्ञानी
मनुष्य अपनी दक्षिणवेत्ति मातृभूमिकी सेवा करते हैं ।

१४. सा नो भूमिः स्विषिं वलं राष्ट्रे दधात्समे
(८)— वह हमारी मातृभूमि हमारे राष्ट्रमें तेज और बल
स्थापित करे ।

१५. यस्यां आपः परिचराः समानीरहोराने
अप्रमादं धुरन्ति (९)— मातृभूमिके सेवक जल प्रवाहके
क्षणाल दिन रात भ्रमण करते हुए लोगोंकी सेवा करते हैं ।

१६. सा नो भूमिः भूरेषाः रा पयो दुहामथो उक्षतु
वर्चसा (९)— वह हमारी मातृभूमि हमें अनेक धारोंसे
हुए देकर हमें तेज युक्त करे ।

१७. यामग्निनावमिमतां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे,
इन्द्रो यां सक्त आत्मनेऽनमिशां शचीपतिः, सा नो
भूमिर्विच्रवतां माता पुत्राय मे पयः (१०)— अग्निकी

देवीने जिसे माया, विष्णुने जित पर पराक्रम किया, तस्मिन्-
शालो इन्द्रने जिसे शत्रुहृत किया, वह हमारी मातृभूमि
अपने पुत्रों (ह्य) को ब्रह्म देवे ।

१८. गिरयस्ते पर्वता द्विमयन्तोऽरुष्यं ते पृथिवि
स्योनमस्तु (११) - हे मातृभूमि ! तेरे पर्वत, द्विमयित्त
और जंगल हमें सुख देनेवाली हों ।

१९. अश्रितोऽहतो अक्षतोऽप्यष्टां पृथिवीमहम्
(११) - अश्रित, न मरनेयोग्य, अघातिते रहित मैं इस
पृथ्वीका अल्पक होकर रहू ।

२०. यास्त ऊर्जस्तन्वः संवभूयुः । तासु नो धेहि,
अभि नः पवस्व (१२) - तुमपर जिन धीरोंने कर्म किया
है, उनमें हमें स्थापित कर और हमारी रक्षा कर ।

२१. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (१२) - यह
भूमि मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ ।

२२. सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना (१३) - यह भूमि
स्वयं भी बढ़ती हुई हमारा तत्परण करे ।

२३. यो नो द्वेषत् पृथिवि, यः पूतन्यात्, योऽभिवा-
सान्मनसा, यो धधेन, तं नो भूमे रम्यथ पूर्वकृतपरे
(१४) - हे मातृभूमि ! जो हमसे द्वेष करते हैं, जो तेना
लेकर हम पर हमला करते हैं, जो मनमें हमें बाध बनानेकी
इच्छा करते हैं, जो वध करके हमारा नाश करना चाहते
हैं, हे अत्र्यं कार्य करनेवाली हमारी मातृभूमि ! तू उनका
नाश कर ।

२४. ध्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं विमर्षिं
द्विपदस्त्वं चतुष्पदः (१५) - तुमपर जन्मे हुए मनुष्य
तेरी पाँच पर संचार करते हैं । तू ही सोपायीं और जीवायीं
को धारण करके उनका भरण पोषण करती है ।

२५. तमेवे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
मर्त्येभ्यः उच्यन्तस्यो रदिमभिरातनोति (१५) - ये पाँच
प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं, जिनके लिए पूर्व उदय होकर
अपनी किरणोंसे तेज और अमृत देता है ।

२६. सा नः प्रजाः सं तुहतां समग्रा वाचो मधु
पृथिवि धेहि महाम् (१६) - हे हमारी मातृभूमि ! यह
हमारी प्रजा एकत्र होकर आपसमें मोठे शब्द बोले और
मूकते भी मोठे शब्द बोले ।

२७. पृथिवीं धर्मणा भृदां शिवां स्योनाममुचरेम
विश्वहा (१६) - धर्मके द्वारा धारण की गई इस मातृभूमि
की सेवा हम हमेशा करते रहें ।

२८. महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादं (१८) - महान् इन्द्र
प्रमाद रहित होकर तेरी रक्षा करता है ।

२९. सा नो भूमे प्ररोचय (१८) - हे मातृभूमि ! तू
हमें तेजस्वी कर ।

३०. मा नो विश्वत कच्चन (१८, २३, २५) - हमसे
कोई भी द्वेष न करे ।

३१. पृथिव्यास्तितः त्विपीमन्तं संशितं मा कृणोतु
(२१) - पृथ्वीपर जो अग्नि है, वह मुझे तेजस्वी और प्रसिद्ध
करे । अस्तित-शः) - उष्टे मार्गसे जानेवाली अग्नि ।

३२. भूम्यां मनुष्याः जीवन्ति स्वधयाधेन मर्त्याः
(२२) - पृथ्वीपर मनुष्य धारणकित बढ़ानेवाले अत्रते
जीवित रहते हैं ।

३३. भूम्यां देवेभ्यो वृदति यज्ञं हव्यं अरंजतम्
(२२) - मातृभूमिपर देवोंके लिए अतकृत हवनतामस्रोषे
यज्ञ करता है ।

३४. सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु, जरदृष्टिं मा
पृथिवी कृणोतु (२२) - यह हमारी मातृभूमि हमें प्राण
और आयु देवे और बृद्धावस्थातक हमें रहने योग्य बनावे ।

३५. तेन मां सुरभि कृणु (२३-२४) - जसने मुझे
सुगंधित कर ।

३६. तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः
(२६) - अपने अन्वर सोनेको धारण करनेवाली मातृभूमि-
को मैं नमस्कार करता हूँ ।

३७. पृथिवीं विश्वधापसं पूतामच्छा वदामसि
(२७) - सबको धारण करनेवाली मातृभूमिके विश्वधमे हम
हमेशा कण्ठे पान्य ही बोलें ।

३८. मा व्यधिष्महि भूम्याम् (२८) - मातृभूमिको
हम दुःख न दें ।

३९. त्वामि नि पीवेम भूमे (२९) - हे मातृभूमि !
हम तेरे आधमते रहें ।

४०. शुद्धाः नः आपः तन्वे क्षरन्तु (३०) - हमारे
शरीरकी शुद्धताके लिए साफ पानी बहता रहे ।

४१. यो नः सेतुरप्रिये सं तिन्दमाः (३०) - जो हमें
कण्ठ देता है, उन्हें यह मातृभूमि दुःख देती है ।

४२. पवित्रेण पृथिवी मोत्पुनामि (३०) - हे मातृ-
भूमि ! पवित्रासे वे अपनेको पवित्र करता हूँ ।

४३. या प्रदिशाः स्योनास्ता महां चगते भवन्तु

(३१)—सब विद्याओं सब जगह सभार करनेवाले मेरा कल्याण करनेवाली हों ।

४३. मा निपतं भुवने शिक्षियाणः (३१)— बहा ह्य रहते हैं, बर्हा हमार पतन न हो ।

४४. स्वस्ति भूमे नो भव (३२)— हे मातृभूमि ! हमारे लिए दुः कल्याण करनेवाली हो ।

४६. मा चिदन् परिपन्थिनः (३२)— शत्रु भूमे न जाल सकें ।

४७ वरीयः चाधया धधम् (३२)— हमारे श्रेष्ठ वीर हमारे शत्रुओंका धध क.नेके लिये जायें ।

४८. मे चक्षुः मा मेष्ट उत्तरामुत्तरां सवाम् (३३)— मेरे नेत्र बड़ाबचाने की प्रकाश देते रहें ।

४९. अतपस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् (३६)— हे मातृभूमि ! तुम पर होनेवाले सब शत्रु और दिन रात मेरे लिए सुखदायक प्रदान करें ।

५०. यस्यां पूर्वं भूतकृत ऋणयो गा उदानुयुः सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह (३९)— जिस हवारी भूमिमें प्राचीन समयमें जन्म कर्म करनेवाले ऋषि, मुनि, तप, यज्ञ आदि सत्रमें स्तुति गाते थे ।

५१. सा नो भूमिरादिशतु यद्भनं कामयामहे (४०)— वह मातृभूमि हमें यथेच्छ धन देवे ।

५२. यस्यां मायन्ति नृत्यान्ति भूम्यां (मर्षाः) (४१)— जिस मातृभूमिमें मनुष्य जानसते गाते और नाचते हैं ।

५३. गुणवन्ते यस्यां आकम्प्यो यस्यां चदति दुंतुभि (४१)— जिस मातृभूमिके लिए वीर वृष्य दृढ़ करते हैं और युद्धके समय नगाड़ेकी आवाज सुनते हैं ।

५४. सा नो भूमिः प्रमुद्रतां सपतान्, असपतन्ते मा पृथिवी कुण्ठोतु (४१)— वह हवारी मातृभूमि शत्रुओंको दूर करके मुझे शत्रुहिन करे ।

५५. यस्यामन्नं घ्रीहिद्यवौ यस्याग्निमाः पञ्च स्रष्टयः (४२) जिस मातृभूमिमें चावल और जौ उत्पन्न होते हैं और पाच प्रकारके लोग जिसकी पीठपर रहते हैं ।

५६. यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विह्वयते (४३)— जिस मातृभूमिमें देवोंके द्वारा कृषाये गए वनपर हैं और जिस क्षेत्रमें वीर युद्ध विशेष पराक्रम करते हैं ।

५७. प्रजापतिः पृथिवीं विश्वमर्मां आशामाशां

रण्यां न कुण्ठोतु (४३)— प्रजापति सबको अपने कर्ममें धारण करनेवाली इस हवारी मातृभूमिकी प्रत्येक विद्याओंमें रणधोय करे ।

५८. निधिं विभ्रती यदुधा गुहा वसु मर्षि हिरण्यं पृथिवी ददातु मे (४४)— हवारी मातृभूमि अनेक प्रकारके धन अपनेमें धारण करती है, वह हमें रत्न और सोना देवे ।

५९. जनं विभ्रती यदुधा विद्याचक्षं नानाधर्माणं पृथिवी यथाँकसम् । (४५)— हवारी मातृभूमि अनेक भाषा बोलनेवाले और अनेक धर्मावलम्बी मनुष्योंको एक प्रकारके मनुष्योंके समान धारण करती है ।

६०. सहस्र धारा द्रविणरूप मे दुहा ध्रुवेव धेतुर- नपस्कुट्मतां (४५)— सप्त न धारनेवाली गाणके समान यह हवारी मातृभूमि हमें हजारों वादजोते धन दे ।

६१. यस्ते सर्षो वृश्चिका तन्नः सर्वन् मोघं रूपत् (४६)— जो सर्ष, बिन्दु आदि प्राणि पृथ्वीको पीठ पर रहते हैं वे मेरे पास न जायें ।

६२. यच्छिद्यतेन नो गृह (४६, ४७) जो कल्याण-कारक है, उसकी सहायतासे हमें सुखी कर ।

६३. ये ते पन्थानो यद्भवे जनायना, रघस्य मर्मा- नसश्च यातये, यैः संश्वरन्त्युभये भद्रयापास्तं पन्थानं जयेमानामित्रं अतस्करम् (४७)— तेरी पीठपर लोभके आने जानेके और रथके भाग्य हैं, जिनसे पानी और पुष्प-झाली लोभ आते जाते हैं, उन रास्तोंको शत्रुहिन और वीररहित कर, ताकि हम विजयी हों ।

६४. रक्षो अप चाधयास्मत् (४९)— राक्षसोंको हम-से दूर कर ।

६५. पिशाचः सवर्षा रक्षांसि तानसद् भूमे पापय (५०)— हे मातृभूमि ! सब विद्याओं और राक्षसोंको हमारे पाससे दूर कर ।

६६. सा नो दधातु भद्रया त्रिये धामनि धामानि (५२)— वह मातृभूमि हमें हमारे त्रिप धरोंमें कल्याण प्रपंक सुरक्षित रखे ।

६७. अहमरिम् सदमान उत्तरो नाम भूगाम् । भर्भोपादस्मि विश्वापाडाशामारां त्रियास्तसिः (५४)— मैं विजयी, उत्तम और श्रेष्ठ होकर मातृभूमिमें रहता हूँ, मैं सब औरसे विजयी होकर तपुको वचाजय करता हूँ ।

६८ ये प्राप्ता यदरुण्य या सभा अधि भूम्या ये सत्रामा समितयस्तेषु चार उदेम ते (५५)- जो गाव, जो जंगल और जो सभायें हमारी मालुभूमिमें ह और जो युद्ध होते ह, इन सब स्थानोंमें तेरे बारेमें हम उत्तम पत्रका ही कथन करें ।

६९ यद्दामि मधुमत्तददामि (५८)- जो म बोलू वह भीडा ही बोलू ।

७० त्विपीमानस्मि जूतिमान् अवाग्यान् हस्मि दोघत (५८)- मैं तेजस्वी हूँ, जो पातक कृत्य करते ह, उनका नाश करता हूँ ।

७१ यत् त ऊन तत्त आपूरयाति प्रजापति- प्रथमजा ऋतस्य (६१) तुलमें जो ग्यूनता हो, वह प्रजापासक और सत्यका प्रथम प्रयत्नक पूर्णता करेगा ।

७२ उपस्थास्ते अनमीवा अथद्दमा असाभ्य सन्तु पूयिचि प्रसूताः (६२)- तुलमें उत्पन्न हुए हुए हम नीरोम एव आरोप्य सम्पन्न होकर है मालुभूमि ! तेरे समीप उपस्थित रहें ।

७३ दीर्घं न आयु (६२)- हमारी आयु बाध है ।

७४ प्रतिबुध्यमाना एय तुभ्य गलिहत्- स्याम (६२)- जानो होकर हम तेरे लिए बलि देनेवाले होंगे ।

७५ भूमे मातर्निघोडि मा भद्रया तुप्रतिष्ठितम् (६३)- हे मालुभूमि ! मुझे उत्तम रीतिसे कल्याणपूर्वक प्रतिष्ठित कर ।

७६ सविदागा दिवा करे धिया मा धेहि भूवाम् (६३)- हे जानी ! मुझे हमेशा ज्ञानपुत्रा और सत्ताया कर और ऐश्वर्यमें भी हर्ष और जगदा एश्वर्यवान् कर ।

विराट् (कां. ८।१०)

१. विराट् या इदमत्र आसीत्, तस्य जाताया- सर्वस्यमेव इयमेवेव भाविष्यतीति (१)- प्रथम सब जगह राजविहीन स्थिति थी, अत इत अवस्थास सबको भय हुआ कि कहीं यह राजविहीन स्थिति हमेशा जो नहीं रहेगी ।

२. सोऽवृक्षामत् सा गार्हपत्ये यफामत् (२)- यह प्रजापति उक्तान्त होकर गृहस्थाधमक रूपमें परिणत हुए ।

३. सोऽवृक्षामत् सा सभाया न्यवृक्षामत् (८)- यह प्रजापति उक्त त होकर सभामानें परिणत हुए ।

४. सोऽवृक्षामत् सा समिता न्यवृक्षामत् (११)- यह प्रजापति उक्तान्त होकर राष्ट्रसमितियों परिणत हुई ।

५. सोऽवृक्षामत् सा मन्वणे न्यवृक्षामत् (१२)- यह प्रजापति उक्तान्त होकर मन्विष्यन्त में परिणत हुई ।

राष्ट्रीदेवी (कां. ४।३०)

१. अहं राष्ट्री सगमनी वसुना चिकितुषी प्रयत्ना यश्रियानाम् (१)- मैं राष्ट्रीयशक्ति हूँ, मैं पन एक-वित्त करती हूँ, मैं जानो और पूजनीयोंमें भी पूजनीय हूँ ।

२. ता मा देवा व्यदधुः पुरुषा भूरिस्थात्रा भूयश्चि दायन्तः (२)- बहुत जंगलाह बढायेवाले देव सर्वत्र विद्यमान मुझ राष्ट्रशक्तिको अपने अन्तर विशेष रूपसे पारण करते हैं ।

३. अहमेव स्वयमिद् वदामि जुष्ट देवानामुत्त मानुषाणाम् (३)- मानवों और देवोंमें यह शक्ति आरक्षणीय है, यह मैं स्वयं करता हूँ ।

४. य कामयेत उत्र वृषोमि, त ब्रह्मण्य, त ऋषि त सुमेधाम् (३)- मैं राष्ट्रशक्ति जिसको उन्नत करना चाहती हूँ उसे उपवीर, ब्राह्मण, ऋषि और उत्तम बुद्धिमान् करती हूँ ।

५. मया सोऽन्नमत्ति, यो विपद्यति, या प्राणिति, यद् दृणोत्युक्तम् (४)- मेरी कृपासे यह अन्न खाता है, देव सकता है, जीवित रह सकता है और हमारी बातोंको चुनता है ।

६. अमन्तवो मा त उपक्षिपन्ति धुषि, धुत, अद्वेय ते वदामि (४)- मेरा (राष्ट्रशक्ति) जो अन्याय करता है, वह विनाशको प्राप्त होता है । हे विद्वान् पुरुष ! यह चुन । अन्नके योग्य उपदेशोंको मैं तुम्हें देती हूँ ।

७. अहं रुद्राय धनुरातनोमि प्रणक्षिपे शरये हन्तवा उ (५)- मैं रुद्र (उग्र, भयकर) शीतोंको धनुष तानकर तंवार कर देती हूँ, इस कारण जानले द्वेष करनेवाले बुधोंका नाश होता है ।

८. अहं जनाय समन् वृषोमि अहं चायापृषिषी भाविषेदा (५)- मैं लोगोंके लिए हर्षदायक परदार्य देती हूँ, मैं चुनोकरने पृथ्वीतक फैली हुई हूँ ।

९. अहं सुभे पितरन्मस्य मूर्धन् (७)- मैं इन राष्ट्रक लिए राष्ट्र रक्षकपर निर्माण करती हूँ ।

राष्ट्रसभाकी अनुमति (कां ७।१२)

१ सभा च मा समितिश्चायता प्रजापतर्दुहितरा सविदाने (१)- सभा और समिति य दोनों राजाको पुत्रियां हू और राजाका संरक्षण करती हू।

२ येना सगच्छा उप मा स शिक्षात् (१)- जिन सभासंसोति म मित्तू, वे मुझ उत्तम सलाह व।

३ चाकू वदानि पितर समतेपु (१)- हे सभा सरो ! म दशमो उत्तम भावण कह।

४ येत के च सभासद ते मे सन्तु सुनाचस (२)- मेरे जो सभासद हू, वे मेरे साथ मधुर बोलनवाले हो

५ विप्रत सभे नाम नारष्टा नाम वा असि (२)- हे सभा ! तेरा नाम हुम जानते हू तेरा नाम अहिसक है।

६ पयामह समालीनाता चर्चा विज्ञानमा दद (३)- इन सभासदोंके पासते म तेज और ज्ञान प्राप्त करता हू।

७ अस्या सर्वस्या ससदो मामिन्द्र भानन कृणु (१)- हे इन्द्र ! इन सभी सभाओंका मुझे भागीदार बना।

(कां ७।११)

१ राधता द्वेषो अभय न कृणोतु (१) गवृओं में भौति उत्पन्न कर हयें निभय करी।

२ सुवीर्यस्य पतय स्याम (१)- उत्तम वीरत्वके हम स्वामी होकर रहे।

(कां. ७।१२)

१ अस्मदाश्विद्वेषे सजुतयुगोत (१)- हमसे द्वेष करनेवाले हमारे घत्र दूर हों।

२ यय भद्रे सोमनसे स्याम (१)- हम कृपाण कारक मनकी उत्तम नियतिम रहें।

(का ७।१३)

१ इन्द्रण मनुना ययमभिप्याम पृत यत प्रन्तो वृत्राण्यप्रति (१)- उल्लाहकपी इ इके साथ रहकर हम चढाई करनेवाले शत्रुको बीतते हू और परतवाले गवृओंको सम्य सहित मार डालते हैं।

(कां ७।१४)

१ क्षत्रभृन् दीदिहीह (१)- अधिपोंका भरप-पोषण कर यहाँ प्रकाशित हो।

२ विभ्या गमाथा प्रमुञ्चन् (१)- तब रोपोंको दूर कर।

३ मानुषामिरथ शिवाभिरथ पारपाहि ना गयम् (१)- मनुष्योंके कृपाणकारक समकालते हमारे घरोंका संरक्षण कर।

४ अपानुवा पनमामिद्व्यन्त (२)- पत्रओंक तहा यकोंको दूर करी।

५ उरु देवेभ्या अट्टणाय लावम् (२)- दिव्य जनोंके लिए विलसत स्थान तयार करो।

६ शुक सशाय परिमिन्द्रातमम वि गधून् तादि वि मृषो जुदस्य (३)- वाण और बच तोषण कर गवृ ओको मार और हिसकोंको दूर कर।

(कांड ६।८८)

१ ध्रुवो राजा विदामथ (१)- इन प्रजाओंम राजाको स्थिर कर।

२ राष्ट्र धारयता ध्रुवम् (२)- राष्ट्रको स्थिरतासे धारण कर।

३ ध्रुवाऽच्युत प्रमृणीहि शनून्, शकुमतोऽथ रान् पादयस्य (३)- अश्वतितिकी और व जते हुए स्थिर होकर शत्रुका नाश कर और हमसे शत्रुत्व करनेवाले दुष्टों को नीचे गिरा दे।

४ प्रवाय त समिति कश्यतामिह (३)- तेरी स्थिरताके लिए राष्ट्रसमिति समथ हो।

(का ६।५४)

१ अरय क्षय धिय महौं सुप्रिरेव वधया सृणम् (१)- जिन प्रकार वर्षों घन घान्य और घास आदि बढ़ती है, उसी प्रकार इस राजाके क्षत्रतेवसे मन और भूमि बढ़।

२ इम राष्ट्रस्याभियर्षं कृणुत युन उत्तरम् (२)- इस राजाको राष्ट्रक मुखर पुत्र्योंन पोष्य और अधिक धन्य करो।

३ सबंधुध्यास्तयुष्य यो अस्मान् अभिवांसति सर्वं ते रुधयामसि (३)- जो हमारा भाई अथवा और कोई दूसरा मनुष्य हम सब बनना चाहता है उन सबका ना। हम करते ह।

(कां ४।८)

१ (यो) भूतपु पय आदपाति स भूतानाम धिपतिर्भूव (१)- जो प्राणिमात्रको रूप बदरे उपजोती पशप देता है, वह प्राणिमोंका अधिपति होता है।

२ स राजा राज्यमनु मन्वतामिदम् (१) - वह राजा इस राष्ट्रका अनुमोदन करे ।

३ अग्निप्रोहि, माष देन, उग्रश्रेता सपत्नहा (२) - खाग ब्रह्म पीछे मत हट, तू उग्रवीर, चेतना देनेवाला और धनुर्बाँका नाश करनेवाला हो ।

४ आतिष्ठ मित्रवर्धन (२) - हे मित्र बढान वाले ! तू अपने स्थान पर स्थिर हो ।

५ श्रिय वसानश्चरति स्वरोचि (३) - सम्पत्ति प्राप्त करके अपन तेजसे वह सभार करता है ।

६ विक्रमस्त्र विशा मही. (४) - महान विशाओंमें तू पराक्रम कर ।

७ विशस्तथा सर्वा वाञ्छन्तु (४) - सारी प्रजाये तुने चाहें, तुमसे प्रेम करें ।

(कां. ३।५)

१ यत्नी बलेन प्रमृणन्सपत्नान् (१) - अपन बलसे जो तपुका नाश करते हू ये ही वास्तवमें बलवान् होते हैं ।

२ मयि धारयताद्दधिम् (२) - मुझमें धन धारण करा ।

३ अह राष्ट्रस्याभीवर्गं निजो भूयासमुत्तम. (२) - मैं राष्ट्रमें और हितकारी पुरुषोंमें उत्तम और उनका अपना होकर रहू ।

४ अस्मभ्य सहायुषा देवा ददतु भवेये (३) - दीर्घायुष्यके साथ भरलभोष्यके लिए देव उसे हमें दे ।

५ त प्रियास यद्दु रोचमानो दीर्घायुःवाय शत शारदाय (४) - मैं अत्यंत तेजस्वी होकर तबकी दीर्घायु प्राप्त हूँ इसलिए उनका प्रिय करता हूँ ।

६ ये घीवानो रथवरा. कर्मारा ये मनीषिण उपस्तीन् पर्णं मद्य त्व सर्वान् कृण्वभितो जनान् (६) - जो बुद्धिमान्, रथकार और स्योहार हू, उन सबको हे परममने ! तू मेरे सामने उपस्थित कर ।

७ ये राजानो राजकृत सूता प्रामण्यश्च ये उपस्तीन् पर्णं मद्य त्व सर्वान् रण्यु, अभिता जनान् (७) - जो सरदार, राजा निर्माण करनेवाले सूत और प्रामनेता हूँ, उन्हें तू मेरे पास उपस्थित कर ।

(कां. ३।४)

१ मा त्वा गन् राष्ट्र सह वर्चसोदिहि (१) - तेरे

पास जो राष्ट्र आया है, उसमें तू तेजके साथ उर्वरक प्राप्त हूँ ।

२ प्राद् विशापतिरेकपाद् त्व विराज (१) - प्रजाका एक प्रमुख स्वामी एक राजा होकर तू विराजमान हो ।

३ सर्वास्वा राजन् प्रदिशो ह्यन्तु (१) - हे राजा ! सब विशाओंमें रहनेवाली तेरी प्रजा तुझे बुलाये ।

४ उपसथो नमस्यो भवेह (१) - पास जाने योग्य और नमस्कारके लायक हो ।

५ त्वा विशो वृणता राज्याय त्वा इमा. प्रदिश. एव्य देवा (२) - इन सब विशाओंमें रहनेवाली तेरी पास प्रकारकी प्रजाये तुझे राष्ट्रके लिए पसन्द करें ।

६ वर्पन् राष्ट्रस्य कङ्कुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा घसृनि (२) - राष्ट्रमें ऊंचे स्थान पर भाइय होकर, दूर दूर होकर हमें धन बढ ।

७ जायाः पुना सुमनसो मधन्तु बहु बलिं प्रति-पद्यास उग्र (३) - पत्नी और पुत्र उत्तम मनके हों, उग्रवीर होकर (प्रजाते) तू कर इच्छा कर ।

८ पथ्या रेवतीर्वधुधा विश्वरूपाः सर्वा. सगल, वरीयस्त अरुन् (७) - तन्मागसे चलनेवाली, वनयुक्त अनेक स्वरूपकी सब प्रजायें मिलकर तेरे सिद्ध भेद्य स्थान तैयार कर रहा हू ।

९ तास्त्वा सर्वा सविद्वाना ह्यन्तु (७) - ये सब प्रजाजन एकमतसे तेरी प्रशंसा करें ।

१० दशमसुप्र. सुमना बधोद् (७) - ती धर्मकी पूर्णवि प्राप्त कर उत्तम मनका होकर यहाँ तू अपने दशमें होकर रह ।

(कां. ६।९८)

१ इन्द्रो जयाति न पराजयाते (१) - इन्द्र विजय प्राप्त करता है । वह कभी भी पराजित नहीं होता ।

२ अधिराजो राजसु राजयाति (१ - तू राजाओं-में अधिक तेजस्वी होकर अधिराजा हो ।

३ चर्कः ए इन्द्र्य घन्घञ्चोपघस्तो नमस्यो भयेह (१) - मधुरबाँके नाश करनेवालेके रूपमें स्तुति करने योग्य, बदनीय, प्रमाणके योग्य और पास जाने योग्य होकर यहाँ रह ।

४ अथस्युस्त्व भूरभिभूतिर्जनानाम् (२) - तू शक्तिमान और लोगोंको सपुड करनेवाला हो ।

५. मयं वैवीर्षिण इमा विराज (२)- वृ न विरज प्रकाशनों पर विराजमान हो ।

६. आयुष्मत् क्षत्रं अजरं ते अस्तु (२)- वृ दीर्घायु हो, तेरो आतनकाल कमो बूढो न हो ।

(कां. ३।३)

१. इयन्तु स्या प्रतिजना प्रतिमिशा अबृपत (५)- प्रयत्न प्रकारके लोग गुण भरके लिए मुक्तमें, मित्र तैरा बन बनावें ।

२. विश्वेदेवास्ते विशि धूममदीधरन् (५)- सब देव तेरो प्रजाका कर्षण करें ।

(कां. ३।५)

१. अहर्षाहि पर्वते शिथिमानं त्वष्टाऽस्मै षष्ठं स्वयं ततश्च (३)- पर्वत पर रहनेवाले अहिको उत्तम पारा, उसके लिए त्वष्टाने तीक्ष्ण बख तैम्पार किया ।

(कां. १।२१)

१. स्वस्तिदा विद्यापतिः (१)- प्रजाको मुख देने वाला राजा हो ।

२. नचिा यच्छ पृतन्यता (२)- संयके साथ आरुपण करनेवाले शत्रुओंको नीचे विरा दे ।

३. अधर्मं गमया तमो यो अस्मै अग्निदासति (२)- जो हूमें दास बनानेकी इच्छा करता है, उन्हें और अधिकारमें डाल ।

४. वि रक्षो वि मृधो जाहि (३)- राजनों और दुष्टोंका बध कर ।

५. अयेन्द्र द्विपतो मनोऽप जिग्यासतो यधम् (५)- द्वेष करनेवाले मनको द्वेषते दूर कर और हमारी शत्रुके नाश करनेवालेको दूर कर ।

६. वि महच्छर्मं यच्छ (५)- हूमें महान् लुच दे ।

७. घरीयो यावया यधम् (५)- बध करनेवालोंको दूर कर ।

(कां. १।३१)

१. स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु, स्वस्ति पोभ्यो अगते पुत्रयेभ्यः (५)- हमारे भातापितामोंका कल्याण हो, मात, प्राची और पुत्रोंके लिए कल्याण शान्त हो ।

२. विश्वं सुभूतं सुविद्यं नो अस्तु (५)- सब प्रकारकी उत्तम शक्ति हूमें शान्त हो ।

४३ [अथर्क. भा २ मनु० श्रुति]

३. ज्योरोष इतोम सूर्यम् (५)- हृष हूर्यको चिर-काल तक देखते रहें ।

(कां. १।२९)

१. अस्मान् प्रह्वणस्वतेऽभि राष्ट्राय घर्षय (१)- हे प्रह्वणस्वते ! हमें राष्ट्रके लिए बडा, हमारी बुद्धि और उन्नति कर ।

२. अग्निवृत्स सपानानभि यानो अरातयः, अभि पृतन्यन्तं तिष्ठ, अभि या नो दुरस्यति (२)- शत्रुओंको पराजित कर, दुष्टोंको दूर कर, तेरा लेकर बढाई करने-वालोंके मुकाबला कर और दुष्ट देनेवालोंका शासन कर ।

३. राष्ट्राय महं यधतः सपत्नेभ्यः पराभुवे (५)- राष्ट्रके हितके लिए और शत्रुओंको हलानेके लिए बह प्रयत्न मेरे शरीर पर गांधी ।

४. यद्याहं शत्रुहोऽसति असपत्न्या (५)- वे शत्रुओंको पराजय करके और शत्रुओंका बध करके शत्रु-रहित होऊँ ।

५. सपत्न्ययणो वृयाऽभिराष्टो विद्यासहिः यथा-हमेयां वीराणां विराजानि जनस्य च (६)- शत्रुओंका नाश करनेवाला, सपत्न्य अपने राष्ट्रका हित करनेवाला, और शत्रुका पराजय करनेवाला होकर इस लोकमें और बीरोंमें न तेजस्वी होऊँ ।

(कां. ३।२९)

१. यत् राजानो विमजन्त इष्टापूर्तस्य पौत्रां यमस्यामी सभासद् (१)- नियन्तनुसार चलनेवाले इस राजाकी सभाके सभासद उपादानका शोचन्त भाग कर रूपते लेते हूँ ।

२. अविस्तस्मात् प्रमुञ्चति वृत्तः शितिपात् स्वधा (१)- यह कर प्रजाकी रक्षा करता है, उसे विनाशते बचाता है और स्वकी पारपामाजित बचाता है ।

३. यो द्वाति शितिपात् अवि अकेन समितं, स नार्कं अय्यारोहति, यत्र शुल्को न भियते अवलेन यलीयते (३)- जो योग इस राजक करको लेते हैं, वे ऐसे स्वर्गमें जाते हैं, जहाँ निर्बलको ब्रह्मान्नेके लिए कुछ देना नहीं पड़ता ।

(कां. ८।३)

१. स नो दिया स रिपः पातु नकम् (१)- यह हूमें दिन रात शत्रुघोषित बधने ।

२. परा शृणीहि तपसा यातुधानात् पराग्रे रक्षसो हरसा शृणीहि (१३)- यातना देनेवालोंको अपने तपसे नष्ट कर । हे जाने ! अपने तेजसे राक्षसोंका नाश कर ।

३. यः पौढपेयेण भवति सभङ्गस्ते यो अभ्ययेन पशुना यातुधाना । यो अभ्यायाः भरति क्षीरमग्रे तेषां शीर्षाणि हरसाऽपि ब्रूय (१५)- जो मनुष्यों अपना घोड़ोंका मांस खाते हैं, जो पायका दूध भरकर घुरा ले जाते हैं, उन दुष्टोंके लिए बलसे शोध डाल ।

(कां. ८१४)

१. तपते रक्ष उन्नतं, न्यर्ययतं, वृषणा समोपृधः (१)- हे बलवान् घोरो ! राक्षसोंको कष्ट देकर उन्हें मार डालो, अथवा बलवानेवाले दुष्टोंको भीषण निरा करे ।

२. परा शृणीतमचित्तो न्योपतं हतं मुदेधां नि शिशीतमस्त्रिणाः (१)- जो अनाकरणाहित दुष्ट है, उनका नाश करो, उनकी नष्ट करो, मारो, भगा दो, घुरसोंको खानेवालोंको विनष्ट करो ।

३. प्रह्लादिपे क्रय्यादे, घोरचक्षुये द्वेषो धत्तमनयायं किमीदिने (२)- जानसे द्वेष करनेवालों, कष्टसे मांस खानेवालों और क्रूर दुष्टोंके साम्ने लोमोंसे द्वेष करो ।

४. दुष्कृतो धर्मे अन्तरज्जरम्भे तमासि प्र विध्यतं (३)- दुष्कर्म करनेवालोंकी अगाध अन्धकारमें डाल दो ।

५. यतो तेषां पुनरेकश्चनो द्यम् (३)- दुष्ट लोगोंमें एक भी फिर न उठे, ऐसा कर ।

६. अधशसाय तर्ह्यं (४)- पापियोंको और विनाशक अश्रुओंकी केंकी ।

७. तद्गामस्तु सहसे मनुमच्छया (१)- यह तुम्हारा जगत् दुष्ट बल तनुओंके बलके लिए हो ।

८. येन रक्षो यातुधानं निजूर्ध्वः (४)- जिसने बलवानेके राक्षसोंका नाश हो, ऐसा करो ।

९. हतं वृशो रक्षसो भृशुरावतः (७)- शोषकारी और विनाशक राक्षसोंको मारो ।

१०. यो मा पाकेन मनसा धरन्तं अभिचष्टे अनुते भिर्वचोभिः (८)- पवित्र बलसे व्यवहार करनेवाले शत्रुओं को अत्याचरणपूर्वकसे विनाश करते हैं, उन्हें दूर करो ।

११. सुधिदानं चिकित्से जनाय सन्धासथ क्वचसी पस्यधाते । तयोर्थेव सत्यं यतरहजीयस्तदित् सोमो-ऽवति हन्त्यासद् (१२)- क्षान प्राण करनेवाले मनुष्योंको

बचाया जाता है, कि सत्य और अत्याचरणपूर्वकसे तपसी होती है । उसमें जो सत्य और सरल है उसकी सोम रक्षा करता है और धनसत्यका नाश करता है ।

१२. न वा उ सोमो वृत्रिनं हिनोति (१३)- सोम कर्पटियोंको सहायता नहीं करता ।

१३. न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तं (१३)- विन्या पारी क्षत्रियोंको सोम सहायता नहीं करता ।

१४. हन्ति रक्षो, हन्त्यासद् दन्तम् (११)- राक्षस और असत्य बोलनेवालोंको यह मार देता है ।

१५. यदि चाहमनृतवेचो अस्मि, मोघं वा देवां अभ्यूहे अग्रे किमस्मभ्यं जातयेदो शृणीये (१४)- यदि मैं असत्यको उपासना करूँ और यदि देवोंकी अप्रार्थना करूँ, तो हे अपने ! क्या तू मूसकर मारना होगा ?

१६. द्रोघवाचस्ते निर्कृत्यं सचन्ताम् (१४)- द्रोहपूर्ण वचन बोलनेवालोंका विनाश हो ।

१७. अथा मुरीय यदि यातुधानोऽस्मि (१५)- यदि मैं घुरसोंकी यातना देनेवाला हूँ तो आज ही मैं मर जाऊँ ।

१८. अथा स चौरैर्दशभिः वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याद् (१५)- जो मूख अहितकको हितक कहता है, वह दसों चौरोंसे विनष्ट हो जाए । (उसकी बातें इन्द्रियोंको क्षति नष्ट हो जाए)

१९. यो मायातुं यातुधानेत्याद्, यो धा रक्षः शुचि-रस्मीत्याद्, इन्द्रस्तं हन्तु महता चपेन, पिभ्यस जन्तेरधमस्पदीष्ट (१६)- जो मूख अहितकको हितक कहता है, जो राक्षस होकर भी स्वयंको दुष्ट धीन पवित्र कहता है इन्द्र उसे महान् शस्त्रसे मार डाले, तब प्राणि-जनोंमें बहु-नीच अवस्थामें पड़वे ।

२०. शुभायत रक्षसः संपिनष्टन (१८)- राक्षसोंको पकड़ो और उनको पीस दो ।

२१. प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तोऽभि जदि रक्षसः पर्वतेन (१२)- सामने, पीछे, आगे, नीचे और ऊपरके राक्षसोंको पर्वतान्तरे मारो ।

२२. इन्द्र जहि पुमांस यातुधानं उत त्रियं मायया शासदानाम् । विभीवासो मुरवेया अश्वन्तु, मा ते दशन्सर्पमुच्चरन्तम् (२४)- हे इन्द्र ! यातना देने-वालोंका नाश कर, तथा कपट व्यवहार करनेवाली विभीषण भी नाश कर । मूख उपासकोंके लिए शोध किए जाए और ये उपते हुए दुष्टोंको भी न देख सकें ।

(कां. १।१९)

१. वैवीर्मनुष्येवो ममाभिमान् विविध्यत (२)- देवीं और मनुष्योंके द्वारा छोड़े गए जान शत्रुओंपर जाकर विरे ।

२. यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ठयः यो अस्मानभिदासति उद्रः शरव्यैयतान् ममाभिमान् विविध्यतु (३)- जो स्वकीय या परकीय, अपनी जातिका या नीच जातिका मनुष्य हमें पास बनाना चाहता है, उसे छ अपने राजासे मार दे ।

३. यः सपत्नो योऽसपत्नो यत्र द्विपच्छपाति नः देवास्तं सर्वे धूर्चन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् (४)- जो शत्रु या विश्व हमसे द्वेष करते हैं, हमें शाप देते हैं, सब देव उनका नाम करें । मेरे अन्तर ज्ञानका कवच है ।

(कां. ६।१३५)

१. यवश्रामि वलं कुर्च इत्यं वज्रमादेदे रक्तधान-मुष्य शातयन् (१)- मैं जो जाता हूँ, उससे अपना बल बचाता हूँ, इसी प्रकार मैं अपने हाथोंमें वज्र धारण कर शत्रुओंके कंधों और बाहुओंको तोड़ता हूँ ।

(कां. ७।१४)

१. श्वीणां च पुंसां च द्विपतां वधं धादे (१)- द्वेष करनेवाली श्वीं या पुंस्यके तेजको हत्ता हूँ ।

(कां. ६।९७)

१. इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रं इन्द्रं सखायो अनुसं-रन्ध्वं प्रामजितं, गोजितं वस्रवाहुं जयभ्रमज्ज प्रमृणन्तमोजसा (१)- हे विभी ! हे उपस्वभाववाले वीरो ! गांव और घाघ बोलनेवाले, बचके समान मुद्र बालुओंवाले, विजयी और घोस्रताले शत्रुओंकी मारनेवाले इन्द्रके अनुकूल व्यवहार करो ।

(कां. ६।६६)

१. निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैर्षा ग्लापयामसि (३)- शत्रु हाथसे रहित हों, मैं उनके अंगोंको विरल करता हूँ ।

(कां. ६।६७)

१. मुह्यन्वयामाः सेना भमिशाभां परस्तराम् (१)- शत्रुसेना मोहित होकर दूर भाग जाए ।

२. मूढा भमिशाभरतारिणीषु हवाहय (२)-

शत्रु पराणोंके समान होकर भटकते रहें और बेतिरवाले सारोंके समान हों ।

३. तेषां वो अक्षिमूढानामिन्द्रो हस्तु चरंवरम् (२)- उन भ्रान्त हुई हुई शत्रुसेनामें श्रेष्ठ श्रेष्ठ सैनिकों को इन्द्र मारे ।

(कां. ४।३)

१. परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तदकरा, परेण इत्यती रज्जुः, परेणायुर्वेतु (२)- भेदिता दूर भाग जाये, घोर दूर भाग जाये, नावित दूर चले जायें और पायो भी दूर भाग जायें ।

(कां. ७।९०)

१. ओजो दासस्य दम्भय (१)- हिसकोंके बलको बध कर ।

(कां. १।७)

१. वि लपन्तु यातुधाना अत्रिजो ये किम्पिदिनः (३)- कथ, यातना देनेवाले खान और लुटाए रोवें ।

२. प्रवीतु सर्षो धातुमानयमस्मीयेत्य (४)- सब कुछ पास आकर स्वीकार करें कि वे कुछ हूँ ।

३. यातुधानान् विहायय (५)- दुर्घोंको बल ।

४. यातुधानानुपवर्द्धा इहा बह, जयैयामिन्द्रो पञ्जेयापि शीर्षायि वृक्षतु (७)- दुर्घोंको प्रापकर यहाँ का और इन्द्र बचसे उनके तिर काट दे ।

(कां. ३।१)

१. विहान्प्रतिदहृषामि शस्तिमरातिम् (१)- हमारे विद्वान् आपसमें मारघोट करनेवाले शत्रुओंको जला दें ।

२. स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवन्ना-तवेदाः (१)- वह अग्नि शत्रुकी सेनाको मोहित करे और उसे हाथसे रहित करे ।

३. ते वज्रः प्रमृणयेतु शत्रून् (४)- तेरा वज्र शत्रुको मारते हुए भागे बड़े ।

४. इन्द्र सेनां मोहयामिशाणाम् (५)- हे इन्द्र ! शत्रुसेनाको मोहित कर ।

(कां. ३।२)

१. मसौ या सेना मरुतः परेषां अस्मानैत्यभ्यो-जसा स्वर्धमाना । तां विध्यत तमसापयतेन पर्येषा-मभ्यो अभ्यं न जानात् (६)- हे मरुतो ! वह शत्रुसेना

जो स्वर्ण करते हुए हम पर आक्रमण करती हुई बली जाती है, उसे तमसात्म्यते बीच से, जिससे कि वे सैनिक एक दूसरेको पहचान न सकें ।

(कां. १।१०)

१. शतं जीवाति शरवस्तपायम् (२)- यह तेरा मनुष्य तौ वर्षकक प्रीणित रहे ।

(कां. ७।११५)

१. रमन्तां पुण्या लक्ष्मीयाः पापीस्ता अननीशम् (१)- जो पुण्यकारक लक्ष्मी है, वह आनन्दसे पूर्ण रहे और जो पापी भावनाएं हैं, वे नष्ट हो जाएं ।

(कां. ६।११५)

१. यद्विद्वांसो यद्विद्वांसो यनांसि चक्षुसा धर्यं यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसा (१)- जिन अथवा धनजाने हमने यदि कुछ पाप किया हो तो हे विश्वदेवो ! तुम एकमत होकर हमें उस पापसे छुड़ाओ ।

२. यदि जाग्रत् यदि स्वप्नेन पनस्योऽकरं, भूते मा तस्मात् भव्यं च दुपदाविच मुञ्चताम् (२)- जागते हुए या सोते हुए मैंने यदि कुछ पाप किया हो, तो जिस प्रकार घन्मेसे वर्षे हुए वस्तुओंको मुक्त करते हैं, उसी प्रकार हे देवो ! मुझे भूल और भविष्यकालके पापोंसे मुक्त करो ।

३. दुपदाविच मुमुक्षाना, स्विश्रः स्नात्या मलाविच, पूतं पथिश्रेणेघार्यं विश्वे शुम्भान्तु मीनसः (३)- कथनसे नित्यप्रकार वस्तुओंको मुक्त करते हैं, स्नानसे जिस प्रकार मत्त बुर करते हैं और जिस प्रकार धी की छान कर मुक्त करते हैं, उसी प्रकार सब देव मुझे पापोंसे मुक्त करके मुक्त करें ।

(कां. ४।३३)

१. अप नः शोनुचदधम् (१-५)- हमसे पाप दूर रहे ।

(कां. ६।२६)

१. पशो सम्मृदपांसि नः (१)- स्वर्णको बचाने रखनेवाला वृ हमें मुक्त करता है ।

(कां. १६।२)

१. मधुमती वाक् ऊर्जा (२।१)- मोठी बानी बाल-बडानेवाली होती है ।

२. मधुमतीं पाचमुदेयम् (२।२)- मे भौरी बाणी बोलूं ।

३. सुधृतो कर्णा, मद्रुधृतो कर्णौ, मद्रं प्लोके भूयासम् (२।४)- मेरे शोनों काण सुन्दर बालें सुनें, शोनों काण सुन्दर शोली सुनें, मैं भी कल्याणकारक काम्य पुनूं ।

४. मूर्धाहं रथीणां, मूर्धा समानानां भूयासम् (३।१)- धनियोंमें मैं ऊंचा होऊं और अपने समानतारके लोगोंमें भी थोड़ा होऊं ।

५. अस्तथायं मे इद्वयम् (३।६)- मेरा सुख दांत रहे ।

६. मां मा प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् (४।३)- प्राण और अपान मुझे छोड़कर न जाएं ।

७. अजैष्वाघासनामापामूमातायसो वयम् (५।१)- आब हमने बिलय प्राप्त करती है और जो कुछ पाप या बुर या लिया है। हृष विष्णव हो गये हैं ।

८. जितमस्माकमुद्दिघ्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं व्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं पीत अस्माकम् (८।१)- हम विजय, उष्य, सरकता, तेज, मान, भावस्थेज, पशु, वयु, प्रजा और बोरसि मुक्त हों ।

(कां. १७।१)

१. यियासाईं सहमानं सासहानं सहीपांसं, सहमानं सहोर्जितं स्थर्जितं गोर्जितं संधनाजितम् ईदयं नाम इन्द्रमायुष्माभूयासम् (१)- अथवा सामर्थ्यवान्, बलवान्, बिजयो, सन्तुष्टोंको बचानेवालो ओजस्वो, रिभिजयो, अपने सामर्थ्यसे कीतनेवाले, भूमि और मन कीतनेवाले इशको मैं प्रायना करता हूँ, उनसे मैं शोषांपुराता बनूं ।

२. यियो देधानां भूयासम् (२)- मैं शोषका शिव बनूं ।

३. यियः प्रशानां भूयासम् (३)- मे प्रजाओंका भी शिव बनूं ।

४. यियः समानानां भूयासम् (५)- अपने समान-तारके मनुष्योंका भी प्यारा बनूं ।

५. त्रिपंश मधं रभ्यतु मा चाहं त्रिपते रधम् (६)- त्रैष करनेवाले मेरे अधिकारने रहें, पर मैं तन्मतिके अधिकारने कनी न रहूं ।

६. सुधापां मा घोहि परमे इयोमन् (१९)- मेरे शिव परम आक्रमणें अमृत रख ।

७. जातिभिः क्षिवाभिः शंतमो भव (१०)- वृ
अपने कल्याणकारक संरक्षणके साथतांति हमें सुख देनेवाला
हो ।

८. लखिरसि रोचोऽसि (२१)- वृ तेजस्वी और
प्रकाश युक्त है ।

९. शुभ्रोऽसि भ्राजोऽसि (२०)- वृ बीयंबवन् और
तेजस्वी है ।

(कां. ८१८)

१. यथा हनाम सेना अमिप्राणां सहस्रशः (१)
- शत्रुओंके हजारों सेनिकोंको हम मारें ।

२. अमिप्रा हृत्स्या दधर्ता भयम् । (२)- शत्रुओंके
हृदयोंमें हमारा भय रहे ।

३. हृत्स्येनान्दधको यधैः (३-४)- मारनेवाला
शत्रुओंके उन बुद्धोंको मारें ।

४. तेन शत्रून्भि सर्वान्पुञ्ज यथा न मुच्यते
कलमभ्यनेपाम् (६)- शत्रुओंको सब ओरसे लक्षिकारणों
का और उनमेंसे किसीको भी भागने मत दे ।

५. नयतामूनृत्युदृता यमदृता अपोम्भत । परः
सदृशा हृत्यन्तां तुषोद्वेनाम्भत्यं भवस्य (११)- हे
युयुदुत धीर यमदृता ! उन्हें ते जाओ, वे हजारोंको सत्यापन
कारे जायें । ईश्वरकी बुद्धिके अनुसार उनका भाग करो ।

६. मामीपां मोचि कक्षान (१९)- इन शत्रुओंमेंसे
कोई छूट न पाये ।

७. अथ पद्यन्तामेपामायुधानि मा शक्यप्रतिधामि-
पुम् । अथेषां वदु विभ्यतामिपचो भ्रन्तु मर्मिण (२०)
- उनके शत्रु नोचे विर जाय, प्रतिपक्षीके बाल सहनेमें ये
धस्तमय हैं । अथ बहुत डरे हुए उन शत्रुओंके सर्वस्वार्थोंको
हमारे बाणोंसे बाँध दो ।

८. इतो जयेतो वि जय सं जय जय (२४)- यहाँ
से भागे अब विजय प्राप्त हो, यहाँसे जीत हो और उन्हें
उत्तम प्रकारसे विजय मिले ।

९. इमे जयन्तु परामी जयन्तां (२४)- उन्हें
विजय मिले और उनके शत्रुओंको पराजय मिले ।

१०. स्वाहोभ्यो दुराहामीभ्यः (२४)- उन
(शत्रुओं) के लिए पुनवकत हूँ और शत्रुओंके लिए शाप
हो । स्वाहा = दुःखार्थीयः; दुराहा = शाप, बुरे शत्रु ।

(कां. ५१३)

१. मर्षां नमस्तां प्रविशन्तस्वयाभ्यक्षेण पृतना

जयेम (१)- चारों दिशाएँ मेरे सामने दुरु जाएँ, तेरे
समान अभ्यक्षके साथ रहकर हम दण्डवतकी जीते ।

२. अरिष्टाः स्वाम तस्या सुवीराः (५)- हम उत्तम
वीर होकर शत्रुओंके सुरक्षित रहें ।

३. मा नो विवद्वृजिना द्वेष्या या (६)- बुद्ध शत्रु
हमें न जायें ।

४. मा नो रीरियो मा परा वाः (८)- हमारा नाश
न हो, तुम हमारा त्याग न करो

५. ये नः सपत्ना अप ते भवन्तु (१०)- हमारे
जी शत्रु हों, वे दूर हों ।

(कां. ११२७)

१. वससृष्टा भद्रायवः (२-३)- पायी सगुण
न हों ।

(कां. ७१५०)

१. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे साय भाहितः
(८)- कृत्य मेरे दाहिने हाथों और जय मेरे बाँये
हाथमें हो ।

२. गोजिदुवासमंभवाजिद्वनंजयो हिरण्यजित् (८)
- मैं पाय, घोड़े, धन और सोने जीतनेवाला हूँ ।

(कां. ३१२२)

१. येन देवा देवतामप्र आयुधेन मामय वर्चसा मे
पश्चाद्विद्वन् कृणु (३)- जिसने तेजसे देवोंकी देवत्व प्राप्त
बुधा उत्त तेजसे आज मुझे तेजस्वी कर ।

(कां. ३११९)

१. संशितं म इदं ब्रह्म संशितं धीर्यं बलं संशितं
अप्रमजरमस्तु जिष्णुर्धैर्यमस्मि पुरोधितः । (१)- मेरा
यह ज्ञान तेजस्वी है, मेरा यह बल तेजस्वी है, यह मेरा
तेजस्वी क्षाप्रतेज क्षीण न हो जिनका मैं पुरोधित हूँ ।

२. समहमेपां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं पलम् ।
वृष्ट्यामि राष्ट्रणां वाहुर (२)- मैं उनका राष्ट्र तेजस्वी
करता हूँ, मैं उनका सामन्त, वीर्य और बल तेजस्वी करता
हूँ और राष्ट्रोंके बहूँ बोटता हूँ ।

३. नीचैः परान्तामधरे भवन्तु ये नः स्मृति मय
यानं पृतभ्यात् (३)- जो हमारे शक्तिपूर्ण और धनिकों
पर संतुष्य भजता है, वह भवनात हो ।

४. क्षिपाभिः ब्रह्मणामिप्राणुष्यामि स्वानहम् (१)
- मैं शत्रुओंको क्षीण करता हूँ और अपने प्राणियोंको
शान्ति प्रकृत करता हूँ ।

५. तीक्ष्णीयांसः परशोरस्त्रोक्ष्णतरा उत । इन्द्र-
स्य वज्रास्तीक्ष्णीयांसो जेषामस्मि पुरोहितः (४)-
जिनका मैं पुरोहित हूँ, उनके शस्त्र मैं तीक्ष्ण करता हूँ और
इन्द्रके वज्रकी अपेक्षाभी तेज करता हूँ।

६. एवामहमायुधा सं स्वाम्येषां राष्ट्रं सुधीरं
वर्धयामि । (५)- उनके शस्त्र मैं तीक्ष्ण करता हूँ और
उनके राष्ट्रोंको उत्तम बोरोंसे युक्त करके बढ़ाता हूँ।

७. एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽ-
ग्रन्तु देवाः (५)- उनकी क्षात्रतेज क्षीण न हो, यह
विजयी हो उनके चित्तोंको तम देव सुरसित रखे।

८. उद्धर्यन्तां मघवन्वाजिनान्युद्धीराणां जयतामेतु
घोषः । (६)- उनकी सेना उत्साह युक्त हो, शीतनेवाले
बोरोंका जयघोष महान् हो।

९. पृथग्घोषा उल्लूयः केतुमन्त उदीरताम् (६)
- शब्दा लेकर चलनेवाली सेनाका जयघोष बहुत ऊँचा हो।

१०. प्रेता जयता नर उग्रा यः सन्तु दाहयः (७)
- आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो, हे उग्रबोरों। जापकी
बाहुयं जय प्राप्त करनेवाली और बोरतापूर्ण हों।

११. तीक्ष्णोपघोऽवलध्वनो इतोप्रायुधा अवला-
नुप्रदाह्वयः (७)- तीक्ष्ण शय से युक्त, तीक्ष्ण शस्त्रों-
वाले तथा वृद्ध और मजबूत भुजाओंवाले गौर कमशोर
धनुषवाले निर्बल सैनिकोंकी मारें।

१२. जघेष्वां वरंवरं मामीषां मोचि फअन (८)-
घानुषेनावसे क्षण्डे क्षण्डे सैनिकोंको मार डाल, उनसे
क्रितीकी भी न छोड़।

(कां ३।२०)

१. ना वर्धया रयिम् (१)- हमारा धन बढ़े

२. प्र षो यच्छ विशां पते धनदा भसि नस्वधम्
(२) हे प्रजाकर्तृके स्वामी ! हमें धन दे। तू हमें धनोंकी
धनेवाला है।

३. सुनुता रयिं देशी दधातु मे (३)- तय, सरल,
रचनावकी देवी मुझे धन देवे।

४. सर्वे इज्जनः संगत्वां सुमना अशदानकामध
नो भुयस् (३)- सब मनुष्य सहायताके लिए उत्तम भक्तके
और उत्तम धान देनेवाले हों।

५. रयिं च नः सर्वधीरं नि यच्छ (८)- तय पुन-
र्वात्रि युक्त धन हूँ यी।

६. प्रापेयं सर्वां व्याकूदीर्मनसा इदयेन च (९)-
मनसे और हृदयसे सब संकल्प हृदय प्राप्त करें।

(कां, ६।५३)

१. पुनः प्राणः पुनरत्मा न येतु पुनब्धुः पुनर-
सुर्न येतु । (२)- प्राण, आत्मा, चक्षु और जीवनशक्ति
हमें फिर प्राप्त हो।

२. सं वर्धता पयसा सं तनुभिरगन्मादि मनसा
स शिधेत । (३)- तेज, बूध, शरीर और शूनसंस्कृ-
युक्त मनसे हम युक्त हों।

(कां, ६।४१)

१. अमर्त्या मर्त्या अभि नः सचध्यमायुर्धसं प्रतं
जीवसे मः (३)- सब देव मनुष्योंमें रहें और हम शीघ-
जीवनके लिए शीघ्रपु धारण करें।

(कां, ४।२२)

१. इममिन्द्र वर्धयं क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं
कृणु त्वम् (१)- हे इन्द्र ! इस मेरे राजा (क्षत्रिय)
को बढ़ा और उसे सब प्रजाओंमें बलवान् कर।

२. निरमिषानकृणुहास्य सर्वास्तान्प्रघवासा भद-
मुत्तरेषु (१)- उनके तम शत्रुओंको निर्बल कर और
उन शत्रुओंको मुकाबलेमें गष्ट कर।

३. वर्धमं क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रुधय
सर्वमस्मे (२)- क्षत्रियोंमें यह राजा नष्ट हो, हे इन्द्र !
उसके सब शत्रुओंका नाश कर।

४. अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विप्रपति-
रस्तु राजा । (१)- वह धनका धनपति हो, यह राजा
प्रजाका स्वामी हो।

५. अस्मिन्दिन्द्र महि वर्वांसि घेष्टवर्चसं कृणुहि
शत्रुमस्य (३)- हे इन्द्र ! उनमें महान् तेज स्थापित कर
और उसके शत्रुओंको निस्तेज कर।

६. येन जयति न पराजयन्ते (५)- जिसने हमेसा
जीत ही मिलती है, पराजय कभी नहीं होती।

७. यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राक्षामुत्तमं
मानथानाम् (५)- जो तुझे सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ, उत्तम
बलवान् और मानकोंके राजाओंमें उत्तम करता है।

८. उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्न्या ये के च राजप्रति-
शत्रुपत्ये । (६)- तू उत्तर हो, तेरा तनु भीचे गिरे, जो
भी शत्रु हों, वे प्रभोगतिकी मारें।

९. सिंहप्रतीको विरोधे अग्निं सर्वां ध्यात्प्रतीकोऽथ वायस्व शश्रून् (७)- सिंहके समान तू प्रजासे सब भागोंको प्राप्त कर, वायके समान सब शश्रूओंको तू सब शश्रूओंको हारान करनेवासा हो ।

१०. एकवृष इन्द्रसखा त्रिगीर्षीं छथूयतामा खिदा भोजनानि (७)- तू ही एकमात्र बलवान् होकर विजयी हो तुमसे शत्रुता करनेवालोंका भोजन छीन ले ।

(कां. ६।१९)

१. पुनन्तु मा देधजनाः पुनन्तु मनवो धिया, पुनन्तु विधा भूतानि पद्मानः पुनातु मा (१)- दिव्य जब मूसे पवित्र करें, मदनघोल लोग मूसे पवित्र करें, विश्वको समस्त प्रजाति मेरी पवित्रताकी रक्षा करे, वायु मेरी पवित्रताको सुरक्षित रखे ।

(कां. ६।१५)

१. सवन्धुक्षासवन्धुद्वय यो मस्मौ अभिदासति तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः (२)- हमारे रिश्तेदार, भाई जयवा शत्रु अपना जो हमारा नास करना चाहता है, उन सबमें में उसी प्रकार उत्तम हूँ, जिस प्रकार वनस्पतियोंमें सोम ।

(कां. ६।४०)

१. अनमित्रं नो अघरात् अनमित्रं न उच्यते इन्द्रा नमित्रं नः पश्चादनमित्रः पुरस्ठधि (३)- इन्द्र नीचेके, उपरके, पीछेके, आगेके और सब ओरके हमें अनुरहित कर ।

(कां. ७।५२)

१. सं जानामहे मनसा, सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन (२)- मनसे हम उत्तम ज्ञान प्राप्त करें,

ज्ञान प्राप्त करके एक भतवाले होकर रहें । दिव्य मनसे युक्त होकर हम आपसमें एक दूसरेसे द्वेष न करें ।

(कां. ५।२०)

१. शश्रूपाप्नीपाडभिमातिपाहो गयेषणः सहमान उद्भित् । वाग्धीव मंत्रं प्र भरस्य वासं सांप्रामजित्याथ शपमुद् यदेह (११)- जिस प्रकार उपदेशक सभाको अपनी आवाजसे भर देता है, उसी प्रकार शश्रूओंको जोतनेवाला, नित्य विप्रयो, शश्रूओंको बशमें रखनेवाला, शश्रूओंको लोचनेवाला, बलवान् और शत्रुको उखाड़ देनेवाला तू अपने शस्त्रसे प्रकाश और पृथ्वीको भर दे और संपन्न जीतनेके लिए क्षत्र और बलकी घोषणा कर ।

(कां. ५।२१)

१. विहृदयं वैमनस्यं पत्रमिध्रेषु दुग्दुभे, विशेपं कश्मशं भयं अमिध्रेषु नि वृधसि (१)- शत्रुके मनमें उदासीनता और म्याकुलता निर्माण कर, विद्रोह, कलह और भय शत्रुओंमें उत्पन्न कर ।

१. पता देवधेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः अमिप्राह् नो जयन्तु (१२)- यह देवसेना सूर्यचिह्नीवाली ध्वजा लेकर एकमतसे शत्रुओंको जीते ।

(कां. ६।८७)

१. मा त्वाहार्पमन्तरभूधुवस्तिष्ठ अपिचाचलत्, विशास्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्यद्राप्यमधि भशप् (१)- तुमसे राजपरी पर विद्याया है । तिर पर हो, ऊपर जा, संवसता छोड़ दे, सब प्रजायें तुमसे चाहें तैरे कारण राज्य नष्टभष्ट न हो ।

अथर्ववेद—

मातृभूमि और स्वराज्यशासन

उ फ म सू ची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१. यस्यां परिचरः आपः समानीः क्षरन्ति (१२११९)— जिस भूमिमें संचार करनेवाले सब जगह पानीके समान समवृत्तिते प्रभव करते हैं।	१४	८. या नक्तं खर्गला इव तन्व गृह्णमाना प्रजिगाति मुहुः अपजिगाति सा अनन्तं यमं पदीष्ट (८५११७)— जो रातको उल्लूके समान अपने परोरको झुपाता है और प्रोह करता हुआ भटकता है, यह गहरे गड्डेमें पड़े।	१२५
२. सा नः माता भूमिः पुत्राय पयः उश्रुतु (१२११९)— यह माताके समान हमारी मातृभूमि, जिस प्रकार माता पुत्रको दूध देती है, उसी प्रकार हम सब पुत्रोंको छाने पीनेके पदार्थ भरपूर देवे।	१४	९. यथा धर्मं परतुः पात्रा इव शकः सतः रक्षतः भिन्दन् (८५१२१)— जिस प्रकार कुत्तुओं में लकड़ों काटती है अथवा जिस प्रकार मिट्टीके अंतर्गत धातुओंके छोटे का सकते हैं, उसी तरह इस राजसत्ताको धार दे।	१२६
३. सभा च सभितिश्चावतां प्रजापते दुहितरौ संचिदाने (७११२१)— कामतभा और राज्यसभिति राज्यमें होने चाहिए और राजा उन दोनोंका वास्तव बोध अपनी पुत्रीके समान करे।	६०	१०. मन्त्रैः मयूररोमभिः हरिभिः आयादि (७११७१)— हे इन्द्र ! मोरोंके सुषर पंक्तोंके समान तबवाले सुन्दर घोड़ोंके तू यहाँ आ।	१३२
४. अस्त्य क्षत्रं महीं श्रियं वृष्टिरिव चर्षेय (६५५११)— जिस प्रकार वर्षण प्राप्त बढ़ती है, उसी प्रकार इस राजाके शासनबल और महान् सम्पत्तिको बढ़ा।	६९	११. पाशिनः विं न रवा केचित् मा वि यमन् (७११७१)— जिस प्रकार पक्षियोंको जालमें पकड़ते हैं, उस प्रकार तुझे कोई न पकड़े।	१३२
५. सु-भुधः समुद्रं न अस्तु अन्तःतस्थि-वांसं द्वीपिन मर्त्यज्यन्ते (५१८१०)— जिस प्रकार उत्तम भूमिभाग समुद्रको सुशोभित करता है, उसी प्रकार अन्तमें रहनेवाले विपाधिपति राजाको प्रजा विभूषित करती है।	७२	१२. खिले विष्टिताः गाः इव एताः एनाः वि-आकरं (७११५५)— जगलमें बँधी हुई गायोंके समान मैं उनकी पतियोंको अलग अलग करता हूँ।	१७६
६. शितिपाद् इरा इथ न उपदस्वपति (६२११६)— कर देनेवाली प्रजा पुत्रोंके समान स्थिर रहती है।	१०५	१३. वृषदाद् इव मुमुक्षाना मलाद् स्विन्नः स्नात्वा इव, पवित्रेण पूतं आन्यं इथ विश्वे मा एनसः शुम्भन्तु (६११५१)— जिस प्रकार लम्बोमें भये हुए पशु होते हैं वयवा जिस प्रकार लालते में ल घूट जाता है, अथवा जिस प्रकार छलनीसे छान कर पौ घूट करते हैं, उसी प्रकार वेच मुझे पानीसे छुड़ाकर पवित्र करें।	१७७
७. अग्निमान् चरः इथ अघशंसं अघं अग्नि तपुः मं ययस्तु (८५१२)— अग्निचर रक्षा हुआ बलवै जिस प्रकार धर्म होता है, उसी प्रकार वृष्टि कर्म करनेवाले पानीको तू ताप देता रह।	१२२		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१४. सः नः सिन्धुसिन्धे नाचाति पर्पो स्वस्तये (४१३१८) - जिस प्रकार मावकी सहायतासे समुद्रके परले पार जाया जाता है, उसी प्रकार तू हमें उस पार पहुँचा ।	१७८	२१. यथा अयि वृक्षः प्रधत् एवा ते कृतं सशमि । (७५०१५) - जैसे बेड़ोंको रोधिया फाड़ देता है, उसी तरह तेरे द्वारा किए गए व्यक्तियोंका पराकाश कर देता हूँ ।	२७९
१५. स्वष्टा सुहिषे बहत्तुं युनक्ति इवं विभ्वं भुवनं चियाति । अहं सर्वेषां पाप्माना यक्ष्मेण समायुषा । (३३३१५) - जिस प्रकार कन्याके विवाहके अवसर पर उसका पिता अपने रामावको देवके लिए दक्षेय अन्न रख देता है, उसी प्रकार मैं पापों और रोगके अन्न होकर शीघ्र प्राण ग्रहण करूँ ।	१८५	२२. अक्षाः फलवती दत्त या क्षीरिणीमिव । सं मा कृतस्य धारया धनु स्नामेव नद्यत् (७५०१९) - हे सानविमान ! तूष देनेवाली गाय के समान फलवती विजयोधा (दीतनेकी इच्छा) हमें दो, जिस प्रकार धनुष्यने बोरी झाँची जाती है, उसी प्रकार तुझे कर्मको धारतासे युक्त कर, मैं हरेका कर्मशील रहूँ ।	२७०
१६. भा पर्जन्यस्य वृष्टयोदस्यामान्मृता वयम् (३३३१११) - जगति विस्रप्रकार वृष्टारि वनस्पतियें मरती हैं और उन्नत होती हैं, उसी प्रकार हम जगति और अमरत्वको प्राप्त हों ।	१८६	२३. हस्ती मृगाणां सुप्रदामतिष्ठावान्भूव हि । तस्य भोगेन वर्धेसाभि पिचामि मामहम् (३१२१९) - जिस प्रकार वधुओंमें हानी प्रतिष्ठित है, उस प्रकार उसके देवमें शेर तेजसे मैं अपना अधिवेक करता हूँ ।	२५७
१७. शुने पेष्टमिवावक्षामि तं प्रत्यस्यामि शुन्यये (६३७३२) - जिस प्रकार कुत्तेके साथमें हुरि बालते हैं, उसी प्रकार हृषे पाप देनेवाले उन हीन मनुष्योंको मैं मृत्युके सामने बाल देता हूँ ।	१९३	२४. आहं तनेमि ते एषो अघि जगामिव धन्वनि । क्रमस्वयी इव रोहितमनघलायता सदा । (६३०१४) - धनुषकी शेरोंके समान तेरे शरीरकी इष्टियोंको अन्वान् करता हूँ । जिस प्रकार रोछ हिरणोंपर हमला करता है, उसी प्रकार तू भी न बचने हुए हसता कर ।	२९२
१८. पुंशुं यद्वाचः परिपस्थजाना अतुस्कुद शरमर्षेन्वृभुम् । शकमस्यधाय विष्टुमिन्द्र (१२१४) - जिस प्रकार वृष (वृष अर्थात् छकड़ोके बने हुए धनुष) ते बघो हुई गावें (गावके लातोंके बनी हुई धनुषकी शेरियाँ) अपने तेजस्वी पुत्रको साथको प्रेमसे और बुलाते छोड़ती हैं, उसी प्रकार तू इन्द्र ! हमसे उस पुत्रको तेजस्वी बालको आगे शेर तक पहुँचा ।	२९४	२५. अथ अस्य पत्नः धनुः इव वा तानय (४१४६) - आज उसकी इष्टियोंको धनुषके समान फंसा ।	२९६
१९. यथा घां व भृथिर्वा चान्तस्तिष्ठति तेज- नम् । एवा रोगं चाग्नस्तिष्ठतु सुख रत्न ॥ (१२१४) - जिस प्रकार घु और धूमकी बोधमें तेज रहता है, उसी प्रकार रोग और लायमें यह पुत्र रहे ।	२९४	२६. क्रमस्वयी रोहितं इव मनघलायता सदा क्रमस्व (४४४७) - जिस प्रकार हिसक पशु हिरणोंपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार तू भी तारा न बचते हुए पराक्रम कर ।	२९६
२०. यथा वृक्षमशानिर्विश्वाहा हन्त्यग्राते । यथा अहमथ कितवत्सैर्विश्वासमग्रते । (७५०१९) - जिस प्रकार बिलोई बूँतोंको मिल्कुम नष्ट कर देती है, उसी प्रकार मैं आज अपने पापोंके मूर्खारियोंको नष्ट कर दूँगा ।	२४८	२७. सिंहमतीक्ष्णो विदो वाधि सर्वा व्याप्र- प्रतीक्षेऽथ वाधस्य शत्रूः (४१२१७) - सिंह और बाघके भंसा प्रतापी होकर तू सब प्रजाओंके योग योग प्राप्त कर और शत्रुओंको नष्ट कर ।	२९६
२४ (अथर्व. भा. २ भा० द्विषो)		२८. योन्वाः इव प्रन्वुतो गर्भः यथा स्वर्वां अनु क्षिय (६१२१४) - जिस प्रकार पूते तरह बड़ा हुआ दर्भ मागके चेटे बाहर आता है, उसी	

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रकार तू इत दुनियामें अनुकूल परिस्थितियोंमें विराल मान हो ।	३१६	करते हुए परजता है, उसी प्रकार तू इतसे विलय प्राप्त करके गरल ।	३२२
२९. सिंह इष जोष्यन् अभितस्तनीहि (५।२०।१)- विषयकी इच्छा करनेवाला मगाना शेरके समान गर्जता रहे ।	३२१	३२. अधिपचणे अग्निः प्राया अंशून् इव गव्यन् वेदः अधिनृष्य (५।२०।१०)- सोम रस निष्कातनेके समय जिस प्रकार पशुपत सोमके ऊपर नाथता है, उसी प्रकार भूमि जीतनेकी इच्छा करनेवाला तू शत्रुओंके धनोपर नाथ-ऊपर अधि-कार कर ।	३२३
३०. वासितां धूपभः अभिक्न्दन् इव त्वं धूप । (५।२०।२)- नाथके लिए बंस जिस प्रकार आमान करता है, उसी प्रकार तू मल्लवान् होकर गरल ।	३२२	३३. धाचं प्रभरस्व वाग्धी मीघं इव (५।२०।११)- उपदेशक जिस प्रकार श्रोताओंमें अपनी उपदेश पहुंचाता है, उसी प्रकार तू अपने भाषणसे आसपासका प्रदेश भर दे ।	३२३
३१. यूये गव्यन् ध्रुवा इव सवृसा संधना-जित् विद्वानः अशिरुष (५।२०।३)- यामोंके इन्द्रमें रहनेवाला साँड जिस प्रकार यामोंकी इच्छा			

अथर्ववेद—

मातृभूमि और स्वराज्यशासन
कांडकमानुसार सूक्तोंकी
अनुक्रमणिका

कांड	सूक्त	मंत्र	श्लोक	कांड	सूक्त	मंत्र	श्लोक		
१	२	४	१३३	४	२९	७	१५७		
	७	७	१५४		३३	७	१८१		
	८	४	१६०		३६	७	१८०		
	१०	४	१६९		३७	७	१९४		
	१९	४	१७६		३८	७	१९६		
	२१	४	१८२		३९	७	१९८		
	२७	४	२४६		३०	८	५४		
	२८	४	२२०		३३	८	१७८		
	३९	क	१००		३६	१०	२२९		
	४१	४	१९		४०	८	१३३		
	२	५	७		८७	५	३	११	१४१
		२७	७		२३८		८	९	१४७
३		१	१६३	१५	११		१५४		
		२	१६४	१६	११		१५४		
३	३	क	७७	२०	१९	३२१			
	४	क	७९	२१	१२	३६४			
	४	७	७३	२४	१७	२८७			
	५	८	७३	६	३	१८१			
	६	८	१२७		४	२	२८२		
	११	८	१५५		१५	३	३०३		
	२०	१०	२५३		१९	३	३०३		
	२२	६	२६५		१६	३	१७९		
	२७	६	२०४		२७	३	१९३		
	२९	८	१०४	३८	४	१६३			
	३१	११	१५०	३९	३	३०५			
	४	३	७	१९५	४०	३	३०८		
४		८	७०	४१	३				
८		७	७०						

कांड	सूक्त	मंत्र	पृष्ठ	कांड	सूक्त	मंत्र	पृष्ठ
४	४३	३	३१८	७	५१	१	१८६
	४७	३	३१०		५२	१	३१५
	४८	३	३०९		५३	१	३१७
	५१	३	३१२		५४	१	१९१
	५३	३	१८७		७०	५	१३८
	५४	३	६९		७७	३	३१६
	५५	३	३१३		७८	३	३१७
	५८	३	३०६		८४	३	६५
	६२	३	३१०		८५	१	६७
	६५	३	१७५		८६	१	६७
	६६	३	१७६		९०	३	१५४
	६७	३	१७६		९१	१	६४
	६९	३	३०७		९३	१	६४
	७५	३	१७७		९३	१	६५
	७९	३	१९१		१०८	३	१५३
	८६	३	३०४		११०	३	१३३
	८७	३	३१६		११५	४	१७५
	८८	३	६८		११७ (१११)	१	१३१
	९७	३	१७३		११८	१	१३३
	९८	३	८७	८	३	१६	१११
	९९	३	३०९		४	१५	१५१
	१०१	३	३११		८	२४	३१६
	१०३	३	१७०		१० (१)	१३	४४
	१०४	३	१७१		१० (२)	१०	४५
	१०७	३	१८६		१० (३)	८	४६
	११३	३	१९१		१० (४)	१६	४७
	११५	३	१७६		१० (५)	१६	४८
	११६	३	३१५		१० (६)	४	५०
	११५	३	३१६	११	६	१३	१७१
	११६	३	३१०	१२	१	६३	११
	११८	३	७६	१३	(१)	१३	२०१
	११७	३	१३९		(२)	६	२०३
	११५	३	१७०		(३)	६	२०३
	११	३	६०		(४)	७	१०४
	१३	३	१४१		(५)	१०	१०५
	४२	३	१९१		(६)	११	१०५
	४६	३	३१९		(७)	१३	२०६
	४८	३	३१३		(८)	१३	१०७
	४९	३	३१४		(९)	४	१०९
	५०	३	१७८	१७	१	३०	११६

अथर्ववेद—

मातृभूमि और स्वराज्यवासन

कांड-सूक्त-विषय-मंत्र-ऋषि-देवताओंकी

अनुक्रमणिका

कांड	सूक्त	विषय	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	पृष्ठ
११	१	१ मातृभूमिका संबिक-म्रीत	५३	अथर्व	भूमिः	११
८	१०	२ विराट्	१३	अथर्वानार्यः	विराट्	४४
		३ विराट्	१०	अथर्वानार्यः	विराट्	४५
		४ विराट्	८	अथर्वानार्यः	विराट्	४६
		५ विराट्	१६	अथर्वानार्यः	विराट्	४७
		६ विराट्	१६	अथर्वानार्यः	विराट्	४८
		७ विराट्	४	अथर्वानार्यः	विराट्	५०
४	३०	८ राट्नी देवी	८	अथर्व	सर्वरूपा, सर्वानिका, सर्वदेवमयी वाक्	५४
७	१३	९ राट्सभाकी अनुमति	४	श्रीतकः	सभा, पितरः, इन्द्रः, मन	६०
७	११	१० राजाका कर्तव्य	१	अथर्व	चंद्रमाः	६४
७	१२	११ राजाका कर्तव्य	१	अथर्व	चंद्रमाः	६४
७	१३	१२ राजाका कर्तव्य	१	भृगुर्ऋषिरा	इन्द्रः	६५
७	८४	१३ राजाका कर्तव्य	३	भृगुः	मातृदेवी अग्निः, इन्द्रः	६५
७	८५	१४ राजाका कर्तव्य	१	अथर्व (स्वराज्यवनकामः)	ताम्रध्वः	६७
७	८६	१५ राजाका कर्तव्य	१	अथर्व (स्वराज्यवनकामः)	इन्द्रः	६७
६	८८	१६ राजाकी विचरता	३	अथर्व	भुवः	६८
६	५४	१७ राट्की ऐश्वर्यकी वृद्धि	३	ऋष्या	अग्निदेवी	६९
४	८	१८ राजाका राज्यनिर्देशक	७	अथर्वऋषिराः	चंद्रमा, आपः, राज्याभिषेक	७०
३	५	१९ राजा और राजाके बनानेवाले	८	अथर्व	सोमः	७३
६	१६८	२० राजाका चुनाव	४	अथर्वऋषिराः	सोमः, शक्रभूवः	७३
३	३	२१ राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना	६	अथर्व	अग्निः, मानादेवताः	७७
३	४	२२ राजाका चुनाव	७	अथर्व	इन्द्रः	७९
६	१८	२३ विजयी राजा	३	अथर्व	इन्द्रः	८३
१	५	२४ अश्रियका धर्म	७	भृगुः आपवंशः	इन्द्रः	८७
१	११	२५ प्रजा-पालक-सूक्त	४	अथर्व	इन्द्रः	९१
१	३१	२६ आशा-पालक-सूक्त	५	ऋष्या	मायापानाः (वासुदेवता) ११	९१
१	२१	२७ राट्-सम्पन्न-सूक्त	६	ऋषिः	ऋष्यवृषतिः	९१
					धर्मोर्ध्वो अग्निः	१००

कांड	सूक्त	विषय	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	पृष्ठ
३	१९	२८ धरसक कर	८	उद्दालकः	श्रितिपाद्भविः, कामः, भूमि.	१०४
८	३	२९ दुर्वीका नास	२६	चातनः	अग्निः	१११
१	१८	३० दुष्टनाशन सूक्त	४	चातनः	अग्निः, यातुधामो	१२०
८	४	३१ मातृदमन	२५	चातन.	इन्द्रासोमो	१२२
७	११७	३२ मातृका निवारण	१	अथर्वाङ्गिरा	इन्द्रः	१३९
७	११०	३३ मातृका नास	३	भृगुः	इन्द्राग्नी	१३३
४	४०	३४ मातृका नास	८	शुक्रः	ब्रह्म, बहुवंशवत्यम्	१३३
१	१९	३५ मातृ-नाशन-सूक्त	४	बह्मर	ईश्वरः, ब्रह्म	१३६
७	७०	३६ मातृदमन	५	अथर्वा	इधेनः देवाः	१३८
६	१३४	३७ मातृका नास	३	शुक्रः	वक्रः	१३९
६	१३५	३८ मातृका नास	३	शुक्रः	वक्र	१४०
६	१०३	३९ मातृका नास	३	जघ्नीषतः	इन्द्राग्नी, बहुवंशवत्यम्	१४०
६	१०४	४० मातृको परानय	३	प्रद्योचनः	इन्द्राग्नी, बहुवंश देवताः	१४१
७	१३	४१ मातृको तेजका नास	९	अथर्वा (त्रियो- वर्चोर्हितुकामः)	सूर्यः	१४२
३	९७	४२ मातृको दूर करना	३	अथर्वा	देवा, मित्रावरुणो	१४३
६	७१	४३ मातृको दूर करना	३	कवाम्यः	इन्द्र	१४४
६	६५	४४ मातृपर विजय	३	अथर्वा	चक्र, ईश, पराशरः	१४५
६	६६	४५ मातृपर विजय	३	अथर्वा	इन्द्रः	१४६
६	६७	४६ मातृपर विजय	३	अथर्वा	इन्द्रः	१४६
५	८	४७ मातृको वधाना	९	अथर्वा	नलाईपदार्थ, अग्निः, विश्वदेवता, इन्द्रः	१४७
४	३	४८ मातृको दूर करना	७	अथर्वा	वक्रः, व्याघ्रः	१५०
७	१०८	४९ दुर्वीका सहार	२	भृगुः	अग्निः	१५३
७	९०	५० दुष्टका निवारण	३	अगिराः	मशेषताः	१५४
१	७	५१ मातृघान मादनम्	७	चातन.	अग्निः (आतवेदाः), अग्नीश्री	१५४
१	८	५२ मातृघान-नादनम्	४	चातन	अग्निः, बहुव्यतिः	१६०
३	१	५३ मातृसेनाका संभोहन	६	अथर्वा	सेनाभोहन, बहुवंशवत्यम्	१६३
३	१	५४ अत्रसेनाका संभोहन	६	अथर्वा	सेनाभोहन, बहुवंशवत्यम्	१६४
१	१०	५५ अतस्य भावभावि पापौते दुष्टकारा	४	अथर्वा	अमुरा, वक्रण.	१६९
११	६	५६ पापते अघनेकी प्रार्थना	१३	प्रताति.	चक्रमा, मशेषताः	१७१
७	११५	५७ पापौ लक्ष्मोको दूर करना	४	अथर्वाङ्गिरा	सविता, आतवेदा	१७५
६	११५	५८ पापते, वक्रता	३	ब्रह्मा	विश्वदेवाः	१७५
४	३३	५९ पाप-नाशन	८	ब्रह्मा	पाम्पनाशनः अग्निः	१७८
६	२६	६० पापौ विचारका भाव करो	३	ब्रह्मा	पाम्पा	१७९
४	२६	६१ पाप-भोचन	७	भृगुः	घाशापूर्विको	१८०
४	१३	६२ पाप-भोचन	७	भृगुः	प्रचेताग्निः	१८१
१	३१	६३ पापको विमृति	११	ब्रह्मा	पाम्पहृ	१८४

काष्ठ	सूक	विषय	अध्याय	श्लोक	देखता	पृष्ठ
७	६४	६४ पापसे धनार्थ	१	यम	मन्त्रोक्ता, निश्चयि	१९१
७	४९	६५ पापसे मुक्तता	१	प्रश्नकार	तोमाद्यती	१९१
९	११३	६६ ज्ञानसे पापको दूर करना	३	अथर्था	पूजा	१९२
९	३७	६७ पापसे हानि	३	अथर्था	छात्रमात्र	१९३
[स्वतन्त्रयनकाम]						
४	१७	६८ पाप-मोक्षण	७	मुग्धर	मद्यत	१९४
४	१८	६९ पाप-मोक्षण	७	मुग्धर	अथर्था	१९६
४	२९	७० पाप-मोक्षण	७	मुग्धर	विश्रावणको	१९८
१६	१	७१ दुःखमोक्षण और विजयप्राप्ति	१३	अथर्था	प्रजापतिः	२०१
		७२ दुःखमोक्षण और विजयप्राप्ति	६	अथर्था	प्रजापति	२०३
		७३ दुःखमोक्षण और विजयप्राप्ति	६	अथर्था	प्रजापति	२०३
		७४ दुःखमोक्षण और विजयप्राप्ति	७	अथर्था	प्रजापति	२०४
		७५ दुःखमोक्षण और विजयप्राप्ति	१०	अथर्था	प्रजापति	२०५
		७६ दुःखमोक्षण और विजयप्राप्ति	११	अथर्था	प्रजापति	२०५
		७७ दुःखमोक्षण और विजयप्राप्ति	१३	अथर्था	प्रजापति	२०६
		७८ दुःखमोक्षण और विजयप्राप्ति	३३	अथर्था	प्रजापति	२०७
		७९ दुःखमोक्षण और विजयप्राप्ति	४	अथर्था	प्रजापति	२०९
१७	१	८० अग्नि अम्बुद्वयके किये प्रायश्चा	३०	ब्रह्मा	जादिय	२१६
८	८	८१ पराशरसे विजय	२४	भृशपिटा	इष्ट, वनस्पति, परमेवामहमन च	२२६
७	११८	८२ विजयकी शार्पणा	१	अथर्था	छत्रमा, बहुवैश्वानरम्	२३३
१	९	८३ विजय-सूक्त	४	अथर्था	पञ्च (पुषिषी, इन्द्र, चन्द्रमास्य)	२३३
३	१७	८४ विजय-प्राप्ति	७	अथर्था	वनस्पति, इष्ट, इन्द्र	२३८
५	३	८५ विजय-प्राप्ति	११	बृहद्विद्वोऽथर्था	अग्नि, विन्देदेवा	२४१
१	१७	८६ विजयो स्त्रीका पराक्रम	४	अथर्था	इन्द्राणी	३३३
७	५०	८७ काम और विजय	९	अथर्था	इन्द्रः	३०८
३	२३	८८ अर्थप्राप्ति सूक्त	६	अथर्था	अग्नि, बृहस्पति, विन्देदेवाः	२५३
३	१९	८९ काम और शीर्षकी वैश्विक्ता	८	अथर्था	विन्देदेवा, अथर्था, इन्द्र	२५५
३	३०	९० वैश्विक्ताके वाप अम्बुद्वय	१०	अथर्था	अग्नि अग्नीस्तदेवता	२५९
६	३८	९१ वैश्विक्ताकी प्राप्ति	४	अथर्था	अथर्था, बृहस्पति	२६१
३	३७	९२ अम्बुद्वयकी रक्षा	६	अथर्था	अथर्था	२६५
६	३	९३ रक्षाकी शार्पणा	३	अथर्था	नानादेवता	२८१
६	४	९४ रक्षाकी शार्पणा	३	अथर्था	नानादेवता	२८७
६	५३	९५ अपनी रक्षा	३	बृहस्पति	नानादेवता	२८४
६	१०७	९६ अपनी रक्षा	४	अथर्था	विन्देदेवा	२८६
७	५१	९७ रक्षाकी शार्पणा	१	अथर्था	इन्द्रादेवता	२८६
५	१४	९८ सुरादेवताकी शार्पणा	१७	अथर्था	बृहस्पति, नानादेवता	२८७
६	४७	९९ अपनी रक्षाकी शार्पणा	३	अथर्था	अग्नि, विन्देदेवा, पुष्यमा	२९०

काण्ड	सूक्त	विषय	मन्त्रसंख्या	नामि	देवता	पृष्ठ
६	७९	१०० हमारी रक्षा	३	अपर्वा	सस्वानम्	१७१
६	१०१	१०१ बल प्राप्त करना	३	अवर्वागिरा	ब्रह्मणस्पति	१७१
६	७१	१०२ अपनी अनिष्टका विस्तार	६	ब्रह्मा	चंद्रमा, बृहस्पति	१७१
५	१०	१०३ अंतमबल	११	विश्वामित्र	एकवृष	१७४
५	१५	१०४ सत्यकी विजय	११	विश्वामित्र	मण्डला वनस्पतिः	१७४
४	४	१०५ बलसंबंध	८	अवर्वा	वनस्पति	१७५
४	६०	१०६ क्षान्दबल-संबंध	७	वसिष्ठ अपर्वा वा	क्षत्रियो राजा, इन्द्रवज्र	१७७
४	३६	१०७ सत्यका बल	१०	बातम	सत्योना अग्नि	१७९
६	१७	१०८ आत्मपुष्टिके लिये प्रायना	३	शालाति	चंद्रमा, नानादेवता	२०३
६	१५	१०९ मैं उत्तम वनगा	३	उद्दालक	वनस्पति	२०३
६	८६	११० सबसे श्रेष्ठ हो !	३	अपर्वा	एकवृषः	२०४
६	१९	१११ यज्ञाची होना	३	अपर्वा (बर्वाकाम)	रिषि, बृहस्पति	२०५
६	५८	११२ यज्ञकी इच्छा	३	अपर्वा (यज्ञाकाम)	बृहस्पति, मन्वोरता	२०६
६	६९	११३ यज्ञकेलिये प्रायना	३	अपर्वा	बृहस्पति, अग्निनी	२०७
६	४०	११४ निभयताके लिये प्रायना	३	अपर्वा	मन्वोरता	२०८
६	४८	११५ कल्पना प्राप्तिकी प्रायना	३	अगिरा प्रचेता	मन्वोरता	२०९
६	७७	११६ कल्पनाके लिये पत्न	३	अपर्वा	इन्द्र, घोरा यज्ञि वा वा	२०९
६	६७	११७ अपनी पवित्रता	३	अपर्वा	राज, मन्वोरता	२१०
६	५५	११८ उत्तम मापसे जाना	३	ब्रह्मा	विश्वदेवा, इन्द्र	२११
६	५१	११९ अतर्वाह शुद्धता	३	शालाति	अग्नि, वरुण	२११
७	४८	१२० पुष्टिके प्रायना	२	अपर्वा	राजा	२१३
७	४९	१२१ सुखकी प्रायना	२	अपर्वा	बेधपानी	२१४
७	५१	१२२ उत्तम ज्ञान	२	अपर्वा	ज्ञानतप्य, अग्निनी	२१५
६	१११	१२३ अथनसे छूटना	४	कोशिका	मन्वोरता	२१५
७	७७	१२४ अथनसे मुक्ति	३	अगिरा	मन्वोरता	२१६
७	७८	१२५ अथ-मुक्तता	३	अपर्वा	अग्निः	२१७
६	४३	१२६ ओषका ज्ञान	३	भुवगिरा	मन्वोरता	२१८
७	४६	१२७ तिष्ठिकी प्रायना	३	अपर्वा	क्षितीवाली	२१९
६	११५	१२८ पुत्र-साधन रथ	३	अपर्वा	वनस्पति	२१९
६	१२६	१२९ वृद्धि	३	अपर्वा	वृद्धि	२२०
५	१०	१३० वृद्धिका घोष	११	ब्रह्मा	वनस्पति, वृद्धि	२२१
५	२१	१३१ वृद्धिका घोष	१२	ब्रह्मा	वनस्पति वृद्धिः	२२४
६	८७	१३२ राजाकी स्थिरता	३	अपर्वा	धृष्ट	२२६
७	३१	१३३ दूर बीर	१	मतीव, काश्यप	अग्नि	२२७
६	६	१३४ दूर पुत्र	८	अपर्वाके पुत्र	वनस्पति आदयः	२२७

अथर्ववेद-

मातृभूमि और स्वराज्यवासन

अथर्ववेद-मंत्रसूची

मंत्र	पृष्ठ	मंत्र	पृष्ठ	मंत्र	पृष्ठ
अंशो भगो वक्ष्मो	२८२	अतिरुद्रो अर्षो वृषमो	१०२	अभि तं विष्कति।	३०१
अक्षः पतवती घर्षं रत्नं वा	२५०	अत्रैरानिद्रं वृषङ्गुमो	१४२	अभि त्वा घेवाः वलितानिः	१००
अक्षो च ते मुञ्चं	१५१	अदन्वो विभि पुषिःश्यामु	२१८	अभि त्वां वक्ष्मो	७१
अक्ष्मन् स्वः रवरागम	२०९	अदो वरेभि प्रथमालां	२५	अभि त्वां वक्ष्मो वरुः	३०२
अक्ष्मन् रवरागम	१३३	अदुग्गस्ता राजा वक्ष्मो	७८	अभि त्वां वक्ष्मो वरुः	७०
अक्षिः पूर्वे कां रमतां	१५५	अद्यो अय वरितराव	२९६	अभिभूर्यो अमिभूरि	१४३
अक्षिः प्राणान्द्रं वक्ष्मि	१८५	अद्या सुरीयं वरि धनुषानो	११५	अभिभूर्यं स्रपक्षानभि	१००
अक्षिः प्राणान्द्रं वक्ष्मि	२९०	अद्योऽयं वरिः-वो गृहः	१३९	अग्नीर्तेन वपिवा	१००
अक्षिः प्रवो वनस्पतीव	१७१	अधि नो मूर्त्तं पृथनास्यी	१२७	अभीष्टतो अभिमवः	१०१
अक्षिः रिवं वा तपति	१७	अधिमर्त्तं नो अधरादनमिर्त्तं	३०८	अभिप्रष्टेनां मवक्ष्मरमाव	१९३
अक्षिः वज्रम्	१६२	अनापिभ्यतो वपानविभेः	२०६	अमां ये पुष्यमावर्ति	१४१
अक्षिः वृद्धः प्रत्येव	१६४	अनादृशो जातवेदा अयायौ	६५	अर्षानां पितानि	१६५
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	१७	अनाकोऽसि मृदुरसि (१, ९)	२०५	अमृतमवप निः	१२६
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	२११	अनादृशं जागमहीन्नात	२१६	अमृः पारे वृदाक	२४६
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	२८७	अनादृशे नभसी घोषो अद्यु	१६२	अमं वो भूरिभूतः	३१८
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	१७	अन्यप्राप्तगन्धुः-भुत धरुहाधो	१७७	अमं होको जातमहीन्द्र	२२७
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	११६	अप ना घोषुवक्ष्मो	१७८	अमं वज्रस्तर्पितामृतस्वः	१३९
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	१५९	अप- सनुहादिपुत्र	१७५	अमं स्तुवान् आपमदिमं	१६०
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	१११	अपाधो ते नमो वाहु	१६८	अमं ते वोविभेभ्यो	१५९
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	२४१	अपानाय शानाय प्राणाय	१७२	अमं दमो विमन्तुः	३१८
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	१८१	अपानमवपि वसुदं	२०६	अमं देवजामहुरो	१६९
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	७७	अपां रवः प्रथमोऽवो	२७६	अप भो नभस्यपतिः	१९१
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	७९	अपि नक्षामि ते वाहु	१३८	अपममि वरपतिः	३६७
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	३०५	अपि वृष पुशाववद्	१५४	अपममि र्व्युद्वानि	१६४
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	३१३	अपेन्द्र द्विपतो मनीऽप	९९	अपेन्द्र धनपतिः	२९७
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	१३८	अपो वामदेव्यं वक्ष्मं	७६	अपो दंष्ट्रो अर्षिवा	१११
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	१४९	अपो वादरेऽपेन वक्ष्मं	४६	अपानाम्मो वक्ष्मि	१७३
अक्षिः र्व्यामोषधीषु	२०५	अपयं वारा वृषिबी	३०८	अपिवा आपो अप	२०९

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
अर्थमर्थं भुवस्वति	२६०	आदानेन वंदानेना	१७१	इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि	२०२
अर्थाभिर्दृष्टसुतो	२६३	आदिप्य जगत्तु एतन्न	३७५	इन्द्रस्यैको वरुणाम्नीकं	३२०
अथयन्तामेवामासुचानि	२६७	आशिय नावान्धः	२२७	इन्द्रा वाहि मे हवमिदं	१७७
अथ यन्तुवापताय वाहु	२७५	आदिरवा इन्द्रा मद्यो दिवि	१७२	इन्द्राद्योमा तपतं रथ	१२२
अथ मा याम्पन्धुव	१७७	आ यवैर्वास्व इष्टवो	१८६	इन्द्राद्योमा दुपकृतो यमे	१२१
अथयथा वरा वत	१५७	आयो अस्मान्मातरः सुदन्तु	३१२	इन्द्राद्योमा गति वां भुज	१२३
अथ इव रजो दुधुवे	२६	आ य इव परमस्याः परावतः	८०	इन्द्राद्योमा वर्तमती दिवस्प०	१२१
अथस्याधुतरया	२७६	आ यन्नेरेन्द्र इरिभिर्वाहि	१३२	इन्द्राद्योमा वरुषत दिवो	१२३
अथिना वासि मित्रा	७९	आ मास्वत्कर्णमिर्द्विर्वा	७३	इन्द्राद्योमा समपरोक्षमभ्यं	१२१
अथिना वारथेय मा	३०७	आयमगमर्णमिर्द्विर्द्वी	७३	इन्द्रेण यन्तुना यमममि	६५
अथ च मे अश्रितिय मे	२७५	आहुम्भताजुस्तता	१८६	इन्द्रेण यन्तुनाः परेहि	८०
अथति छाप्रक्षिप्रितं	२१७	आ रमस्य जतवेदोऽरमा	१५५	इन्द्रो वयाति न परा मवाता	८६
अर्धतापं मे इदवगुर्वा	२०७	आ यूपायस्य अथिहि	२७१	इन्द्रोः दिवोऽथिवितिः	२८८
अर्धतापे सुप्रवधी	१८०	आद्यानाम्याद्यापेभ्य	७३	इन्द्रो मय्यतु मयिवाता इन्द्र	२२६
अर्धबाधं कथ्यतो	१२	आहं तवो दि वे पथी	२२२	इन्द्रोः यातुनाममवय	१२६
अथी या सेना मङ्गाः	१६५	आहं तवोमि ते पथो अथि	२७६	इन्द्रो इ चके त्वा	२१८
अस्तंये नमोऽरत	२१०	इतो अयेतो वि जय तं	२३०	इव उता सु-युधाया	६२८
अस्मै अजमभदीयोमायस्ते	६९	इवं यत् कृष्णः शकुनिरभि	१२१	इममिन्द्रं वषय	२७७
अस्मै अत्राणि आरुणतै	३१७	इवं यत् कृष्णः शकुनिरवा	१७१	इमं वीरमत्तु इष्यन्तु	१७३
अस्मै प्रामाण्यं प्रमिष्टाः	३०८	इवं इरिभित्प्रधानात् नथी	१६०	इरेव नोप इरयति समुद्र	१०५
अस्मै दानाशुपेवी	२७८	इवं तपुज वतामिन्द्रं	६९	इह य मूहि यतना वी अमे	११२
अजामरवा हन्विवा	२३	इवं तमति अत्राणि तं	२०२	इहेनेपि माप अयोथाः	३२६
अहं राश्रीं समपनी	५४	इवं तूतीथं सवनें कवीनाम्	२२०	इहे अमिं स्वरासु यम	६७७
अहं शतप यन्तुरा	५५	इदमहमासुमायवो सुध्याः	२०७	उरुवैर्धोवो दुःसुभिः	६५१
अहं अदभिवैद्युभिः	५४	इदमादानमकरं तपठेन्द्रेण	१७२	उरुसुभोवपीनां वार	२७६
अहं धुवे पितरधरव	५५	इदमरुवाय वरिषाऽराय	२१२	उत मा अगन्तु देवपत्नीः	३१७
अहं सोममाहमथं	५५	इन्द्र एतमदीपारं धुर्वं-	३२६	उतं प्रशामतिपीवा	२७७
अहप्रदिं पर्वते	८८	इन्द्राः सेनां कोहवत्	१७७	उतारम्भान्स्वगुहि जातवेद	११२
अहर्भिरभ सहमान्तरतैः	५५	इन्द्रः सुप्राना रथवो	६७	उतमो अस्वोवपीनां तप	१०३
अहमेव वात इव	५५	इन्द्रं अथममि वाम	६५	उतारुः वमधरे वे उपरना	२७८
अहमेव स्वयमिद	५४	इन्द्रं चित्तानि मोहवन्	१६५	उत्समक्षितं स्वचन्ति मे सुवा	१७७
अहोरात्राभ्यां यक्षप्रेतय	७३	इन्द्रं जठरं नम्योः न युषस्व	८७	उदयातां मगवतीं सिवृतीं	३१६
अहोरात्रे इवं प्रमः	१७२	इन्द्रं अथि पुर्वाधं वातुपानमुत	१२७	उदयारुवनादिवो विषेन	२२०
अहो मन्त्रय वज्रमोत्रो	२३१	इन्द्रं सुवस्व य पदा यधि	८७	उदयो सुवो भगवतुर्पि	१०१
आजयस्य परमेष्ठिन्	१५५	इन्द्रं शशू तमविह	२६०	उदायुवा समायुवोपोपीनां	१८६
आतन्वाया आयच्छन्तो	१४६	इन्द्रं यथाय प्रपन्नं	१४६	उरितरुयो अकमम्भ्यानाः	१५०
आतिष्ठन्ते परि विधे	७१	इन्द्रं सेनां मोहयामिवाणाम्	१६७	उदितुदिदि हर्षं रव्यजा (३-७)	२१७
आ त्वा अत्राष्टं अह	७२	इन्द्रस्तुराणाम् मित्रो वृत्रं	८८	उदीपी दिक्थोमोऽपिपतिः	२६७
आ त्वा निशान्तु उताय इन्द्र	८८	इन्द्रस्य तु प्रा सोचं वीवाणि	८८	उदीराणा उतापीनां	१९
आ त्वा ह्यर्भन्तराम्	१२६				

मंत्र	शुद्ध	मंत्र	शुद्ध	मंत्र	शुद्ध
वज्रपा वज्र सुर्वे उदितं	२९५	ऐतु नम्रा वृषाजिन इतिवत्सा	१७७	तथाई वज्रवृषाङ्ग इन्द्रः	१३८
उदरपन्दा मधुक्वाजिना	२५३	ओषधीरेव रथमारेण देवा	४६	तदमाव पितृभनः	४३
उषते मम उदावते मम	२९०	ओषधीरेवारमे रथनरै	४६	तस्म्यस्तु	२०७
उद्वेगमाना मनुष्या बहुधा	३२४	क्व इदं कस्या अवात्कामः	१०१	तस्यादेवेभ्यो	४७
उप तथा देवो अप्रमोक्ष्यममेत	१३३	कस्याणि सर्वविदे वा	२८६	तथावृत्तस्ततीना	४६
उक्त प्रागाःषट्साखो सुकथा	१९३	कुम्भोहा वृषीना	२०९	तस्मान्मनुष्येभ्यः	४७
उक्त प्रजादेवो आसौ	१९०	कुर्वं मे दक्षिणे इस्ते कथो	२५०	तस्य मार्कं एवं जहि	२३९
उक्त श्राद्धवृष्टिदीमुष्ट यां	३५०	कन्यवर्षापरयोः सुनो	१७१	तस्या इन्द्रो कश्च भास्वीद	४६, ४८
उपास्वास्ते अनमीवा	१७	गन्धर्वाःऽऽरसः सर्वाः	२२८	तस्याः कुर्वेते	४२
उपहृते मे गोपा उपहृते	२०३	गिरधरते परता द्विमन्त्रो	१५	तस्या मनुष्यैश्चरतो	४८
उमाभा देव उचितः	३०३	गिरावरगाऽप्ये द्विभ्ये	३०७	तस्या यमो राजा	४७
उमोभयाविनुव धेहि	१११	शुद्धमेयी सुहृपतिः	४४	तस्या विरोचनः	४७
उद्वेगमानो महिषः शनै	२४५	गोमिश्रैरमावति	२५०	तस्याभिरारयः	४९
उद्वेग मा चमपय मा	२०३	गोधर्षि वत्सुदेवं वर्चसा	२६०	तस्म्यस्तुतः	४९
उद्वेगमानं शुशुभ्रुःक्याः	१५६	गोधर्षते भूमि कर्षणि	२१	तस्या ओमो राजा	४८
उद्वेगमतिवचरपतिना	२०६	गोमो देमरतः शिषिणे	३११	तस्यैवं वर्चा तेजः	२०७
उदा देवी वावा संविकारो	२०६	घर्मः घमिरो अग्निमार्वं	२१८	तां रजतमामिः हविरेको	४९
उदो यस्याद् दुष्प्रमाद्	२०५	चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मे	२९७	तां वसुधनिः शीर्षे	४९
उदं एहि रथम एहि	४६	चंद्रमा नक्षत्राणामपिपतिः	२८८	ता ना प्रजः धं दुद्रुवां	४७
उर्षा विरुद्धरपतिरपि	१६८	ज्वरं विप्रती वज्रपा	२३	तान्क्षय निः शशीदि	१९८
उसुतान्म वानुपतीन्	१७३	जामद् दुष्प्रजवं स्वमे	२०६	तान्क्षयिजाः प्र दहन्तु	१९९
उसतेन युत मनुमिध सर्वैः	२११	जितान्मनाः सुद्विषं २०७, २०८, २०९	२३३	तां तिष्ठेयमितरजन्त उव	४९
उसुमिध अवच्छन्दा	३०९	ज्याके वरि यो नमाराजानं	१३३	तां देवमनुष्याऽमुष	४५
उसुमीनां प्रस्तरोऽसि	२०३	ज्यायोवा दुन्द्रुमरोऽभि	१३५	तां देवा उचितः षोका	४८
उसुतान्म उद्वेगो मर्यादय	१७६	तां जहि तेन वंदत्य	२०७	तां हिमूर्वाभ्यो	४७
उसुतान्म मे दश व	२९७	उतस्तदापदास्ते मावन्तु	२८९	तां वृषाद् वृषावतोऽ	४९
एत उ रथे पतनानित धमातव	१९६	तसा भवरे ते मावन्तु	२८९	तान्मको कर्षणेऽयोषो	४७
एत देवा दक्षिणतः	१७३	तदमि राह तपु ओम आह	२०९	तामुपह्वयन्त	४५
एता एता भ्याकरे पिमे वा	१७६	तदमे वसुः प्रति मेहि देभे	११५	तान्मर्षा देवा उप शीर्षिते	४८
एता देवकेनाः सुर्वैःकषः	३१५	तदमुष्मा अमे देवाः परा	२०६	तां वृषी रेन्तो	४८
एतः सिकः परावत एतं	१७५	तद्ब्रह्म न तपय	४८	तां वृष्यादिः काहिरको	४८
एतः भ्याद् परिपस्वजानाः	७१	तद्विषं तर्षा उपवीथ	४९	तां मायामसुष उप	४७
एतः अत्र प्राप्ते क्षयिषु गोऽ	२९७	तद्वामो एवं विदुदे	५०	शिमयतीकं विरिती	१९५
एतदेवान्म वा याद	२०७	तं तथा हवन्त तथा सं विध	१०५	शिमय मे विद्ययच्च मे	१९७
एतमहमावुषा-	२५६	तं त्वा हवन्त तथा सं-	१०५	शिमो देवीर्षि नः शमे	१७२
एतमहः यमाधीनानां बर्षो	६०	तदो मरिय विद्यावलां	१००	तीक्ष्णमासे वसुधा रथ	१११
एतमहः यमाधीनानां बर्षो	१४१	तं दुर्षं वग्धं वग्धर्षो	४९	तीक्ष्णीनाः परादेभिः	१५६

संज्ञ	पृष्ठ	संज्ञ	पृष्ठ	संज्ञ	पृष्ठ
दुपयामदुराणां विद्याम	२४९	देवानामेनं पौरैः क्रूरैः	२०६	पञ्च राज्यानि वीरवां	१७१
तेऽधरात्र प्र क्रमवर्षा	२५८	देवानां पत्नीसद्योऽरन्तु नः	२१४	पञ्चापूर्वं शितिशारदमिं पि.	१०५
ते क्रुर्वे च धस्य च	४८	देवीः पद्मवीरुह न. ह्युगोति	२४९	पञ्चापूर्वं शितिशारदमिं सू.	१०५
तेन तमभ्यतिदुःखामो	२०२	यावापुविषी दातुगाममिषन्ती	२८७	पद्मा देवतीर्तुषा विरुषाः	८०
तेनैवं विष्ण्यभ्यभूयेनं	२०६	योष्य म इह पुषिवी भ.	२५	पयो धेनुतां रघमोपधीनां	१९४
तेऽमुष्मे परा वदन्तु	२०६	योष्य मे इदं पुषिवी प्र.	२८४	परां ह्य अरन्तु तन्वातना व	१२४
सन्तु पु वाजिन	६७	दुपरादिष्य दुमुचानाः स्विनः	१७७	परां ह्य परावतं इन्द्रो	१४५
यातामिन्द्रमवितारमिद्र	६७	द्रापकथा निहितं विरुष्य	१९३	पराभिषाः प्र प्रकटाग्निना	२२९
प्रायमासे विषञ्जिते	२८६	विपते तवरा वद सवते	२०५	पराय देवा रुजिन द्युनन्तु	११४
श्रिते देवा अचुजत	१२९	दिमो नो विषतोमुञ्जति	१७८	पराशिशान्दुन्नुमिना इरिगवथ	३२५
दिपानुचानः प्रमिति	११३	द्रे च मे विंशतिष्य मे	२९४	परा शूचीदि तपसा	११३
त्वय्यात्रारुपयि	१६	धारा विधाता भुवन्स्य	२४२	परि नो वृष्टिं श्रमथ	१९३
त्वं रक्षते प्रविशद्यतसः	२१९	धिये समधिना प्रायतं न	२८१	परि शामे पुरं ववं विरं	११५
त्वं हि विषतोमुञ्ज	१७८	धीमिः कृता प्र वदति षावम्	३२३	परि द्या इत्यस्य वाहू	३१०
त्वं तृप्तं त्वं पर्यमुत्सं	२१३	भुवं ते एवा वरुषाः	६८	परि शर्मति सर्वं वरुषः	१४६
एव म इन्द्र महते	२१७	भ्रूना दिविष्युतुभिषतिः	२६७	परीहृतो ह्यज्ञाय वनेगाई	२२१
एवं न इरीतिमिः	२१८	भ्रवोऽस्तुतः प्र सूचीदि	६८	परायामन्वपराहाः कृणोतु	२२६
एवं नो भमे अग्निभिर्दश	२६०	ध्रुवा चौर्धुषा ध्रुविनी	६८	परिेन्द्र पया वृकाः	१५०
एवं नो भमे अथराहू	११५	न न् प्रत्याह्वयामनथा त्वा	५०	परीऽग्निं तनुपान. सभोनिः	७४
एवं नो ममहसत ऊर्नं	२९१	न विशासैः सं अन्तांनि न	३००	पवमानः पुषात्त वा	३०३
एवमसे यादुधालान्तु	१५५	न वदथ समघावर्षाभिर्दश	६४७	पथास्तुरस्ताववरादुतोत्तारव	११५
एवमयावधमी अजानां	९७	नमस्ते राजन् वदथा	१६९	पश्याम ते वीरं प्रातवेदर	१५५
त्वमिन्द्रसर्वं मर्दंरसर्वं	२१९	नवतामृगानुदुदा	२२८	पाटाभिन्दो अथाहाद्	२३८
शामिन्द्राभिषासः अरस्तुसर्वं	८७	नथ च मे नक्षत्रिष्य मे	२९५	पातं न इहापुष्यवादिताः	२८१
शामिन्द्राति विशञ्जितेर्ष	२१८	न मा उ घोषो ध्रुविर्न	१२४	पातां नो देवाधिना द्युमस्यती	१८१
त्यदा दुक्षिरे	१८५	नामिरेदं रवीणां नामिः	२०४	पातां नो दावापुषिवी	२८१
त्यदा मे दीव्यं वचः	२८२	मिथि विजली वदुषा	२२	पार्षिजा दिव्याः पशव	१७५
सर्ष शिवाः पुषतां	७२	मिष्टुं नुद ओरुवः सवतो	१४४	पिठराः वरे ते मापन्तु	२८९
सर्षादि-द्र मद्राणा वषेयन्ताः	२१८	मिर्दुर्गम्य ऊर्जा	२०३	प्रममत्तु वात्तुधानीः रवद्याम्	१२०
सुधिना दिगिन्द्रोऽधिषतिः	२६६	मिर्दिन्तर्व दिवो निः	२०७	पुन. प्राणां पुनरात्मा न	२८४
सता च मे शतं च मे	२९५	मिर्हेस्ताः सपुत्रमिदाघवस्तु	१४६	पुनन्तु मा देवप्रनाः पुनन्तु	३०३
दिवं श्रमो नक्षत्राणि भूमि	१७२	मिर्हेस्ताः सन्तु सपुत्रोऽर्षिणां	१४६	पुगान्मुचः परिजातोऽधःपः	३२७
दिवस्तुभिःप्याः पशोर्ष वदपुर्तं	२१०	मिर्हेस्तेभ्यो नैर्हेत वं	१४५	पुत्रिस्तुद्वयप्यमाती पुति	२२६
दिशधतओऽधतयो देवरपस्य	२२९	वीचः पपन्तामचरे अरन्तु मे	२५६	पुर्वो हुन्नुमे प्र वराति	३२३
हुन्दुभेर्वापि प्रवती	३२२	वृचसाः रक्षः परि वरथ	११३	प्रमावतेराहृतो ह्यज्ञाय वनेगाई	२२०
हुतां मे पञ्च पविषो	२६०	नेचछन्तुः प्रातो अवाति	२३८	प्र नो वरुषत्वमेमा प्र मया	२५२
हुरे शिःकन्ताम हवाश इन्द्र	७७	पञ्च व मे वन्वाद्यपथ मे	२२५	प्रति वरुष वि चरव	१९७
देव वरुषाव सद्यत	२९१	पञ्चाभिः पराहू तपसवैदवा	२१९	प्रति वद मातृभूमिप्रति	१९०

मंत्र	पृष्ठ	मंत्र	पृष्ठ	मंत्र	पृष्ठ
दृष्टिं ह्यभयं	१८०	मन्वे वा वावावृथिवी	१८०	यः कुर्यात्कर्मलक्ष्यादुपागो	१९७
सति ह्यभयं दुजयतिः	१८३	मन्वे वा मिप्रावदणी	१९८	यः पौष्टयेव कविदा कर्मज्ञे	१९४
प्रतीची दिग्बन्धोऽधिपतिः	१९६	मम देवा विद्वेने वस्तु सर्वं	२४१	यः स्यात्सो मोऽस्यतो	१९६
प्र पदेतः पापि उक्षिप्त	१७५	मनात्ने वचो विद्वेनेवस्तु	२४१	यः कर्मान्यथति छासधान	१९८
प्र यत्ने अने सुखो आ०	१७८	मया सोममति यो	५५	यं प्राग्माविशत इदमुप	२०१
प्र वरुणेः स्रष्टवतो विप्रतो	१७८	मयि यत्र पर्यगे मयि	७३	यच्छताना पर्यावर्ते	२०
प्र वज्रोऽन्ध एषा	१७८	मयि देवा श्रियमा पञ्चतां	२४२	यन्नामद यद्गुतो यद्विवा	२०७
प्र या विद्याति सर्वेष्वेव	१९५	मयि वृत्ते अथो यथो	३०७	यज्ञं प्रभो यत्रमानयुवः	१७२
य वार्त्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र	१९६	मयीनीर्षुनाम् व विद्यातु	१९९	यज्ञतो दक्षिणीयो वाद्यतेयो	४५
यस्य इन्द्र प्रवता इतिभ्यां	१६३	मस्ताः पर्यतानामविवतयः	२८८	यज्ञेयैः सन्ममानो अने	११९
याची विनाशिरधिपतिः	२६५	मस्ताः पिता वस्तुम०	२८९	यत्किं चाशौ मनस यन्व	१३८
यान्मा दिशश्चमिन्द्राति	८७	मस्तो मन्वे मयि ये सुवस्तु	१९७	यत्किं चैवं वक्ष्य देव्ये	३१३
याथाशने मा मा	२०४	ममांति ते वर्नय छादयामि	१३३	यत्ने भूये सिधयामि	११
यानेन प्राणतो प्रागेहैव	१८६	मत्वं विप्रतो पुत्र	२४	यत्ने मन्वे सुधिति वन्व	१५
यानेन विद्वतो वीर्य देवाः	१८५	मत्तःसमर्थं मद्गती समुविष	१७	यत्ने वचो जातयैरो वृष्ट	२५४
यान्मुञ्चयामीने वपन्तु केतुः	३२१	मत्तं यजन्तो मम यानीडाहृतीः	२४१	यत्निवामि सं विषामि	१८०
यान्मदेवो वदन्तु प्र	२०९	मा इवा दधन्वतिष्ठे कन्व	२१७	यत्प्रत्यागित विषमेव	५०
यत्ने वादो प्र स्फुरतं वदतं	२४७	मा नः पयाम्हा पुरः	१०	यत्प्रदाने पश्यति जातयेवः	११९
यत्ने अमता नरे उमा यः	१५६	मा नो रक्षो अमि गम्यातुं	१५६	यत्प्रेशामे जनिमानि वेरय	१६१
यत्नेान्मुदे मनसा प्र चितेन	१९८	मा नो विद्वन् विद्याधिनी	१३६	यत्प्रवतो न वि यमो	१५१
युद्धन्व रथन्तरं न द्वी	४६	मा नो द्वाधितुक्तपयो	२९३	यदा द्यां न पृथिवी न	१३४
युद्धते काळं वृहता रुद्र	२९७	मा मां प्रायो ह्यधीमो	१०४	यदा वृष्ट संविद्वत् अश्रम्याः	३९४
युद्धदि काळं वृहताः शक्रव	२९७	विद्वद्य वरुण्य इन्द्रो	१५४	यदा वृष्टाव्यारोपा	३९४
युद्धरपतिर्नोः वरि पातु	१८६	विज्ञावृत्तो इन्द्राधिपती	२८८	यदा वृष्टमग्निर्विष्वाहा	२४८
युद्धस्वयिर्षे आरमा दुमना	२०४	मुच्यन्तु मा यन्म्यात्	१७२	यदा रोपो अजायते अंतु	१५४
युवो वेवं उचितारं मादारात्	१७९	मुषाग्ने रवा वेध्वरात्	१७०	यदा इदेवावत्प्रियाः सं	३९४
युवो राजानं वदन् वियं	१७९	युवा अमिप्रावरताशीर्षाव	१४७	यदापथ्य मिमनोऽन्ताः	३९८
युवाहं ते मन्वेदिने	७६	युवा युवस्व वन्ता	१५१	यदापृथय यानस्वलात्	३९८
यवात्तवविदं युवो र्दं	१७९	युवाहं रक्षोमी युवा	१०६	यदा धृत्वं न्यत्राणाम्	१४९
यवात्तवो मन्वे वा उरव	१९६	युवो न भीमा कुचये निरिष्ठाः	६६	यदा घोष ओपनीना	१०४
युवो युवो गृह्यति	१७३	युववेऽन्तः पन्थाग्ने	१२७	यदा एव ते मिथेदोः	२९६
युवो भूतेषु यव आ रथाति	७७	युव्युः प्रजानामधिपतिः	१८३	यदा इमं वृष्टि जातयेवः	१८१
युमिष्वा प्रतिगृह्यतु	१०६	युवोरायमा वदन्तां युवं	२२९	यदेऽऽ वराचवं उम्वा	१४८
युये मातां विद्वि मा	२७	युवेने मनेष्टा यनो निरार्ह	१०९	यदेऽो वराहृदिभ्योरेव	३०७
युभ्यां वेदेभ्यो वरति	१८	य अगरे युवयःते प्रसिक्तो	३००	यदेऽऽ वराचवं उम्वा	१४८
युज्यन्तो एव मधुमती	२०९	य आशाशामाशाशलाअशार	९३	यदेऽो वराहृदिभ्योरेव	३०७
युज्यते येतये विवः	२९२	य उत्तरतो उहृति वाऽदेर	१३४	यदेऽऽ वराचवं उम्वा	१४८
		य उत्तरतो उहृति वाऽदेर	१३४	यदेऽऽ वराचवं उम्वा	१४८

मंत्र	पृष्ठ	मंत्र	पृष्ठ	मंत्र	पृष्ठ
यद्दृष्ट्वाग्निमन्त्रमि	२०७	यद्यो हविर्वैश्वानरिर्जुते	३०५	वावन्तो मा वषन्वावाम्	१४१
यदि चतुर्विधाऽसि	२१४	यस्ते गंधः पुरुषेषु	१८	वावरेभाये बहु	११७
यदि प्रागशदि स्वपत्नेन	१७७	यस्ते गंधः पुष्करं भा-	१८	वा विरवन्वीरुमसि	३१९
यदि त्रिष्टुषोऽसि	२९४	यस्ते गंधः पृथिवि	१८	वा एवाप एवनेन गंधं	११०
यदि दशगुणोऽसि	२१४	यस्ते घर्षो पृथिवः	२३	वा सुशानुः सङ्गुरिः	३१९
यदि त्रिष्टुषोऽसि	२३४	यस्ते हवं विरदत्तज्जाती	७८	वास्ते प्राचीः प्रदिलो वा	२०
यदि नवगुणोऽसि	२९४	यस्यां गृधा वानस्पत्या	१९	वास्ते राके क्षमयवा सु-	३१४
यदि पञ्चगुणोऽसि	२१४	यस्यां वेदि परिश्रुमिति	१५	वा इस्तिमि द्विपिबि वा	२६३
यदि त्रेयुर्वैवपुरा इन्द्र	१४८	यस्यां यदो हविष्यनि	२१	युनक्ति त उगतावन्तं	२१८
यदि बाहमन्तदेवोऽसि	१५५	यस्यां घमुद वत धिजुः	१२	युञ्जुमा मन्त ईदो	१६३
यदि सप्तगुणोऽसि	२९४	यस्यां कृष्णमहवं च	२५	युञ्जुमा मन्तः पुनि-	३२५
यदि पञ्चगुणोऽसि	२१४	यस्यां गायन्ति मुरधिति	२१	ये अगुतं विपुषो ये	१८०
यदीदिरं मघतो	११५	यस्यामर्षं मीद्विपवी	२१	ये ज्ञेया विपुषो ये	१८०
यदुक्त्वयावृतां जिह्वा	१७७	यस्यामापः पविचराः	१४	ये श्रीकलेन तर्पयन्ति ये	११५
यद्विरामि सं गिरामि	१४०	यस्यां पूर्वं पूरं जनाः	२३	ये श्रीकलेन तर्पयन्ति ये	१८०
यद्दासि नवपथे	३१५	यस्यां पूर्वं भूतजताः	२१	ये वन्वराः अघ्नराः	२४
यत्तद्गुणोऽसि	२१४	यस्याः पुरो देवजताः	२२	ये मना यदन्वो वाः	२५
यथेक गुणोऽसि	२१४	यस्याव्यतलः अदिष्टः	११	ये त आरण्याः पद्यवः	२४
यथेकादशोऽसि	२१४	यस्यैवं शदिधि यद्	१८३	ये ते पनयानो बहवो	२३
यद्वाजानो विभजन्ते	१०४	या भाषो दिव्याः पवणः	७१	ये ते गृहे भवरे जातवेदः	११६
यद्वाग्नि मजुमत्तद्वरा-	२६	यो रक्षन्त्यस्वना	१३	ये रक्षिष्येता ज्ञाद्वि	१३३
यद्विद्राक्षो यद्विद्राक्ष	१७६	या त इन्द्र ठनुस्सु या	२५८	ये दिशामन्तर्देवोऽप्यो	१३४
यद्गो मनः पशवर्तं यद	६०	यानुचानस्य घोमय	१६१	ये देवा रिचिपरो	१७९
यन्वशस्य देवा देवजुति	४५	यागुचाना निरीतिः यद्	११८	ये देवास्तेन हाग्ने	३००
यन्वशस्य र्भ्यां र्भ्यो	४५	या देवोः पच प्रदिलो ये	१७३	येमष्टागजुद्विति जात-	१३४
यन्वशस्य समिति	४५	यान्वावतिघर्षोऽयकर	१४८	ये चीनाभो रयधारा कर्मा	७४
यन्वशस्यमन्त्राणाम-	४५	या एवा यन्वयो व्यजनत	११५	येन श्रवणो मलयोत	१८३
यं द्विभ्यो यथ नो	२०६	यो द्विषाद्ः पक्षिणः	१४	ये नः सपःना अय ते	५४३
यं निदगुर्वनस्वतो गुद्यं	७३	याप सपं पितृमावा	२१	येन हृष्टं याचयन्ति येन	२१९
यन्मातृजी रयकीऽममृते	१७३	या-वा-म-म-र-र-र-र-र एव	२३३	येन देवा अगुतमन्वोऽन्द्	१८३
यन्मेदनामिषोवति येन	१८१	यामन्यामन्वयुक्तं वदिष्ठं	१८३	येन इतो वषेडा धंभुव	२५४
यानः पितृणामपि-	२८१	यामन्वेचउद्विषा विधकमान्	२६	येन्तरीष्वाग्नुद्विति जातवेदो	१३४
यमयी पुरोयचिरे	१४८	यामथिनायामिमाता	१४	ये पन्थानो बहवो देवपाना	३११
ययो रवा घरयवर्षं	११९	या मा लक्ष्मीः पतयाद्	१७५	ये देवा जनुद्विति जातवेदः	१३४
ययोरभ्यप्य उत यद्	११६	यामिषेऽपि सतिष्मम	१४	ये पाकसं विहरन्त एवैवं	११३
ययोर्विधावापयते	११७	यामिषेऽपि सतिष्मम	११८	ये पुरस्ताजनुद्विति जातवेदः	१३३
यद्यसं मेन्दो मघवाग्	३०६	यावच्छतस्रः सदिस्रः	२५४	ये वा कल्पयन्ति अथिताः	३०१
यद्या इन्द्रो यद्या अग्निः	३०५, ३०७	यावतोऽग्नि विपयनाभि	१०	ये वाजानो यज्जता वृता	७४

मंत्र	पृष्ठ	मंत्र	पृष्ठ	मंत्र	पृष्ठ
वैरीन्द्र प्रकीर्णते पदोद्वेः	११५	दात मुमः पर्वण्यमन्त	१७९	विवापतिं छद्मान-धमानान्	११७
यो अथ सेनो वधो	१०९	आनरथायः प्रभृत्	११४	विवापतिं छद्मान् छावद्मान	११६
यो अथ सेन अथति	१५१	वाकुलन्तश्चिक्षसाधिविति	१८८	विष्वक्सेतुं कृतती	१४६
यो जिन्यति तमन्विरुष यो	१३५	अपो पुतः वसिष्ठ	११९	विष्वक् मरुत्प्रावत	११५
यो ददाति जितियाद् अवि	१०५	वि प्राम्ना पक्ष्या आरग्यैः	१८५	विष्वक्को अस्वच्छर्याः पतन्तु	१३६
यो न पान्थम जहाति	१७९	वि जिवीष्य ज्यक्तु	११६	विदुदम वैमनस्य यदाविषेतु	१५४
यो नः कृपादक्षयतः	११३	वि ज्योतिषा बृहता भाति	११५	वीदे यावापुदिवो इतो वि	१८५
यो नः सुमान् जामतो	१५३	वि तिष्ठन् मरुतो	११५	पृथ यज्ञायः परिपक्ष	१३४
यो बरुतावत् विन्दति	१५३	वि ते मुखावि रथर्ना वि	११७	श्याममणो अश्वतोष्ठ पोष	८९
यो नः स्था यो अरण	१३६	वि ते हनन्मां वारिषि वि	११८	श्यापि शिष्टाजन्ता अत्र	१०९
यो यो विन्दद्विच्छतो	१००	वि देवा जराहास्तुवि	१८४	सुपेक्ष्य युषा देवो	१०४
यो ना द्वेषत् सुधिषे	१६	विद्य ते अमे नाम नरीडा	१०	सुपेक्ष्य युषे पडसा	१२१
यो नो महाहमरुष छाव	७६	विद्य ते स्या अतिप्रमभूत्याः	१०५	वेदवृतेमेष्येन देवेभ्य	१४७
यो नो मतो मरुतो	३१७	विद्य ते स्वप्न जनित्र प्राद्याः	१०५	वेदानररपैन यजुषोः	१०६
यो तो रथ विन्दति	१३४	विद्य ते स्वप्न जनित्र देवः	१०५	वेदानरी वर्नेष भा समथ	१११
योऽन्वसमिति ते सुप्रामि	२०१	विद्य ते स्वप्न जनित्र निरुक्ताः	१०५	वेदानरी सुप्रताप समन्तं	१११
यो मा पक्षेन ममथा	११३	विद्य ते स्वप्न जनित्र निर्दुष्याः	१०५	वेदानता हरिमनिर्ने पुत्रातु	११०
यो मावातु यात्रुभानो	११५	विद्य ते श्वान् जनित्र यद्युध्याः	१०५	व्याजुष्य एवाम्	११५
यो व आपोऽशिराविवेश	१०१	विद्य शारथ्य पितरं	१३३	व्यामं दासतो वयं	१५१
योऽरमान् द्वेषि तामाया	१०७	वि न इन्द्र मृषो अहि	९१	व्याघ्रा अथि वैवाद्य	७१
यो महाक्रमवयो यो	११९	विमृशरी वृषिषिमा	१९	व्यासो पवनानो वि उक्त	१८४
यो मेधातिथिनवधो	११९	विमोक्ष्य मार्गपरिष्य मा	१०४	व्याजुष्यं नष्टपथि यत	७६
यो इवावाधमवयो	११९	वि रथो वि मृषो अहि	९१	व्याकृति स्य पशुयो योव	१०४
रथोद्वेगं काञ्चिकमा जिवारि	१११	विद्यात् वा इदमम	४४	वत न मे वद्यत् न म	११५
रथे अज्ञेयुपमस्य काजे	११३	वि ज्यन्तु यात्रुध्याना अतिप्रयो	१५५	वायुनाग्नीषारभिमतिप्रायो	११३
राकामर्हं पुदसा सुपुठी	३१३	जिह्वाजिह्वसाधे मा	१८६	वाजिन्वा सुमितिः स्वोना	१६
राज-यो दुःसुभावापलापाम-	११३	विद्य ज्ञानायनायावे	१८६	वाता भूमिरन्वा पांशु	११
रुचिरति वेधोऽति	११०	विद्यमरा बहुवासी प्रोक्ता	१३	वापानमीनपुष्यदो इवागर्है	१०३
रजन् परिहृत्-पुनन्	१०१	विद्युदरं नातु	१६	वाधेन मा चक्षुषा	१०३
रजय मा वेनय मा हाणिर्वा	१०३	विधान्वेद्यात् इदं मुमः	१७३	वाक्केऽति भाकोऽति	१११
रज् अजापोषत्र वीस	१३९	विज्ञे देवा तपरिद्यात्	१२८	वादा न आपस्तम्बे	१९
रजनस्यतीनानस्वव्यात्	११८	विज्ञे देवा मरुतः	११०	वयोऽति व्यावप्रपन्दा	३०९
रनरथते वीरुको हि भूया	११९	विद्य गयी वायुनाता	११४	वदेतो इम्य नपथा पर-	७८
रथ जवेम तना मुमः	१४९	विद्यमेवासाधिव	५०	वेद केतो यज्ञवित्	१११
रथ तदस्य वसुत	१५४	विद्याना रावात्	११५	पद् न ये न पश्चिमे	११५
रथोऽप्यमथिपतिः	१८७	विद्यापतिं छद्मान-वेवायो	११६	संसक्तपीथ यव उदित्यावा	१११
रथोभूत्या बहुधा-रुडा	१०९	विद्यापतिं छद्मान-पद्मानं	११७	वहापरोना मरुत रथर्वा	१११
रावस्व तु प्रथे य	११०	विद्यापतिं छद्मानं-प्रमानं	११७	वहापरो रथा परिहृत्	१११

संज्ञ	पृष्ठ	संज्ञ	पृष्ठ	संज्ञ	पृष्ठ
सं शर्षा वपसा सं	२८४	ष सुमाया स्वर्षो इन्द्रो	६५	शोदकामासा वेदाना उवा०	४८
संशितं म इदं प्रजा	२५५	सहस्राशौ वृत्रहणा हुषे	१९७	शोदकामासा पितृ भ्रात	४९
स प्राज्ञाः वासान्मा मोषि	२०७	सहे पिशानान्प्रदधैर्षी	३००	शोदकामासापितृ उवा	४७
सं कन्दनः प्रवेदी भृशु	३३३	साव्या एवं ज्ञासन्कं	२१८	शोदकामासा मनुष्यान् भ्रात	४९
सं श्रीशोभेनाग्न्यासा	२१९	सा नो भूमिरा विशद्व	११	शोदकामासा मनुष्यान् उवा	४८
सचेतशौ दुष्टशौ शौ	१९८	सातपया इवं हृदिमशतः	३१६	शोदकामासामंशमे	४५
संभक्तवृत्ता कर्षवैश्वः	३३१	सिद्ध इवास्तानीर् दुववो	३३१	शोदकामासा वन०	४९
सं सातमहे मनसा सं	३१५	सिद्धन्तीशौ विशो अशि	२९८	शोदकामासा वृत्रशपीन्	४८
संज्ञानं ना रवेरिः	३१५	सिद्धे श्यात्र उत या पुराशौ	२६३	शोदकामासा वभावां	४५
सर्वं वृहरतं उर्म	११	सिनाप्येनाशिक्षतिर्मुष्योः	३२८	शोदकामासा वभिती	४५
स नः सिन्धुमिष नावाति	१७८	सिनीवालि दुष्टदुक्ते मा	३१९	शोदकामासा वधोर्	४९
सदानमे मृषण्टि वासु	११४	सुश्रेयसा सुपातुया	१७८	शोदकामासा वासुरा	४७
संदानं यो नुदस्वतिः	१४०	सुजातं ज्ञातवेदममि	१८१	शोदकामासावाहनवीये	४५
सपत्न्य सपयो वृषामिः	१०१	सुपर्णस्य जन्वन्दिन्दत	२३८	शोदकामासास्तेतरुनाम	४९
सत य मे सतविश्व मे	२९५	सुशर्मथालुव	२०७	शोदकामासा वर्षा० सह उदम्	७१
सतर्षीन् या इदं श्रुमो	१७१	सुविहानं चिक्षिदुषे	१२४	शोमं रातनमववेदमि	२५९
स संशुधावमगुञ्ज देवां	३०४	सुभ्रुतिष मौवभृतिध मा	१०३	शोमादरा सुपतेराज्यहस्य	१९१
स संशुधावमगुञ्ज यो सर्व	७०	सुधुतौ कुणौ मरुधुतौ	२०३	शोमादरा विपुहंत विपुचीम्	१५१
समा य सा धमिदिव्यवतां	६०	सूर्यं नावमाहसः	१९०	शोमो वीक्ष्यमाधिपतिः	२८८
समहमेवो राष्ट्रं स्वर्गमि	२५५	सुषेव्यश्रुयामपिपतिः	१८८	शुबावमम मा तद यातुधानं	१५४
स मा श्रीवीणे प्रगो ब्रह्म	२०७	सुर्यो माहः पात्यामि	२०४	स्वपास्तु मित्रावक्या विशिषा	१४३
समुद्र ईशे सक्ताममिः	३०४	सुरिहमा इन्द्रिरातिथा	२५७	स्वरितदा विद्यां वतिः	९१
सं परमागच्छमवमानयो	१४१	शोदकामासास्तारिणे चतुषी	४५	स्वस्ति माग्ज उत मित्रे	९१
समावृत्तवसारां कङ्कन्	३०५	शोदकामासा गन्धर्वा०	४९	स्वस्तो वीषशो वीवसथ	१०४
सर्षान् कामान् पुरमावाभवन्	१०५	शोमजामन्तु सा वाईशयो	४४	स्वधरशि सूर्या भग्नतो	१०४
सर्षान् वेवानिदं श्रमः	१७३	शोदकामासा दक्षिणा०	४५	सुशिरचनें प्रवर्षा नुदत्	२५३
सविता प्रथशामपिपतिः	१८७	शोदकामासा वेदाना० भ्रात	४७	सुश्री मृगणां सुवदाम्	२५४
				सुपन्तु स्वा प्रतिश्रमः प्रति	७८

